

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

*Students can retain library books only for two weeks at the most.*

<b>BORROWER'S No.</b>	<b>DUE DATE</b>	<b>SIGNATURE</b>

श्रीशूद्रककविविरचितम्

# मृच्छकटिकम्

[संस्कृतटीका-हिन्दीभाषानुवाद-व्याख्यात्मक टिप्पणी-समीक्षात्मक भूमिकादिसहितम्]



डॉ० श्रीनिवास शास्त्री

विद्यावाचिधि एम० ए०, पी-एच० डी०

पूर्व प्राध्यापक

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

इत्येतेन

सम्पादितम्



## साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ-२

☎ ५१८७५४

लेखक द्वारा सम्पादित अन्य पुस्तके

- १ एम० ए० सस्कृत व्याकरण
- २ सस्कृतरचनानुवादप्रभा
- ३ काव्यप्रकाश (हिन्दी व्याख्या)
- ४ दशरूपक (हिन्दी व्याख्या)
- ५ तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या)
- ६ न्यायविन्दुटीका (हिन्दी व्याख्या)
- ७ उद्योतकरकृत न्यायकार्तिक-३
- ८ प्रशस्तपादभाष्य

1064.60

प्रथम सस्करण, १९६२  
द्वितीय सस्करण, १९७५  
तृतीय सस्करण, १९७६  
चतुर्थ सस्करण, १९८०  
पञ्चम सस्करण, १९८३  
षष्ठ सस्करण, १९८५  
सप्तम सस्करण, १९९३  
अष्टम सस्करण, १९९६

मूल्य : साठ रुपये (६०.००)

मुद्रक :

दुर्गा आफसेट प्रिन्टर्स

गड रोड, मेरठ

मृच्छकटिक का यह नवीन संस्करण पाठकों की सेवा में उन्हा किया जा रहा है। यह संस्करण छात्रों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया है। इसके आरम्भ में शूद्रक कवि का परिचय दिया गया है तथा मृच्छकटिक की समीक्षा दी गई है। इसमें मूल-पाठ के सामने हिन्दी अनुवाद दिया गया है जिससे संस्कृत के माप हिन्दी का मिलान किया जा सके। मूल संस्कृत का हिन्दी में अविकल अनुवाद किया गया है। अनुवाद के बीच में कुछ व्यवस्थित शब्द कोष्ठक में दिये गये हैं। नोंधे की ओर संस्कृत व्याख्या दी गई है। इसमें श्लोकों का अन्वय तथा सरल व्याख्या दी गई है, अलङ्कार एवं छन्द का भी निर्देश किया गया है। गद्य-भाग के भी आवश्यक स्थलों की व्याख्या की गई है। यथावश्यक व्याख्याकारों के विविध मतों तथा पाठ-भेद का भी उल्लेख किया गया है। अन्त (परिशिष्ट) में व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। जिनमें शब्दों की व्युत्पत्ति आदि के साध-साध अर्थ को स्पष्ट करने वाली व्याख्या भी है। संक्षेप में यह प्रयत्न किया गया है कि यह व्याख्या मूल के अर्थ और भाव को स्फुटित करने में पाठकों की सहायता कर सके। 106460

पुस्तक के अन्त में श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची, मृच्छकटिक में आये हुए मुभाषितों का वर्णानुक्रम से संग्रह तथा नाटक में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण एवं स्थल-निर्देश दिये गए हैं।

इसे गुरुगोविन्द की कृपा से प्राक्कथन प्रकाशक की उनकी सेवा में समर्पण मात्र ही समझना चाहिये। इसमें जो प्राज्ञ है वह उन्हीं दण्डवत् गुरुजनों का है जिनके चरणों में बैठकर मैंने संस्कृत काव्य का अध्ययन, अनुशासन तथा आस्वादन किया है। उन गुरुजनों में संस्कृत भाषा तथा साहित्य का आजीवन प्रचार करने वाले पूजनीय स्व० आचार्य पण्डित लेखराज राजेश्री का सर्वोपरि स्थान है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना मेरी शक्ति में बाहर ही है। केवल इस तुच्छ प्रयास के समर्पण-मात्र में ही सन्तोष करना पड़ता है।

मृच्छकटिक के इस संस्करण को तैयार करने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के अनेक दत्तक संस्करणों से सहायता ली गई है। निर्णयसागर के पाठ को मुख्यतः अपनाया गया है। प्र० एन्० आर्० काले के संस्करण का विरोध आधार लिया गया है। इनके अतिरिक्त विविध ग्रन्थों की भूमिकाओं, संस्कृत साहित्य के इतिहासों तथा समीक्षाओं से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। उन सभी ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों एवं सन्नादकों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

एक उदीयमान लेखक निय राजेन्द्रकुमार राजेश्री एम० ए० ने इसके छः अङ्कों का हिन्दी अनुवाद कराया है तथा अरुणो स्मृत सल्लोचनो ह्यय एवं शूद्रक संग्रहण आदि में सहयोग देकर इन कार्यों को पूर्ण करने में सहायता की है। दूसरे एक सुसुहृत्तरु वरुण निय विद्याभूषण एम० ए० ने भी शूद्रक-संग्रहण का कार्य करके इस ग्रन्थ को पूर्ण कराया है। ये दोनों वरुण साधुवाद के धन्य हैं।

सहित्य मण्डल के अध्यक्ष श्री रतिलाल शारदा की नेतृता से ही यह कार्य पूर्ण किया जा सका है, उदर्य उन्हें विशेष धन्यवाद है।

ग्रन्थ सरोधन आदि का प्रत्येक प्रयत्न करने पर भी मधु और रत्न के अभाव में कतिपय त्रुटियाँ रह गई हैं। जो सज्जन इनकी त्रुटियों के विषय में उचित सुझाव देंगे, उनका सहर्ष स्वागत किया जायेगा। इस पुस्तक की उपयोगिता का निर्माण तो यथेष्ट स्वयं ही कर सकेंगे। यदि इनसे पाठकों का कुछ भी उपकार हो सकेगा तो मैं अपने प्रयत्न को अन्त समझूँगा।

कार्तिक पूर्णिमा  
दि० सं० २०१९

—श्रीनिवास शारदा

## कतिपय सांकेतिक शब्द

अ०	= अङ्क	इ०	—इष्ट
उ०	= उत्तराणमन्त्रित	इच्छा०	—इच्छा
उ० पु०	= उत्तम पुरुष		(मुच्छ० अर्थात्काव्य)
एक०	= एकवचन	प्र०	—प्रथम पुरुष
टि०	= टिप्पणी	बहु०	—बहुवचन
दरा०	= दशरूपक	मल्लि०	—मल्लिनाथ
ग०	= गद्य	नि०	—निन्दये
चार०	= चारुदत्त	मू०	—मूच्छकटिक
दे०	= देखिये	मेघ०	—मेघदूत
द्वि०	= द्विवचन	रघु०	—रघुवरा
ननु०	= ननुसकलित्वा	वि०	—विर्मलित
प०	= पद्य	सं०	—संस्कृत
परि०	= परिशिष्ट	सा० द०	—साहित्यदर्पण
पा०	= पाणिनि	स्त्री०	—स्त्रीलिङ्ग
पुं०	= पुल्लिङ्ग		



# भूमिका

## १. कवि-परिचय

१. मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में विवाद—मृच्छकटिक किस कवि की रचना है, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यद्यपि मृच्छकटिक की प्रस्तावना में राजा शूद्रक को इस नाटक का कर्ता बतलाया गया है तथापि कुछ समालोचक इस पर विरोध नहीं करते। उन्होंने मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में अनेक अनुमान लगाये हैं और अपनी मान्यताओं के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। विद्वानों की विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से यह विषय अत्यन्त जटिल हो गया है। फलतः मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में कोई निश्चित मत निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी विविध मान्यताओं के अनुशीलन से इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है अतः संक्षेप में उनका विवेचन करना उपयुक्त प्रतीत होता है। मृच्छकटिक के कर्तृ-विषयक मतभेदों को ४ वर्गों में रक्ता जा सकता है—

106460

१. मृच्छकटिक का कर्ता कोई अज्ञात कवि है, डा० सिलवॉलिवी तथा डा० कीप आदि इस मत के समर्थक हैं।

२. मृच्छकटिक दण्डी की रचना है—डा० पिगेल इत्यादि।

३. मृच्छकटिक भास की रचना है—कुछ विद्वान्।

४. मृच्छकटिक के कर्ता राजा शूद्रक हैं—डा० देवस्वामी आदि।

१. डा० सिलवॉलिवी का मत है कि मृच्छकटिक शूद्रक की रचना नहीं अनिष्ट किसी अन्य कवि ने इसकी रचना की थी और अपनी रचना की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये उसे शूद्रक की कृति के रूप में प्रसिद्ध कर दिया था। किन्तु प्रश्न यह है कि उसने अपनी रचना को शूद्रक के नाम में ही क्यों प्रसिद्ध किया? इसके उत्तर में डा० लेवी का कथन है कि उनके इस कार्य के लिये शूद्रक को चुनने का कारण यह था; क्योंकि वह कालिदास से अर्थात्प्राचीन था और अपनी कृति को कालिदास से प्राचीन सिद्ध करना चाहता था अतः कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य से प्राचीन राजा शूद्रक के नाम पर इसे प्रसिद्ध कर दिया। यद्यपि डा० कीप इस उत्तर को मुक्तिपूर्ण नहीं मानते तथापि उनके मंत्रानुसार भी शूद्रक मृच्छकटिक का कर्ता नहीं है। डा० कीप का कथन है कि शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति (Fictitious person) था। उसके अर्थात् नाम से ही यह प्रकट होता है; क्योंकि सामान्यतः राजाओं का ऐसा नाम नहीं होता। 'चारदत्त' नाटक को बढ़ाकर 'मृच्छकटिक' के

रूप में रखने वाले कवि ने वास्तविक मूद्रक के नाम पर ही अपनी कृति को प्रसिद्ध कर दिया। शं० शीप ने अपने मठ के समर्पण के लिये कोई मुक्ति नहीं दी है।

इस मठ के सम्बन्ध में समीक्षकों का कथन है कि यदि यह माना जाये कि मृच्छकटिक किसी अज्ञात कवि की कृति है तो इस बात की निन्दित के लिए प्रबल प्रमाणों का होना आवश्यक है किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते इसके विपरीत मृच्छकटिक की सभी उपलब्ध प्रतिनिरियों की प्रस्तावना में यह निर्देग किया गया है कि मृच्छकटिक मूद्रक की कृति है। मूद्रक कोई ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं था, यह कथन भी मुक्तिमञ्जत नहीं, यह आगे विवेचन किया जायगा।

श्री कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग का कथन है "हमारे विचार में भी मूद्रक मृच्छकटिक के कर्ता नहीं है। इसके कर्ता कोई दूसरे कवि हैं। ऐसा प्रतीत होता है किसी कवि ने भाष का 'शक्तिचारदत्त' देखा। उन्हें यह बहुरूप प्रतीत हुआ उन पर उन्हें पूर्ण करने की धुन सवार हुई। उन्होंने आवश्यकता और अपनी रचि के अनुसार 'शक्ति चारदत्त' में परिवर्तन किए। उसकी कथा के साथ अपनी कल्पना से रची हुई अपना गुणाढप की 'दृष्टकथा' से ली हुई गोपालदास आर्यक के विद्रोह की कथा बढ़ा दी। इस प्रकार मृच्छकटिक तैयार हुआ। कवि ने अपना नाम जानबूझ कर छिपाया। प्रस्तावना में 'मूद्रक' के साथ 'किल' का प्रयोग यही सूचित करता है।" अपने कथन की पुष्टि के लिए तेलङ्ग महोदय ने कहा है कि (१) प्रस्तावना में मूद्रक का नाम देने से पहले ही कवि ने 'एतत्कविः किल' ऐसा लिखा है फिर पाँचवे और सातवें श्लोक में भी—'सिधिसालः किल मूद्रको दभूद' तथा 'बचार सर्व किल मूद्रको नृपः'—इत्यादि उक्ति में 'किल' शब्द का प्रयोग किया है। "इस अर्थ का प्रयोग प्रायः 'ऐतिह्य' 'अलीकता', या 'संभावना' सूचित करने के लिये किया जाता है। यह अधिकतर अनिश्चय व्यक्त करता है।" (२) यहाँ मूद्रक की मृन्दु का वर्णन ('अग्नि प्रविष्टः') होने से भी यह नाटक अन्य कवि की कृति है। बभ्रुव, बचार इत्यादि परोक्ष मूलकाल के प्रयोगों से भी यही सिद्ध होता है। (३) यदि यह माना जाये कि प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो प्रश्न होता है कि मूद्रक ने बिना नामोत्प्लेख के ही अपना नाटक क्यों चला दिया या ? जिसने इन श्लोकों का प्रयोग किया उसने सन्देह उत्पन्न करने वाली परोक्ष मूल की क्रिया आदि ही क्यों रक्खी ? जटः यह नाटक मूद्रक का नहीं किसी अन्य कवि का है। उस कवि ने अपना नाटक मूद्रक के नाम से चला दिया है इसके दो कारण हो सकते हैं—(क) उसने सोचा होगा कि इसमें आधा भाग भास कवि का है। यदि मैं इसे अपने नाम से प्रसिद्ध करूँगा तो कवि-बोर बहलाऊँगा। (ख) इस नाटक का घटनाचक्र उस समय की सामाजिक

१. मृच्छकटिक समीक्षा (सूनिक्षा) पृ० ५, ७।

२. 'अग्नि प्रविष्टः' का वास्तविक तात्पर्य क्या है—यह-सन्देहास्पद है।

परिस्थितियों तथा मान्यताओं के विरुद्ध जान पड़ता है। चारदत्त और शबितक जैसे शाहनों का बेगमों के साथ विवाह शाहनों का घोर होना, चन्दनक और वीरक जैसे दूतों का राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त होना इत्यादि घटनाएँ कान्तिकारी विचारों की सूचक हैं। अतः यदि वह कवि अपने नाम से नाटक को प्रचलित करता तो समाज और राजा अवश्य ही उसको दुर्गति कर देते। इसी हेतु उनमें एक प्राचीन राजा के नाम से अपनी रचना को प्रसिद्ध किया होगा।

(२) डा० पिगेल का मत है कि 'दशकुमारचरित' के लेखक दण्डी कवि ने ही मृच्छकटिक की रचना की थी। राजगोखर के अनुसार दण्डी के तीन प्रबन्ध हैं—'असौ दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विभूनाः।' उनमें से दो हैं—'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श' और तीसरा है—'मृच्छकटिक'। मृच्छकटिक दण्डी की रचना है—इस मत के समर्थन के लिये डा० पिगेल ने मुख्यतः निम्न मुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(क) दण्डी के काव्यादर्श (२, २२६) में 'तिम्पनीय तमोऽङ्गानि।' यह पद्य उपलब्ध होता है। तथा यही पद्य मृच्छकटिक (१, ३४) में भी है। इससे सम्भावना होती है कि दोनों कृतियाँ एक ही कवि की हैं। (ख) दशकुमारचरित और मृच्छकटिक में दण्डित सामाजिक दशा में बहुत अधिक समानता है। इसमें प्रकट होता है कि दोनों एक ही कवि की कृतियाँ हैं।

डा० पिगेल की मुक्तियों में कोई सार नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'तिम्पनीय' इत्यादि श्लोक तो मूल में भामहृत चारदत्त नाटक का है। काव्यादर्श और मृच्छकटिक दोनों में ही वहाँ से लिया गया है तब इनमें यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि मृच्छकटिक दण्डी की कृति है। दूसरी मुक्ति के लिये में भी यह पूछा जा सकता है कि जिन कृतियों में एक-ही सामाजिक दशा का वर्णन होता है क्या वे एक ही कवि की रचना होती हैं? इनके अतिरिक्त 'अवन्तिमुन्दरीकथा' नामक कृति के उपलब्ध होने पर विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि 'अवन्तिमुन्दरीकथा' ही दण्डी की तृतीय रचना है अतः डा० पिगेल की कल्पना का मूल आधार ही नष्ट हो गया है।

एतत्प्रि प्रो० मंडकानन' ने डा० पिगेल के इस मत को स्वीकार किया है, तथापि डा० पीटर्सन' इत्यादि ने इस मत का प्रतिपाद किया है और प्रायः किसी समीक्षक ने भी इसे स्वीकार नहीं किया।

(३) कुछ विद्वानों ने भास को मृच्छकटिक का कर्ता माना है। इनका मत है कि जाति के दूत्र होने के कारण ही भास इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। भास ने अपने 'चारदत्त' नामक नाटक का परिवर्द्धित रूप ही मृच्छकटिक के रूप में प्रस्तुत किया। यह कल्पना भी मुक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। एक तो प्रश्न यह है कि भास के



वास्तविक नाम से यह नाटक क्यों नहीं प्रसिद्ध हुआ ? मूद्रक नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ ? दूसरे भाग के अन्य नाटक भी मूद्रक नाम पर ही क्यों न प्रसिद्ध हुए । इनके खतिवक्त मूच्छकटिक की प्रस्तावना में मूद्रक को राजा कहा गया है किन्तु भाग ही राजा नहीं है । उसके वांछित से प्रतीत होता है कि मूद्रक बेरो का भाता है, जिस है वह मूद्र नहीं । अतः यह कल्पना भी निम्नार है ।

(५) भारतीय परम्परा मूच्छकटिक को मूद्रक की कृति मानती है । जिस प्रकार अन्य नाटकों की प्रस्तावना में उनके लेखकों का नाम-निर्देश किया गया है उसी प्रकार इस नाटक की प्रस्तावना में भी स्पष्टतया मूद्रक का नामोल्लेख किया गया है । मूद्रक के अग्नि-श्लेष का वर्णन तथा 'बकार' 'बमूद्र' इत्यादि परोक्ष मूद्र को शिवाओं का प्रयोग सन्देह अवश्य उत्पन्न करता है तथापि आस्थाधारकों ने अनेक प्रकार से इन घटकों का निवारण किया है (देखिये टिप्पणियों) । यह भी सम्भव है कि प्रस्तावना के कुछ श्लोक प्रसिद्ध हों अथवा अभिनय-कर्त्ताओं के हाथों में पढ़कर ही इनमें कुछ परिवर्तन या परिवर्धन हो गया हो । अतः जब तक पुष्ट प्रमाणों के आशय पर प्रचलित परम्परा का खण्डन नहीं हो जाता तब तक यही मानना मुक्तिमग्न प्रतीत होता है कि मूच्छकटिक का कर्त्ता मूद्रक है । यंसा कि डॉ० देवदत्तजी का कथन है कि हमारा इतिहास का ज्ञान पूर्ण न होने से हम मूद्रक के विषय में निरिक्तर रूप से कुछ नहीं कह सकते तथापि जब तक इस बात का प्रमाणों द्वारा खण्डन न हो जाये तब तक यही मानना उचित समझते हैं कि 'मूच्छकटिक' मूद्रक की कृति है ।

२. मूद्रक कवि या आषयवाता—

मूच्छकटिक के कर्त्ता मूद्रक हैं, यह मान लेने पर भी एक प्रश्न उत्पन्न है कि क्या मूद्रक ने स्वयं ही यह नाटक रचा या या उसकी रचना के किसी कवि ने यह नाटक लिखकर उसके नाम से प्रसिद्ध कर दिया था । भारत में ऐसे अनेक राजा हुए हैं जिन्होंने काव्य की रचना करके मसूठ साहित्य की अम्बुधि की है । उदाहरणार्थ प्रसिद्ध विजेता समुद्रगुप्त एक प्रतिभाशाली कवि था उसने टाकीण कथामें गये एक शासनपत्र में कहा गया है कि उसने अनेक काव्यों की रचना करके 'कविराज' की उपाधि प्रतिष्ठित की थी । ईसा की छठम शताब्दी में महाकाव्य हर्ष ने रत्नावली तथा नागानन्द जैसे उत्तम कौटिक नाटकों की रचना की थी । अष्टम शताब्दी के आरम्भ में भवभूति के आशयदाता दशोदराने 'याम्बुद' नाटक रचा था । एकादश शताब्दी के राजा मूञ्ज तथा सोम इत्यादि भी 'कवीन्द्र' उपाधि से विभूषित थे । अतः यहाँ प्राचीनकाल से ही अनेक राजा हुए हैं जिन्होंने मनीषिनोद के

१. विद्वन्मनोपदीश्यानेककाव्यरिपाणि. प्रतिष्ठितकविशरच्छन्दम्.....

(श० चिदराज शान्त्री, रत्नावली नाटिका को मूद्रिका पृ० ७)

२. कवीन्द्राश्च विद्वमादित्य-श्रीहर्ष-मूञ्ज-मोरदेवादिपुत्राणाः । —श्रीवदप,  
उदयमन्दरीकथा से उद्धृत, वही, पृ० ६ ।

लिखे या अपनी रचनात्मक प्रतिभा से प्रेरित होकर मनोरम काव्यों की रचना की है। इसलिये यह सम्भव है कि शूद्रक भी एक प्रतिभासम्पन्न राजा रहा हो और उसने इस नाटक की रचना की हो।

दूसरी ओर यह भी संभावना हो सकती है कि शूद्रक को समा के किसी कवि ने इस नाटक की रचना की हो और इसे अपने आश्रयदाता शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ-रत्नों को इस प्रकार की कहानी है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजनों का विवेचन करते हुए घन-लाभ को भी काव्य का प्रयोजन बतलाया है। उन्होंने 'काव्यं यत्सोऽर्पकृते' इत्यादि कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है—'श्रीहृषदिर्घाविकादीनामिव घनम्। टीकाकारों ने इस कथन को अनेक प्रकार से व्याख्या की है इसका उल्लेख करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ तो संक्षेप में यही कहना है कि घन-लाभ के लिये भी कवि रचना करने से और अपनी रचना की अपने आश्रयदाता के नाम से प्रसिद्ध कर देते थे; अतः मृच्छकटिक की रचना के सम्बन्ध में भी ऐसी संभावना हो सकती है। शूद्रक मर्हत्यकारों का महान् आश्रयदाता (सभापति) था, इसमें सन्देह नहीं। राजशेखर ने साहित्य के संरक्षक राजाओं की सूची में शूद्रक का भी उल्लेख किया है—'वासुदेव-शातवाहन-शूद्रक साहंसाङ्गादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाम्यामनु-कुर्यात्', काव्यमीमांसा।

यद्यपि दोनों प्रकार की संभावनाएँ उचित प्रतीत होती हैं तथापि कुछ प्रमाणों के आधार पर शूद्रक को कवि मानना ही युक्तिसंगत है, केवल कवि और पण्डितों का आश्रयदाता ही नहीं। कुछ समय पूर्व ही मद्रास में अवन्तिसुन्दरीकथा नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह दण्डी की रचना है। इसमें शूद्रक की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—'

शूद्रकेपासकृज्जित्वा स्वच्छया सङ्गधारया।

जगद्भूयोभ्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥

इस श्लोक से प्रकट होता है कि शूद्रक एक वीर योद्धा था। 'वाचा स्वचरितार्थया' इस कथन से यह भी विदित होता है कि दण्डी के समय में यह समझा जाता था कि शूद्रक की रचना में कुछ आत्मकथा का प्रतिबिम्ब है। फलतः विद्वानों का कथन है कि मृच्छकटिक नाटक में शूद्रक के जीवन की कतिपय घटनाओं का संकेत मिलता है। नाटक का चारदस शूद्रक के मित्र बन्धुदत्त का रूपान्तर है और आर्यक के रूप में शूद्रक ने अपना ही वर्णन किया है। यद्यपि इन संकेतों की प्रामाणिकता में सन्देह है तथापि उपर्युक्त श्लोक से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वीर योद्धा शूद्रक एक कवि भी था जिसकी रचनाओं में उसके जीवन की झलक मिलती है।

(1) M. R. कान्ते, मृच्छकटिक Introduction पृ० २१। कान्ते महोदय ने M. R.-kavi M. A. के विद्वत्पूरे निबन्ध 'Dandin's Avāntisundrikātha के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया है।

वाक्यानुसार मूत्र<sup>१</sup> के प्रणेता वामन के कथन से यह भी प्रतीत होता है कि मूत्रक नामक कोई प्रसिद्ध कवि था तथा अष्टम मताश्री में उसकी रचनाएँ संक्षिप्त प्रसिद्ध थीं। अर्धशुद्धों का निरूपण करते हुए वाग्नाचाय ने श्लेष (घटना) का रूप दिया है तथा यह भी बतलाया है कि मूत्रक आदि कवियों की रचनाओं में इस श्लेष का विशेष प्रयोग देखा जाता है—'मूत्रकादिगुणितेषु प्रबन्धेषु अल्पं शून्यान् प्रशंस्यो हस्यते।'—यद्यपि यहाँ यह नहीं कहा गया है कि मूत्रक कोई राजा था, यह भी नहीं कि वह मृच्छकटिक का कर्ता था तथापि इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं—(१) मूत्र एक प्रसिद्ध कवि था, (२) उसकी रचनाओं में श्लेष गुण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विद्वानों का कथन है कि श्लेष यह नहीं माना जाता कि वामन मूत्रक को मृच्छकटिक के कर्ता के रूप में जानता था, क्योंकि मृच्छकटिक की विशेषता से श्लेषगुणयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि वामन की मूत्रकृति में मृच्छकटिक के कई उदाहरण उपलब्ध होते हैं।<sup>२</sup> जिनसे यह स्पष्ट ही है कि वामन मृच्छकटिक से परिचित था।<sup>३</sup> हाँ, उसने मूत्रक या मृच्छकटिक के कर्ता के रूप में उल्लेख नहीं किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि श्लेषगुण श्लेष नामक अलङ्कार से निरागत मिला है। इसके अतिरिक्त उदाहरण मृच्छकटिक में भी खोजे जा सकते हैं। वामन के इस कथन से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मूत्रक की मृच्छकटिक के अतिरिक्त और कोई रचना रही होगी।

## २. मूत्रक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा साहित्यिक उल्लेख—

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में मूत्रक का उल्लेख किया गया है। इसके स्पष्ट विवरित होता है कि मूत्रक कोई ऐतिहासिक पुरुष था, केवल कल्पित व्यक्ति नहीं। किन्तु उन ग्रन्थों में मूत्रक का कोई विविध कानों तथा प्रसङ्गों में उल्लेख किया गया है जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि कौन सा मूत्रक मृच्छकटिक का कर्ता रहा होगा। एव ही नाम के कई व्यक्तियों का होना, काल-निर्णय में बड़ा ही बाधक रहता है। उदाहरणार्थ संस्कृत साहित्य में कालिदास नाम के कई कवि हैं, इसी कारण कालिदास की कृतियों तथा समय के निर्धारण में बाधा भी कटिनाश्यों का सामना करना पड़ता है। मूत्रक के विषय में भी यही बात है। अनेक ग्रन्थों में मूत्रक के जीवन के विषय में उल्लेख मिलते हैं, वहीं-वहीं उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले भी उल्लेख हैं यद्यपि उनके अनुजीवन से मृच्छकटिक के कर्ता का निर्णय करना कठिन है तथापि इस विषय में हमारा मार्ग अवश्य प्रगम्य हो जाता है। अतः उनका संक्षेपतः निरूपण करना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) स्वच्छन्दुषण<sup>४</sup> पुमारिका खण्ड में उल्लेख है कि कलिभद्र ३२६० वर्षाब्द १६० ई० में मूत्रक नाम का राजा हुआ। कुछ विद्वान् स्वच्छन्दुषण में दिदिष्ट मूत्रक

१. वाग्नाचायमूत्रकृति २. २. ४।

२. देखिए आगे पृ० ११।

३. त्रिषु अर्धशुद्धेषु कलेभितेषु पादितः। त्रिगुणेषु दशगुणेष्वस्त्वा मूत्रि कविर्भवति ॥  
मूत्रको नाम वीरगणनाथिवः सिद्धिमत्र सः। चरित्राणां संसारार्थ्य सन्सर्वे ह्युपानहः ॥

को आन्ध्रवंश के प्रथम राजा 'विन्दुक' से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनका मान्यता का आधार यह है कि भागवत पुराण में आन्ध्रवंश के प्रथम राजा को शूद्र बतलाया गया है।<sup>1</sup> यह भी संभव है कि विन्दुक का वास्तविक नाम शूद्रक ही रहा हो, क्योंकि भिन्न-भिन्न रूपों में उसके विविध नामों का उल्लेख किया गया है। किन्तु डॉ० मिल्स<sup>2</sup> के अनुसार विन्दुक का समय लगभग २४० ई० पू० है जो स्कन्दपुराण के समय से भेद नहीं खाता। M. R. काले का कथन है कि स्कन्दपुराण का कथन अधिक विश्वसनीय नहीं अतः आन्ध्रवंश का प्रथम राजा ही शूद्रक रहा होगा। (क) उनका यह समय आन्तरिक प्रयागों से भी पुष्ट होता है और उसके पूर्ववर्ती भाट के समय से भी भेद खाता है। (ख) इनकी इस बात से भी पुष्टि होती है कि आन्ध्रवंश का राज्य दक्षिण भारत में था और वानव के काञ्चालद्वार शूद्र के एक टीकाकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि शूद्रक भी दक्षिणार्ध या तथा नाटक के अन्तर्गत से भी शूद्रक का दक्षिणार्ध होना ही सिद्ध होता है।<sup>3</sup>

(२) कुछ समय पूर्व ही जो दण्डी को तृतीय रचना 'अवन्तिदुन्दुरोक्या' उल्लेख हुई है उसमें शूद्रक को उज्जयिनी का ब्राह्मण राजा बतलाया गया है। यह भी कहा जाता है कि शूद्रक ने आन्ध्रवंश के स्वाति नामक राजा को पराजित किया था। 'स्वाति' ने २९ ई० पू० तक राज्य किया। महाराजा विक्रमादित्य का भी यही समय है अतः कुछ विद्वानों ने विक्रमादित्य और शूद्रक को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इस बात की प्रमाणों में पुष्टि होती है तो अवन्तिदुन्दुरोक्या में बर्णित शूद्रक अवश्य ही आन्ध्रवंश की स्थापना करने वाले शूद्रक से भिन्न होना चाहिए। ऐसा मानने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मृच्छकटिक का कर्ता कौनसा शूद्रक है? मृच्छकटिक की प्रस्तावना में उल्लिखित शूद्रक क्या दण्डी का बर्णित शूद्रक ही समझा है? दण्डी ने शूद्रक को ब्राह्मण राजा बतलाया है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी उसे 'द्विजमुक्कटनः' कहा गया है। यद्यपि यहाँ टीकाकारों ने द्विज का अर्थ धर्मिण किया है तथापि इसका प्रसिद्ध अर्थ निपा जा सकता है।

किन्तु दण्डी के शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता मानने में एक कठिनाई यह है कि रावसेनर के अनुसार यमिन और सौमिन कवियों ने शूद्रकका नाम का उल्लेख किया था।<sup>4</sup> यह सौमिन यही प्रतीत होता है जिसका कासिका ने 'सौमिनिक'

१. हर्षा कल्पदुर्गात्मं उद्गृह्यो वृषभो बली ।

या मोक्षदाप्रवासीनः कविकालनसमः । (स्कन्ध-१२. अन्वय १-२०)

२. Early history of India, (ed. 1914) पृ० २१६.

३. डेगिने, आने 'कवि का जीवन-परिचय' ।

४. श्री शूद्रककाव्यटीका टीका रचयिता सौमिनिक ।

काम्यं यथाईवोपलीशंनारौनरीनम् ॥

नाम से उल्लेख किया है।' इस प्रकार 'सौमिल' नामक कवि कालिदास से प्राचीन है इसमें मन्देह नहीं तथा राजा मूद्रक सौमिल से भी पूर्व या उसके समकालीन हो सकता है। यदि कालिदास की विक्रमादित्य का समकालीन (५६ ई० पू०) माना जाता है तो कण्ठी का मूद्रक मृच्छकटिक का लेखक नहीं हो सकता।

(३) प्रो० कोनो का कथन है कि आभीर वंश का राजा तिवदत्त ही मूद्रक है। इसका राज्यकाल ईसा की तृतीय शताब्दी है। प्रो० कोनो के मत का आधार 'गोपालदासक मारिक' यह शब्द है, क्योंकि आभीर और गोपाल समानार्थक हैं।

इसी प्रकार शब्दों की समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने मूद्रक का समय द्वितीय शताब्दी निर्दिष्ट करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार मृच्छकटिक ८३४ में वर्णित 'रजो राजा' राजवंश का उद्भव ही है जिसका समय ११० ईसा है। ये सब कल्पनाएँ नाममात्र के साम्य पर आधारित हैं अतः कोई महत्त्व नहीं रखती।

(४) साहित्यिक उल्लेखों से यह तो स्पष्ट विदित होता है कि उदयन और विक्रमादित्य के समान मूद्रक भी एक कलाप्रेमी एवं साहित्यप्रेमी राजा रहा होगा। मूद्रक के नाम पर विद्वान्तमूद्रक, मूद्रकवध, मूद्रकचरित इत्यादि ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। वे ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, अतः यह कहना कठिन है कि इनके कर्तों से मूद्रक के समय आदि निर्धारण में कहीं तक सहायता मिल सकती है। प्लूटर्क ने 'राजतरङ्गिणी' में तथा सीमदेव ने 'कथासरित्सागर' में मूद्रक का उल्लेख किया है। बाण ने कादम्बरी में मूद्रक की राजधानी विदिशा बतलाई है तथा 'हर्षचरित' में चन्द्रसेतु के राजा के रूप में मूद्रक का उल्लेख किया है। कण्ठी ने भी 'दशकुमारचरित' में मूद्रक का निर्देश किया है। वंशावली-चरित में मूद्रक की राजधानी वर्धमान या गोमावती बतलाई गई है।

(५) वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र में मूद्रक का नामत्र निर्देश किया है— "मूद्रकादिरचितेषु प्रवक्ष्ये" (अधि० ४ अ० २-४)। वामन ने मृच्छकटिक के कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं— "द्यूत हि नाम बुधसंसाधिहासन रागम्" (अधि० ४ अ० ३, २३) तथा "यासा बलिमंवरि मद्रुहदेहीनाम्" "वीटमुखादनीट" (अधि० १, अ० १, ३)। वामन का समय आठवीं शताब्दी है।

उपरोक्त कथन से यह प्रकट होता है कि मूद्रक को कल्पित व्यक्ति कहना मुक्तिवञ्चत नहीं कहा जा सकता। उसका कवि होना भी सिद्ध ही है। तथा ऐसा भी प्रतीत होता है कि मूद्रक नाम के एक ही नहीं बनेक राजा हुए हैं। किन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि मृच्छकटिक का कर्ता मूद्रक कौन-सा है? कुछ सनातनोचकों का यह भी अनुमान है कि सम्भवतः मूद्रक नामक किसी कवि ने

मृच्छकटिक लिखा होगा। वह कवि राजा और शूद्रक से भिन्न ही रहा होगा, किन्तु कालान्तर में उस कवि तथा राजा शूद्रक को एक ही मान लिया गया। यह संभावना भी मृच्छकटिक की प्रस्तावना से मेल नहीं खाती; क्योंकि प्रस्तावना में तो 'शूद्रको नृपः' इसमें स्पष्ट ही मृच्छकटिक के कर्ता को शूद्रक राजा कहा गया है।

४. मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक का समय—

उपर्युक्त विवेचन से शूद्रक के काल पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है किन्तु मृच्छकटिक के काल का सम्यक् निर्णय नहीं हो पाता। मृच्छकटिक का रचनाकाल तृतीय शताब्दी ई० पू० से लेकर षष्ठ शताब्दी तक दोलायमान है—

(क) ईस्वी पू० तृतीय शताब्दी से ई० पू० प्रथम शताब्दी —

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक को आन्ध्रवंश के आदिम राजा से अभिन्न माना जा सकता है या दण्डी द्वारा निर्दिष्ट शूद्रक को ही मृच्छकटिक का कर्ता माना जा सकता है। इसलिये मृच्छकटिक का रचना काल तृतीय शताब्दी ई० पू० में होया या प्रथम शताब्दी ई० पू० में। अन्तःसाक्ष्य तथा बाह्यसाक्ष्य से भी इस काल की पुष्टि होती है; जैसा कि M. R. काले ने दिलाया है। इस विषय में अन्तःसाक्ष्य इस प्रकार है—(१) यह नाटक ऐसे समय की ओर संकेत करता है जब बौद्ध धर्म उन्नतावस्था में था। बौद्ध भिक्षुओं का जनता में सम्मान था, वे भिक्षु के धर्म का सावधानी से पालन करते थे। ई० सवत् के आरम्भ काल में बौद्ध-धर्म ह्रास की ओर अग्रसर हो चला था अतः इस नाटक की रचना इससे पूर्व ही माननी चाहिये। जैसा कि डॉ० भण्डारकर ने बतलाया है। आन्ध्रवंशीय राजाओं के समय बौद्धधर्म उन्नतावस्था में था। (२) नवम अंक में अधिकरणिक द्वारा कथित 'अङ्गारकविहङ्गस्य' इत्यादि श्लोक में मंगल को बृहस्पति का शत्रुग्रह बतलाया गया है। यह मान्यता बराहमिहिर के पहले प्रचलित थी। बराहमिहिर का समय ५०० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है। उसके अनेक शताब्दी पूर्व मृच्छकटिक का समय होना चाहिये। (३) वैशिकी कला (१४) का उल्लेख तथा किसी वेद्या के नायिका होने की कल्पना वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के समकालीन है। वात्स्यायन के कामसूत्र का समय १०० ई० पू० से पश्चात् नहीं हो सकता अतः मृच्छकटिक का भी समय इसके ही निकट है। (४) बाद के प्रचलित नृपधरणा के अनेक नियमों से मृच्छकटिक का कर्ता परिचित नहीं है; जैसे किसी पात्र के विशेष प्राकृत भाषा बोलने का नियम, रसों की प्रधानता तथा अग्रधानता सम्बन्धी मान्यताएँ इत्यादि। साथ ही मृच्छकटिक की शैली में भास जैसी सादगी और सरलता है, इसकी शैली कालिदास के समान परिष्कृत नहीं; न ही नवभूति के समान कलापूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि मृच्छकटिक संस्कृत नाटक के प्रारम्भिक काल की रचना है। (५) मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाएँ व्याकरण

के नियमों के संबंध में अनुकूल नहीं है। वे प्राकृत भाषा के विकास की आरम्भिक अवस्था को सूचित करती हैं। जिससे प्रकट होता है कि शूद्रक कालिदास से प्राचीन है। (६) मृच्छकटिक में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग एक पुलिस के अधिकारी के रूप में हुआ है। यह भारतीय नाटक की आरम्भिक अवस्था को व्यक्त करता है; क्योंकि कालिदास के पश्चात् 'राष्ट्रिय' शब्द राजा के शाले के अर्थ में रूढ़ हो गया है। (७) शकार तथा वित्त जैसे पात्रों की योजना में भी यही मिश्र होता है कि मृच्छकटिक प्राचीनकाल का नाटक है, क्योंकि बाद के नाटकों में ये पात्र दृष्टिगोचर नहीं होते।

बाह्य प्रमाणों में भी इस काल की पुष्टि होती है। ऊपर निर्देश किया गया है कि रामिल सोमिल (सोमिल्लक) ने शूद्रक-कथा लिखी थी। सोमिल्लक का कालिदास ने उल्लेख किया है। अतः सोमिल अवश्य ही मानिसाय से पूर्ववर्ती है और शूद्रक सोमिल ने भी प्राचीन। भारतीय परम्परा के अनुसार कालिदास का समय ई० पू० ५६ के लगभग है अतः शूद्रक का समय इससे पूर्व ही होना चाहिये। किन्तु यदि शूद्रक कालिदास से प्राचीन है तो कालिदास ने भास इत्यादि के उल्लेख के साथ-साथ शूद्रक का उल्लेख क्यों नहीं किया? उत्तर स्पष्ट है कि जिन कविओं से कालिदास परिचित थे उन सभी का उल्लेख वे करते यह कैसे आगा की जा सकती है।

(ख) ३०० ई० से ७०० ईस्वी के मध्य—

दूसरे विद्वान् उपर्युक्त युक्तियों को स्वीकार नहीं करते तथा कहते हैं— भास के बादशाह नाटक की खोज होने के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि मृच्छकटिक की रचना बादशाह के आधार पर की गई है, अतः शूद्रक के मृच्छकटिक की ऊपरी सीमा भास का समय ही सकता है। भास का काल अभी निश्चित नहीं हो पाया है। उसका समय १०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के मध्य माना जा सकता है। मृच्छकटिक में 'अथ हि पातवी विप्रो' (६-३६) इत्यादि-श्लोक में मनु का उल्लेख किया गया है इससे भी मृच्छकटिक की पूर्व सीमा निर्धारित करने में सहायता मिलती है। मनु का समय विद्वानों ने ई० पू० २०० माना है।

इस प्रकार मृच्छकटिक की पूर्व सीमा २०० ई० पू० निश्चित हो सकती है। इसकी ऊपरी सीमा कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास है, किन्तु अन्य विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। डॉ० बीस का मत है कि यह सन्देहास्पद है कि मृच्छकटिक कालिदास से प्राचीन है या अर्वाचीन। जैकोबी का विचार है कि मृच्छकटिक

१. The discovery of the Carudatta of Bhasa has cast an unexpected light on the age of the mrcchakatica but has still left it dubious whether or not the author is to be placed before Kalidas. The Sanskrit Drama पृ० १२८।

कालिदास से बर्बाबो न है ।<sup>१</sup> समालोचकों का यह भी कथन है कि कालिदास के नाटकों पर मृच्छकटिक का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः कालिदास मृच्छकटिक की अपर सीमा नहीं हो सकते । फिर इसकी अपर सीमा क्या है ? तामन (८०० ई०) ने काव्यालङ्कारमूर्तवृत्ति में शूद्रक का कवि के रूप में उल्लेख किया है तथा मृच्छकटिक के कई पद्य भी उद्धृत किये हैं । अतः मृच्छकटिक की निम्नतम सीमा ८०० ई० है । कुछ विद्वानों ने इसे ऊपर बढ़ाने का भी प्रयास किया है । प० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि दण्डी (७०० ई०) के काव्यादर्श में मृच्छकटिक का लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' (१.३) पद्य है अतः मृच्छकटिक की अपर सीमा ७०० ई० है । डॉ० देवस्यली का कथन है कि पञ्चतन्त्र में भी मृच्छकटिक के दो श्लोक मिलते हैं । उनके अनुसार पञ्चतन्त्र का समय ५०० ई० है; किन्तु कुछ विद्वान् मानते हैं कि पञ्चतन्त्र का समय अभी निश्चित नहीं हुआ । इस प्रकार दण्डी (७०० ई०) को ही मृच्छकटिक की अपर सीमा मानना उचित प्रतीत होता है ।

मृच्छकटिक के अन्तःसाध्य के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है । भारत का इतिहास बतलाता है कि गुप्त राजाओं के पश्चात् हर्षवर्धन तक कोई सार्वभौम राजा उत्पन्न नहीं हुआ । उस समय सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा अस्तव्यस्त थी । राजाओं का चारित्रिक पतन हो गया था और राजा के विरुद्ध कोई न कोई पद्मन्व रचा जाया करता था । मृच्छकटिक में उसी समाज का वर्णन दिखलाई देता है ।<sup>१</sup> इस आधार पर मृच्छकटिक की पाँचवी, छठी शताब्दी की रचना कहा जा सकता है ।

डॉ० कोष का कथन है कि भाषा और रचना-विधान की सादगी के आधार पर भी मृच्छकटिक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती । कारण यह है कि इसके लेखक ने भास की शैली तथा भाषा का पूर्णतया अनुसरण किया है । शकार और विट जैसे पात्र अवश्य ही प्राचीन रंगमञ्च के पात्र हैं तथापि यहाँ वे भास का अनुकरण करके ही कल्पित किये गये हैं । इनसे मृच्छकटिक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती । बौद्ध भिक्षुओं का ऐसा वर्णन भी भास से ही लिया गया है । मृच्छकटिक को प्राकृत भाषाओं से भी इसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि उन प्राकृतों में भास का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । साथ ही मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाओं के परीक्षण से तो उल्टा यह प्रतीत होता है कि वे भाषाएँ बहुत ही बाद की हैं जैसे मृच्छकटिक में प्रयुक्त 'वक्त्रो' नामक प्राकृत को विद्वानों ने अपभ्रंश का ही एक रूप माना है ।

१. The Sanskrit drama. १३१, टिप्पणी १.

२. डॉ० भोलाशंकर व्यास, संस्कृतकविदर्शन.



संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभी तक ऐसे पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं जिनके आधार पर मृच्छकटिक या उसके कर्ता (शूद्रक ?) का समय-निर्धारण किया जा सके। अतः मृच्छकटिक का समय ३०० ई० पू० से ७०० ई० तक दोलायमान है।

#### ५. मृच्छकटिक के कर्ता का जीवन परिचय—

जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है कि शूद्रक के जीवन के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय जानकारी पुराण या साहित्य से उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के प्राचीन कवियों ने अपने विषय में प्रायः मौन ही रक्खा है। मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक के विषय में भी यही बात है। अतः मृच्छकटिक से भी शूद्रक का विवेक विवरण उपलब्ध नहीं होगा।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना से उपलब्ध जानकारी—संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने नाटक की प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हुए अपने कथ तथा विद्वता आदि का परिचय दिया है। शूद्रक ने प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख तो नहीं किया तथापि अपना कुछ परिचय अवश्य दिया है। प्रस्तावना में कहा गया है कि शूद्रक कवि द्विज था। विद्वानों ने द्विज का अर्थ 'जन्मि' किया है। वह सुन्दर और सुधील था, हाथों जैसी मत्वाली चाल वाला तथा अत्यधिक शक्तिशाली भी। ऋग्वेद आदि का विद्वान् था। उसने तार की कृपा से ज्ञान प्राप्त किया था। वह समरव्यसनी और तपस्वी था। साय ही बड़े-बड़े हाथियों से बाहुबुद्ध करने में प्रवीण था। उसने सौ वर्ष और दस दिन की आयु व्यतीत करके पुत्र को राज्य छीप दिया तथा अग्नि में प्रवेष्ट किया।<sup>१</sup>

इन जानकारियों को प्राप्त करके कुछ सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं जैसे अपने 'अग्नि प्रवेश' का कथन असम्भव तथा असंज्ञत प्रतीत होता है। समीक्षकों ने इसका कई प्रकार से समाधान किया है (देखिये टिप्पणी)। इस प्रस्तावना में शूद्रक का राजा भी बतलाया गया है शूद्रको नृपः (अंक १-७)। किन्तु प्रस्तावना से कवि के देशपाल आदि के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

मृच्छकटिक के कर्ता का निवास-स्थान—मृच्छकटिक का कर्ता दक्षिणार्णव (महाप्रष्ट का निवासी) है ऐसा प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह खान्नावस का आदिम राजा है। खान्नावस का राज्य दक्षिण में ही था। अतः शूद्रक का दक्षिणार्णव होना स्पष्ट है। वामन के काव्यालङ्कार सूत्र के एक टीकाकार ने शूद्रक को 'राजा कोमति' लिखा है। M. R. बाले का कथन है कि मद्रास प्रदेश की एक व्यापारिक जाति आज भी 'कोमति' (Comati) कहलाती है। इससे विदित होता है कि शूद्रक दक्षिणार्णव था। अक्षररत्न प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि होती है। (१) दशम अक्षु में बाण्डाल ने दुर्गादेवी का सहस्राभिनी देवी के नाम से स्मरण

किया है—'भगवति सह्यवासिनी प्रसीद प्रसीद'। अबभूति जैसे दक्षिणात्य कवियों ने ही दुर्गादेवी का 'सह्यवासिनी' नाम से वर्णन किया है। उत्तरी कवियों ने उसका चन्द्रप्रवासिनी के नाम से उल्लेख किया है। (२) इस नाटक में कुछ ऐसे अद्भुत शब्दों का प्रयोग किया गया है; जो दक्षिण में ही प्रचलित हैं; जैसे वसन्तसेना के हाथी का नाम 'खुण्टमोडक'। (३) नाटककार ने चन्दनक के मुख से दक्षिणात्यो की विशेषता का उल्लेख कराया है—'वयं दक्षिणात्या अभ्यस्तभाषिणः'। इसके साथ ही म्लेच्छ भाषाओं के नाम भी गिनाये हैं। इन भाषाओं में से अधिकांश दक्षिण में ही बोली जाती हैं। (४) 'कर्णाटककलह' जैसी दक्षिणात्य विशेषताओं का भी वर्णन यहाँ किया गया है।

इस विवेचन से यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि कवि का निवासस्थान उज्जयिनी ही था। उज्जयिनी में दक्षिण के लोग भी राज्य के पदों पर प्रतिष्ठित रहा करते थे। चन्दनक ऐसा ही एक पदाधिकारी था। इसी हेतु मृच्छकटिक के वर्णनों में दक्षिणी भारत में प्रचलित शब्दों का प्रयोग तथा शब्दों का वर्णन मिलता है। दण्डी के कथन से भी शूद्रक की राजधानी उज्जयिनी ही प्रकट होती है।

शूद्रक का धार्मिक विरवास—मृच्छकटिक के अनुशीलन से विदित होता है कि शूद्रक वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने ऋग्वेद और सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा अथर्ववेद यज्ञ भी किया था। 'अग्नि प्रविष्टः' कथन के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि उसने 'अग्निहोत्र' करने का व्रत धारण किया था। वह बड़ा तपस्वी (तपोघनः) था और शिव का भक्त था जैसा कि 'शम्भो. समाधिः वः पातु' 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' तथा 'जयति वृषभकैतु' (१०—४५) इत्यादि से प्रतीत होता है। उसने शिव के प्रसाद से अज्ञानरूपी अन्धकार से मुक्त ज्ञान-चक्षुओं को प्राप्त किया था। वह देवी देवताओं की पूजा में भी विश्वास रखता था। यही कारण है कि उसने चारुदत्त के मुख से देवपूजा का महत्त्व प्रकट कराया है। वह वर्णाश्रम धर्म में भी निष्ठा रखता था। भरतवाक्य के श्लोको में ब्राह्मणों के सदाचारी और राजाओं के धर्मनिष्ठ होने की कामना की गई है। इसी प्रकार उसके कुछ अन्य विश्वासों तथा मान्यताओं का परिचय भी मिलता है। जैसे 'कांश्चित्तुच्छयति०, (१०, ६०) इत्यादि उक्तियों से प्रतीत होता है कि वह भाग्यवादी था 'चारुदत्त' आदि के संवादों में शूद्रक की अन्य मान्यताओं की भी झलक मिलती है।

शूद्रक की विद्वन्ता—मृच्छकटिक नाटक से प्रतीत होता है कि शूद्रक बहुज्ञ था। उसने विविध विषयों का अध्ययन किया था। वेद, गणित कला और हस्तिशिल्पा का ज्ञान प्राप्त किया था। कवि ने अपने आपको 'वेदविद्या ककुद' कहा है। 'अङ्गारकविरहस्य०' इत्यादि उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि वह ज्योतिष विद्या का भी ज्ञाता था। वह शकुन-विज्ञान से भी परिचित था, यह विविध शकुनों के फलाफल

धर्म से प्रतीत होता है। चतुर्कला और चापकला का तो शूद्रक ने मूढम एवं गम्भीर अनुशीलन किया था। लोक विद्या में वह अत्यन्त निपुण रहा होगा। तभी तो मन्त्र के विविध वर्गों के कार्य तथा व्यापारा का मूढम विज्ञेयण उसने किया है। घनगान्य से भी वह परिचित था तथा उसने घर्मशास्त्र में वर्णित न्यायाधीश आदि के गुणों एवं कर्तव्यों का भली भाँति अनुशीलन किया था, मनु के वचनों का उल्लेख करन से तथा न्यायाधीशों की मानसिक दशा के विश्लेषण से यह भली भाँति प्रतीत होता है।

शूद्रक का साहित्यिक ज्ञान भी उच्च कोटि का था। उसने विविध छन्दों और अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग किया है तथा नाटकीय रचना विज्ञान की दृष्टि में भी मृच्छकटिक नाटक विशेष महत्त्व रखता है। नभी ता दशरूपक आदि में अन्य नाटकों के उदाहरणों का साथ साथ मृच्छकटिक के भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वामन ने भी मृच्छकटिक के उदाहरण दिये हैं तथा 'श्लेषगुण' की योजना करन वामन कवियों में शूद्रक को प्रमुख स्थान दिया है। शूद्रक का भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य भी गम्भीर था। वह मस्टृत तथा प्राकृत भाषाओं का प्रौढ़ विद्वान् था। जितनी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मृच्छकटिक नाटक में मिलता है, उतनी भाषाओं का अन्य किसी नाटक में नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मृच्छकटिक का रचयिता अनेक विषयों का ज्ञाता था।

शूद्रक की रचनाएँ — इस समय शूद्रक की केवल एक कृति 'मृच्छकटिक' ही उपलब्ध है। दूसरी तथा वामन इत्यादि के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि शूद्रक की अन्य भी कोई रचना रही होगी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व 'पद्मप्रासृतक, नामक एक 'माण' दक्षिणी भारत में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक का कथन है कि यह मृच्छकटिक के कर्ता की ही रचना है। अभी इसकी वास्तविकता के विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्पादक श्री बल्लभदेव ने यह भी बतलाया है कि 'वत्सराजवरित' (वीणावामवदत्त) भी शूद्रक की तृतीया रचना है तथा सम्भवतः शूद्रक की चतुर्थ रचना 'कामदत्त' नामक एक प्रकारण ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ हमारे सामने उपलब्ध नहीं हैं अतः इसका सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनके अनुशीलन में मृच्छकटिक के रचयिता के जीवन तथा समय पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

## २. मृच्छकटिक

### १. संस्कृत नाटक और नाटक के तत्व —

साहित्य के आचार्यों के अनुसार 'काव्य' के दो प्रकार होते हैं—दृश्य और श्रव्य । वित्त काव्यों का रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जा सकता है वे दृश्य काव्य कहलाते हैं । ये दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं : रूपक और उपरूपक । रूपक को रस भाव आदि का आश्रय माना गया है । यह रूपक दस प्रकार का होता है—

नाटकान्य प्रकारं भाग-व्यायोग समवकाश-दिशाः ।

ईहानृणाङ्कुबीभ्यः प्रहसननिनि रूपकाणि दश ॥ भा० द० ६, ३॥

इन प्रकार संस्कृत के साहित्यग्रन्थों के अनुसार 'नाटक' रूपक का ही एक प्रकार है किन्तु हिन्दी भाग में सभी दृश्य (रूपक) काव्यों को सामान्यतः नाटक कह दिया जाता है । रूपक का ही एक प्रकार 'प्रकरण' कहलाता है । मृच्छकटिक एक प्रकरण है, इनका विन्त्यागपूर्वक भाग विवेचन किया जायेगा । उपरूपक १५ प्रकार का होता है । इनमें नाटिका अधिक प्रतिष्ठ है, जैसे रत्नावली नाटिका इत्यादि । ये उपरूपक भी कुछ बातों को छोड़कर प्रायः नाटक के समान ही होते हैं । दृश्य काव्यों के लिये 'नाट्य' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । इस शब्द का प्रयोग 'नाटककर्ता' के अर्थ में भी होता है ।

दृश्य काव्य के ये भेद एवं उपभेद वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर किये गये हैं । इन प्रकार प्रत्येक रूपक या उपरूपक के लिये ये तीनों अनिवार्य हैं अर्थात् भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि में दृश्य काव्य के ३ भेद हैं—वस्तु, नेता तथा रस । भारत का आधुनिक समाजोचना शास्त्र पाश्चात्य साहित्य में प्रथम विन है । अतः आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टि में भी नाटक के तत्वों का विचार करना आवश्यक हो जाता है । आचरक नाटक के निम्न तत्व माने जाते हैं—कथानक, पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, संवाद, देश वान का चित्रण, भाव-ध्वनी, अभिनेयता और रस ।

१. दृश्यकाव्यभेदेन पुनः काव्यं द्विधा भवन् । साहित्यदर्पण ६५ १ ।

२. अदस्यानुकुनिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।

रूपकं उत्पन्नावेगाङ्गप्रैव रमाश्रयन् ॥ दशरूपक, १. ७ ।

३. देखिये, साहित्यदर्पण ६, ४—५ ।

४. अष्टादश प्राङ्गुरूपकाणि मनीषिणः ।

विना विशेषं सर्वेषः भवन् नाटकवन्दनम् ॥ बही ६, ६ ।

५. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकाः ।

एन सभी उत्तवों का वन्द्य, नेता और रस में भी समावेश कर लिया गया है। यहाँ सभी उत्तवों की दृष्टि से मृच्छकटिक रूपक पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

२. मृच्छकटिक का नामकरण—साहित्य-दर्पण के अनुसार नाटक का नाम पवित्र अर्थ को प्रकट करने वाला होना चाहिये—नाम कार्य नाटकस्य पवित्रार्थं प्रकाशयन् (६, १४२) किन्तु 'प्रकरण' का नाम नायक-नायिका के नाम पर आधारित होना चाहिए—नायिकानामकाख्यायान् महा प्रकरणारिषु (६, १४३)। 'मृच्छकटिक' एक प्रकरण है तथापि इसका नामकरण करने पष्ठ अष्ट में पवित्र एक विशेष घटना के आधार पर किया गया है, 'चारदत्त का पुत्र रोहतेन पदौरी के पुत्र को सीते की माटी से खेलते हुए देखता है। वह भी अपनी मिट्टी की माटी से नहीं खेलना चाहता और उसके स्थान पर मुक्कण-निमित्त माटी चाहता है। वह उसके लिये आग्रह करता है। रदनिका नामक चारदत्त की सेविका उसे बहलाने के लिये वसन्तसेना के पास ले जाती है। वसन्तसेना उसके आग्रह को पूरा करने के लिये करने का मूषणों को उसकी मिट्टी की माटी पर साद देती है।" यह घटना मृच्छकटिक में अत्यन्त महत्त्व रखती है, क्योंकि इन का मूषणों को लेकर विदूषक वसन्तसेना को देने के लिये जाता है और जब वे न्यायालय में उसकी मास ले गिर पड़े हैं तो चारदत्त के वसन्तसेना की हत्या सम्बन्धी अन्याय को पुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार 'मिट्टी की माटी' सम्बन्धी घटना इस प्रकरण की कथा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और इसके आधार पर इसका नामकरण उपयुक्त ही है। साथ ही यह नाम शीघ्र ही उलान्त करने वाला है। नाम सुनते ही समाजिकों के हृदय में प्रकरण की कथा को जानने के लिये उत्तुरता उत्पन्न हो जाती है।

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि वे का मूषण न्यायाधिकरण में न गिरते तो भी नायिकाओं की भीमता और शकार के आग्रह के कारण चारदत्त को प्रायश्चित्त ही मिलता। यदि यह मानें कि उन का मूषणों द्वारा वसन्तसेना चारदत्त के हृदय में स्थान जाना चाहती थी अतः इनका विशेष महत्त्व है ही तो वे मूषण-मुक्कण के से और एकट निर्माण के निमित्त लिये गये थे; इसलिये उन प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' होना चाहिये था। साहित्यदर्पण के विषय-दुमर ली इसका नाम 'वसन्तसेना—चारदत्त' होना चाहिये था, जैसे कि 'मालती-माधव' इत्यादि नाम हैं।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि मिट्टी की माटी (मक्कट) के कारण ही मुक्कण की माटी का प्रस्ताव उचिततर हुआ था अतः इस घटना का मूल दृष्टिका की मक्कट (मूक्कट) है और 'मुक्कण-मक्कटिक' की अनेका मृच्छकटिक नाम ही अधिक उपयुक्त है। विद्वानों ने इस प्रश्न के अन्य समाधान भी प्रस्तुत किये हैं—जैसे (१) इस नाम के द्वारा कवि जीवन के लिये शिक्षा देना चाहता है। रोहतेन अपनी मिट्टी की माटी से मूक्कट नहीं है, वह पदौरी के पुत्र की सीते की माटी चाहता

है। परन्तु अपनी परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। ऐसे दोषों के कारण मनुष्य को आपत्ति का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार चारुदत्त भी धृता से सन्तोष न पाकर वसन्तसेना की ओर आकर्षित होता है। उसका जीवन कष्टमय होता है। अतएव 'मृच्छकटिक' असन्तोष का प्रतीक है। (२) इस शब्द से प्रवहण-विपर्यय की घटना भी सूचित होती है जो कि इस प्रकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। (३) भात का 'चारुदत्त' मृच्छकटिक का मूल है। उपलब्ध 'चारुदत्त' नाटक में चार अङ्क हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति अभिसरण के लिये उद्यत है—यही पर कथा समाप्त हो जाती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह नाटक अपूर्ण है। इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। इसकी कथा मृच्छकटिक के पञ्चम अङ्क की कथा पर्यन्त अवश्य रही होगी। यदि यह मत ठीक है तो इस प्रकरण के रचियता ने पष्ठ अङ्क से आगे का भाग ही अपनी कल्पना से रचा होगा। पष्ठ अङ्क में मिट्टी की गाड़ी की घटना आती है। अतः कवि ने अपनी कल्पना के आरम्भ को प्रकट करने के लिये इस घटना के नाम पर ही इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' रख दिया है।

जहाँ तक साहित्यदर्पण आदि साहित्यिक ग्रन्थों के विधान का प्रश्न है। स्पष्ट ही है कि नाटक—सम्बन्धी कठोर नियम भास, शूद्रक और कालिदास आदि के शास्त्रों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं अतः 'मृच्छकटिक' में उनके पूर्णतया पालन किये जाने की आज्ञा कैसे की जा सकती है? अतः इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' ही उचित प्रतीत होता है।

३. मृच्छकटिक प्रकरण; रूपक का एक भेद—'मृच्छकटिक' को रूपक के एक भेद 'प्रकरण' की कोटि में रखा जाता है। प्रकरण का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार यह है—

भवेत् प्रकरणे वृत्त लौकिकं कविकल्पितम् ।

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽपवा वणिक्

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥

नायिका कुलजा स्वापि वेश्या स्वापि द्वयं वध्विव् ।

तेन भेदास्त्रयः तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥

कितवद्युक्तरादिषिटचेटसंकुलः ।

(अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकदत्)

अर्थात् "प्रकरण रूपक का एक भेद है इसमें वृत्त लौकिक तथा कविकल्पित होता है; शृङ्गार मुख्य रस होता है; ब्राह्मण, अमात्य या वणिक् में से कोई एक नायक

१. श्री कान्तानाथ शास्त्री, मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० २२.

२. वही, पृ० २३ ।

३. वही, पृ० २३-२४

४. साहित्यदर्पण ६ २२४-२२५

होता है। वह नायक धीरे-धीरे प्रदान्त होता है तथा विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म अर्थ काम में परायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री या वेश्या होती है। किसी प्रकरण में कुलस्त्री तथा वेश्या दोनों ही नायिका रूप में दिखलाई जाती हैं। इन नायिकाओं की विशेषता से प्रवारण के भी तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों प्रकार-भेदों में नीसरा जो प्रवारण है (जिसमें कुलबा तथा वेश्या दोनों नायिका होती हैं) वह धूर्त, जुआरी, विट चेट आदि से भरा होता है। (यह प्रकरण नाटक का ही एक परिवर्तित रूप है अतः शेष सन्धि प्रवेशन आदि नाटक के ही समान होते हैं)।

मूच्छकटिक का कथानक लोकाभिन्न है। यह कनि द्वारा कल्पित किया गया है। इसका प्रधान रस शृङ्गार है वरुण (अङ्क १०) हास्य (विद्रूपक और शनार की उक्ति में) तथा शोभस (अङ्क २) इत्यादि शृङ्गार के अङ्ग रूप में आये हैं। नायक चारुदत्त द्राष्टाण है<sup>१</sup>, जो कि दरिद्रता की अवस्था में है तथापि धर्म अर्थ और काम की सिद्धि में उत्तर दिखलाई देता है। यहाँ दो नायिकाएँ हैं एक धृता जो कुलस्त्री है और दूसरी वसन्तसेना जो गणिका है। इस प्रकार दोनों प्रकार की नायिका होने में यह तीसरे प्रकार का प्रकरण है। यहाँ धूर्त दूतवर, विट चेट शकार आदि की भी योजना की गई है। दशरूपक के अनुसार मूच्छकटिक को सत्रीय प्रकरण कहा जा सकता है—सत्रीय धूर्तसकुलम्। इसमें सन्धि आदि नाटक के समान ही हैं यह आगे दिखनाया जायेगा।

मूच्छकटिक में लक्षणग्रन्थों के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया गया है। कारण यह है कि मूच्छकटिक के निर्माण काल में नाटक के ये नियम भली भाँति निर्धारित नहीं किये जा सके थे, जब अनेक नाटक रचे जा चुके तब उनके आधार पर नाटक के नियमों का निर्माण किया गया और उन्हें साहित्यिक रूप दे दिया गया। अतः मूच्छकटिक जैसी अत्यन्त प्राचीन रचना में उन सभी नियमों के पालन की सम्भावना कैसे की जा सकती है, फलतः यहाँ प्रकरण की कतिपय विशेषताएँ नहीं भी मिलती—(१) साहित्यदर्पण के अनुसार प्रकरण का नाम नायक और नायिका के नाम पर होना चाहिये (२) दशरूपक के अनुसार नायक प्रत्येक अङ्क में उपस्थित रहना चाहिये—प्रत्यक्षानुत्पत्त (अङ्क) ३, ३३, किन्तु यहाँ चारुदत्त सभी अङ्कों में उपस्थित नहीं है। (३) नाटकशास्त्र तथा दशरूपक के अनुसार कुलस्त्री और वेश्या दोनों का रङ्गमञ्च पर मिलन नहीं होना चाहिए, किन्तु यहाँ धृता और वसन्तसेना दोनों का रङ्गमञ्च पर केवल मिलन ही नहीं अपितु एक दूसरी का स्वागत

१ बृहत्कथा में लिखे गये धृता को भी कविकल्पित ही माना जाता है।

२. विप्रनायक यथा मूच्छकटिकम्। सा० द० ६, २२४।

३. इति मूच्छकटिके। यही, ३, २२४

कुलबाऽऽन्तरा वाह्या वश्या नातीक्रमोऽनया।

करती हैं। इन अनियमितताओं के अनेक कारण हो सकते हैं तथापि इनके होने में बंमत्य नहीं हो सकता। फिर भी साहित्य ममजो को 'सकीर्ण प्रकरण' का मृच्छकटिक में अन्य कोई उपयुक्त उदाहरण नहीं मिलता, इसमें सन्देह नहीं।

४. मृच्छकटिक का रचना-विधान—प्रायः सभी संस्कृत-नाट्यों का रचना-विधान समान है। नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने से पहले अभिनेता जन (नट) नाट्यमण्डप (रङ्ग) की विधन गान्धि के निये मङ्गलाचरण करते हैं। यह मङ्गलाचरण ही पूर्वरङ्ग कहनाता है। इस पूर्वरङ्ग के 'प्रत्याहार' इत्यादि अनेक अङ्ग है। नान्दी पाठ उन अङ्गों में प्रमुख है। अतः नान्दी-पाठ अनिवार्य माना गया है। मृच्छकटिक का आरम्भ नान्दी-पाठ में होता है। आरम्भ के दो श्लोक अर्थात् 'पर्यङ्क' तथा 'पातु' इत्यादि नान्दी के श्लोक हैं। यह नान्दी आठ पदों की है। तथा 'पत्रावली' नामक नान्दी है (देखिये सं० व्याख्या तथा टिप्पणी)। नान्दी-पाठ मूत्रधार करता है और किमी-किमी नाटक में नान्दी-पाठ के पश्चात् चला जाता है तथा दूसरा प्रधान नट त्रिपथ्यापक कहते हैं कवि और कृति आदि का परिचय देना है। मृच्छकटिक में मूत्रधार ही स्थापना का कार्य करता है। यह मूत्रधार भारतीयवृत्ति का आश्रय लेकर कवि का परिचय देना हुआ काव्यार्थ की सूचना देना है। नट का यह वाक्यापार जो अत्रिनाश संस्कृत भाषा में होता है भारतीयवृत्ति कहनाता है। भारतीयवृत्ति के चार अङ्ग होने हैं—प्ररोचना, (२) वीगी (३) प्रहसन और (४) आमुष्य। प्ररोचना का अन्वय है नाटक आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उनकी ओर आकृष्ट करना। मृच्छकटिक में एतद्वि किल शूद्रको नृप. १।३ यह प्ररोचना है। इसमें कवि की प्रशंसा है तथा काव्यार्थ की सूचना भी दी गई है। आमुष्य की प्रस्तावना भी कहते हैं। इसमें मूत्रधार नटी, गारिपाश्विक या विद्रुगक के साथ वार्तालाप करना हुआ विचित्र उक्तियों के द्वारा अनिन्द्य वस्तु की ओर संकेत कर दिया करता है किमी प्रमुख पात्र के प्रवेश की सूचना भी दे देता है। प्रस्तुत रूपक में मूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रवृत्त वस्तु की ओर कतिपय संकेत करता है और संश्लेष के प्रवेश की सूचना भी देता है। दशरूपक के अनुसार

१. मन्नाट्यवस्तुन पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।

कुनीतवाः प्रवृवंन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

प्रत्याहारदिकान्त्वङ्गावपस्य भ्यासि पद्यपि ।

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ मा० द० ६/२०.२३ ।

२. पर्यङ्कान् द्वादशभिरष्टाभिर्वा पर्यङ्कान् । वही, ६/२५ ।

३. पूर्वरङ्गं विषादेव मूत्रधारो निवर्तते ।

प्रविश्य स्थापकस्तद्भुत् काव्यमास्यापदेन् तन । वही, ६/२६ ।

४. मि० वही; ६/२८.

५. वही, ६/२६ ।

६. देखिये, सं० व्याख्या ।

७. देखिये, टिप्पणी, पृ० ४५५ ।



यह प्रस्तावना तीन प्रकार की होती है—कपोदघात, प्रवर्तक और प्रयोगातिशय (३।८-९)। साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना के पाँच प्रकार होते हैं—उद्घात्यक, कपोदघात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलम्बित। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है (देखिये, टिप्पणी पृ० ४५५)। अभिनेय वस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाता है और प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रस्तावना के पश्चात् वास्तविक नाटकीय कार्य आरम्भ होता है। इसमें दो प्रकार की घटनाओं को प्रयुक्त किया जाता है। १. दृश्य, २. सूच्य। १. दृश्य वे तरत घटनाएँ हैं जिनका नामक से सम्बन्ध होता है और जिनका रङ्गमञ्च पर अभिनय करना होता है। ऐसी घटनाओं का समावेश अङ्को में किया जाता है। प्रत्येक अङ्क में प्रायः एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का समावेश होता है। २. सूच्य—वे घटनाएँ होती हैं जो नीरस होती हैं, दो दिन से लेकर वर्षपर्यन्त चलने वाली होती हैं तथा अङ्को में दर्शनीय नहीं होती। यदि कथा-प्रवाह आदि के लिये आवश्यक होता है तो ऐसी घटनाओं को अर्धोपक्षेपको (अर्थ की सूचना देने वाले अर्थ) के द्वारा सूचना मात्र दी जाती है। ये अर्धोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं—१. विष्कम्भक २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अङ्कावतार और, ५. अङ्कमुख।

विष्कम्भक इत्यादिका विशद विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है। इनमें से चूलिका (नेपथ्य से वस्तु की सूचना) का मृच्छकटिक में यत्र-तत्र पर्याप्त प्रयोग किया गया है, किन्तु अन्य विभाजन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कारण यह है कि नाटको के रचना-विधान का यह सूदम विभाजन मृच्छकटिक के रचना-काल में इतना प्रचलित नहीं हुआ था।

संस्कृत नाटको की समाप्ति भी मङ्गलपाठ, से होती है। अर्तों के मङ्गलपाठ को 'भरतवाक्य' कहा जाता है। 'भरत' का अर्थ नट होता है। किसी प्रमुख नट द्वारा 'भरतवाक्य' का पाठ किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रथम व्याचार्य के नाम पर इस अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रख दिया गया है। इस प्रशस्ति में आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना की जाती है अथवा सामान्यतः प्रजामात्र के कल्याण की कामना की जाती है। मृच्छकटिक के भरतवाक्य में व्यापक रूप से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना की गई है—'जगन्माजः मोदन्ताम्'। साथ ही ब्राह्मणों के सदाचारों होने और राजाओं के शर्मनिष्ठ होकर भूमि-पालन करने की कामना है।

५. मृच्छकटिक की कथावस्तु—

(क) सक्षिप्त कथा—मृच्छकटिक नामक प्रवरण चारदत्त और वसन्तसेना की कल्पित प्रेम-कथा के आधार पर लिखा गया है। 'चारदत्त' उज्जयिनी का एक

१. दशरूपक ३.३१।

२ साहित्यदर्पण ६.३१-५३।

३. वही ६.५४।

४. वही; ६.५५-६३।

सम्मानित ब्राह्मण है जो दण्ड है। वसन्तसेना उज्जयिनी की एक गनिका है जो रूपवती एवं दुर्नवती है; किन्तु धन की अभिलाषा नहीं रखती तथा चाण्डल से प्रेम करती है। संघर्ष में कथानक इस प्रकार है—

अङ्क १—चाण्डल के मित्र जूगवंश का दिया हुआ शाल लेकर विद्रुपक (मंत्रेय) आता है तभी चाण्डल विद्रुपक से चौराहे पर देवियों को बलि देने के लिये जाने को कहता है किन्तु विद्रुपक आनाकानी करता है और चाण्डल दण्डिता के दोषों का स्मरण करने लगता है। फिर विद्रुपक रदनिका (सेविका) को साथ लेकर जाने के लिये तैयार होता है। इसी समय राजमार्ग में विट शकार आदि के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना चाण्डल के घर के समीप आ जाती है और घर में प्रवेश करती है। वहाँ विद्रुपक और रदनिका बाहर जाते हैं तो शकार रदनिका को वसन्तसेना जानकर पकड़ लेता है और विट के कहने से छोड़ता है। वसन्तसेना किसी भावी लाभ की भाशा से अपने आभूषण चाण्डल के घर रख देती है तथा चाण्डल उसे घर पहुँचा आता है।

अङ्क २—वसन्तसेना अपनी बेटो मदनिका के साथ चाण्डल सम्बन्धी दातृ-ज्ञान कर रही है। इसी समय सवाहक आता है। जुआरी और घूतकरो का मुष्पिया (मापुर्) उसका पीछा करते हुए आते हैं। वसन्तसेना अपना स्वर्णामूषण लेकर सवाहक को छुड़ाती है। सवाहक दिरक्त होकर बौद्ध-भिन्नु बन जाता है। वसन्तसेना का उन्मत्त हाथी मार्ग में उसे पकड़ लेता है तथा वसन्तसेना का सेवक कर्णपूरक उसे हाथी से छुड़ाता है। कर्णक चाण्डल कर्णपूरक को पुरस्कार स्वरूप अपना दुगाला देता है।

अङ्क ३—चाण्डल और मंत्रेय संगीत सुनकर आते हैं। वे घर में आकर सो जाते हैं। इधर मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिये शक्तिरु चाण्डल के घर संघ लगता है और वसन्तसेना के आभूषणों को चुराकर ले जाता है।

अङ्क ४—शातःशान शक्तिरु आभूषण लेकर मदनिका के पास आता है। ये आभूषण चाण्डल के घर से चुराये गये हैं, यह जानकर मदनिका दुःखी होती है और उन आभूषणों को त्रिगुणतूर्पक वसन्तसेना को दिला देती है। वसन्तसेना मदनिका को सेवामुक्त कर देती है। उधर चाण्डल की पतिव्रता स्त्री घूटा अपनी रत्नावली चाण्डल को दे देती है और चाण्डल उसे विद्रुपक के द्वारा वसन्तसेना के घर भेज देता है।

अङ्क ५—वसन्तसेना विट तथा चेटी के साथ चाण्डल के प्रति अभिसरण करती है। यह दुर्दिन है; यथाशक्य, शेष यज्ञना; दर्पा की सड़ी और विघ्न की लकड़क। चाण्डल उसकी प्रतीक्षा में है। वह भीपी हुई वहाँ पहुँचती है और रात्रि में अभिसरण करती है।

१. प्रथम अङ्क की वस्तु कथा उस अङ्क की टिप्पणियों के आरम्भ में दी गई है।

अङ्क ६—प्रातः काल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में आ जाता है। इधर वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र रोहसन को लेकर वसन्तसेना के पास आती है। रोहसन मोने की गाड़ी पाने के लिये आग्रह कर रहा है और वसन्तसेना अपने आभूषणों को उसकी मिट्टी की गाड़ी में लादती है। तब वह भी पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को तैयार होती है, किन्तु भ्रमवश चारुदत्त की गाड़ी के बदले तमीप खड़ी हुई शकार का गाड़ी में बैठ जाती है। इसी समय पाम्य द्वारा बन्दी बनाया गया आषक भागकर आता है और चारुदत्त की गाड़ी को खाली पाकर उसमें बैठ जाता है। गाड़ीवान समझता है कि वसन्तसेना बैठ गई है और गाड़ी को ले जाता है। मार्ग में दो रक्षक गन्दक और बीरक गाड़ी को रोकते हैं। चन्दनक आषक को देखकर रक्षा का ध्यान देता है और जब बीरक भी गाड़ी को देखना चाहता है तो झगडा करने लगता है।

अङ्क ७—आषक उद्यान में पहुँचता है। चारुदत्त उसे देखता है और उसे प्रथमपूर्वक विदा कर देता है।

अङ्क ८—भिक्षु उद्यान में आता है। शकार उसे पीटने को उद्यत है। वह किसी प्रकार बचकर चला जाता है। इसी समय वसन्तसेना उद्यान में पहुँचती है। उसे देखकर शकार तण्ड प्रस्ताप करना है। वह उसे स्वीकार नहीं करती तो वह वसन्तसेना का गला घोट देता है और सूखी पत्तियों में ढकाकर भाग जाता है। बौद्ध भिक्षु वहाँ आता है और वसन्तसेना को पुनर्जीविन करता है।

अङ्क ९—शकार न्याय सभ में जाता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना का हत्या का अभियोग लगाता है। दुर्धवात् अभियोग सिद्ध हो जाता है और चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है।

अङ्क १०—बाण्डाल चारुदत्त को भ्रमशान में ले जाते हैं। विदूषक तथा रोहसन भी यहाँ पहुँच जाते हैं। फाँसी लगने को है कि भिक्षु वसन्तसेना को लेकर यहाँ पहुँच जाता है। इधर पालक को मारकर आषक राजा बनता है और उसका मित्र शविनक भी भ्रमशान भूमि में पहुँच जाता है। चारुदत्त के स्थान पर शकार को फाँसी का दण्ड दिया जाता है। किन्तु चारुदत्त उसे समझा कर दत्ता है। राजा वसन्तसेना को बन्धु बन्ध से अनङ्कृत कर देता है और चारुदत्त तथा वसन्तसेना का विवाह हो जाता है।

संक्षेप में मृच्छकटिक को महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं—(१) वसन्तसेना का आभूषण ग्याप्त, (२) वसन्तसेना द्वारा शकार की अवहेलना, (३) शविनक द्वारा आभूषणों की चोरी और उन आभूषणों का वसन्तसेना पर पहुँचाना, (४) सवाहक का वसन्तसेना से परिचय, (५) आभूषणों के बदले में चारुदत्त द्वारा रत्नावली का भेजा जाना, (६) वसन्तसेना का अभिसरण, (७) रोहसन की मिट्टी की गाड़ी को आभूषणों से लादना, (८) प्रवहण-विषय, जिसके कारण आषक की रक्षा हुई तथा

वमन्तसेना का गना घोटा गया, (६) मंवाहक द्वारा वमन्तसेना का पुनर्जन्म (१०) शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाया गया वमन्तसेना की हत्या का अभियोग और उसकी सिद्धि । (११) चारुदत्त को फाँसी देने की तैयारी किन्तु अकस्मात् वमन्तसेना को लेकर भिक्षु का आगमन और शशिलक का आगमन ।

(ख) मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलस्रोत—

(i) भाम की चारुदत्त नाटक—मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो अंश हैं— एक तो चारुदत्त और वमन्तसेना का प्रेम और दूसरा आर्यक की राज्य-प्राप्ति । भाम के 'चारुदत्त' नाटक की उपलब्धि हो जान पर विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि शूद्रक ने कथावस्तु का प्रथम अंश 'चारुदत्त' से लिया है । चारुदत्त और मृच्छकटिक के कथाश में बहुत अधिक समानता है । वहाँ चरुदत्त और अर्यक दोनों प्रकार की ममता है । 'चारुदत्त' में चार अङ्क हैं । संक्षेप में 'चारुदत्त' की रूपरेखा यह है—

'चारुदत्त' नाटक के आरम्भ में नाट्यी पाठ नहीं है । सूत्रधार और नटी के संवाद से ही नाटक आरम्भ हो जाता है । इसके चार अङ्कों की कथा प्रायेण मृच्छकटिक के आरम्भ के चार अङ्कों की कथा से मिलती है । इनमें चारुदत्त, विदूषक, शकार, विट, मंवाहक चेट (मृच्छकटिक का वगडूक), और सञ्जलक (मृच्छकटिक का शशिलक)—ये पुंस्व पात्र हैं । वसन्तसेना, द्राह्याणी (धूता) रदनिका (चारुदत्त की चेट्ठी) और मदरिका (वमन्तसेना की सखी तथा चेट्ठी)—ये स्त्री पात्र हैं । नाटक के अन्त में वमन्तसेना मदरिका को सञ्जलक के साथ विदा करती है और फिर आपभूषणों के साथ चारुदत्त के प्रति अभिमरण का प्रस्ताव करती है ।

मृच्छकटिक प्रकरण में प्रत्येक पृष्ठ पर चारुदत्त के श्लोक, संवाद तथा उक्तियाँ ज्यों की त्यों हृष्टिगोचर होती हैं । यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के ये चार अङ्क चारुदत्त नाटक का स्थानान्तर भाग हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि चारुदत्त नाटक में द्विम सन्दर्भ का सरल तथा सज्जित रूप में वर्णन किया गया है, मृच्छकटिक में उनका विस्तारपूर्वक कुछ अलङ्कृत अंशों में वर्णन किया गया है । इस आधार पर अधिकतर विद्वानों ने यह निर्धारित किया है कि मृच्छकटिक चारुदत्त नाटक का परिवर्द्धित स्थानान्तर है । इसकी मुख्य कथा का मूल स्रोत चारुदत्त नाटक है । मृच्छकटिककार ने उसकी कथा में 'बृहत्कथा' से ली गई राज्य-विप्लव की कथा को कल्पनाओं से रंग कर जोड़ दिया है ।

(ii) कृत्कथा अथवा प्रचलित स्रोत— 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' की समानता में किसी की आपत्ति नहीं है तथापि अनेक विद्वानों का विचार है कि 'चारुदत्त' नाटक को मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि अभी यह सन्देहास्पद है कि उपरोक्त 'चारुदत्त' नाटक भाम की कृति है ? कुछ समालोचकों का कथन है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अङ्कों

का एक ऐसा रूपान्तर है जो रङ्गमञ्च के योग्य बना लिया गया है ।<sup>1</sup> अथवा भाव रचित कोई 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक या उसका ही संक्षिप्त संस्करण 'चारुदत्त' नाटक है । दूसरे आलोचक कहते हैं कि 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' दोनों ही भाव की रचनाएँ हैं । यदि इन मतो को सत्य माना जाता है तो 'चारुदत्त' नाटक 'मृच्छकटिक' की कथा का स्रोत नहीं होसकता । तब इसकी कथा का स्रोत क्या होगा ? यद्यपि सोमदेव के 'कयासरित्सागर' में 'हृषणिका' और एक निर्धन ब्राह्मण के प्रणय की कथा है तथा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में एक ब्राह्मण के साथ 'राममञ्जरी' के प्रेम का वर्णन किया गया है तथापि इनको तो मृच्छकटिक की कथा का मूल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सोमदेव का समय एकादश शतक है तथा दण्डी का सप्तम शतक । मृच्छकटिक इन दोनों से अवश्य प्राचीन है । फिर ये प्रत्येक मृच्छकटिक कथा के आधार कैसे हो सकते हैं ? हाँ यदि यह माना जाये की सोमदेव का कयासरित् सागर गुणाद्य ही बृहत्कथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है तो मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत 'बृहत्कथा' को ही माना जा सकता है अथवा 'बृहत्कथा' की कहानियों के समान ही कुछ लोक कथाएँ भी प्रचलित रही होंगी । वे लोककथाएँ ही मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलस्रोत मानी जा सकती हैं । राज्य-विप्लव वाले कथाश का मूल स्रोत भी बृहत्कथा में ही माना जाता है ।

समालोचको का कथन है कि चारुदत्त नाटक को मृच्छकटिक के चार अङ्कों का सारभूत नाटक नहीं कहा जा सकता । दोनों की भाषा तथा शैली का अनुशीलन करने से यह स्पष्टतया विदित होता है कि 'चारुदत्त, नाटक ही प्राचीन है । मृच्छकटिक में सर्वत्र ही 'चारुदत्त' की अपेक्षा परिष्कृत भाषा है, उदात्त भावनाएँ हैं और विकसित विचार हैं । मृच्छकटिक की प्राकृत भी चारुदत्त की प्राकृत की अपेक्षा अर्वाचीन है । यदि चारुदत्त नाटक मृच्छकटिक के आधार पर रचा गया होता तो इसकी कहानी पूर्ण हुई होती । यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं कि दोनों के रचयिता भाग ही हैं । भास में एक ही कथावस्तु को लेकर दो नाटक क्यों रचे ? एक को अधूरा ही क्यों छोड़ दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर मिलना कठिन ही है । चारुदत्त और मृच्छकटिक दोनों कृतियों का आधार 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक ही रहा होगा । इस कल्पना में भी कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता । अतः यही युक्तिगत है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक से प्राचीन है और यही मृच्छकटिक की कथा का आधार है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक ने 'चारुदत्त' नाटक की कथा को अपूर्ण प्रायः और उसने इसको पूर्ण करने के लिये इसमें ६ अङ्क और जोड़ दिये । अपनी कृति

1. I need only assert here my view that Charudatta is abridged from the first four acts of the Mrcchakatika, with a few additions and numerous alteration particularly in the verse portions.  
'सौ० आर० देवघर, चारुदत्त Introduction, ५० ५

को रोचक एवं शाह्य बनाने के लिये मूलकथा में भी यत्र तत्र परिवर्तन किये, भाषा को परिष्कृत एवं अलङ्कृत किया। शूद्रक ने भास की सादी शैली के स्थान पर अपेक्षाकृत आकर्षक एवं परिष्कृत अभिव्यञ्जना शैली का प्रयोग किया। मृच्छकटिक के अनेक स्थलों में यह बात स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

### चारदत्त

### मृच्छकटिक

१. स्वरान्तरेण दशा हि व्याहृतुं तन्न  
मुख्यताम् ।

वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमा-  
श्रिता ।

२. उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव ।

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणानुरयस्या ।

३. शत्रुसहस्रमूल्या

शत्रुसमुद्रसारभूता ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक ने भास के वाक्यों में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की है उनके भाव को अधिक मार्मिक बना दिया है। यही नहीं शूद्रक ने कथा में भी अनेक नवीन उद्भावनायें की हैं।

(ग) मूल कथानक में नवीन उद्भावनायें और उनका नाटकीय प्रभाव—  
'चारदत्त' के कथानक को अधिक रोचक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये शूद्रक ने उसमें कविपय परिवर्तन किये हैं। साथ ही कुछ नवीन कल्पनायें भी की हैं—(१) 'चारदत्त' नाटक में यह नहीं दिखाया गया कि विद्रूपक किस कारण से 'चारदत्त' के घर जाता है, किन्तु मृच्छकटिक में बतलाया गया है कि वह जूनाबूट के दिये हुए शाल को लेकर जाता है। (२) 'चारदत्त' में वसन्तसेना विद्रूपक के साथ घर लौटती है किन्तु मृच्छकटिक में 'चारदत्त' भी वसन्तसेना के साथ जाता है। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में दूत का विवाह वर्णन है वह 'चारदत्त' में उपलब्ध नहीं होता। इससे शूद्रक की मौलिक प्रतिभा तथा बहुज्ञता प्रकट होती है तथा रोचकता बढ़ जाती है। (४) 'चारदत्त' में—विद्रूपक के रत्नावली अपित करने के पश्चात् सज्जलक वसन्तसेना के यहाँ जाता है किन्तु मृच्छकटिक में पहले मर्विलक जाता है, मर्दनिका विदा हो जाती है और तब विद्रूपक रत्नावली को लेकर पहुँचता है। इससे 'चारदत्त' की उदारता का वसन्तसेना के हृदय पर गहन प्रभाव पड़ता है और वह तत्काल ही अभिसरण के लिये उद्यत हो जाती है। (५) 'चारदत्त' में वसन्तसेना के भवन का वर्णन केवल चार पंक्तियों में किया गया है किन्तु 'मृच्छकटिक' में इसका अत्यन्त विनाद एवं रोचक वर्णन किया गया है। (६) आर्यक और पालक की कथा तो शूद्रक की निदान्त नवीन एवं मौलिक कल्पना है। 'चारदत्त' में इसका संकेत भी नहीं मिलता। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में ही इसका उल्लेख किया गया है तथा इसका पूर्णतया वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त शूद्रक ने कथावस्तु में कुछ अन्य भी छोटे-छोटे परिवर्तन किये हैं। शैली और नाटकीय रचना-विधान में भी नवीनता दिखाई है। उदाहरणार्थ 'चारदत्त' में नृनपार केवल प्राकृत भाषा में बोला है; किन्तु मृच्छकटिक में वह संस्कृत में बोलना आरम्भ करता है और कार्यवधात् प्राकृत में बोलने लगता है।

परिवर्तनों का नाटकीय प्रभाव—इन सभी परिवर्तनों से मूल कथा को प्रभावोत्पादकता बढ गई है। इनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक ने एक मौलिक कवि-प्रतिभा थी और उसकी निरीक्षण शक्ति सूक्ष्म थी तथा वह नाट्य-कला का समझ था। चारुदत्त के वसन्तसेना के पर जाने की घटना से चारुदत्त के प्रेम की गहनता प्रकट होती है, यद्यपि रङ्गमञ्च पर इतनी लम्बी यात्रा का प्रदर्शन कठिन अवश्य है। शूद्रक का विशद वर्णन तथा वसन्तसेना के भवन का वर्णन सहृदय जनो के हृदय में कीतूहल उत्पन्न करता है और एक हास्य मिश्रित चमत्कार की अनुभूति कराता है। शकिलक के गमन के अनन्तर विदूषक के आगमन का वर्णन करने से वसन्तसेना के अनुराग को भी पोषण मिलता है अन्यथा मदनिका की विदाई की घटना का ही प्रभाव हृदय पर बना रहता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है—यद्यपि शूद्रक ने मौलिक कथावस्तु का निर्माण नहीं किया तथापि उसने 'चारुदत्त' के आधार पर एक अनूठी कथावस्तु की रचना कर डाली। उसकी विशेषता यही है कि उसने एक अधूरी कथा से बंधे रहकर भी उसमें उचित घटनाओं का समावेश किया तथा उसे स्वाभाविक गति प्रदान की। यही उसका रचना कौशल है, इसी अंश में उसकी मौलिकता है। जति ६ अङ्कों की कथा तो शूद्रक की निजी उद्भावना ही है। इससे शूद्रक की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इससे प्रकट होता है कि शूद्रक ने मौलिक कथावस्तु के निर्माण की अनूठी प्रतिभा थी। यदि शूद्रक ने कोई स्वतन्त्र रचना की होती तो उसे अनूठी सफलता प्राप्त होती इसमें सन्देह नहीं। अब भी शूद्रक का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। उसका मृच्छकटिक साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से चारुदत्त से नहीं बढकर है। डॉ० कीप का कथन है (The value of the play (चारुदत्त) must seem less to us than completed and elaborated in the Mucchakatika

(घ) मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान तथा समय—मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान उज्जयिनी नगरी है, किन्तु इन घटनाओं का आरम्भ किस दिन हुआ यह नाटक में स्पष्टतः नहीं बतलाया गया। इसका निर्धारण करने के लिये हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। प्रथम अङ्क में शकलक कहता है 'एषा गर्भदासी कामदेवापतनोद्यानात् प्रभृति' इत्यादि इससे प्रकट होता है कि कामदेव के उत्सव के पश्चात् ही इस नाटक की घटनाओं का समय है। कामदेव का उत्सव वही होना चाहिये, जो कि 'वसन्तोत्सव' या 'मदनोत्सव' नाम से प्रसिद्ध है और रत्नावली नाटिका इत्यादि में जिसका उल्लेख किया गया है। यह उत्सव वसन्त ऋतु के यागमन के समय माघशुक्ला ५ [वसन्तपञ्चमी] को मनाया जाता है। इससे पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का समय है। कितने समय पश्चात्? यह निर्धारित करने के लिये भी मृच्छकटिक के कुछ वर्णनों का सहारा लेना आवश्यक है। प्रथम अङ्क में 'सिद्धीव्रत-देवकार्यस्य' (पृ० १४) के स्थान पर 'पञ्चीव्रतकृतदेवकार्यस्य' भी पाठ मिलता है।

उससे विदित होता है कि जिस दिन वसन्तसेना प्रथम बार चारदत्त के घर गई वह 'पष्ठी' रही होगी। किन्तु वह माघ शुक्ला पष्ठी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो अनुराग के परिपाक के लिये कुछ समय अपेक्षित है अतः वसन्तपञ्चमी से अग्रिम दिन ही वह नहीं हो सकता। प्रथम अष्टु की कथा से यह प्रतीत होता है कि उस समय वसन्तसेना चारदत्त में भली-भाँति अनुरक्त थी। दूसरे जब चारदत्त वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाता है तब वह चन्द्रोदय का वर्णन करता है— कृत प्रदीपिकाभि.  
 ..... उदयति हि शशाङ्कः ।' इत्यादि (पृ० ५४)। उस समय राजमार्ग धूम्य हो चुके थे, पर्याप्त रात्रि बीत चुकी थी लगभग १ बजे का समय होगा वह शुक्लपक्ष की पष्ठी नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि वह माघ से अग्रिम मास (फाल्गुण) में कृष्ण पक्ष की पष्ठी रही होगी। यहाँ प्रश्न यह है कि वसन्तपञ्चमी से १५ दिन पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का आरम्भ क्यों माना जाये, उठ मास या ढाई मास पश्चात् क्यों नहीं? उत्तर स्पष्ट है कि जब भृच्छकटिक की घटनाओं का आरम्भ हुआ तब वसन्त ऋतु थी, प्रीत्य ऋतु नहीं आई थी, क्योंकि (१) 'मास्ताभिलाषी प्रदोषसमपशीततां रोहनेन.' इत्यादि में शीतकाल दिखनाया गया है (-) जब लगभग १५ दिन पश्चात् विदूषक वसन्तसेना के घर जाता है तब भी वह 'नवनिर्गम-कुमुमपल्लवः अशोकवृक्ष (पृ० १५४) को देखता है और अशोक वृक्ष वसन्त में ही बुभुक्षित होता है। (३) वसन्तसेना जानी पुष्पो से सुवासित शाल को देखकर आश्चर्य करती है, कारण यह है कि वसन्त ऋतु में जाती पुष्पो का प्रायः अभाव ही होता है— 'न स्याज्जाती वसन्ते।' (सा० ८० ० २५) इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि नाटक की घटना फाल्गुन कृष्ण पष्ठी की आरम्भ हुई है। समस्त घटनाओं का स्थान तथा समय निम्न प्रकार रहा होगा—

अष्टु १—घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारदत्त का घर है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इनका समय फाल्गुन कृष्ण पष्ठी है। प्रदोषकाल के अग्रकार (एतस्या प्रदोषवेताया पृ० २२ तथा लिम्पतीव तमोऽङ्गानि पृ० ६६) में लगभग ८ बजे से इस अष्टु की घटनाएँ आरम्भ होती हैं तथा वसन्तसेना के घर लौटने पर समाप्त होती हैं। यह समय चन्द्रोदय का (लगभग) ११ बजे रहा होगा।

अष्टु २—द्वितीय अष्टु की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा वसन्तसेना का घर है। सम्भवतः इनका समय प्रथम अष्टु का दूसरा दिन है, क्योंकि वहाँ जातीपुष्प वासित शाल चारदत्त द्वारा कर्णपूरक को दिया जाता है और वह तभी तक सुगन्ध युक्त है। ये घटनाएँ प्रातःकाल आरम्भ होती हैं, जबकि वसन्तसेना स्नान करने को है। (स्नाना भूत्वा देवनागा पूजा निर्वर्ण्य पृ० ६६)। सवाहक का आना, भिक्षु रूप धारण करना तथा कर्णपूरक द्वारा हाथों से उसकी रक्षा किया जाना आदि कार्यों के लिये ५ घण्टे के लगभग समय चाहिये, अतः इस अष्टु की घटनाओं का समाप्ति काल लगभग मध्याह्न १२ बजे तक होगा।



अङ्क ३—तृतीय अङ्क की घटनाओं का स्थान चारुदत्त का घर है। ये प्रथम अङ्क की घटनाओं से लगभग १५ दिन बाद की हैं। जब चारुदत्त संगीत सुनकर मोटता है तो उस समय अर्ध रात्रि स्थिति हो रही है। (अतिक्रामति अर्धरात्रिं पृ० १०६) इसी समय चन्द्रमा जस्त हो रहा है (अस्त ब्रह्मस्युन्नतकोटिरिन्दुः पृ० ११०)। अर्ध रात्रि के पश्चात् चन्द्र के अस्त होने से प्रकट होता है कि सुकल पक्ष की अष्टमी होनी चाहिये। लगभग रात्रि के १ बजे से इस अङ्क की घटनाएँ आरम्भ होती हैं और प्रातः काल तक चलती रहती हैं, जबकि चारुदत्त वर्धमानक से सँघ बन्द करने को कहता है।

अङ्क ४—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान वसन्तसेना का घर है। चोरी की रात्रि के दूसरे दिन (अर्थात् फाल्गुन शुक्ला नवमी) की ही ये घटनाएँ प्रतीत होती हैं। रूर्वाहू में (लगभग ८ बजे) शबिलक मदनिका को मुक्त कराने के लिये वसन्तसेना के घर आता है। इसकी विदाई के पश्चात् विद्रूपक आता है। इन कार्यों के लिये २ से ४ घण्टे तक का समय चाहिये। विद्रूपक के लौटते समय वसन्तसेना प्रदोष बेला में चारुदत्त के यहाँ जाने की बात कहती है (अहमपि प्रदोषे आये प्रेषितुमागन्धामि' पृ० १८६)।

अङ्क ५—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारुदत्त का घर है। चतुर्थ अङ्क के दिन ही प्रदोष बेला में ये घटनाएँ आरम्भ होती हैं और प्रायः अर्ध रात्रि तक इनका समय है।

अङ्क ६—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग है। पञ्चम अङ्क की कथा के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) प्रभात में ही वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को उद्यत है। प्रवहणविपर्यय, वीरक-चन्दनक का कसह तथा आर्यक के पलायन आदि के पश्चात् उद्यान तक पहुँचने के लिये लगभग तीन घण्टे चाहिये अतः इनका समय लगभग १० बजे तक हो सकता है।

अङ्क ७—इस अङ्क की घटना का स्थान पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटनाओं के अनन्तर ही चारुदत्त की गाड़ी आर्यक को लेकर चारुदत्त के पास पहुँच जाती है। इसके लिये अधिक से अधिक एक घण्टा पर्याप्त है, अतः लगभग दिन के ११ बजे तक इसका समय होना चाहिये।

अङ्क ८—इसकी घटनाओं का स्थान भी पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटना के अनन्तर ही चारुदत्त उद्यान से चला जाता है और भिक्षु उद्यान में प्रवेश करता है। अतः घटनाएँ उसी दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) की हैं। इसका आरम्भ मध्याह्न में होता है (नभोमध्यगतः सूर्यः पृ० २८६) गाड़ी का आना वसन्तसेना मोटन तथा उसका पुनरुज्जीवन इत्यादि घटनाओं के लिये लगभग ४ घण्टे आवश्यक हैं अतः ये घटनाएँ लगभग अपराह्न चार बजे तक की हो सकती हैं।

अङ्क ९—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान न्यायालय है। ये घटनाएँ अष्टम अङ्क की घटनाओं के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला एकादशी) की हैं, क्योंकि वीरक

कहता है—'अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे' (पृ० ३६२) । किन्तु मिश्रक के कथन से इस बात का समर्थन नहीं होता । उससे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसी दिन की ये घटनाएँ हों । प्रायः पूर्वाह्न में लगभग ८ बजे व्यवहार-श्रवण का कार्य आरम्भ होता है । निर्णय में लगभग दो घण्टे का समय लगना चाहिये अतः १०, ११ बजे तक इन घटनाओं का समय है ।

अङ्क १०—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग, वयस्थान तथा राज-प्रासाद के दक्षिण की भूमि (पूजा के अग्नि प्रवेश का दृश्य) है । नवम अङ्क की घटनाओं के दिन ही ये घटनाएँ घटित हुई हैं । चारदत्त को मृत्युदण्ड सुनाया जाता है और उसे चाण्डालों को सौन दिया जाता है—यह नवम अङ्क की घटना है । इसके कुछ समय के पश्चात् चाण्डाल चारदत्त को लेकर वयस्थान की ओर जाते हैं । सम्भवतः दिन के बारह बजे से चार बजे तक की ये घटनाएँ हैं क्योंकि इनके लिये लगभग चार घण्टे का समय चाहिये ।

(इ) मृच्छकटिक की कथावस्तु का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन—

रूपक प्रबन्ध में वस्तु या इतिवृत्त दो प्रकार का हुआ करता है—(१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक । अधिकारी का अभिप्राय है—फल का स्वामी होना । जिसे फलप्राप्ति होती है वह अधिकारी है । उस अधिकारी (प्रधान नायक) से सम्बन्ध इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है । आधिकारिक इतिवृत्त की सहायक वस्तु प्रासङ्गिक कहलाती है ।<sup>१</sup> मृच्छकटिक में चारदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कथा आधिकारिक (मुख्य) है तथा राजा पालक और कार्यक की कथा प्रासङ्गिक है । प्रासङ्गिक कथा दो प्रकार की होती है—पताका और प्रकरी । जो प्रासङ्गिक वृत्त मुख्य कथा के साथ दूर दूर घलता रहता है (व्यापक) उसे पताका कहते हैं<sup>२</sup> तथा जो प्रासङ्गिक वृत्त छोटा होना है उसे प्रकरी कहते हैं ।<sup>३</sup> इनके साथ मुख्य कथा के विकास के लिये तीन तत्त्व आवश्यक हैं—बीज, बिन्दु और कार्य इन तीनों को नाट्यशास्त्र में 'अद्यप्रवृत्ति' कहा जाता है । इनमें से बीज, बिन्दु और कार्य प्रत्येक रूपक प्रबन्ध में अनिवार्य हैं किन्तु पताका और प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है ।

कार्य का हेतु जो वृत्त अत्यन्त अल्पमात्रा में कहा जाता है तथा अनेक प्रकार से विकसित हुआ करता है वह 'बीज' कहलाता है ।<sup>४</sup> मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में पालक की इस उक्ति—'एषा गर्भदासी कामदेवायतनात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारदत्तस्य अनुरक्ता' में वसन्तसेना का चारदत्त के प्रति अनुराग प्रकट होता है । मही इस प्रकार की कथावस्तु का 'बीज' है । किसी अवान्तर घटना के द्वारा विकसित होती हुई कथा को जोड़ने वाला वृत्त 'बिन्दु' कहलाता है । मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में

१. साहित्यदर्पण, ६.४२-४४ ।

२. व्यापि प्रासङ्गिक वृत्तं पताकेत्याभिप्रायते । वही ६, ६७ ।

३. प्रासङ्गिकं प्रदेसस्यं चरितं प्रकरी मता । वही ६, ६८

४. वही, ६, ६१-६६ ।

घृतकरो ने वणन से मूलकथा विच्छिन्न होने लगती है, किन्तु कर्णपूरक से चारुदत्त का प्रावारक पाकर वसन्तसेना प्रसन्न होती है और मूलकथा का ताता जुड़ जाता है। यहाँ कर्णपूरक सम्बन्धी घटना किन्तु है। कथा का अन्तिम उद्देश्य, जिसकी प्राप्ति होते ही ममस्त प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं वार्य बहसाता है। चारुदत्त का वसन्तसेना की शू ने रूप में स्वीकार करना मृच्छवटिक की कथावस्तु का 'वार्य' है। शबिलक का घृत मूलकथा के साथ बहुत दूर तक चलता है अतः यह मूलकथा की पताका है और भिक्षुण का वृत्तान्त तथा चन्दनर का वृत्तान्त मूलकथा की प्रकृति कहा जा सकता है।

विकास की दृष्टि से वार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—(१) आरम्भ—जिस में मुख्यपल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता दिखलाई जाती है। प्रथम अङ्क में आरम्भ में जातीकुमुदामित प्रावारक—मन्दभागिनी खल्वह तवाम्यन्तरस्य' (पृ० ५६) इत्यादि से वसन्तसेना की उत्सुकता प्रकट होती है तथा—प्रविश गृहमिति प्रवेशमाना न चलति भाग्यवृत्ता दशागवेश्य इत्यादि में चारुदत्त का औत्सुक्य प्रकट होता है। अतः यहाँ कार्य की आरम्भावस्था है (२) प्रयत्न—पल की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न पूर्वक उपाय किए जाते हैं वह प्रयत्नावस्था कहलाती है। मृच्छवटिक में—अतश्चर न्यास से लेकर पञ्चम अङ्क के अन्त तक प्रयत्नावस्था है। (३) प्राप्तिप्राप्त—उपाय और विघ्ना की आशङ्का होती होने जब पल प्राप्ति की सम्भावना ही जाती है वह प्राप्तिप्राप्त अवस्था है। यहाँ पण्ड अङ्क से लेकर दशम अङ्क में वसन्तसेना की इस—आर्या एषा अहं मन्दभागिनी यस्या वारणादेय न्यापायते'। (पृ० ४१६) उक्ति पर्यन्त प्राप्तिप्राप्त नामक कार्यावस्था है। इसमें पलप्राप्ति के प्रति आशा और निराशा बनी रहती है। (४) नियतापत्ति—विघ्नो के दूर हो जाने पर जब पलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है वह 'नियतापत्ति' कहलाती है। दशम अङ्क में—वा पुनस्त्वस्ति-मेपासगता चिबुरभारेण' (पृ० ४१८) चाण्डाल की इस उक्ति से वसन्तसेना के आश-मन की सूचना मिलती है तथा चारुदत्त की प्राणरक्षा होती है। फिर पालक के मारे जान पर शकार भी शरण में आ जाता है और चारुदत्त धृता की अग्नि में बूटने से बचा लेता है। इस प्रकार ममस्त विघ्न दूर होकर पलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है। (५) फलागम—कार्य की वह अवस्था है जहाँ समय पल की प्राप्ति हो जाती है। जब शबिलक यह घोषणा करता है कि राजा आर्यक वसन्तसेना की शू पद से गुणोभित करते हैं यही फलागम की अवस्था है।

उपर्युक्त अधप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के योग से नाटकीय इतिवृत्त के ५ भाग हो जाते हैं जिन्हें पाँच रङ्गों कहा जाता है। एक प्रयोजन से अन्वित कथाओं का किसी एक अन्तर प्रयोजन से सम्बन्ध (मेल) होना सन्धि कहलाता है। ये सन्धियाँ पाँच हैं (१) गुच्छ, (२) प्रतिगुच्छ, (३) गर्भ, (४) विमर्श (५) उपसर्ग इति या निर्वहण'। (१) मुखसन्धि—बीज (अधप्रकृति) और आरम्भ (कार्यावस्था) के

संयोग का नाम मुखमन्त्रि है वहाँ बीच माना रसों की अभिव्यञ्जना महित उदित होना है। मूच्छकटिक के प्रथम अङ्क में 'चतुरो मधुरश्चायमृष्यामः' (पृ० ६२) वनमनेना के इन वचन कथन पर्यन्त मुखमन्त्रि है। (२) प्रतिमुखमन्त्रि—जहाँ शीघ्र का उद्भेद इस रूप में होता है कि वह कही लक्षि। होता है कही नहीं वह प्रतिमुख मन्त्रि है अर्थात् 'बिन्दु और प्रसन्न के संयोग से प्रतिमुख मन्त्रि होती है। प्रथम अङ्क में 'पठेवनह्माप्यम्पानुगह्या' (पृ० ३२) वनमनेना को इस उक्ति में लेकर पञ्चम अङ्क के अंत तक प्रतिमुख मन्त्रि है। (४) गर्भमन्त्रि—दिखनाई' देकर नष्ट हो जाने वाले शीघ्र का वाग वाग अन्वेषण गर्भ मन्त्रि है। यह पताका और प्राण्यगाता के संयोग में होती है, किन्तु 'ताका का होना अनिवार्य नहीं है प्राण्यगाता तो होती ही है। षष्ठ अङ्क में आरम्भ में दशम अङ्क में चाम्दान के हाथ में खड़ा छूट जाने के पश्चात् वनमनेना के 'आमो एषा अहं मन्दभालिनी' इत्यादि कथन तक गर्भमन्त्रि है। (४) विभर्गमन्त्रि—इसे अवमर्गमन्त्रि भी कहा गया है। इस मन्त्रि में गर्भमन्त्रि की अंशता शीघ्र अधिक विकसित हो जाना है और माथ ही शार आदि के शृंग विद्य-पुत्र भी दिखावाई देना है इनमें प्रकृति नामक अपभ्रंश और 'नियतापि' (कामो-वम्पा) का योग होता है; किन्तु प्रकृति का होना अनिवार्य नहीं है। दशम अङ्क में 'वर्णि का पुनर्योः' इत्यादि चाम्दान की उक्ति में लेकर 'आम्बर्' पुनस्त्रयी विभोर्णि'—प्रकार की इस उक्ति तक विभर्गमन्त्रि है। (५) निर्वहण मन्त्रि—इस में इधर-उधर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रधान पत्र में उपमहार कर दिया जाता है। 'कार्य' (अपभ्रंश) और पलायन के मिलन का ही नाम निर्वहण मन्त्रि है। दशम अङ्क में 'नेरुधे कनक' में अन्त तक निर्वहण मन्त्रि है।

नाट्य मञ्चरी छत्रों में इन पाँच मन्त्रियों के ६४ भेद दिखलाये गये हैं, जिन्हें मन्त्र्यङ्ग कहते हैं। उनका विगद विवेचन साहित्यदर्पण तथा दास्यक इत्यादि ग्रंथों में किया गया है।

(ब) मूच्छकटिक की कथावस्तु की अन्य विशेषताएँ मूच्छकटिक की कथा-वस्तु पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुकरणीय होती है। पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार नाटक की कथा के विकास के पाँच मोहान होने हैं—आरम्भ, आरोह, केन्द्र, अवरोह तथा परिणाम। पाश्चात्य कथा-विकास के दो मोहान मूच्छकटिक के कथानक में भी देने या मकने हैं।

संश्लेष में यह कहा जा सकता है कि मूच्छकटिक का कथानक घटनाओं के घन-प्रतिवाद में परिपूर्ण है। इसमें रोचकता है, प्रवाह है मन्थानकता है। कवि ने घटनाओं की स्वाभाविकता का ध्यान रखा है और प्रायः अनावश्यक विस्तार नहीं किया है। केवल दो स्थानों पर ही वर्णन विस्तार दृष्टिगोचर होना है। एक तो वनमनेना के प्रकोष्ठों के वर्णन में और दूसरे वनमनेना के अभिचरन के समय वर्णन-वर्णन में। ये वर्णन काव्यत्व की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण किये जा सकते हैं किन्तु कथानक की सजीवता में बाधक हैं ही। फिर भी कथावस्तु सुसम्बद्ध और सुगठित है। शूद्र ने वनमनेना और चारुदन के प्रेम की कथा में आर्यक की रात्रन्तिक

कथा का सुन्दर सामञ्जस्य किया है। ऐसा सामञ्जस्य कि दोनों कथाओं की मित्रता का आभास भी नहीं होता। इस प्रकार मृच्छकटिक की बस्तुयोजना नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम है, इसमें सन्देह नहीं।

१ मृच्छकटिक के कथोपकथन या सवाद—

रूपक की कथा का विकास कथोपकथन तथा अभिनय ध्यापार के द्वारा हुआ करता है। यहाँ कथोपकथन या सवाद के द्वारा ही पात्रों के चरित्र का परिचय मिलता है अतः रूपक में कथोपकथन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय नाट्यसंशोधना के अनुसार कथावस्तु में ही इसका समावेश हुआ है। दशरूपक के अनुसार नाट्यधर्म अर्थात् रङ्गमञ्च की दृष्टि से नाट्यवस्तु के तीन भेद हैं—

साम्प्रदाय्य—जो वस्तु रङ्गमञ्च पर स्थित पात्रों तथा रङ्गशाला में स्थित सामाजिकी सभी को सुनाने के योग्य होती है। (२) अध्याप्य—जो बात किसी की भी सुनाने योग्य नहीं होती, जिसे 'आत्मगतम्' या 'स्वगतम्' कहते हैं। (३) निष्यन्ध्याप्य—इसके दो भेद होते हैं—(क) जनान्तिक और (ख) अपवारित। दर्शकों के बीच में ही 'त्रिपताक' हस्तमुद्रा द्वारा अन्य पात्रों को बनाकर जब दो पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। जब कोई पात्र पीठ फेर कर किसी अन्य पात्र का रहस्य प्रकट करता है तो उसे अपवारित (अपवार्य) कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद भी, होता है जिसे आकाशभाषित कहा जाता है। जब कोई पात्र दूसरे पात्र के बिना ही 'क्या कहा' ? इत्यादि बहता हुआ प्रश्नोत्तर करता है, उसे आकाशभाषित कहते हैं।

संक्षेप में ये पाँच प्रकार के सवाद होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने इनका नाट्योक्ति नाम से उल्लेख किया है। मृच्छकटिक प्रकरण में प्रायः इन सभी प्रकार के सवादों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

मृच्छकटिक ने सवाद उत्तम ढंग से सवाद है। कुछ स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ही सक्षिप्त है। इनमें स्वाभाविकता है तथा लोकाभावा का माधुर्य है। इन सवादों में अनेक सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। ये सवाद पात्रों की स्थिति के सर्वथा अनुकूल हैं, उनमें स्वभाव एवं चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं। प्रायः सभी सवाद व्यावहारिक एवं विषयसंगत हैं। इन सवादों में प्रयुक्त श्लोक भी अनेक स्थलों पर काव्यत्व की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

१ जब हाथ की सब अंगुनियाँ ऊपर उठी हो और जनान्तिका मुकी हो तो यह हस्तमुद्रा 'त्रिपताक' कहलाती है। सा० ६०, ६, १५०।

२ साहित्यदर्पण ६, १३७-१५०।

१. मृच्छकटिक में वर्णित देश की अवस्था—

मृच्छकटिक की कथावस्तु लौकिक है, यथार्थ जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के मध्यम वर्ग का चित्रण है और प्रसङ्गवश निम्नवर्ग एवं धूर्तवर्ग का भी वर्णन किया गया है। इसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। उसकी राजनैतिक दशा और सामाजिक अवस्था का वर्णन मिलता है और उसके धार्मिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है।

राजनैतिक अवस्था—उस समय राजनैतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। राजा स्वैच्छाचारी होता था। यह विलासी होता था तथा राजमहिषियों के अतिरिक्त रक्षेलियाँ भी रखता था। राजा पालक के यहाँ इसी प्रकार की रखेली शकार की बहन थी। राजा के शकार जैसे निकृष्ट सम्बन्धी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। राज्य में धूर्तों का बोलबाला था, अनेक प्रकार की अव्यवस्था फैली हुई थी। शांति और व्यवस्था न थी। रात्रि के आरम्भ में ही सम्भ्रांत नारियों का राजमार्गों पर निकलना कठिन था। अनेक प्रकार के धूर्त, विट, चोर तथा वैश्याएँ राजमार्गों पर घूमते थे (एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमार्गं गमिका विटारचेटा राजभल्लभाश्च पुरुषा संचरन्ति)। राजा के पदाधिकारी एवं कर्मचारी अपने कर्तव्य पालन में परस्पर ईर्ष्या का भाव रखते थे। वीरक और चन्दनक का विवाद इसका साक्षी है।

राजा के अत्याचारों के प्रति जनता में क्षोभ उत्पन्न हो जाता था। उन अत्याचारों का विरोध किया जाता था। इस विरोध की भावना के कारण ही चन्दनक ने 'आर्यक' को जाने दिया और राजा के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गया। इसी भावना के कारण 'विट' शकार से पृथक् हो गया और स्थावरक अट्टालिका से कूदकर भी चारदत्त के वधस्थान पर पहुँच गया। यही भावना सगठित हो जाने पर पद्म्यन्त्र का रूप धारण कर लेती थी। शासन-प्रबन्ध के शिथिल होने के कारण कोई पद्म्यन्त्र सहज ही सकल हो सकता था। इन पद्म्यन्त्रों में चोर, जुआगी, विद्रोही राजकर्मचारी, असन्तुष्ट पदाधिकारी और राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित हो जाते थे "शातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलम्बवर्णान्" (४२६)। राजा को ऐसे पद्म्यन्त्रों का सदा भय रहता था और वह पद्म्यन्त्र के सन्देह में किसी भी व्यक्ति को कारागृह में डाल देता था। राजा पालक ने इसी सन्देह में आर्यक को कारागृह में बन्दी बनाया था।

उस समय राजा में ही शासनसत्ता निहित थी। यही न्याय-निर्णय का अन्तिम निरूपक करता था—निर्णये धर्म प्रमाणम् मेधे तु राजा' (अङ्क ६) तथा वही सेनाध्यक्ष होता था। उसकी सहायता के लिये मन्त्री, न्यायाधीन तथा दण्डाधिकारी और रसक होते थे। 'गुल्क' (कर) इकट्ठा करने के लिए राजबुद्धि नियुक्त होते थे (७.१)। इस प्रकार राज्य का कार्य विविध विभागों में बँटा था। मृच्छकटिक के नवम अङ्क से उस समय की न्याय-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है। न्यायालय में एक न्यायाधीन होता था। उसकी सहायता के लिए एक श्रेष्ठी असेगर के रूप में होता था तथा

‘कायस्थ’ देवदार के रूप में । न्यायालय की स्वच्छता, व्यवस्था, एवं व्यवहारियों को धुलाने आदि के लिए भी एक बर्माचारी नियुक्त था जिसे ‘शोणनक’ कहते थे । न्यायाधीश निर्णय करने में स्वतन्त्र न था । उस पर राजा और उसके रूपाभाजन जनों का आतङ्क था । सभी तो शकार न्यायाधीशों को बुरी तरह घमकाता है । न्यायाधीशों को यह भय बना रहता था कि न जाने किस समय उन्हें दण्ड से पृथक् कर दिया जाये । न्यायालय में सम्भ्रान्त जनों की बैठने में लिये आसन दिया जाता था । न्यायाधीश सहानुभूति एवं क्षिप्तता से व्यवहार करते थे । वादी प्रतिवादी के बचन को सेसबद्ध कर लिया जाता था और माझी का भी ध्यान रक्खा जाता था । न्याय मिश्रुक था और उसमें अधिक समय नहीं लगता था । मृत्युदण्ड जैसे गम्भीर दण्ड का भी हुरकत निर्णय कर दिया जाता था । किन्तु न्यायाधीश के निर्णय की अन्तिम स्वीकृति राजा ही देता था । प्रायः न्याय-निर्णय मनुस्मृति के आधार पर किया जाता था, यों तो राजा का कथन ही सर्वोपरि विधान था । दण्ड बठोर थे, राजनैतिक शक्तिधियों को बेडियाँ पहनाई जाती थीं (आयक) । राजकुल में कोई हर्षोन्मत्त होने के समय अपराधियों को दण्ड-मुक्त कर दिया जाता था—“कदापि राज्ञः पुत्रो भवति तेन दृष्टिमहोरमवेन सर्ववक्ष्यामीं मोक्षो भवति,” (५० ४१०) अपराधियों को अपन अपराध स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता था । सख-भक्त न बदलाने पर उन्हें कोई सखताये जाते थे (६३६) हत्या के अपराध में लिये मृत्युदण्ड दिया जाता था । मृत्युदण्ड देने के लिये अपराधी को आण्डाणो को मौप दिया जाता था । वे उसे रक्तवन्दन और कनिष्ठर की माला आदि से मजाकर बध्यस्थल को ले जाते थे और तीन बार उसके अपराध तथा दण्ड की घोषणा करते थे । तब शून पर चढ़ाकर, सखवार से सिर काटकर, कुत्तो में लुधवाकर या आरा से खीरकर उसे प्राणदण्ड दिया जाता था । (अङ्क १०) ।

सामाजिक दशा—उस समय समाज छिन-भिन्न-सा हो रहा था । जाति-व्यवस्था कठोर हो चली थी । जन्म से जाति मानी जाती थी और जातिगत अभिमान भी उत्पन्न हो गया था । वीरक और चन्दनक के विवाद में हमे उसकी हालत मिलती है । सम्भवत बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण सभी सभी जाति की अपेक्षा मानव गुणों को भी धरीयना दी जाती थी, चाण्डालों की उक्ति में इसकी शक मिलती है (१०, २२) । अपने ज्ञान और चरित्र के कारण ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाने थे । वे समाज के पूजनीय थे । निमन्त्रण पर जाता और दक्षिणा सेना भी ब्राह्मणों का कार्य हो चला था । शक्तिक जैसे ब्राह्मण खोरी आदि दुर्गमों में भी फँत गये । कुछ ब्राह्मण व्यापार कार्य भी करते थे । चाण्डाल के पिता एक सार्वभौम थे । ब्राह्मणों को समाज में विशेष अधिकार तथा सम्मान प्राप्त था । ‘अयं हि पातकी विप्रो न बभूवो मनुजब्रवीत्’ (६, ३६) । ब्राह्मण के सुवर्ण आदि को चुराना भी महापातक माना जाता था । उसे आगे स्थापन दिया जाता था—‘ममीहितमिध्वं प्रहृमण ब्राह्मणोऽपि वर्तम्यः’

(पृ० ४३४) । वैश्य व्यापार में बड़े बड़े थे । काम्य के प्रति समाज में अच्छी भावना नहीं थी (काम्यसर्पास्पर्दम्) । पत्नी देने का कार्य चाण्डाल करते थे । वे समाज में निम्न कोटि के माने जाते थे । प्राहुत जनो को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था । उस समय भिन्न-भिन्न जातियां पृषक्-पृषक् मोहल्लों में बसने लगी थी और और जातियों के नाम पर मोहल्लों के नाम पढ़ने लगे थे—'स सत्तु श्रेष्ठिचत्तरे वसति' । समाज में विवाह प्रथा थी । पुरुष कई विवाह कर सकते थे । असवर्ण स्त्री से भी विवाह करने का निषेध नहीं था । ठमी तो चारुदत्त और शबिलक जैसे ब्राह्मणों ने वैश्याओं से विवाह किया था । रवेनी की प्रथा भी प्रचलित थी । स्त्रियों में सती होने की प्रथा प्रचलित थी (धूता) । सम्भवतः परदे की प्रथा नहीं थी; क्योंकि धूता बिना पर्दे के ही सबके सामने आती है । स्त्रियां सुवर्ण के आभूषण धारण करती थी । नूपुर, हस्ताभरण, कण्ठी और बने की माला इत्यादि आभूषणों का प्रचलन था । पुष्पों से बनी को अलङ्कृत करने की भी प्रथा थी ।

मुच्छकटिक में वैश्याओं का विस्तृत वर्णन है । यद्यपि दशरूपक की टीका के अनुसार वैश्या और पणिका में भेद किया गया है, तथापि यहाँ इनमें कोई भेद दृष्टि-गोचर नहीं होता । वसन्तसेना के लिये दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है । उस समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी वैश्याओं से सम्बन्ध रखते थे; जैसा कि चारुदत्त और वसन्तसेना के सम्बन्ध से प्रतीत होता है । हाँ, समाज की दृष्टि में यह अवश्य ही बुरा ममज्ञा जाता था । यही कारण है कि जब नवम बङ्क में न्यायाधीश चारुदत्त में पूछते हैं—'आर्य, गणिका तव मित्रम्', ? (पृ० ३५६) तो चारुदत्त लज्जित हो जाता है । अवश्य ही वैश्याओं को समाज में गणित समझा जाता था । अनुभवशील गणिकाएँ इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थीं और पवित्र बधु पद पाने के लिये प्रयत्न करती रहती थीं । वसन्तसेना और मदनिका इसके उदाहरण हैं । समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो वैश्याओं से विवाह करने का भी माहम करते थे । चारुदत्त और शबिलक जैसे ही साहसी युवक थे ।

उस समय जुए की प्रथा भी थी । जुआरियों के अपने नियम थे, अपनी मण्डनी थी । जिसके नियमों का पालन करना प्रत्येक जुआरी के लिये आवश्यक था । जुए का धन बंध माना जाता था और यदि कोई देय धन नहीं देता था तो न्यायालय द्वारा वह धन बगूल कराया जाता था—'रात्रकुम्भं गत्वा निवेदयावः' (पृ० ६०) । उस समय मदिरापान की प्रथा थी और मदिरापन थे । (आप्तक-मध्यप्रविष्टयेव) । उस समय दास-प्रथा भी थी । सम्भवतः दास खरीदे जाते थे और धन देकर उन्हें दासता से मुक्त कराया जा सकता था । 'मदनिका' इसी प्रकार की दासी थी जिसने शबिलक से मुक्त

१. बेतो धृतिः, सोऽस्या जीवनमिति वैश्या, तद्विरोधो यदिका । दशरूपक;  
मृगशोक टीका (पृ० ३)



कराया था। राजा की आज्ञा से भी कभी-कभी दासों को मुक्त कर दिया जाता था। मूच्छ्रट्टिक के अन्त में 'स्यावरक' को दसों प्रकार का दासता से मुक्त किया गया है।

मूच्छ्रट्टिक के समय देश आर्थिक दृष्टि से गम्भीरशाली था। यहाँ का व्यापार समुन्नत था। जहाजों से समुद्र पार तक व्यापार होता था (यानवाणिज्य)। पलत घनिकों के यहाँ सुवर्णराशि थी, अनेक प्रकार के सुवर्णाभूषण थे। चारुदत्त की पत्नी धृता की चतुःसमुद्रसागरभ्रमण रत्नमाला और यत्तन्तमेना के रत्न तथा आभूषण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं, और सुवर्ण की (मिलने की) गाँठी से यह बात भी भाँति पाई जाती है। व्यापारी अपना पर्याप्त धन देश के विनाश-कार्य के लिये टाँज न दे देते थे। चारुदत्त ने अनेक उपनगर, विहार, आराम, देवालय, सहाय और कृषो का निर्माण कराया था (पृ० १७०)। घनिकों का बहुत सा धन वेध्याधो के यहाँ भ्रमण जाता था। पलत उस समय वेध्याधो अत्यन्त संपन्नतायुक्त थे। उनकी सम्पत्ति कुबेर के समान थी और वे हाथी भी रखते थे (चतुर्थ अङ्क, वसन्तसेना-शृङ्खलन)। उस समय आकाशमन के साधनों में चैतनाधी (प्रवहण) का विशेष प्रचलन था। चारुदत्त और शकार अपने प्रवहण रखते थे। कभी कभी घोड़े का भी उपयोग किया जाता था। नवम अङ्क में त्यागपरीश दोरक को घोड़े पर पुष्पकरकवच उद्यान में जाने का आदेश देते हैं। घनी लोग हाथी भी रखते थे। वसन्तसेना के पास 'गुच्छमोहक' नाम का हाथी था। आने-जाने के लिये राजमार्ग थे, किन्तु राजमार्गों पर चलना भय से ज्ञानी नहीं था। रात्रि में तो मार्गों में जाना अत्यन्त भयावह था।

बसावें—'मूच्छ्रट्टिक' के समय बसावें समुन्नत अवस्था में थी। मूच्छ्रट्टिक जैसे बड़े-बड़े नाटकों के अभिनय योग्य रङ्गशाताहों उस समय रही होंगी। इससे प्रतीत होता है कि तब नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। संगीत कला भी उसत दशा में थी। चारुदत्त रेभिल के यहाँ संगीत सुनने के लिये गया था। उस संगीत का शास्त्रीय वर्णन मूच्छ्रट्टिक में किया गया है (पृ० १०८, ११०)। वाद्यों में वीणा (पृ० १०८) का वर्णन किया गया है तथा बाँसुरी, ददुर, मृदङ्ग और पलव आदि का भी उल्लेख किया गया है। चित्रकला का भी उस समय प्रचार था। चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र गदगिवा को दिखाती है। मूर्तिकला का भी उल्लेख मिलता है—'बच काष्ठतयो प्रतिमा "शैलीप्रतिमा' (पृ० ७४)। तवाहन को भी बसा माना जाता था चौरंगला का विस्तृत वर्णन मूच्छ्रट्टिक में उपलब्ध होता है (तृतीय अङ्क)।

धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वास—उस समय देश में वैदिक धर्म उन्नत-वस्था में था। अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे (मत्तगतपरिपूत—१०, १२)। धार्मिक विचारों का प्रचलन भी। पूजा-नाट्य और भक्ति तथा तर्पण आदि

क्रियाओं का विशेष महत्व था। देवपूजा, बलि और तप में चारदत्त का अटल विश्वास देखलाई देता है (१, १६), वह उनकी पूजा करना अपना नित्य कर्तव्य समझता है। तागरिक जन भांति-भांति के दत्त उपवास आदि करते थे और ब्राह्मणों को दान देते थे। निम्न वर्ग के लोग भी धर्म-भीरु थे जैसा कि स्यावरक, बिट आदि (अङ्क ६) के रूप से प्रतीत होता है। चाण्डालों की भी अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा थी। दशम अङ्क में चाण्डाल 'सह्यवासिनी' का स्मरण करता है। वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी जनता में प्रचार था, यद्यपि बौद्धधर्म ह्रासोन्मुख था। सांसारिक जीवन से विरक्त व्यक्ति बौद्ध भिक्षु हो जाते थे। भिक्षु प्रायः इन्द्रियसयमी और तपस्वी होते थे (पृ० ३३२); फिर भी समाज में उनका विशेष सम्मान न था। बौद्धभिक्षु का शान ही अशक्तुन समझा जाता था—(अनाभ्युदयिक श्रमणकदर्शनम् (पृ० २७४)। कुछ भिक्षु सिर मुँडा कर भी सांसारिक वासनाओं में पड़े रहते थे, सभ्रजत. ऐसे भिक्षुओं के प्रति ही कहा गया है—चित्तं न मुण्डितं किमप्यं मुण्डितम् (पृ० २७६)। उस समय बौद्ध भिक्षु विहारों में रहते थे। उन विहारों में कुछ भिक्षुणियाँ भी रहती थीं—'एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति'। (पृ० ३३२)। देश में उस समय अनेक विहार थे। उनका एक कुलपति होता था (सर्वविहारेषु कुलपतिः) (पृ० ४३८)। धार्मिक मान्यताओं के साथ अन्य भी अनेक प्रकार के विरवास प्रचलित थे। जैसे कुछ ग्रहों के योग को अनिष्ट समझा जाता था (६. ३३)। अनेक प्रकार के अशक्तुनो का विचार किया जाता था (६. १०—१३)। इत्यादि।

#### ८. मृच्छकटिक के पात्र तथा चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यशास्त्र में 'नेता' (नायक) रूपक का एक तत्त्व माना गया है। उसके चार भेदों का वर्णन करके उसके सहायकों तथा प्रतिनायक का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'नायिका' का भी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आधुनिक नाट्य समीक्षा में नाटक के इस तत्त्व का 'पात्र' तथा चरित्र-चित्रण' के रूप में विवेचन किया जाता है। मृच्छकटिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। इसकी कथावस्तु मध्यवर्ग के जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के सभी वर्गों के पात्र मिलते हैं। एक ओर सभ्य ब्राह्मण चारदत्त, राजा पालक और न्यायाधीश जैसे सम्मानित पात्र हैं, तो दूसरी ओर चोर, जुआरी, बिट, चेट और चाण्डाल भी। इसी प्रकार धूता जैसी पतिव्रता नारी का चित्रण है तो वेश्या और गणिकाओं का भी। इस प्रकरण का वातावरण राजसेवक पुलिस कर्मचारी, वेश्या, क्लि-चेट, चोर जुआरी आदि से निर्मित हुआ है। इसके पात्र सजीवता की मूर्ति हैं। वे इसी लोक के जीते जागते प्राणी हैं। यहाँ अतिमानवीय पात्रों की कल्पना नहीं की गई, न आदर्शवादी दृष्टिकोण से पात्रों का चित्रण किया गया है। मृच्छकटिक के पात्र किसी वर्गविवेचन के प्रतिनिधि नहीं हैं, वे अपनी निजी विशेषताएँ रखते हैं। उदाहरणार्थ चारदत्त को सामान्य ब्राह्मण-श्रेणी नहीं कहा जा सकता और न ही बसन्तसेना सामान्य गणिका है। वे अपनी-अपनी स्थितिगत विशेषताएँ लेकर हमारे

सामने आते हैं। इस प्रकार शक्तिरूप, सबाहुक तथा बिट आदि में भी अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें हैं। सभी पात्रों के कार्य और व्यवहार अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार दिखावाये गये हैं। उनकी भावा और विचार में भी अतिरस्य की हालत मिलती है। मृच्छकटिक की यह विशेषता संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं मिलती। यहाँ मुख्य पात्रों की आरिद्रिक विशेषताओं पर सधेय में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

## चारदत्त

चारदत्त इस रूपक का नायक है। नाट्यशास्त्र के अनुसार विनीत रूपक का नायक विनीत, प्रियदर्शन, स्यामी, दत्त, प्रियभाषी, लोक-प्रिय, वचन, वाक्-पुञ्जल, उष्वकशोत्सव, स्थिर युक्त तथा बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-बला और स्वाभिमान से युक्त, शूरवीर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रानुपूल वाच्य करने वाला और धार्मिक होना चाहिये।<sup>१</sup> यह नायक चार प्रकार का होता है—धीरोदात्त, धीरसन्तित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।<sup>२</sup> इन चारों प्रकार के नायकों में से चारदत्त को धीरप्रशान्त नायक कहा जा सकता है। दशरूपक के अनुसार धीरप्रशान्त का लक्षण है—सामान्यगुण-युक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक।<sup>३</sup> (२, ४)। चारदत्त में सामान्य नायक के प्रायः समस्त गुण विद्यमान हैं वह ब्राह्मण भी है।

चारदत्त उज्जयिनी का एक ब्राह्मण युवक है। उसका पूर्वज प्रतिष्ठित व्यापारी था जो यह पूर्वजों से अपार धन सम्पत्ति प्राप्त करता है। अपनी अतिशय उदारता और दानशीलता के कारण वह अपनी सभी सम्पत्ति निधना को दे देता है और दरिद्र बन जाता है। इस अवस्था में भी अपने दान, दया, गरीबकार, उदारता और प्रियवादिता आदि गुणों के कारण नगर-वातियों का ध्यान भाजन बना हुआ है—दीनाना वत्स-वृक्ष इत्यादि (१, ४६)। यह प्रियदर्शन है—यस्तादृश प्रियदर्शनं (पृ० ६०), अत्यन्त लोकप्रिय है, न्यायाधीश से लेकर चाण्डाल पर्यन्त तथा बिट-चेट सभी उससे प्रति आदर तथा स्नेह रखते हैं।

चारदत्त अत्यन्त उदार और दयालु है। जब कोई रत्नापनीय कार्य करता है या उसे कुछ समाचार सुनाता है तो चारदत्त उसे कुछ न कुछ पुरस्कार रूप में देना चाहता है। अपनी अतिशय उदारता के कारण ही वह शक्तिरूप के आभूषण धारण करने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करता है (पृ० १३२), कर्णपूरक को अपना दुहावा

१. नेता विनीतो मधुरस्यामी दत्त प्रियवद ।  
रत्नोक्तं शुचिर्वाग्मी रुद्धवश स्थिरो युवा ॥  
बुद्ध्युत्साहाहस्मृतिप्रज्ञासामानसमन्वित ।  
शूरो दृढरथ तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥ (दशरूपक २, १०२)
२. इनके स्वरूप के लिए देखिये दशरूपक द्वितीय प्रकाश ।

पुरस्कार में दे देता है। इसी उदारता के कारण वसन्तसेना उसे प्रेम करती है। चारुदत्त सेवकों के प्रति भी दयानु है (३, २), इसी से सोई हुई रदनिका को जगाना नहीं चाहता—'अतं मुप्तजनं प्रबोधयितुम्' (पृ० ११२)। पशुपतियों के प्रति भी उसकी 'करुणा' प्रकट होती है। अपनी उदारता के कारण ही वह दरिद्रता को मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक समझता है—'एतत्तु मां दहति यद्दृष्टमस्मदीयं क्षीणार्थ-मित्यतिथयः परिवर्जयन्ति' (१, १-१)।

चारुदत्त अपराधी के प्रति भी क्रोध नहीं करता और शरणागत की रक्षा करता है। जिस समय प्रकार उसे मरणान्तिक वर की घमकी देता है तब वह 'अज्ञोऽसौ' इतना मात्र कहकर छोड़ देता है। जब वह चारुदत्त पर मिथ्याभियोग लगाता है तब भी चारुदत्त क्रुद्ध नहीं होता, विचलित नहीं होता। शरण में आये हुए आर्यक से कहता है—'अपि प्राणानहं जह्यां न तु शरणागतम्' (पृ० २७०)। उसकी यह उदारता उस समय चरमसीमा पर पहुँच जाती है जब वह शरणागत शकार को अभयदान देकर क्षमा कर देता है।

चारुदत्त को अपनी प्रतिष्ठा और चरित्र की उज्वलता का ध्यान है। इसी कारण वह वसन्तसेना के आभूषण चोरी चले जाने पर मूर्च्छित हो जाता है और नाना प्रकार की विन्ता व्यक्त करता है (२, ३४-२६)। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये ही वह वसन्तसेना की धरोहर को लौटाना आवश्यक समझता है और असत्य बात कहकर बहुमूल्य रत्नमाला बदले में भेजता है। मृत्युदण्ड पाने पर भी उसे भय नहीं है, केवल दुःख है तो प्रतिष्ठा चले जाने का ही—'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं माः' (१०, २७)।

यदिका में प्रेम करते हुए भी चारुदत्त में चांग्रिक दृढ़ता है। वह अपनी पत्नी घृता से प्रेम करता है और उसे पवित्र मानता हुआ उसका आदर करता है। वेष्णा के आभूषणों को भी अम्बन्तर प्रवेश के योग्य नहीं समझता (पृ० ११२)। वह परनाथ पर दृष्टि भी नहीं डालना चाहता—'न मुक्तं परकलत्रदर्शनम्' (पृ० १८)। जब अन्तजाने में अन्य स्त्री से उसके वस्त्रों का स्पर्श हो जाता है तो वह खिन्न होकर कहता है—'इममपरा का' अविनाशावसक्तेषु दूषिता मम वाससा (पृ० १८) अपनी पवित्रता स्त्री पर वह गर्व करता है और गार्हस्थ्य धर्म का पूर्णतया पालन करता है।

चारुदत्त कला-रस्य व्यक्ति है। वह रसिक के संगीत की हास-त्यय तथा मूर्च्छना इत्यादि का विश्लेषण करते हुए सपहना करता है। शवितक की सगाई में ही को देखकर भी उसकी कला-भक्तता की प्रशंसा करता है।

वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है। सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्मों का नियम-पूर्वक अनुष्ठान करता है। मंत्रधर्म को भी देवयूजा का महत्त्व समझता है। (१, १६)। वह भाष्यवादी भी है—'भाष्यरूपेण हि धनानि भवन्ति यात्रिः' (१, १३)। आर्यक से भी कहता है—'स्वर्धर्म्यः परिवर्जितोऽसि' (७, ७) तथा अन्त में भी विद्वि के

विद्यान की ही दुहाई देता है—कारिषन्नुच्यति...विधिः (१०, ६०) । साथ ही वह शकुन इत्यादि पर पूर्ण विश्वास रखता है (६. १०-१३) ।

संक्षेप में चारुदत्त प्रियदर्शन, लोकप्रिय, उदार, दानी, दयानु, दृढ चरित्र वाला, कलाप्रिय और धार्मिक प्रकृति का नायक है । एक प्रकरण के नायक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं । उसका चरित्र-चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया गया है ।

## वसन्तसेना

मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें कुलस्त्री तथा गणिका दो नायिकाएँ हैं (द्वय कवचित्) । कुलस्त्री है-धृता और गणिका वसन्तसेना है । इनमें वसन्तसेना का चरित्र मुख्य रूप से चित्रित किया गया है । दशरूपक के अनुसार तीन प्रकार की नायिकाएँ होती हैं—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री (२, १५) । साधारण स्त्री को गणिका कहते हैं वह कला प्रवृत्तता और धूर्तता से युक्त होती है (६ २ २१) । प्रकरण इत्यादि रूपको में गणिका को अनुरक्ता ही दिसलाना जाता है (रक्तैव स्वप्रहसने, दश० २२२) ।

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक बंधवशातिनी गणिका है । उसकी समृद्धि को देखकर विदूषक कह उठता है—'किं तावद् गणिकाग्रहम् अथवा कुबेर-भवन-परिच्छेद दत्ति' (पृ० १८२) । उसके पास जीवन का समस्त बंधव है । कवि ने चतुर्थ अङ्क में उसके वैभव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । वह एक सुन्दरी लरणी है और उज्जयिनी नगरी का मूषण है 'वाला स्थिय च नगरस्य विभूषण च (८, २३) । छादिता शरदक्षेत्रे चन्द्रलेखेव हरयते (१.५४)' विट के शब्दों में वह उदारता का स्रोत है, सौन्दर्य में रति है, मुमुक्षु वह अलक्ष्मरी को भी अलक्ष्मृत करने वाली है और सौजन्य की सरिता है (८, ३८) ।

वसन्तसेना उदार हृदय वाली नारी है । जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है । वह उसे कृण-मुक्त कराने के लिये अपना सुवर्णभूषण भेजती है और कहला देती है कि संवाहक ने ही भेजा है (अङ्क २) । अपनी उदारता के कारण ही वह मदनिशा को दासता से मुक्त कर देती है तथा मदनिशा से कहती है—'यदि मम सुन्दरदा विनायं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि ।' (पृ० १४८) । चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को रोते हुये देखकर वह सुवर्ण-शकट बनवाने के लिये अपने आभूषण दे देती है । जब सुवर्णमाण्ड के बदले चारुदत्त रत्नावली भेज देता है तो वह रत्नावली भेजने के लिये चारुदत्त को उसाहना देती है (अङ्क ५) । चारुदत्त की पत्नी धृता के प्रति उसे ईर्ष्या नहीं है वह उसके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करती है, 'रत्नावली' सौपती है और बहती है—'अहं धीचारुदत्तस्य गुणनिजिता दासी तथा सुप्तावमवि' (पृ० २३६) ।

वसन्तसेना एक बुद्धिमती, कला-बुशम तथा विदुषी नारी है । वह राजमार्ग पर विट के कथन के गूढ़ अर्थ को समझ लेती है, और सामूह्य उतार लेती है

(अद्भु १) । वह जानती है कि प्रियतम से कैसे व्यवहार करना चाहिये । उसकी तर्क-शक्ति उच्चकोटि की है । कर्णपूरक को हँसता हुआ देखकर वह उसका भाव समझ जाती है तथा शकितक के भ्रूण अणित करते समय वह सब कुछ ताड़ लेती है और मदनिका को उसे सौंन देती है । वह चित्र-रचना में कुशल है और चाहदत्त का चित्र बनाकर मदनिका को दिसलाती है (पृ० १४२) । उसे ससृत्त का भी ज्ञान है और वह चतुर्थ अद्भु में विदूषक के साथ ससृत्त में वार्तालाप करती है ।

वसन्तसेना चाहदत्त को सच्चे हृदय से प्रेम करती है । कामदेवायतन में जब वह चाहदत्त का दर्शन करती है, तभी उसके हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है । वह जानती है कि चाहदत्त दरिद्र है तो भी वह उसे प्रेम करती है, उसका प्रेम धन के लिये नहीं है अतितु प्रगतभीय प्रेम है—दरिद्रनुरपसंक्रान्तमनाः सखु गणिका लोकेऽवचनीया नवति ।' (पृ० ७०) चाहदत्त से वह कुछ चाहती नहीं अतितु उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने को उद्यत है । दरिद्र व्यक्ति के प्रति अनुराग उसके हृदय की पवित्रता को व्यक्त करता है । इसी से वह शकार के प्रणय-प्रस्ताव को किसी प्रकार भी मानने के लिये तैयार नहीं है, न लोभ से, न आतङ्क से और न मृत्यु के भय से ही । वह दश सहस्र सुवर्णनिष्कारों के साथ भाये हुए शकार के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देती है (पृ० १४४) । पुष्करगडक उद्यान में जब शकार उसे मारने के लिये उद्यत हो जाता है तो वह चाहदत्त का नाम लेती हुई मरने को तैयार हो जाती है किन्तु शकार को स्वीकार नहीं करती (पृ० ३१५) । उत्कट प्रेम के कारण उसे चाहदत्त की प्रत्येक वस्तु से प्रेम हो जाता है । संवाहक के चाहदत्त का नाम लेने पर वह उसका अत्यधिक आदर करती है । विदूषक का वह सड़ी होकर स्वागत करती है । कर्णपूरक से चाहदत्त का दुगाता पाकर वह प्रिय-मित्तन का सा अनन्द अनुभव करती है । धूना के साथ उसे बहन जैसा प्रेम है और रोहसेन के प्रति माता का वात्सल्य । वह यह भी जानती है कि वह एक गणिका है और चाहदत्त के अन्तःपुर में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं रखती—'मन्मथगिनी सख्यह तवाभ्यन्तरस्य' (पृ० ३६) । तथापि वह उस प्रियतम की प्रार्थना के लिये सभी कुछ करती है । आभूषण-न्यास, दुग्ध में अभिसरण, पुष्करगडक मन्त्र आदि करती हुई मरपामन्त्र हो जाती है और फिर सचेत होकर चाहदत्त को बचाने के लिये वसन्तसेना पर पहुंच जाती है तथा प्रेम के आवेग में उसके हृदय पर गिर जाती है । अन्त में उसका मनोत्पन्न पुनर् होना है वह 'कुनवधू' के पद को श्राप्य करती है ।

बहुना न होगा कि गणिका होने हुए भी वसन्तसेना का व्यवहार तथा प्रेम कुनवारी के सहज है—श्रैवणसहस्रमनपोषाराम् (पृ० ३०२) । उसने अपने अनन्द प्रेम, उदात्त चरित्र, उदार हृदय तथा अपूर्व दान आदि गुणों में गणिका होने की कल्पना को प्रशान्ति करके एक माधवी नारी के पद को अतद्भूत किया है ।

## शकार

‘शकार मृच्छकटिककार की एक विचित्र कल्पना है। यह इस प्रकरण का प्रतिनायक है। दशरूपक व अनुसार प्रतिनायक लोभा, धीरोद्धत, जठ प्रकृति वाणा पापी और वयसनी होता है। (दृ० २, ६)। शकार भी मूर्खता, प्रवचन, पापकृता और कायरता आदि दुर्गुणों से पूर्ण है। यह किसी रसेली का पुत्र है (काणलीमात) राजा पालक की अधिवाहिता स्त्री (रसली) का भाई है (राजपपालक) और सस्थानक भी है। यह शकारी प्राकृत बोलता है जिसमें शकार में स्थान पर शकार (श) होता है (जैसे, वशन्तशणा) सम्भवत इसी हेतु इसका नाम शकार है।

शकार बड़ा अभिमानी है। उस राजा का साक्षात् होने का अभिमान है। इसी से वह मनमानी करता है। न्यायाधीशों को निकलवा देने की धमकी देकर उनसे मनमाना न्याय कराना चाहता है। उस अपने पद और धन का भी अभिमान है अतः वह अपने आपको ‘देवपुरुष मनुष्य वासुदेव कहता है। वह जठ प्रकृति का है, अत्यन्त मूर्ख है। उसके बचन अज्ञान और मूर्खता से भरे पड़ते हैं। उदा० इतिहास विरह उपमाय है (द्राणपुत्री ज्ञटायु), अनयक प्रलाप है। (म मूता रज्जव)। उसके अधिकांश बचन हास्यजनक हैं। वह अशिक्षित है तथा बात-चीत करने का ढंग भी नहीं जानता। फिर भी उसे अपने ज्ञान का अभिमान है और पुराण तथा इतिहास की अनन्त घटनाओं का मनमान ढंग से बचन करता है।

वह अस्थिर स्वभाव वाला दुरादही तथा कायर है। उसका विचार क्षण-क्षण में बदलता रहता है। उतक तापी बिट और चट को यह मूर्खता रहती है कि न जान यह क्षणभंगुर है क्या वह बँट या बर बँट। अष्टम अङ्क में पहल तो बिट को गाड़ी में बँटने को कह देता है फिर तभी उसका अपमान करने लगता है। इसी प्रकार रधा-करक (चट) को भी वार पर से गाड़ी लाने का आदेश दे देता है। प्रथम अङ्क में बिट से कहता है कि वसन्तसेना को लिये बिना नहीं चर्खूंगा। य है उसके दुराग्रह। अपनी गाड़ी में स्त्री (वसन्तसेना) को दखकर ही वह भयभीत हो जाता है (अङ्क ८) तथा अन्त में मृशु के भय से चापदत्त की शरण में आकर रधा की याचना करता है (पृ० ४३०) यह है उसकी कायरता।

वह क्रूर और निर्दयी है पापी है तथा पापपूर्ण योजना में निपुण है। बिट और चट को बपटपूषक हटाकर वसन्तसेना का गला घोट देता है। जब बिट इस क्रूरत्व की भत्सना करता है जो उस पर ही हस्या का आशय लगाता है। चट को बाँधकर डाँस देता है और चापदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग चलाता है। जब चट उसके पाप का उद्घाटन करता है तो उस पर चोरी का आरोप लगा देता है। चापदत्त से कहता है कि चापदत्त को पुन सहित मार डालो। इसमें बड़ी क्रूरता क्या होगी ?

शकार के चरित्र में प्रायः सभी दुर्गुणों का पुञ्ज दृष्टिगोचर होता है। वह बेबन स्त्री-व्यवहारी, मूलें और धूर्त ही नहीं अपितु मानवस्वरूप में दानव ही कहा जा सकता है। प्रतिनायक के रूप में उसका पथार्थ चित्रण किया गया है।

## विदूषक

मृच्छकटिक का विदूषक मंनेय है। यह बाद के नाटकों के विदूषक से कुछ भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। दशरूपक के अनुसार नायक का वह सहायक, जो अपने आकार, प्रकार तथा कथन आदि में हमी उत्पन्न करता है; विदूषक कहलाता है 'हास्यकृच्च विदूषकः' (दश० २, ६)। बाद के नाटकों में प्रायः विदूषक का यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिक के विदूषक में भी यह गुण है इसमें सन्देह नहीं तथापि उसकी अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं का भी यहाँ चित्रण किया गया है।

मंनेय चारदत्त का सच्चा मित्र है। चारदत्त का दरिद्रावस्था में भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता। इस-उधर अपनी उदरपूर्ति करता हुआ चारदत्त की सहायता करता है। इसी हेतु चारदत्त उसके प्रति कहता है—'अये' सर्वकालमित्रं मंनेयः प्राप्तः; (पृ० १२)। वह चारदत्त को भ्राष्ट्रासन देता रहता है—'भो वयस्य तमंबार्यकल्पवर्तं स्मृतवान् मंतापिनेत' (पृ० २०)। वह चारदत्त को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाने देना नहीं चाहेता, इसी कारण रदनिका से कहता है कि अपने अपमान की बात चारदत्त से न कहना। वह चारदत्त को गणिका-प्रसङ्ग से हटाना चाहता है (पृ० १६४)। वह जानता है कि वेश्या सालची और कुटिल हीर्णा है। अतएव वह वसन्तसेना को भी पूजा की दृष्टि से देखता है और चारदत्त से कहता है—'निवर्पतामामाक्रमाद् बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रमङ्गात्' (पृ० १३६)। चारदत्त के प्रति उसे गद्गल प्रेम है। जब उसे पता चलता है कि शकार ने चारदत्त पर मिथ्या अभियोग लगाया है तो वह न्यायालय में शकार से सड़ बैठता है। जब चारदत्त के मृत्युदण्ड की घोषणा की जाती है तो वह चारदत्त के बिना जीवित नहीं रहना चाहता (पृ० ३००)।

मंनेय भीम तथा क्रोधी है। वह अन्धकार में चतुष्पथ पर जाने से डरता है। जब चारदत्त रात्रि में वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाने को कहता है तो वह बड़ी चतुराई से इनकार कर देता है (प्रथम अङ्क पृ० ६२) वह भीम ही क्रुद्ध हो जाता है—प्रथम अङ्क में रदनिका के अपमान को देखकर वह शकार और बिट को मारने के लिये उठत हो जाता है (पृ० ४६)। तृतीय अङ्क में वह न्यायालय में ही शकार पर क्रुद्ध हो जाता है, यद्यपि क्रोध का बुरा परिणाम होता है, क्योंकि मारपीट में उसकी काल में आमुष्ण निकल पड़ते हैं।

विदूषक एक साधारण कोटि का ममतादार व्यक्ति है। चारदत्त के उदात्त गुणों तक उसकी पहुँच नहीं है। वह चारदत्त से कहता है कि जब पूजा करने पर भी



देवता प्रसन्न नहीं होते तो देवपूजा से क्या लाभ है ? (पृ० २०) । चारदत्त की अत्यधिक उदारता उसे पसन्द नहीं है । आभूषणों व बंदसे रत्नावली देना उसे अच्छा नहीं लगता और जहाँ तब प्यास के बंदो वा वात है वह यह करने को तैयार है कि किसने ग्यास रखता बोन साक्षी है ? (पृ० २२२) । बर्भी-२ वह सुख सा प्रतीत होता है । जब वसन्तसेना चारदत्त के प्रति अभिसरण करती है तो वह चटी से पूछता है कि तुम यहाँ इस अ-धेरी रात में किस लिये आई हो ? (पृ० २२२) । वसन्तसेना की समृद्धि की देखकर वह चटी से प्रश्न करता है— भवति, कि युष्माकं यानपात्राणि यद्वन्ति (पृ० १८२) । उसके इस प्रकार के बयन व्यङ्ग्यपूर्ण से प्रतीत होते हैं तथा हास्य की उद्भावना करते हैं । मृच्छकटिक में विद्रूपक की इस प्रकार की बातें ही हास्य को जन्म देती हैं । हा करी-कही भोजनप्रिय तथा पेटू के रूप में भी विद्रूपक का चित्रण किया गया है, जैसे वसन्तसेना के भवन में नाना प्रकार के भोजनों को बनते देखकर विद्रूपक मन ही मन सोचता है— अपीदानीमिह वर्धित भुद्देव इति पादोदक सत्पये (पृ० १०६) । जब वसन्तसेना व यहाँ से बिना जिलाये पिनाय ही बिदा कर दिया जाता है तो सोचता है कि इयने तो पानो को भी नहीं पूछा (पृ० १६४) ।

इस प्रकार विद्रूपक में उच्चकोटि की बुद्धि नहीं है । वह मनुष्य को परखने की शक्ति नहीं रखता, वह उदात्त गुणा से विभूषित नहीं है तथापि वह एक व्यावहारिक जन है वह एक सच्चा मित्र है, यद्यपि बुद्धिमान् मित्र नहीं ।

### अन्य पुरुष पात्र

शूद्रक ने सभी पात्रों का चरित्र, इस प्रकार से चित्रित किया है कि उनकी व्यक्तिगत विशेषतायें स्पष्ट हो सकती हैं । अन्य पुरुष पात्रों में शक्तिशाली एक प्रेमी दूदय ग्राह्यण है । वह मदनिका को प्राप्त करने के लिये धोरी करता है । चौबे बन्ना में निष्णात है किन्तु धोरी को अच्छा नहीं समझता । देवल् हरतन्त्र व्यवसाय मातकर ही उसे ग्रहण करता है—स्वाधीना वचनीयताऽपि हि सर यदो न सेवाञ्जलि ।' (पृ० ११६) । यह बुद्धिमान् तथा गुणग्राहक (४, २१-२२) । यह आपत्ति में मित्र का साथ देने वाला है 'वञ्जिता से प्राप्त हुई प्रेमिका मदनिका को छोड़कर अर्पने मित्र आर्यक को मुक्त कराने पता जाता है (पृ० १६६) है । यह पद्मयन्त्र बन्ने में कुशल है (४, २६) सवाहक—दरिद्रता के कारण सवाहक का व्यवसाय करने वाला एक शूद्रपति का पुत्र है । पारश्वत के यहाँ गोबरी करने के परवाह द्युतबीडा से अपनी आजीविका चलाने लगता है । शूद्र में हाड कर वसन्तसेना द्वारा ऋणमुक्त कराया जाता है और विरक्त होकर बीडभिधु के रूप में हमारे सामने आता है । वह एक सच्चा मित्र दिखाताई देता है । यह इन्द्रियसयमी है (पृ० २७६) । यह वृत्तज्ञ है और उपकार का बदला चुकाने के लिये चिन्तित रहता है (पृ० ३२८) । अन्त में वसन्तसेना की प्राणरक्षा करने वह सन्तुष्ट होता है । निर्वाण ही जाता है और

प्रश्रय को उत्तम समझने लगता है (पृ० ४३८)। बिट—सहृदय एवं बुद्धिमान है। वह वसन्तमेना की मन्वी प्रेम-भावना को देखकर प्रभावित हो जाता है और उसके प्रेम की प्रशंसा करता है तथा दयागति उसकी सहायता करता है। वह धर्मभीरु है तथा पाप का विरोध भी करता है, (पृ० ३२०-३२२)। इसी में वह शकार को छोड़ कर चना जाता है। चेट—त्यागरक को भी परलोक का भय है, सज्जन के प्रति स्नेह और आदर का भाव है। वह स्वयं आपत्ति में पड़कर भी अकार्य नहीं करता और चाण्डल की रक्षा का प्रयास करता है। न्यायाधीश भी पवित्र हृदय तथा न्याय-प्रिय है। सज्जनता का आदर करता है तथा मन्चार्द को खोज करना चाहता है। चिन्तु यह भीरु है तथा जन्मवाजी में उबिन न्याय नहीं कर पाता। चन्दनक और खोरक भी अपनी निजी विवेकताये रमते हैं। मद्रिक, छूतकर दर्बरक आदि का भी सामान्य उल्लेख किया गया है।

## अन्य स्त्री पात्र

इतमें धृता प्रमुख स्त्री पात्र है। वह चाण्डल की विवाहिता पत्नी है, एक पतिव्रता नारी है जो पति के दुःख को नहीं देख सकती और पति की अपकीर्ति से भी डरती है (पृ० १३४)। इसी हेतु बड़ी चतुर्पई ने 'रत्नावली' विदूषक को दे देती है (पृ० १३६) धृता को आभूषणों के प्रति ममता नहीं है, जोष नहीं है। जब वसन्तमेना रत्नावली को मोटाती है तो वह उसे स्वीकार नहीं करती। धृता अत्यन्त उदार है, वह वसन्तमेना में ईर्ष्या नहीं करती और वसन्तमेना से प्रेम करने वाले अपने पति पर भी कोप नहीं करती। वह अपने पति में अत्यधिक प्रेम करती है। उसके बध की बात सुनकर चिन्ता में डूबकर प्राण-त्याग कर देना चाहती है तथा अपने प्रिय पुत्र की भी चिन्ता नहीं करती, न पाप से ही डरती है—वरं पापावरणम् । न पुनरायं पुत्रस्या-मङ्गलानाम् । (पृ० ४३४)। वह एक मन्वी भारतीय नारी है।

मदनिका—वसन्तमेना की दासी तथा सखी है। उस पर वसन्तमेना बहुत अधिक विश्वास करती है। वह भी वसन्तमेना के प्रति अत्यन्त स्नेह करती है। इसी हेतु "चाण्डल के घर एतिलक ने खोरी की है" यह बात कर सून्धित हो जाती है (पृ० १५२)। मदनिका बुद्धिमती तथा चतुर है। वह शक्ति को एक सद्गृहिणी के गमान सम्मति देती रहती है (पृ० १६०)। वसन्तमेना को भी वह समय-समय पर अच्छी सम्मति देती रहती है। इसी में वसन्तमेना उसकी प्रशंसा करती है—साधु मदनिके साधु (पृ० १६०) परहृदयपहणमिदं मदनिका यत्तु त्वम् (पृ० ६८)। मदनिका भीरु नहीं है वह शक्तिज जैसे मातृमी को पन्नी होने योग्य है और जब मदनिक अपने मित्र मन्चार्द को घुसाने जाता चाहता है तो वह उसके मार्ग में बाधा नहीं टापती। वन्दुकः उमने दासीजन को छोड़कर एक मन्वी गृहिणी का रूप धारण कर

किया है। इनके अतिरिक्त रश्मिका तथा वसन्तसेना की बेटी वसन्तसेना की माता आदि का भी कुछ उल्लेख हुआ है।

३ मृच्छकटिक का रस-विवेचन तथा काव्य सीखें—

'रस-विवेचन— भारतीय नाट्यसमीक्षा के अनुसार 'रस' रूपक का मुख्य तरह है। पाश्चात्य आलोचकों ने प्रभावान्विति को ही नाटक का प्राण कहा है। समालोचकों का कथन है कि दोनों में बहुत कुछ सामान्यता है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से सहृदयों को जो एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है। इस रस की प्रतीति कराना ही रूपको का प्रयोजन है। विविध रूपको में भिन्न भिन्न प्रकार के रसों की प्रधानता और गौणता होती है। 'प्रकरण' में शृङ्गार दो प्रकार का होता है—संभोग (संयोग) शृङ्गार और विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार। मृच्छकटिक में संभोग शृङ्गार अङ्गी रस है तथा विप्रलम्भ शृङ्गार, वरुण, हारम्य, भयानक, वीर तथा शान्त आदि उसके अङ्ग हैं। इन सबका साक्षित विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

संभोग शृङ्गार—मृच्छकटिक में चारदत्त और वसन्तसेना के प्रेम का चित्रण किया गया है। वसन्तसेना एक गणिका है जो नाट्य-समीक्षा की दृष्टि से सामान्य नायिका है। यद्यपि सामान्य नायिका का प्रेम रस की कोटि तक नहीं पहुँचता और वह 'रसाभास' ही रहता है यह माना जाता है तथापि यही गणिका वसन्तसेना का प्रेम कुलनारी के समान ही अनन्य प्रेम है वह अन्त में कथं पद को प्राप्ति करती है इसलिये यह प्रेम रस का कोटि तक पहुँच ही जाता है। कामदेवायतन में युगों के भण्डार तथा रूपयौवनसम्पन्न चारदत्त को देखकर वसन्तसेना के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है। प्रथम अङ्क में चतुर्थ दृश्य में चारदत्त और वसन्तसेना परस्पर मिलते हैं। चारदत्त उसके रूप की प्रशंसा करता है—छादिता० (पृ० ५८) और उसकी शालीनता का मन ही मन विश्लेषण करता है (पृ० ६०)। इसी समय चारदत्त के हृदय में भी अनुराग का उदय हो जाता है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्क के विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिव्यञ्जन भावों से यह संयोग शृङ्गार परिपुष्ट होता है। तदन्तर, पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना अभिसारिका बनकर आती है। यहाँ मेघमञ्जरी और दुर्दिम का अन्धकार तथा विशुन् की समक संयोग के उद्दीपन के रूप में सहायक होते हैं। मेघों में चारदत्त के प्रेम की उद्दीपन कर दिया है और वह बह बह उठता है—

मो मेघ, गम्भीरतरं नव त्व त्व प्रसादात् स्मरपीडित मे ।

संस्पर्शरोमाञ्जितजातराग वदन्वपुष्परत्नपुर्वति गान्धर्व ॥ (५/४७)

वसन्तसेना चारदत्त के घर पहुँचती है और वसन्तसेना का आतिथ्यन करके चारदत्त अपने कोमल भावों को इस प्रकार प्रकट करता है—

ध्वानि तेयां स्मृ जीवितानि ये वामिनीनां कृपामयतानाम् ।

झाङ्गि मेघोदकशीतलानि गान्धानि गान्धेयु परिव्यजन्ति ॥ (५/४८)

किन्तु यह मिलन चरम मिलन नहीं, इसी हेतु पृष्ठ अङ्क के आरम्भ में चाण्डाल से पुनः मिलने के लिये तथा उसके आभ्यान्तर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिये वसन्तमेना की उन्मुखता दिखाई गई है। मूलम अङ्क में चाण्डाल भी वसन्तमेना से मिलने के लिये उत्सुक है। किन्तु देव का विधान 'वसन्तमेना वा मोहन चाण्डाल पर अभियोग और मृत्युदण्ड ! यही विप्रलम्भ कर्मण दशा को ही पहुँचने वाला है कि पुनर्मिलन होता है और चाण्डाल अकस्मात् कह उठता है—

'अहो प्रभाय. प्रियमंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्घ्रियेत।' (१०, ४३)

अन्त में पुनः प्रिय की प्राप्ति होती है और वह भी अभीष्ट रूप में 'वयू' के रूप में—'प्राप्ता भूय. प्रियेयम्' (१०, ५६)।

इस प्रकार यहाँ आरम्भ में सम्भोग शृङ्गार का उदय होता है और वह विप्रलम्भ इत्यादि से पुष्ट होता हुआ अन्त में परिष्कृत दशा को पहुँच जाता है अतः यहाँ सम्भोग शृङ्गार अङ्गी रम है। वसन्तमेना के प्रति नकार आकर्षण उसका पीछा करना, अनुनय करना तथा प्रेम प्रदर्शित करना इत्यादि शृङ्गारामात्र है।

विप्रलम्भ शृङ्गार—मृच्छकटिक में अनेक स्थलों पर विप्रलम्भ की सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। डिनीर अङ्क के आरम्भ में वसन्तमेना विशेष उत्कण्ठित है (मोक्षकथा) हृदय में वृद्ध मोच रहा है—'हृदयेन किमप्यालिखन्ती' (पृ० ६६) और स्नान आदि में भी रति नहीं रखती (पृ० ६६)। वह शून्यहृदया-सी किसी की कामना कर रही है (पृ० ६८)। चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में वसन्तमेना चाण्डाल के चित्र की रचना करती है और उसी में मग्न है (पृ० १४०)। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में जब विष्णुक चाण्डाल से गणिका-जमङ्ग शोडन की प्राप्ति करता है तो वहाँ चाण्डाल की भी वसन्तमेना के प्रति उत्सुकता प्रकट होती है—'गुणहार्यो ह्यसौ जनः' (पृ० १६६)। साथ ही विरह की वेदना भी—'दयमर्षे. परित्यक्ता ननु त्यक्तं च सा भया' (पृ० १६६)। पृष्ठ और मध्यम अङ्क में दोनों ओर से विरह की उत्कण्ठा व्यक्त की गई है। इस प्रकार मृच्छकटिक में विप्रलम्भ शृङ्गार का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

कर्मण रस—इष्ट की हानि में शोक का उद्रेक होता है। इसके चित्रण द्वारा महद्दयो को कर्मण रस का आम्वादन हुआ करता है। प्रथम अङ्क में चाण्डाल के वैभवनाश तथा शरिरावस्था का कर्मण चित्रण है (पृ० १४-२०)। 'मुनास्तु यो याति नरो दग्निना मृतः शरीरं मृतः स जीवति (१०, १०) अन्वष्वेगं मरणं शरिरघ्न-मनन्त्रं दुश्मम् (१, ११)। इसी प्रकार संवाहक के भूमिपतन में (पृ० ७६)। अलङ्कारों की चोरी का समाचार सुनकर धूरा की मूर्च्छा (पृ० १३४) तथा बाद में वसन्तमेना गणिका की मूर्च्छा में (पृ० १४२), चाण्डाल की मृत्युदण्ड की घोषणा होने पर गोप्येन और संज्ञेय चण्डाल में (अङ्क ६) तथा धूरा के अग्नि प्रवेश की बाद सुन्दर चाण्डाल के मूर्च्छा होने (अङ्क १०) इत्यादि के वर्णनों में कर्मण रस की

अभिव्यञ्जना की गई है। जब शकार वसन्तसेना का गला भोट देता है और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है तब विट ने जो मोह प्रकट किया है उसमें तो कथन रस की अत्यन्त सुन्दर व्यञ्जना हुई है—दाशम्योदकवाहिनी विगलिता' (पृ० ३२०)।

हास्यरस—हास्य और व्यङ्ग्य की दृष्टि से तो मृच्छकटिक का संस्कृत नाटको में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। शूद्रक ने अनेक प्रकार से हास्य व्यञ्जना का प्रयास किया है, जैसे—(१) विनोदी तथा हंसोड पात्रों द्वारा, विद्रूपक और शकार के अनेक कार्यों तथा संवादों से समस्त प्रकरण में हास्य की व्यञ्जना की गई है। यहाँ शकार के मूलतापूर्ण कार्यों से हास्य योजना की गई है। विद्रूपक के हास्योत्पादक कार्य ऐसे मूलतापूर्ण नहीं हैं। (२) विनोदपूर्ण परिस्थितियों की उद्घाटना करके, जैसे द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में दूतवर्तों के शगड में हास्य रस की मालक है। वसन्तसेना की अत्यन्त मोटी माता के वपन से हास्य का उद्भव होता है। ददुरक का मायुर की मालो में धूल डालना और धीरक तथा पन्दनक का परस्पर जातिभूचक संवेत देना—हास्योत्पादक घटनाएँ हैं। (३) व्यङ्ग्योक्तियों द्वारा, जैसे 'किं मुष्माक मानवाभाणि वहन्ति' (पृ० १५२) इत्यादि व्यङ्ग्योक्तियों से एक मधुर हास्य की व्यञ्जना होती है। (४) अद्भुत प्रश्नोत्तरो द्वारा, जैसे वसन्तसेना के चेट तथा विद्रूपक के प्रश्नोत्तरो से (पृ० २००-२०२)। यहाँ विद्रूपक की मूर्खता तथा उसमें पणपरिवर्तन करके 'सेनावसन्ते' कहने से भी हास्य रस की उद्घाटना होती है वस्तुतः हास्य रस की व्यञ्जना में मृच्छकटिक संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट नाटक है।

अन्य रस—गुण्टमोडक की भगदह में भयानक की, बौट भिक्षु की अष्टम अङ्क के आरम्भ की उक्तियों में शान्त रस की, शक्तिरक की उक्ति में मुग्ध धीर की तथा पारदत्त के वर्णन में दानवीर की और भतवाले गन्धगज से कणपूरक द्वारा भिक्षु की रक्षा किये जाने के वर्णन में अद्भुत रस की मालक मिलती है। इस प्रकार मृच्छकटिक में प्रायः सभी रसों का सुन्दरता के साथ समावेश हुआ है।

भाव-चित्रण—भावों की सुन्दर वर्णना ने भी मृच्छकटिक के भाव्यसौन्दर्य में वृद्धि की है। कवि ने मानवीय भावों का स्वभाविक चित्रण किया है। पारदत्त जैसा अत्यन्त उदार व्यक्ति इसलिये विनित्त नहीं है कि वैभव नष्ट हो गया, सम्पत्ति तो भाग्य के अनुसार आती है और चली जाती है, उसे तो इसी बात का संताप है कि सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर मित्रों की मित्रता भी शिथिल हो आती है—'सात्यं न मे' (१, १३)। शक्तिरक जैसा धीर सोचता है—धीरी को लोग निन्दित भले ही कहे किन्तु यह तो स्वतन्त्र व्यवसाय है धारत्री की दासता इनमें नहीं और द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वरथामा ने धीरी बरौ का मार्ग भी हमें दिखाया है फिर 'तो महः शौर्यं ही है—'नाम नीचमिदं पदस्यु' (३, १२)। धीर के शकारप्रसव हृदय का

स्वाभाविक वर्णन भी कवि ने किया है—'यः कश्चित्स्वरितगतिः' (५, २)। नारी के हृदय का चित्रण करने में तो कवि को अत्यधिक सफलता मिली है। दुर्दिन में अभिमरण करने वाली वसन्तमेना को निरा सपनों के समान प्रियमित्रन में बाधक प्रतीत होती है अतः। वह उसे उपात्म देती है—'सूडे' इत्यादि (५, १५)। वपुलों की बोली उसे घाव पर नमक छिड़कने के समान प्रतीत होती है और वह कह सकती है—'प्रावृट् प्रावृडिति श्रवीति शठधीः सारं सते भ्रमिपत्नू' (५, १५)। खैर, पुरुष तो स्वभावतः कठोर होता है वह नारी के हृदय की वेदना को क्या जाने? विद्युत् का कोमल नारी-हृदय भी वसन्तमेना के प्रति संवेदना नहीं रखता—यदि पर्वति (५, ३२)।

इसी प्रकार कवि ने अनेक स्थलों पर मानव-भावनाओं का सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि ने अपनी अनुभूति द्वारा मानव-हृदय में प्रवेश करके अनेक सूक्ष्म भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है और मानव-प्रकृति के चित्रण में वह अत्यधिक सफल हुआ है।

वर्णन-शौण्डव—मूच्छकटिक में जीवन की दशाओं का हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है। 'नहो दरिद्रावस्था का चित्रण है, कहीं वसन्तमेना की कुबेर जैसी सम्पदाओं का वर्णन है। स्रेय के स्वरूप तथा भेरी का वर्णन तथा दूतकर्म का विशद वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण को अभिव्यक्त करते हैं। मानव के रूप-वर्णन में भी कवि को अच्छी सफलता मिली है। उदाहरण के निम्ने जो चारदश संवाहक के शब्दों में 'प्रियदर्शन' है आर्यक के विचारानुसार 'दृष्टिरमनोद' है, जिसके रूप सोन्दर्य पर वसन्तमेना मुग्ध हो जाती है उसका सोन्दर्य न्यायाधीश के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'धौमोन्नतं मुखमपाङ्गुविशालनेत्रं, नैतदि भाजनमकारण-दूषणाताम्०' (६, १६)। वसन्तमेना की सन्निवृत्ति का अर्थ चित्र विट के इस कथन में झलकता है 'कि याति बानरुदनीव' (१, २०)। गाढ़ निद्रा में विलीन व्यक्ति का स्वाभाविक चित्र 'निवासांमन्यन्त शङ्कितः' (३, १८) इत्यादि शविलक के स्वरूप कथन में देखा जा सकता है। मूच्छ ने न्यायालय का भी अनङ्गित भाषा में वर्णन किया है—'विन्दासक्त० (६—१४)।

प्रकृति-चित्रण—मूच्छकटिक के कुछ स्थलों पर बाह्य प्रकृति का भी चित्रण किया गया है जैसे पञ्चम अङ्क में। कुछ आलोचकों का कथन है कि अष्टम अङ्क में पुष्कराङ्क उद्यान का सुन्दर चित्रण किया जा सकता था, किन्तु कवि ने उसकी उल्लेख की है। वस्तुतः बात यह है कि रुद्रों में घटनाओं की गत्यात्मकता अदृशित होती है, वही कवि का ध्यान वस्तु की अभिव्यक्ति पर रहता है तथा विन्मृत प्रकृति वर्णन से घटनाओं की स्वाभाविक गति में बाधा पड़ती है। इसनिम्ने वही प्रकृति वर्णन की उल्लेख करता कवि ही प्रतीत होता है। पञ्चम अङ्क में वर्णन का नाटकीय दृष्टि से अधिक विन्मृत हो गया है परन्तु बाह्य की दृष्टि से यह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

मृच्छकटिक का अधिकांश प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही हुआ है यद्यपि एक दो स्थल पर कवि ने प्रकृति का सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत किया है। चन्द्रोदय का वर्णन ही देखिये—उदयति शशाङ्क (१ ५७)। इसी प्रकार पनाग्यकार में मेघों से रजताव जैसी ध्वेत जलधारा गिरती है जो विद्युत् की चमक से शयभर की दिखलाई देती है और फिर दृष्टि से ओझल हो जाती है—इसका कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है। एता निपिक्त०' (५, ४)। मेघ आकाश में छाये हैं उन्हें विविध आकार धारण कर विवे है। कवि ने इनका कौता स्वाभाविक शब्दविर प्रस्तुत किया है।—सयकूर्तिग्य० (५ ५)। अग्यकार की गहनता का भी चित्र बनूठा ही है—निम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्पतीवाऽजन नभः (१ ३४)। इन स्वाभाविक प्रकृति चित्रण से यह प्रतीत होता है कि कवि के हृदय में प्रकृति के प्रति प्रेम का अवश्य था।

फिर भी ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं। अधिकांश स्थानों में मृच्छकटिक का प्रकृति-चित्रण अलङ्कारों के भार में लदकर अपनी स्वाभाविक छटा को नितान्त छिपा दे चुका है। बड़ी साज्जकारक के द्वारा मेघ की केशव से समता दिखलाई गई है (१, १), बड़ी गोपान्दयन आकाश को धृतगात्र के मृग के समान बतलाया गया है। इन अलङ्कारों में श्लोक निशाप्रद मन्पनाये भी हैं (५, २६)। काव्यत्व की दृष्टि से भी इन प्रकार के अलङ्कार पूर्ण प्रकृति-वर्णन त्याग्य नहीं कहे जा सकते; फिर भी इनसे प्रकृति के प्रति कवि के हृदय का अनुराग नहीं झलकना। हाँ, उद्दीपन के रूप में जो प्रकृति-चित्रण है उसमें प्रकृति का मानव हृदय के साथ सामञ्जस्य किया गया है। दुर्दिन में अभिमरण करती हुई वसन्तमेना का हृदय मेघों ने आहत कर दिया है उस पर वगुणे पाव पर नमक छिड़क रहे हैं (५, १८)। वसन्तमेना जलधर की भयंसा करती है कि तुम बड़े निलंज हो जो पियनम के पर जाओ हुईं मुझको धारा-रूपी हाथों से घुने हो (५, २०)। इसी प्रकार उस अहल्या-प्रेमी इन्द्र को भी उपासना देती है (२ २६-३०) और वसन्तमेना को सबसे बड़ा भेद तो यह है कि विद्युत् नारी होकर भी, प्रमदाओ की प्रेम-वेदना को नहीं अनुभव करती (५, ३२)।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के प्रकृति-वर्णन में अभिमानगावुन्तल के समान बाह्यप्रकृति का मानव प्रकृति के साथ सन्धा तादात्म्य तो नहीं मिलता, फिर भी यह प्रतीत होता है कि कवि प्रकृति की ओर से नितान्त उदासीन नहीं था।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त कृति—नाटक आदि प्रबन्धों में नायक-नायिका इत्यादि का जो रसानुब्रूल व्यापार (चेष्टा) होता है वही नाट्यभाव में कृति कही जाती है। यह कृति चार प्रकार की होती है—कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। इनमें पहली तीन कृतिर्ण नायक-नायिका, आदि की कायिका और मानसिक चेष्टाओं से सम्बन्ध रखती हैं तथा 'अपेक्षित' कहानी हैं। भारती कृति का पायिका व्यापार

से ही सम्बन्ध है। शृङ्गार रस में कौशिकी, वीर में सान्त्वती और रौद्र तथा वीभरस रस में आरमटी वृत्ति का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति का सभी रसों के साथ प्रयोग होता है।

मृच्छकटिक में शृङ्गार रस की प्रधानता है अतः यहाँ मुख्यतया कौशिकी वृत्ति का प्रयोग किया गया है। कौशिकी वृत्ति कोमलवृत्ति है। इसमें नृत्य, गीत, विलास आदि शृङ्गार चेष्टाएँ हुआ करती हैं मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में नायक-नायिका की विलास चेष्टाओं का वर्णन है। तृतीय में संगीत चतुर्थ में चित्रालखन तथा पञ्चम में कामभोग से सम्बद्ध बहुविध व्यापारों का वर्णन है। अन्तिम अङ्कों का क्रियाकलाप भी काम-फल की प्राप्ति का साधनमात्र है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कौशिकी वृत्ति की प्रधानता है। शकितक की वीर रस प्रधान चेष्टाओं में सान्त्वती और वसन्तसेनामोहन में आरमटी वृत्ति कही जा सकती है। भारती वृत्ति के अङ्ग प्ररोचना और आमुख का ऊपर निर्देश किया जा चुका है।

१०. मृच्छकटिक में भाषा शैली और अभिनेयता—

(i) भाषा—मृच्छकटिक की भाषा शैली कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल है। यह भास और कालिदास के मध्य की शैली है; सस्कृत साहित्य की अलङ्कृत शैली नहीं। इसकी भाषा समासप्रधान नहीं, उसमें स्वाभाविक सरलता है। उसमें सर्वत्र प्रमाद और तालित्व विद्यमान है। केवल कुछ स्थलों में भाषा की कृत्रिमता और अलङ्कृत शैली के दशान होते हैं : सर्वत्र पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया गया है। शब्द योजना और वाक्यविन्यास की दृष्टि से भी भाषा नाटकीय है। भाषा में अभीष्ट शक्ति है और प्रवाह भी। यही कारण है कि मृच्छकटिक के अनेक वाक्यों ने मूर्क्तियों का रूप धारण कर लिया है जैसे दुर्लभा गुणा विभवाश्च, साहसे श्री. प्रतिवसति, 'कानो वाम' शुद्धिद्वेष्वनया बहुमीभवन्ति इत्यादि (देखिये परिशिष्ट) ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने लोकोक्तियों के प्रयोग में अपनी भाषा को मजबूत बनाने की ओर ध्यान दिया है। इसी हेतु कहीं-कहीं सम्पूर्ण श्लोक ही मूर्क्तिमय दृष्टिगोचर होता है। (देखिये परिशिष्ट)। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसका शब्द-मण्डार विशाल है। सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के समुचित प्रयोग में कवि को अच्छी मकरंता मिली है, कहीं-कहीं पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से भाषा में दोष अवश्य दिखनाई देता है (टिप्पणी) अनियमित समाग-योजना, अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग (च, हे, तु इत्यादि) भाषा की शिथिलता इत्यादि दोष भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होने हैं।

पात्रों के अनुकूल प्राकृत भाषा का प्रयोग करने में तो शूद्रक बेजोड़ है।

(ii) मृच्छकटिक में प्रयुक्त प्राकृत भाषायें—मृच्छकटिक के सस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाओं का विस्तृत विवरण दिया है। उनके



आधार पर ही यहाँ विवेचन किया जाता है। प्राकृत भाषाएँ सात मानी गई हैं— 'मागधी, अवन्तिजा प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाङ्गीका, तथा दाक्षिणात्या।' अपभ्रंश भी सात हैं—शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शबरी, प्राविडी, उडुजा और टनकी (बनेवरो की भाषा)। इन अपभ्रंशों को विभाषा भी कहा जाता है (विकिषा भाषा विभाषा)। इन भाषा तथा विभाषाओं में से मृच्छकटिक में सात भाषाओं का प्रयोग हुआ है—(१) शौरसेनी, (२) अवन्तिजा, (३) प्राच्या, (४) मागधी, (५) शकारी, (६) चाण्डाली और (७) टनकी। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) शौरसेनी—पृथ्वीधर के अनुसार सूतधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना और उसकी माता, घेटी, वर्णपूरक, धूता, शोधनक और शोष्ठी—ये ग्यारह नाम शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं। इस प्राकृत में श प स। इन तीनों के स्थान पर 'श' ही होता है जैसे नटी के कथन में 'मर्षदु मर्षत्वायाः' इस संस्कृत के स्थान पर 'मरिसेदु मरिसेदु मग्जो' (पृ० १०)।

(२) अवन्तिजा—वीरक और चन्दन इस प्राकृत को बोलते हैं। इसमें भी श प स के स्थान पर 'स' होता है तथा यह रेफवती और लोकोक्ति बहुला है। यहाँ 'रेफवती' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि इसका अर्थ यह किया जाये कि इसमें स के स्थान पर 'र' (रेफ) ही जाता है तो वीरक-चन्दनक की भाषा से इस बात की पुष्टि नहीं होती—'मण अवतोद्द' (चन्दनक पृ० २५६), तुमं पि रण्णो पञ्चददो बलवद् (वीरक पृ० २५६)। सम्भवतः कुछ विशेष स्थानों पर इस भाषा में रेफ होगा, किन्तु (?)। अथवा इसका अर्थ यह ही सकता है कि इस भाषा में 'रे' 'अरे' का प्रयोग अधिक होता है (?) इस भाषा में लोकोक्तियों की प्रचुरता है यह मृच्छकटिक से प्रतीत होता है—वीरकः—जइ दे चउरङ्गं ण कयावेमि तदो ण होमि वीरओ। चन्दनकः—कि तुए सुणअसरिसेण (पृ० १६२)।

(३) प्राच्य—विद्रूपक प्राच्य भाषा बोलता है। इसमें भी श प स के स्थान पर 'स' होता है तथा स्वार्थिक ककार की प्रचुरता कही गई है किन्तु मृच्छकटिक के विद्रूपक की भाषा में ककार की प्रचुरता दिखाई नहीं देती। जैसे—'एसा समुखणा सहिखणा णवणाअअदतणुटिठाटा गुत्तायासि इव'—इत्यादि (पृ० ५८)।

(४) मागधी—संवाहक, शकार, वसन्तसेना और चारदत्त इन (तीनों) के ३ घेट, भिरु, धारदत्त का पुत्र रोहसेन—ये छ पाच मागधी भाषा बोलते हैं। मागधी भाषा में तालभ्य शकार होता है अर्थात् श, ष, स तीनों के स्थान पर 'श' होता है; जैसे 'असिम्' के स्थान पर 'असिम्' (पृ० ५६, घेट); 'एप' के स्थान पर 'एत्' (संवाहक, पृ० ७२), 'शक्या' के स्थान पर 'शक्तीए' (संवाहक २१)। 'अज्ज' विरुणिणं इममश सहिअशना इत्थादो पयोहि सुवग्गकेहि (संवाहक, पृ० ८०)—यहाँ शकार की बहुलता धर्मातीय है।

(५) शकारो—शकार इस भाषी का प्रयोग करता है। इसमें भी ताल्प्य शकार की प्रचुरता होती है और रेक के स्थान पर लकार हो जाता है। जैसे—'अग्नी गुत्तिक्वे बतिदे अमत्यके कप्येम ङीसं उद मानएम वा' (शकार १, ३०)—यहाँ 'अतिः' का अग्नी और मात्यामि का मानएम (र को ल) हो गया है।

(६) चाण्डाली - दोनों चाण्डाल इसका प्रयोग करते हैं। इसमें भी श स ष के स्थान पर ताल्प्य शकार ही होता है तथा रेक के स्थान पर लकार। जैसे—'पावतअ अवि शस्वं भगगि' (स्यावरक, अपि सत्य भगगि), चाण्डाल (पृ० ४००) के इस कथन में श के स्थान पर ष और र के स्थान पर ल है।

(७) ढक्की—ढूतकर और मायुर इसका प्रयोग करते हैं। इसके विषय में पृथ्वीधर ने कहा है—'वकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालप्यसप्तस्वर-द्वयपुक्ता च।' अर्थात् इसमें वकार की प्रचुरता होती है और जब यह संस्कृतप्राय होती है तो इसमें स, श दोनों का प्रयोग होता है (अन्यथा नहीं?); जैसे मायुरः—'अत्पि। दशमुवर्गं घ.सेदि। कि तस्य' अस्ति दशमुवर्गं धारयति। कि तस्य, (पृ० ६६) यहाँ दशमुवर्ग में श और स का संस्कृत के समान ही प्रयोग हुआ है, यहाँ संस्कृतप्राय ढक्की विभाषा है। किन्तु 'मायुरः—अले, भगगि तं कुलपुत्तम्' (अरे भगगि, तं कुलपुत्तम् (पृ० ६६) यहाँ भगगि में स का श हो गया है। 'वकारप्राय' होने की बात मृच्छकटिक में दिखलाई नहीं देती अपि, तु उकारप्राय होना दिखलाई देता है जैसे—'अले भट्टा, दशमुवर्गाह मुद्दु जूदकर पपतीणु' (पृ० ७०)। ढक्की के विषय में डॉ० कौप का कथन है कि वस्तुतः यह 'ढक्की' होनी चाहिये। लिपि की अगुदता से इसे ढक्की पड़ लिया गया होगा। पिरोल-न इसे पूर्वी बाली माना है और प्रियसैन के अनुसार यह पश्चिमी बाली है। यही उचित भी जान पड़ता है। 'नाट्य-शास्त्र में ढक्की नाम नहीं आया। हाँ, वनेचरों की उकारप्राय भाषा का उल्लेख अवश्य हुआ है। सम्भवतः यह वही विभाषा है।

इन मात्र भाषाओं में शकारो और चाण्डाली दोनों मामथी की ही विभाषाएँ हैं। इनके रेक को लकार हो जाता है—केवल यही भेद है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि पृथ्वीधर ने दाक्षिणात्य भाषा को क्यों छोड़ दिया? जबकि यह स्पष्ट है कि चन्द्रक दाक्षिणात्य है। इन प्राकृतों के विशेष अध्ययन से ही उपर्युक्त संकाओं का निराकरण हो सकता है।

मृच्छकटिक में छन्द तथा अलङ्कार-योजना—मृच्छकटिक में स्वाभाविक ढंग से अनेक अलङ्कार आ गये हैं। कवि ने बलपूर्वक अलङ्कारों को लादा नहीं है। इसके अलङ्कार अर्धसम्पञ्चना में महापद हैं तथा काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं। उनना, रूपक, उल्लेख आदि अर्धालङ्कारों की स्थान-स्थान पर सुन्दर योजना दृष्टिगोचर होती है। अमरमुद्र प्रसंगा (१, ८-११) काव्यतिङ्ग (१, ११), विशेषोक्ति (१, १२), और समामोक्तिक आदि अलङ्कारों का भी विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। त्रिके वदाहृत्य संस्कृतभाषा में देख जा सकते हैं।

मृच्छकटिक के कवि ने अनेक छन्दों का सफल प्रयोग किया है जिसका विस्तार पूर्वक आगे विवचन किया गया है।

कहना न हागा कि मृच्छकटिक की भाषा शैली भाव के सर्षया अनुकूल है। नाटकीय दृष्टि से भी यह भाषा शैली उपयुक्त ही है।

### (iii) मृच्छकटिक की अभिनेयता

किसी रूपक की अभिनेयता के लिये आवश्यक है कि उसकी कथावस्तु अधिक विस्तृत न हो, कथापकथन अधिक लम्बे न हो तथा दृश्यों का विभाजन रङ्गमञ्च के अनुकूल किया गया हो। इन दृष्टियों से जब मृच्छकटिक पर विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है—

(१) मृच्छकटिक की कथावस्तु अत्यन्त विस्तृत है। इसका अभिनय एक बैठक में नहीं किया जा सकता। कथावस्तु में गतिशीलता तो है, किन्तु इस कथावस्तु को पूर्णतया सांगत नही कहा जा सकता। प्रथम अङ्क के अन्त में चारदत्त वसन्तसेना को पहचान उसका घर जाता है। इतनी लम्बी यात्रा बिना किसी कणोपकथन के रङ्गमञ्च पर नही दिखाई जा सकता। द्वितीय अङ्क में सवाहक भिक्षु होने का निश्चय करने बाहर निकलता है त्यों ही कणपूरक द्वारा भिक्षु वेप में उनकी रक्षा की जाती है। तृतीय अङ्क में निद्रूपने द्वारा वसन्तसेना के भवन का विस्तृत वर्णन किया गया है जो सामान्यता को जब पंदा करने वाला है। पञ्चम अङ्क में सर्षा-वर्णन भी इस प्रकार का है। पष्ठ अङ्क में चारदत्त वसन्तसेना को सोती छोड़कर प्रभात में ही पुनःकरण्डक उद्यान में क्यों चला जाता है? यह बात समझ में नहीं आती; अतः यह दृश्य पञ्चम अङ्क तक की कथा का अग्रिम कथा से जोड़ने वाली एक शिथिल कड़ी कहो जा सकती है। अष्टम अङ्क में शकार यह कहकर उद्यान में निकलता है 'साम्प्रतम् अधिकरण गत्वा यवहार लेखयामि' किन्तु न्यायालय में दूसरे दिन जाता है। नवम अङ्क में न्यायाधीश के बार-बार पूछने पर भी चारदत्त मौन ही क्यों रहता है? इस प्रकार के दोषों से कथावस्तु की सुश्लिष्टता भंग होती है। डॉ० राइडर का विचार है कि मृच्छकटिक में सुश्लिष्टता (Proportion) का अभाव है तथा यह अत्यन्त विस्तृत है।

(२) मृच्छकटिक में दृश्यों का समुचित विभाजन नहीं, प्रत्येक अङ्क में अनेक दृश्य हैं। एक ही समय कई दृश्यों की योजना की गई है। जैसे प्रथम अङ्क में चारदत्त के घर का दृश्य और राजमाग पर वसन्तसेना का पीछा करने हुए शकार का दृश्य। दोनों एक ही समय रङ्गमञ्च पर कैसे दिखावाये जा सकते हैं?

इन आरोपों के विरोध में यह कहा जाता है कि मृच्छकटिक की कथा अत्यन्त रोचक तथा आकर्षक है। इसमें क्रिया ध्यापार की गतिशीलता है। यह अभिनय के विचार से एक आवश्यक बात है। जहाँ तक कथावस्तु के विस्तृत होने की बात है। कुछ अंशों को छोड़ा जा सकता है जैसे सर्षा-वर्णन आदि के स्थान हटाये जा सकते

है। दृश्यविभाजन का ऋप अभिनय के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह भी व्यवस्था करना सम्भव है कि एक विशाल रङ्गमञ्च पर कई दृश्य एक साथ दिखलाये जा सकें। इसके अनिश्चित मूच्छकटिक के संवाद अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। इसकी भाषा भी रङ्गमञ्च के उपयुक्त है। यदि कोई घटना अभिनय के योग्य नहीं प्रतीत होती तो उसे छोड़ा जा सकता है। हाँ, कवि ने पात्रों की वेशभूषा का निर्देश नहीं किया है। देश काल के अनुसार उसकी योजना कर्णी होगी। इस प्रकार यह सम्भव ही है कि मूच्छकटिक की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए इसमें उचित परिवर्तन करके इसका अभिनय किया जा सकता है।

### ११. मूच्छकटिक पर एक विहंगम दृष्टि —

संस्कृत साहित्य में मूच्छकटिक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारत की अनेक प्रचलित भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। वस्तुतः इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण मूच्छकटिक एक अनुपम रूपक समझा जाता है—

(१) इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मध्यम वर्ग से कथावस्तु चुनी गई है। उज्जयिनी के मध्यमवर्ग के जीवन का स्वाभाविक वर्णन यहाँ किया गया है। यहाँ चोर, जुआरी, धूर्त, राजसेवक, मित्र, पुलिस, बमबारी, गणिका, उदार दण्डि आदि का चित्रण किया गया है। इसके पात्र देव या दानव नहीं हैं। वे इसी लोक के प्राणी हैं। उनके सुख-दुःख, हवि-अहवि हमारे समान ही हैं। लोक-भाषा उनकी भाषा है; लोक-व्यवहार उनका जीवन है। उनकी कहानी सुनकर पाठक के हृदय में आनन्द, वीरूह्य, आश्चर्य, कष्टना और भय आदि के भाव स्वतः ही उमड़ आते हैं। 'मूच्छकटिक संस्कृत का एकमात्र पद्यार्पवादी नाटक है। कालिदास और भक्तृनि में हमें काव्य और भावना का उदात्त वातावरण मिलता है, जबकि मूच्छकटिक में जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होने हैं।'

(२) मूच्छकटिक की कथावस्तु में घटनाचक्र की गतिशीलता है। कवि ने पानक तथा आर्यक की राजनैतिक कथा को चारदत्त और बसन्तमेना की प्रणय कथा के साथ बड़ी कुशलता से मिलाया है। यहाँ आर्यक की प्रेमकथा का अविच्छेद अङ्ग बन गई है और इससे मूच्छकटिक की कार्यान्विति (unity of action) में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(३) शूद्रक के संवाद मरन तथा मंथित हैं उनमें वाग्विदग्धता तथा व्यङ्ग्य का दर्शन होता है। हास्य रस की अभिव्यञ्जना में तो यह संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है (देखिये रत्न-त्रिवेचन)।

(४) संस्कृत साहित्य में यह एकमात्र चरित्र-प्रधान नाटक है। मूच्छकटिक के चरित्र-चित्रण की प्रमुख विशेषता है कि इसका प्रत्येक पात्र अपना निजी

व्यक्तित्व लेकर सामने आता है वह केवल प्रतिनिधि-पत्र (type) नहीं है।<sup>1</sup> इस दृष्टि से शूद्रक की तुलना शेक्सपीयर से की जा सकती है।

(५) अनेक स्मरणीय पद्यो एव सूक्तियो से यह रूपक सुशोभित है। इनमे कहीं व्यावहारिक आदर्श हैं कहीं जीवन की गिशायें हैं, तथा वही काव्य सौन्दर्य विद्यमान है।

(६) इसकी भाषा शैली सरल एव रोचक है। वह नाट्य के सर्वथा अनुकूल है यहाँ पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। विविध प्राकृत भाषाओं के सफल प्रयोग की दृष्टि से तो मृच्छकटिक अद्वितीय है।

(७) मृच्छकटिक में तत्कालीन समाज का सच्चा चित्रण मिलता है। केवल राजवर्ग या भ्रान्त वर्ग का ही नहीं, अपितु सामान्य समाज का। चाण्डाल से लेकर पूजातत्पर ब्राह्मण का, धेश्या से लेकर पतिव्रता साध्वी का। अतः मृच्छकटिक जन-काव्य है।

संक्षेप में मृच्छकटिक संस्कृत-साहित्य का एक अनूठा रूपक प्रबन्ध है। यद्यपि आलोचको ने इसके विविध विषयों का विस्तारपूर्वक उद्गाटन किया है तथापि इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है। भारत के ही नहीं पश्चिम के समालोचको ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अवश्य ही कालिदास की चारता और भावव्यञ्जना यहाँ नहीं है, भवभूति की उदात्तता यहाँ उपलब्ध नहीं होती, फिर भी यहाँ एक अनूठी रोचकता एव मनोरमता है जो अग्न्यन दुर्लभ है।

---

1. Each of the twenty-seven personages who take part in the action bears a particular mark, a special trait which strongly characterizes him. Prof. Levi.

❀ मृच्छकटिकम् ❀

नाटक के पात्र  
(पुरुष पात्र)

सूत्रधार—प्रधान नट, अभिनय-व्यवस्थापक  
अ० १. चारुदत्त—नायक, उज्जयिनी का एक नागरिक  
संश्लेष—विदूषक, चारुदत्त का मित्र  
शकार—प्रतिनायक, राजा पातक का श्यालक  
षिट—शकार का सहचर  
षेट—शकार का सेवक  
अ० २. संवाहक—चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक, दूतकर होने के पश्चात् बौद्ध भिक्षु  
भापुर—सभिक, प्रधान दूतकर  
बहुंरक—अन्य दूतकर  
कर्मपूरक—वसन्तसेना का सेवक  
अ० ३. वर्तमानक—(षेट)—चारुदत्त का मानवाहक  
शबितक—एक साहसी ब्राह्मण, मदनिका का प्रेमी  
अ० ४. षेट—वसन्तसेना का सेवक  
वन्धुत—वेश्यापुत्र, वसन्तसेना का आश्रित  
अ० ५. कुम्भीसक—वसन्तसेना का सेवक  
षिट वसन्तसेना का मृङ्गार-सहचर

अ० ६. रोहसेन—चारुदत्त का पुत्र  
स्मावरक षेट—शकार का मानवाहक  
आयंक—गोपालक, राजा पातक का बन्दी, पश्चात् राजा  
धीरक, धन्वनक—नगर-रक्षक  
अ० ६. शोधनक—न्यायालय का सेवक  
अधिकरगिक—न्यायाधीश  
श्रेष्ठी—एक सेठ, विवादनिर्णय में अधिकरगिक का सहायक (Assessor)  
कायस्थ—न्यायालय का लेखक (पेशकार)  
अ० १०. छाण्डाल—शूरी पर चढ़ाने वाले

मरुच पर न माने वाले पात्र

भूगंवृद्ध—चारुदत्त का मित्र  
पातक—अवन्ती का राजा  
रेभिस—उज्जयिनी का एक व्यापारी, चारुदत्त का मित्र, एक विशिष्ट गायक  
सिद्ध—आयंक की राज्य-प्राप्ति का भविष्य-वक्ता

(स्त्री पात्र)

पत्नी—सूत्रधार की पत्नी  
अ० १. वसन्तसेना—नायिका, मदनिका  
ररनिष्ठा—चारुदत्त की परिचारिका  
षेटी—वसन्तसेना की दासी  
मदनिका—वसन्तसेना की प्रिय दासी  
शबितक की प्रेयसी

अ० ३. वृता—चारुदत्त की पत्नी  
अ० ५. पुरप्रारिणी—वसन्तसेना की परिचारिका  
अ० ६. वृद्धा, माता—वसन्तसेना की माता

अथ

# मच्छकटिकम्

प्रथमोऽङ्कः

पर्यङ्कप्रत्ययबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसवीतजानो-

रन्त प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरद्धेन्द्रियस्य ।

आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरण पश्यतस्तत्त्वदृष्टया

शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्न समाधि ॥१॥

अपि च,

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपम ।

गौरीभुजलला यत्र विद्युत्लेखेव राजते ॥२॥

( नाचन्ते )

सूत्रधारः—अलमनेन परिप्लवुतूहलविमर्दकारिणा पारश्रमेण । एवमह-

अथ चिकीर्षितस्य प्रकरणस्य निर्विघ्नतया समाप्तिकाम तत्रभवान् शूद्रकः  
आशीर्वचनरूपा मान्दीभवतारयति—पर्यङ्कति । पर्यङ्कप्रत्ययबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेष-  
जानो, अन्त प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्टया व्यपगतकरणम्  
आत्मनि आत्मानम् एव पश्यत. शम्भो शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्न समाधि च पातु  
इत्यन्वयः ।

पर्यङ्कस्य योगासनविशेषस्य प्रग्विः रचन तस्य ध्येन द्विगुणित य भुजगा-  
सर्पः तस्य आश्लेषेण परिवेष्टनेन सवीते घट्टे जानुनी जानुद्वय यस्य (तयःभूतस्य शम्भो )  
अन्त शरीराभ्यन्तरे प्राणानां प्राणादिवायूनाम् अवरोधेन निरोधेन व्युपरतसकलज्ञानानि  
व्युपरतं निवृत्त बाह्यविषयज्ञान येया तानि रुढानि सपतानि च इन्द्रियाणि यस्य (तस्य),  
तत्त्वदृष्टया सम्यग्ज्ञानदृष्टया (निर्विकल्पकज्ञानेनेत्यर्थं) व्यपगत स्वव्यापाराद् उपरत  
करणम् इन्द्रियादिक यथा तथा आत्मनि स्वस्मिन् आत्मानमेव स्वचिद्रूपमेव पश्यत-  
साक्षात् कुर्वत शम्भो शिवस्य शून्यस्य निराकारस्य ईक्षणेन दर्शनेन घटित- निष्पादित.  
यः सद्यः तस्तीक्ष्णता तेन ब्रह्मणि लग्न समाधि च पुष्मान् सामाजिवान् पातु रक्षतु ।  
सूत्रधरा वृत्तम् ॥१॥

# मृच्छकटिक—हिन्दी—अनुवाद

## प्रथम अङ्क

पयंडु नामक योगामन से मन्धि-मदन पर बांधने से द्विगुणित सर्प के लपेटने से शिव (शिव) के घुटने (जानु) बंधे हुए है, (योग-बन्ध के द्वारा) प्राण-वृत्त को भीतर ही रोक देने से जिनकी समस्त दन्द्रियाँ (बाह्य) जन से विरत तथा समत (मृत) हो गई है, जिनसे यथार्थ ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार-निरोधपूर्वक अपने भीतर आत्मा का दर्शन किया है, उस शिव की समाधि जो निराकार (ब्रह्म) के दर्शन में होने वाली एकाग्रता (तप) के कारण ब्रह्म में लगी हुई है—आप मत्र (सभातदों) की रक्षा करें ॥१॥

शिवजी का काने वादन जैसा कण्ठ, जिसमें पार्वती की (गौर वर्ण) भुजा रूपी सना विद्युत् पंक्ति के समान जोभित होनी है, आप मत्र की रक्षा करें ॥२॥

(नान्दी के परवान्)

सूत्रधार—मध्य जनों के कौतूहल से बाधा डालने वाले इस परिश्रम

पात्स्विनि । श्यामः । नीलवर्णः, अम्बुदः जलदः एव उपमा साहस्य यस्य ताह्य, नीलकण्ठस्य शिवस्य स कण्ठः वः शुभान् सामाजिकान् पानु रसतु । यत्र कण्ठे गौर्याः पार्वत्याः भुजवता भुज एव सता यथा स भुजः सता इव (वेष्टनसाम्य)न् भुजे सताःपा-  
र्याः) विद्युतः सेनापतेः इव राजने गौरीने । यत्र हि 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' इति साहाय्येण 'भुज एव सता' इति रूपकम् । 'विद्युन्नेत्रेव' इति उपायात् । अत्र चैवामनद्वाराणां परस्परानुपेक्षया संनृष्टिः । पद्यावकाशम् वृत्तम् ॥२॥

नान्दाः जने अवमाने । मन्दिनि देवता अस्यामिति नान्दी । तथा चोक्तम् 'आर्गीवंचनमपुत्रा म्भुतिर्षम्मात्प्रवृत्त्यने । देवद्विजनपादीनां तस्मान्नान्दीति सजिता ।' अपवा—'आर्गीवंचनमपुत्रः श्वोकः काध्यायंमूचकः । नान्दीति कथ्यते प्राज्ञः' । इयं हि अष्टपदाभिरा पत्रावली नाम नान्दी तन्वधाणन्तु—

'यस्या बीजस्य किशोरो ह्यभिष्टेयस्य वम्भुनः ।

श्वेदेन वा समानं कथा नान्दी पत्रावलीति सा ॥'

सूत्रधारः—प्रधानमनसः । सूत्र प्रयोगानुष्ठानं धारयति । तदुक्तम् ।  
नाट्योत्तरपादीति सूत्रमिन्द्रमिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥  
परिपत्रं सम्माना कृतवृत्तस्य औत्सुक्यस्य विमदंकारिणा ह्यनिहारेण विभ्रकरेण



मार्यमिद्यान्प्रणिपत्य, विज्ञापयामि—यदिदं वयं मृच्छकटिक नाम प्रवरण प्रयोस्तु  
व्यवसिताः । एतत्कवि किल

द्विरदेन्द्रगतिश्वकोरतेन परिपूर्णन्दुमुख मुविषहृषच ।  
द्विजमुख्यतम कविर्वभूव प्रथित शूद्रक इत्यगाघसत्त्व ॥३॥

अपि च,

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कला वैशिषी हस्तिशिधा,  
शात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ।  
राजानं बोक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,  
लब्ध्वा चायुं शताव्य दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥४॥

अपि च,

समरव्यसनी प्रमादशून्य बभूव वेदविदो तपोधनश्च ।  
परवारणबाहुयुद्धलुब्ध क्षितिपाल निस शूद्रको, वभूव ॥५॥

या परिश्रमेण अलम् अपिरुक्तरान्दोपाठादिभ्रमो व्यर्थ इति भावः । आर्यान् मान्यान्  
मिश्रान् अभ्यस्तबहुशास्त्रान् । मृद शकट मृच्छकट चारुदत्तपुत्ररोहतस्य श्रीहृदार्यं षष्ठे  
ऽङ्के बणितम्, मृच्छकटम् अत्र अस्ति इति मृच्छकटिकम् 'अत इतिठनी' (पा० १।२।१४)  
इति ठन् । अपवा, मृत्निामला शकटिका मृच्छकटिका सास्त्र्यस्मिन्निति । अथवा, मृद-  
शकटिकाऽस्मिन्निति बहुव्रीहि । प्रवरण रूपव्यतिशेपः । तल्लक्षणं चोक्तं दत्तव्यने—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकासथयम् ।  
अमात्यविप्रवणिजामेक कुर्वाच्य नापवन्म् ॥  
धीरप्रशान्त सापाय धर्मवामार्यतत्परम् ।  
शैर्षं मंडकवत् सच्चिप्रवेशशरसादिवम् ॥  
नायिका तु द्विधा नेतुं कुलरथी गणिका तथा ।  
कचिदेकैव कुलजा वेण्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥  
कुलपाभ्यन्तरा बाह्या वेण्या नातिक्रमोऽनयो ।  
आभिः प्रकरणं यथा सङ्कीर्णं दूर्तसङ्कुलम् ॥

'उगुसीवरणं तत्र प्रशान्तं प्रयोजनम्' इति वचनानुसारेण सामाजिकानां  
प्रोत्साहार्थं प्ररोचनाभवतारण्यति—द्विरदेति । द्वौ रदो दन्तो यस्य स द्विरकः हाती,  
द्विरदेषु इन्द्र इव द्विरवेग्न गजपति तस्य गतिरिव गति यस्य स गजेन्द्रवद्  
गर्भमीरणीति, श्वकोरस्य इव नेत्रे अयं तादृश परिपूर्णं सकलव्यनायुत इन्दुं मुधावर-  
इव मुक्तं यस्य तादृश, शोभनं विप्रहृत् शरीर यस्य तादृश, अगाधं तद्वत् बलं यस्य

(मङ्गलाचरण) से बस करो । इस प्रकार मैं आप आदरणीयों (सभ्य लोगों) को प्रणाम करके सूचित करता हूँ कि हम इस मृच्छकटिक नामक प्रकरण का अभिनय करने को उद्यत हैं ।

यह कवि नि.सन्देह हापियों (द्विरद-दो दाँतों वाला) के राजा के समान (मन्थर) गति वाला, चकोर जैसी आँखों वाला, पूर्ण चन्द्रमा के समान (कमनीय) मुख वाला, । मुन्दर गरीर (= विग्रह) वाला क्षत्रियो (द्विजो) में श्रेष्ठतम, अगाध बलयुक्त शूद्रक नामक प्रसिद्ध कवि हुआ । ॥३॥

और भी—

ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कलाओं, नाट्यशास्त्र और हस्तिचालन की शिक्षा प्राप्त करके, शिवजी की कृपा से अज्ञान रूपा अन्धकार से मुक्त ज्ञान-बभ्रुओं को प्राप्त करके, (अपने) पुत्र को राजा के रूप में देखकर (अपनी) परम उन्नति करने वाला अश्वमेध यज्ञ करके भी वयं और दस दिन की आयु पाकर शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥४॥

और भी—

युद्ध-प्रेमी, प्रमाद-रहित, वेद के ज्ञाताओं में प्रवीण (कुकुद), तपस्वी, शत्रुओं के हापियों के साथ बाहुमुद्ध (शुभ्रती) करने का इच्छुक शूद्रक (नाम का) राजा हुआ ॥५॥

तादृशः द्विजेषु मुख्यतमः श्रेष्ठः शूद्रक इति नाम्ना प्रथितः प्रसिद्धः कविः बभूव ।  
वचनात्प्रकारः । मानभारिणी वृत्तम् ॥३॥

प्रकारान्तरेण शूद्रकं विशेषयति— ऋग्वेदमिति । ऋग्वेदं, सामवेदं, गणितं, कलां नृत्यगीतादिरूपां चतुःषष्टिमस्यका विद्याम् अपवा वैशिकीं कलां वेदाः नेपथ्यग्रहणं तन्मन्त्रान्विनीं नाट्यकलां; हस्तिशिक्षां गजचालनादिशिक्षां च ज्ञात्वा, शर्वस्य शिवस्य प्रमादात् कृपया ध्यपगतं तिमिरम् अज्ञानान्धकारः ययोः तादृशे क्षणेषु ज्ञाननेत्रे च जनन्म्य प्राप्य, पुत्रं राजानं वीक्ष्य राज्ये स्थापयित्वा, परमः समुदयः समुत्कर्षः यस्माद् दयाभूतेन अश्वमेधनामके । यज्ञेन दृष्ट्वा दशाविनसहितं शताब्दं शतवर्षमितम् आयुः च तत्रैवा शूद्रकः अग्निं प्रविष्टः । सप्रथा वृत्तम् ॥४॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण शूद्रकं प्रगच्छति—समरेति । समरेषु ध्यसनी प्रसक्तः, प्रमादेन अनवधानतया गूण्यः रहितः [प्रमादोजनवधानता-इत्यमरः] वैशिकीं कुरुवः श्रेष्ठः प्रमुखो वा तपोधनः तत्र एव धनं यस्य तादृशः, परेषां वारणैः शत्रुगर्जः सह शत्रुपुटे मत्स्यपुटे लुब्धः प्रसक्तः परेषां वारणरूपे बाहुपुटे प्रसक्तो वा; शूद्रको नाम तिमिरात् कित इति (प्रसिद्धी) बभूव । तथा च सर्वगुणसम्पन्नोऽयं राजा —इति अर्थः । मानभारिणी वृत्तम् ॥५॥

अस्यां च तत्कृती

अवन्तिपुर्यां द्विजसायंवाहो युवा दरिद्र किल चारदत् ।

गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥६॥

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रय नमप्रचार व्यवहारदृष्टताम् ।

खलस्वभावं भवितव्यता तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृप ॥७॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये शून्येयमस्मत्सङ्कीर्णशाला । यव तु गता कुशीलवा भविष्यन्ति । (विचिन्त्य) आ, ज्ञातम् ।

शून्यमपुत्रस्य गृहं निरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।

मूर्खस्य दिशः शून्या सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥८॥

कृतं च सगीतकं मया । अनेन निरसगीतोपासनेन शीष्मसमये प्रचण्डादिनकर विरगोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारणे क्षुधा ममाधिणी रटलदायेते । तदावदृष्टिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किञ्चित्प्रातराशो न वेति । एषोऽस्मि भो वार्यवशात्प्रयोगवशाच्चन प्राकृतभापी सवृत्त । अविद अविद भो, विरसगी-  
होवासनेण सुवशापोवक्षरपासाद् विद्य मे शुभुरशाए मितणाद् अद्गाद् । ता जाव मेह ।

अस्य प्रवरणस्य वस्तु सक्षेपत बोधयति अयन्तीति—(अस्यां च तत्कृती मृगदन्तरे) अवन्तिपुर्याम् उज्जयिनी<sup>१</sup> (य) सायंवाह सायं वणिक्समूहं वहति नयति इति, द्विजस्य अतो सायंवाहस्य द्विजसायंवाह (पूर्वं) वाणिज्यपरः प्रादुर्ग, युवा (सम्प्रति) दरिद्र चारदत्त किल आसीत् । यतन्तस्य शोभा इव वसन्तसेना एतन्नामिका गणिका च यस्य औदार्यदानिष्णवादिभिः पुर्णं अनुरक्ता आसीत् । उपमासङ्कार । उपेन्द्रयत्नं वृत्तम् ॥६॥

तयोरिति—तयो. चाग्दत्तवसन्तसेनयो सन् शोभन य सुरतोत्सवः सुरतम् एव उत्सवः साः आश्रयः आधारः यन् त नमस्य नीते प्रचार व्यवहारम् अथवा सत्सुरतो-  
त्सवस्य आश्रय विषय नीतिव्यवहारम्, व्यवहारस्य विषयाद्विचारस्य दृष्टतां सदीपयताम्, खलानां (शकादिभिः) शूतानां स्वभावः तथा भवितव्यतां च इदं सर्वं (अस्यां स्वकृती) च शूद्रकं नृपं चकार किल प्रथितवान् । वसन्तस्य वृत्तम् ॥७॥

'शो' इति विषादबोधकमध्ययम् । कुशीलवा नटा (नटारधारणाश्च कुशीलवा इत्यमरः) 'आम्' इति स्वीकृती स्मरणे वाऽध्ययम् शून्यमिति—अपुत्रस्य पुत्रहीनस्य गृहं शून्यम् अभिमतवार्यरहितम् ? यस्य सन्मित्रं श्रेष्ठमित्रं नास्ति तस्य चिरशून्यं चिरदीपंः समयः एव शून्यं सन्मित्रस्य अभिमतवार्यमाप्रकृत्वात्, मूर्खस्य वित्तस्थानानि शून्या शून्यानि दरिद्रस्य तु सर्वं शून्यं, यत्नं, स्थानं च शून्यम् । निधनस्य सर्वमेव दुःसकम् अतः दरिद्रस्य मम तपीतशाला शून्येति भावः । अपरतुत्प्रणताः-

और उसकी इस रचना (मृच्छकटिक) में—उज्जयिनी में (पहले) बाह्यण—  
ध्यापारी किन्तु (बाद में) दरिद्र युवक चारदत्त (रहता था) और वसन्त (श्वेतु) की  
मुन्दरला जंसी (रमणीय) 'वसन्तसेना' नामक वेश्या (चारदत्त) के गुणों के कारण  
(उन्में) प्रेम करती थी ॥३॥

(इस मृच्छकटिक नाटक में) उन दोनों (चारदत्त और वसन्तसेना) के श्रेष्ठ  
आनन्दोत्सव पर आश्रित नीति का आचरण, विवाद-विचार (व्यवहार) की दोषःपंता  
दृष्टों का स्वभाव तथा होनहार, इन सबका राजा शूद्रक ने प्रथम किया है ॥ ॥

(धूमकर और देखकर)—अरे ! हमारी यह संगीतशाला (तो) खाली है । नट  
कहाँ गये होंगे ? (मोचकर) हाँ जान लिया ।

पुत्रहीन का घर सूना है, जिसका अच्छा मित्र नहीं है उसका सभी समय  
सूना (रहता) है । मूर्ख के लिये (सभी) दिशाये सूनी है, निर्धन के लिये सब कुछ  
सूना है ॥८॥

मैंने नंगोत (का कार्य) कर लिया है । इतनी देर तक संगीत में तत्पर रहने से  
घबन पुनर्तियों वाली मेरी आँखें भूल से, गर्मी के समय में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से  
नुंगे हुए कमल के बीज की भाँति खटखटा रही है, तो तब तक पत्नी को बुलाकर  
पूछना है कुछ प्रातराश (कलेवा) है या नहीं । यह (मैं) कार्यवश और प्रयोगवश प्राकृत  
बोनेने वाला हो गया हूँ ।

खेद है कि देर तक संगीत का कार्य करने के कारण भूल से मेरे अग सूखे  
हुए कमलनाल की तरह मुरझा गये हैं, तो तब तक घर जाकर पता लगाता हूँ कि

नङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥८॥

सङ्गीतकं नृत्य गीत तथा धार्यं त्रय सङ्गीतमुच्यते—इति सङ्गीतरत्नाकरः ।  
प्रचण्डस्य दिनेकरस्य किरणं, उच्छुष्कं यद् पुष्करबीजं कमलबीजं तद्वत् । प्रचक्षिते  
तारके ययोः ते अक्षिणी ध्रुवया बुभुक्षया सटखटापेते सटखटशब्द कुश्वः (टि०)—  
इत्यमम्बद्धप्रनापेन भाविनः शकारामम्बद्धभाषणस्य मूचनम् इति पृथ्वीधरः । कार्यवशात्  
प्रयोगवशात् । प्रयोगवशात्—'स्त्रीषु नाप्राहृतं वदेत्' इति मुकुमारत्वेन मुप्रयोगत्वं  
प्राहृतस्य—इति पृथ्वीधरः । तथा च प्रयोगवशात् = नाट्यप्रयोगनियमाद् इति भावः ।  
नाट्यप्रयोगार्थे हि बहून् दृश्यते प्रयोगशब्दव्यवहारः यथा 'यदि प्रयोग एकस्मिन्  
प्रयोगोऽन्यः प्रमुञ्चते' (मा० दर्पणः ६.३६) । अत्र च नटीसूत्रधारी शोरसेनीमाया-  
पाश्री ।

अविद अविद वष्टं वष्टम् । सविधायने इति सविधानं तदेव संविधानकम्  
आशोचनम् । आपामो अनिशीर्षं तण्डुलीदक्षस्य तण्डुलप्रशालनत्रयस्य प्रवाहो यस्यां

गबुध आगामि, अरिषि किं हि कुटुम्बणीए उदवादिद न वेति । (परिक्रम्यावसोरय च ।) एद त अम्हाण मेहम् । ता पवितामि । (प्रविश्यावसोरय च) हीणामहे । कि च बभु अम्हाण मेहे । अण्ण विअ सविहाणअ घट्टदि । अभामितण्डुसोदअण्णवाहा रथ्या सोहकडाहपरिवत्तनकसणसारा कित्तविसे रमा विअ जुअरी अहिअरं सोहदि भूमि । तिलिद्धगण्णेण उद्दीविअन्तो विअ अहिअ बाधेदि म बुभुक्षता । ता कि पुण्णज्जिअ गिहाणं उअण्ण भवे । आहु अह उजेव बुभुक्षतावो अण्णमअ जीअसोअ वेरतामि । जत्थि किल पादरासो अम्हाण मेहे । पाणाधिअ बाधेदि म बुभुक्षता इय सव्य णव सविहाणअ वट्टदि । एरका वण्णअं पीतेदि अवरर सुमण्णइ गुम्फेदि । (विचित्तय) कि वेदम् । मोवु कुटुम्बिअ सहाविअ परमत्थं जाणिस्सम् (नेपण्यामिसुसामवसोरय ।) अग्जे, इरो वाव । [अदिद, अदिद, भोः चिरसगी नोपासनेन शुभ्रपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यङ्गानि । तदावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति । इदं तदस्माकं गृहम् । तत्प्रविशामि । आरचयम् । कि नु खत्वस्माकं गृहेऽप्यदिव सविधानकं वर्तते । आयामितण्डुसोदकप्रवाहा रथ्या सोहकडाहपरिवत्तनकृष्णसारा कृतविशेषवेव युवत्यधिकतर शोभते भूमिः । स्निग्धगण्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । तत्किं पूर्वाजितं निघानमुत्पन्नं भवेत् । अथवाहमेव बुभुक्षतोऽन्नमय जीवलोकं पश्यामि । नास्ति किल प्रातर्यशोऽस्माकं गृहे । प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा इह सर्वं नवं सविधानकं वर्तते । एका वणकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो ग्रथ्णाति । किन्विदम् । भवतु । कुटुम्बिनी शब्दाम्य परमार्थं ज्ञास्यामि-आर्ये इतस्तावत् ।]

नटी—(प्रविश्य) । अज्ज इअमिह । [आर्ये इयस्मि ।]

सूत्रधारः—अग्जे, ताअव वे [आर्ये स्वागतं ते ।]

नटी—आणवेवु अज्जो को णिओओ अण्णिचट्ठीअहु ति । [आज्ञापयत्वार्यं को निवोगोऽनुष्ठीमतामिति ।]

सूत्रधारः—अग्जे, (चिरसगोशोवासणेण इदवादि पठित्वा) अरिषि कि पि अम्हाणं मेहे अत्तिवधं न वेति । [अर्ये, अस्ति किमप्यस्माकं मेहेऽशितव्यं न वेति ।]

नटी—अज्ज, सव्य अरिषि । [आर्ये, सर्वमस्ति ।]

सूत्रधारः—कि कि अरिषि । [किं किमस्ति ।]

नटी—सं अघा—गुडोवण प्पअ बहि तण्डुलाइ अग्जेण अत्तव्यं रसाअणं सव्यं अरिषि ति । एअवं वे देवा आसासेवु । [तद्यथा—गुडोदनं घृतं दधि तण्डुलाः आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति । एव्यं तव देवा आशासन्ताम् ।]

गृहिणी ने कृद्य (खाने के लिये) बनाया भी है या नहीं। (घूमकर और देखकर) यही हारा घर है। इसमें प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और देखकर) आश्चर्य ! हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। गली विस्तृत चावल के जल-प्रवाह से व्याप्त है। सोहे की कड़ाही को (भाजने के लिये) घुमाने से चितकबरी हुई भूमि काला तिलक लम्पे हुए युवती के समान अत्यधिक घोषित हो रही है। (घो आदि की) स्निग्ध गन्ध से चंद्रोप्यत हुई भूस्र मुझे अधिक पीड़ित कर रही है, तो क्या पूर्वो द्वारा अजित सजाना (गुप्तघन) निकल आया। या मैं ही भूस्र से संसार को अलमय देख रहा हूँ। हमारे घर में कलेबा (तो) है ही नहीं। भूस्र के मारे मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ-सब नया आयोजन है। एक सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को घूब रही है। (सोचकर) यह क्या (बात) है ? अच्छा ! गृहिणी को पुकारकर अपाच्य बात जान लूँ। (अपच्य की ओर देखकर) आर्य, इधर तो जाना।

नटी—(प्रवेश करके) आर्य, यह (मैं) हूँ।

सूत्रधार—आर्य, तुम्हारा स्वागत है।

नटी—आर्य, आज्ञा दें, आपकी किस आज्ञा का पालन किया जाय ?

सूत्रधार—आर्य, (बहुत देर तक संगीत का सेवन करने से, इत्यादि की पढ़कर) हमारे घर में खाने योग्य कुछ है या नहीं ?

नटी—आर्य, सब कुछ है।

सूत्रधार—क्या-क्या है ?

नटी—जैसे—गुडभात, घी, दही, चावल—आर्य के खाने योग्य सब सरसं-भोजन है। इस प्रकार आपके देवता (उपरोक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिये) आशीर्वाद दें।

उपाभूता रम्या । सोहस्य कटाहः तस्य परिवर्तनेन इतस्ततः चालनेन कृष्यात्प्राप्त  
विना भूमिः कृतः विशेषकः तिलकः यथा तयाभूता युवती इव शोभते । प्राणाधिक  
प्राणेषु अधिकं—जावने सोढुम् अशक्यं यथा स्यात् तथा प्राणात्ययम् इति पाठान्तरं  
प्राणान्तरात्प्राणो कस्य स्थात् तथा इत्यर्थः । उभयथापि क्रियाविशेषणम् । वृणक्तं  
स्नूपार्षिकं हरिद्रादिकं वा ।

गुडोदनं गुदेन ओदनं गुडमिश्रितम् ओदनं वा ; रसायनं रसानाम् अपनम्  
भाष्यभूतं सरसं भोग्यमिति भावः । आशासन्तां प्रसादविषयो कुर्वन्तु । स्वगतम् प्रकाशं  
५ ईं नाट्योक्ती । एतदोच्च तज्जपं वपंगे—“अथाभ्यं सतु यद्वस्तु तदिह स्वगतं  
पदम् । सर्वथाभ्यं प्रकाशं स्यात्”—इत्युक्तम् । ऐन्वमिति दिन्वा भगना वा

सूत्रधार— कि अम्हाण गेहे सख्ख अत्थि । आदु परिहससि । [विमस्माकं गेहे सर्वमस्ति । अगवा परिहससि ।]

नटी—(वगतम्) परिहसिस्स दाप । (प्रचक्षम) अज्ज, अत्थि ज.वणे । [परिहसिष्यामि तावत ।] [आर्यं अम्ब्यापणं ।]

सूत्रधार—(सक्रोधम्) आ अणज्जे एण्ण वे आत्ता छिज्जिरसदि । अभाव म गमिस्ससि । ज दाणि अह वरण्डलम्बुओ विअ दूर उविल्लविअ पाडिओ । [आ. अनायं. एव तवाशा छेत्स्यति । अभाव च गमिष्यसि । यदिदानीमहम्, वरण्डलम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातित ।]

नटी—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो । परिहासो षणु एसो । [भपतु भपत्वाय परिहास खल्वप ।]

सूत्रधार—ता कि उण इद णव विअ मज्झिणअ षट्ठि । एवता षण्णअ पीसेदि, अथरा सुमणाओ गुम्फद इअ अ पञ्चवण्णकुमुमोपहारगोहिदा भूमो । [तन्कि पुनरिद नवमिव सविधानक वर्तत । एता वणंके पिनाट्टि, जपरा मुमनसो गुम्फत्ति, इय च पञ्चवण्णकुमुमोपहारशोभता भूमि ।]

नटी—अज्ज उवयासो महिओ । [अद्योपवासा गृहीत् ।]

सूत्रधार—कि णामधेओ अअ उवयासो । [कि नामधेयोऽयमुपवास ?]

नटी—अहिहअवदो णाम । [अभिरूपपतिर्नाम ।]

सूत्रधार—अज्जे, इहतोइओ आदु पारत्तोइओ । [आर्यं, इहलौकिकोऽप्यवा पारलौकिकः ?]

नटी—अज्ज, पारत्तोइओ । [आर्यं, पारलौकिक ।]

सूत्रधार. (सरोपम्) पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जमिरसा । ममकेरवेण भत्तपरिष्कारेण पारत्तोइओ भत्ता अण्णेत्तोअत्ति । [प्रेक्षन्ता प्रेक्षन्ताभार्यमिश्रा । मदीयेन भत्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते ।]

नटी—अज्ज, पमीव पत्तोद । तुम ज्जेय जन्मन्तरे भविस्ससि त्ति । [आर्यं, प्रसीद प्रसीद । त्वमव जन्मान्तरे भविष्यसीति ।]

सूत्रधार—अय उवयासो केण दे उवदिट्ठो । [अयमुपवास. केन तवोपदिष्ट ?]

नटी—अज्जस्स ज्जेय पिअवअस्सोत्त जूण्णवुद्धेण । [आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूणवृद्धेन ।]

सूत्रधार—(मवोपम्) आ दासोए पुत्त जूण्णवुद्ध, कदा णु षणु तुम कुब्बिदेण रणा पात्तएण णययहूकेसत्थे विअ सुअण्ण कप्पिज्जन्त वेविल्लरसम् । [आ दास्या. पुत्र जूणवृद्ध, कदा नू षणु त्वा कृपितेन राजा पातकेन नवयधूकेशहस्तमिव मुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षाम्ये ।]

सूत्रधार—क्या हमारे घर में सब कुछ है, या परिहास कर रही हो ?

नटी—(बपने आप) तो परिहास करूँगी । (प्रकट रूप में) बाजार में है ।

सूत्रधार—री दुप्टा । इसी प्रकार तेरी याशा नष्ट हो जायगी और तू अभाव (नाश) को प्राप्त होगी । क्योंकि इस समय मैं (डेंकुली के) लम्बे सट्टे से (एक कोने पर) बड़े हुए मिट्टी के टैले के समान ऊँचा उठाकर पटक दिया गया है ।

नटी—आपें, क्षमा करें, क्षमा करें । वास्तव में यह परिहास था ।

सूत्रधार—तो फिर यह नवीन-सा आयोजन क्या है ? एक (युवती) सुगन्धित द्रव्य पीन रही है, दूसरी पुष्पो को गुप रही है, और यह भूमि पचरये पुष्पो के उपहार से शोभित है ।

नटी—आज उपवास ग्रहण किया है ?

सूत्रधार—इस उपवास का क्या नाम है ?

नटी - (इसका नाम) अभिरूपपाति (जिससे अनुकूल पति मिलता है) व्रत है ।

सूत्रधार—आपें, इस लोक में होने वाला (पति) अथवा परलोक में ?

नटी—आपें, परलोक में होने वाला ।

सूत्रधार—(शोधपूर्वक), सज्जनों देखिए, देखिए । मेरे भात के भय द्वारा पारलौकिक पति दूदा जा रहा है ।

नटी—आपें, प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये । तुम ही दूसरे जन्म में (पति) होगे (इमतिदं व्रत कर रही हैं) ।

सूत्रधार—यह उनका तुम्हें किसने बताया ?

नटी—आपें के ही । प्रथमिथ जूर्णवृद्ध ने !

सूत्रधार—(शोधपूर्वक) अरे दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध, शोधित राजा पासक के द्वारा, नववधु के मुवामित्त केसरान के समान, तुम्हें खीरा जाता हुआ मैं कब देखूँगा ।

प्रविशति । अभावं विनाशम् च प्राप्स्यति—अनेन वसन्तमेतायाः प्रवहणविपर्यास—  
मोटनयोः सूचनमिति पृथ्वीधरः । वरपुत्रः शोधंशब्द तस्य सम्बुद्ध तत्प्रान्तिनवदः  
मृतिकाम्युषः सः हि शोधया पानीपोद्धात् दूरमुष्पाप्याधः पत्यने—इति पृथ्वीधरः  
(विनेरस्तु टिप्पण्यः इत्यर्थः) ।

पञ्चवर्षानां कुमुमानाम् उपहारेण शोभिता भूमिः । उपवासः उपोष्यनेऽस्मि-  
न्निति वचम् । पारलौकिक इत्यनेन पालक्यमुदात्तेन नामान्तरतामसूचनम्—इति ।  
पृथ्वीधरः । अभिरूप मुन्दरः विद्वान् वा पतिः यस्मान् । 'आः' इति आशेने (अध्ययम्) ।  
केगाहृतम् इति पाठान्तर केसरनाथम्—इत्येवार्थः । देखमाल 'परिग्रहन्तं'  
इति प्राकृतपाठः तस्य च जूर्णवृद्धरी 'देवमान' वयुरशे च 'कन्वयमानम्' इति संस्कृतम्  
(टि०)—अनेन सहाराद्धे चाण्डतनिरश्सूचनम् इति पृथ्वीधरः ।



नटी पत्नीवदु अज्जो । अज्जस्म ज्जेव पारलोइजो अज्ज उवव सो । (इति पादयो पतति) [प्रसादत्वार्थं आर्यस्यैव पारलोकिकोऽयमुपवासः ।]

सूत्रधार — अज्जे उट्ठेहि । कथेहि एत्थ उववासे केण कज्जम् । [आर्ये, उत्तिष्ठ । कथयात्रोपवासे केन कार्यम् ।]

नटी — अम्हारिसज्जणजोग्गेण ब्रह्मणेण उवणिमन्तिवेण । [अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन ।]

सूत्रधार — अज्जे गच्छदु अज्जता । अह्वि अम्हारिसज्जणजोग्ग ब्रह्मण उवणिमन्तेमि । [अतो गच्छत्वायां । अहमप्यस्मादृशजनयोग्य ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।]

नटी — ज अज्जो आणवेवि । [यदाय आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

सूत्रधार — (परिब्रज्य) होमाणहे । का कथ मए एत्थ सुत्तमिटाए उज्जइणोए अम्हारिसज्जणजोग्गो ब्रह्मणो अण्णेत्तिवच्चो (विलोक्य) एसो चारुदत्तस्स मित्तम् मित्तेओ इओ जेव्व आअच्छदि । भोदु । पुच्छिस्स दाव । अज्ज मित्तेअ, अम्हाण गेहे मत्तिदु अगणो भोदु अज्जो । [आश्चर्यम् तस्मात्कथं मयैव सुसमृद्धाया-मुज्जयिन्यामस्मादृशजनयोग्यो ब्राह्मणोऽन्वेषितव्यः । एष चारुदत्तस्य मित्रम् मैत्रेय इत एवागच्छति । भवतु । प्रश्यामि तावत् । अद्य मैत्रेय, अस्माकं गृहेऽशितुमप्रणीभवंत्वाय ।]

(नेपथ्ये)

भो अण्ण ब्रह्मण उवणिमन्तेदु भवम् । वपुडो वाणि अहम् । [भो, अन्य ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान् । व्यापृत इदानीमहम् ।]

सूत्रधार — अज्ज, सक्कण भोअण णीसवत्त अ । अवि अ इबिल्लणा वि वे च्चिस्सदि । [आय, सम्पन्नं भोजनं निःसपत्न च । अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति ।]

(पुनर्नेपथ्ये)

भो, वाणि पढम ज्जेव पक्खादिट्ठीति ता को वाणि वे णिअ ग्घो पवे पवे मए अणुअन्धेदुम् । [भो इदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि, तत्किं इदानीं ते निबन्धं पदे पदे मामनुरोद्धुम् ।]

सूत्रधार — पक्खादिट्ठीन्हि एविणा । भोदु अण्ण ब्रह्मण उवणिमन्तेमि । [प्रत्यादिष्टोऽस्म्येतेन । भवतु । अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।] (इति निष्क्रान्तः) ।

इत्यामुत्तम्

अप्रणी अप्रेसरः । नेपथ्ये वेषपरिग्रहस्थाने [अन्तर्जवनिकामाहर्नेपथ्यम्] ।

नटी—आर्य, प्रसन्न हों। यह पारलौकिक उपवास तो आर्य के ही लिये है।  
(बिंसें पर गिरती है)

सूत्रधार—आर्य, उठी। बतलाओ इस उपवास में किस (व्यक्ति) से प्रयोग है।

नटी—अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करने से।

सूत्रधार—उब आर्य (तुम) जाओ। मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

नटी—जो आर्य जाता देखें है। (बनी जाती है)

सूत्रधार—(धूमकर) आश्चर्य ! तो किस प्रकार इस सुसम्पन्न उज्जयिनी में अपने योग्य ब्राह्मण को ढूँढा जाये ? यह चाण्डाल का निज मंत्रण इधर ही बा र्हा है। अच्छा पूछूँ तो। आर्य मंत्रण, आज आप हमारे घर भोजन करने के लिये अपनी हों।

(नेपथ्य में)

अरे ! आप हमारे ब्राह्मण को निमन्त्रण दें। इस समय मैं व्यस्त हूँ।

सूत्रधार—आर्य, भोजन बढ़िया (सम्पन्न) है तथा (इसने) दूसरा विपत्ती भी नहीं (निमन्त्रण)। इनके अतिरिक्त तुम्हारी दक्षिणा भी होगी।

(फिर नेपथ्य में)

अरे ! (तुम्हें जब) अभी पहने ही मना कर दिया गया है, तो इस समय पय-पय पर मुझसे अनुरोध के लिये तुम्हारा क्यों आग्रह है।

सूत्रधार—इसने (जो) मना (ही) कर दिया। अच्छा, दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

(बाहर चला जाता है)

(आमुक्त समाप्त)

आवृत्तः कार्यान्तरे व्यस्तः । सम्पन्नं मृत्यं पश्यन् सद्गुणं वा (दि०) । निमन्त्रणं विनश्यद्गुणम् । प्रत्यागच्छः निराहृतः । विवेक्य आग्रहः । अनुबन्धुः अनुरोधम् ।

आमुक्तं प्रस्तावना । अद्योक्तं साहित्यदर्पणे (१.३१-३२)—

नटी विदूषको वारि पारितोषिक एव च ।

सूत्रधारिण महिमाः संतापं यत्र कुर्वते ॥

विचरन्वित्तैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुतासंगिभिर्दिग्भिः ।

आमुक्तं तत्तु विवेकं वाच्यं प्रस्तावनादि का ॥

सा च प्रस्तावना पञ्चविंश शब्दति । अत्र हि तेषां प्रयोगानिबन्धो नाम प्रस्तावनाशेषः । तथा हि—एषि प्रयोग एवस्मिन् प्रयोगोक्तः अनुबन्धे तेन प्राक्-

(प्रविश्य प्रावारहस्त )

मंत्रेण—('अग्ग बग्गुण' इति पूर्वोक्त पठित्वा)अथवा, मए वि मित्तएण परत्तस आमन्तणआइ मच्चिद्धदग्गाइं । हा ज्जयत्थे, तुत्तीअत्ति । जो णाम अह तत्तमवरो चावदत्तस रिद्धीए अहीरत्त पअतणत्तिद्धीं उग्गागमुग्गिण्णोहेहि मोदकेहि उज्जेव अत्तिरो अग्गन्तरववुत्तसालअदुआए उवविट्ठो मत्तवमदपरिखुदो वित्तभरो विअ अग्गुत्तीं द्विविअ-विद्विअ अयणेमि । णअरचत्तरगुत्तहो विअ रोमन्थाप्रमाणो चिट्ठांम । सो रत्तिं अहं तस्य वत्तिद्वाए अहि त्तिहि धरिअ गेहपारावदो विअ आवासाणिमित्त इध मा, अग्गामि । एते अ अग्गचारदत्तस विअवअस्तेण जुष्णवुड्ढेण जादोभुसुपवासिरो पावारओ अणत्थेसिदो सिद्धीरिददेवकज्जसस अग्गचारदत्तरा उवणेदरवेत्ति । ता आअ अग्गचारवत्त वेत्तामि । (परिक्कम्यावलोकय च ।) एते चारदत्तो सिद्धीकदेवकज्जो गिहदेववाण वत्ति हरेत्तो इधो उज्जेव आअच्छदि । [अथवा मयापि मंत्रेयेण परस्या-मन्त्रणकानि समीहितव्यानि । हा अवस्थे, तुचययि । यो नामाह तत्रभवतरवारु-दत्तस्य अद्दयाहोरात्र प्रयत्नसिद्धं रद्गारमुरभिगन्धिभिर्मोदकैर्देवाशितोऽभ्यन्तर-चतुःशलकद्वारउपविष्टो मल्लवशतपग्वृतरिचनवर इवाङ्गुलीभि स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि । नगरचत्वरवुपभ इव रोमन्थापमानस्तिष्ठामि । स इदानीमह तस्य दरिद्रतया यत्र तत्र चरित्वा गृहपारावत्त इवावासनिमित्तमवागच्छामि । एष चार्यचारदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णवद्धेन जानीकुसुमवासितः प्रावारकोजु-प्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यायं चारुदत्तस्योपनेतव्य इति । तद्यावदार्यचारुदत्तं पश्यामि । एष चारुदत्त सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवताना वत्ति हरन्ति एवागच्छति ।]

(ततः प्रविशति यथानिहित्वाचारुदत्तो रदनिका च)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेद निश्चस्य)

यातां धलिः रापदि मद्गृहदेहलीना

हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः ।

प्रवेताश्चेत् प्रयोगातिशयस्तथा" ।

अत्र हि निमन्त्रणायं कस्यचिद् बाह्यणस्यान्वेषणम् एव प्रयोगः । तस्मिन् प्रस्तुते एष चारुदत्तस्य मित्र मंत्रेण इत एवागच्छति" । इति द्वितीयः प्रयोगः । अनेन च द्वितीयेन प्रयोगेण मंत्रेणैवैव पात्रस्य प्रवेशः, अत्र बधोदपातो नाम प्रस्तावनाभेदः इति वेदित् ।

प्राकारः उत्तरीयं हाते यस्य सः । पुत्रयसि परीक्षते । कूलयसि इति पाठे पुत्रकूरोवि तपूकूरोवि इत्ययं: 'तारकूरोति तदापठे' इति तुसकण्ठ्या लुच् ।

(उत्तरीय हाथ में लिये प्रवेश करने)

मंत्रेण—(दुमरे ब्राह्मण को (इस पूर्वोक्त को पढ़ करके) या, मुझ मंत्रेण को भी दुमरों के निमग्नन ही कामना करनी चाहिए । शय्य (निर्घन्त) अवस्थे ! (मेरी) परीक्षा ले रही हो । जो मैं पूज्य चारुदत्त की सम्पन्नता के कारण रात-दिन पत्नपूर्वक तंबार किये गये, (त्वाने के बाद) जिनका उद्गार (इकार) भी सुगन्धित है, ऐसे लड्डुओं (के साने) में परिमृष्ट हुआ, भीतरी चतुःशाला के द्वार पर बँटा हुआ (साव पदार्थों से पूर्ण) मैकड़ों पात्रों में धिरा हुआ चित्रकार के समान अगुनियों में घु-ल्ल करके छोड़ देता था, नगर प्राङ्गण के साड़ की तरफ जुगाली करता बँटा रहता था, वही मैं आश्रयन उस (चारुदत्त) की धनहीनता के कारण पालतू कबूतर के समान जहाँ-जहाँ घूमकर (भटक कर) वनेरे के लिये यहाँ आ जाता हूँ । आर्य चारुदत्त के प्रिय मित्र जुर्णवृद्ध ने जाती पुष्पों (चमेलों) से सुवासित यह उत्तरीय भेजा है कि देवताओं की पूजा से निवृत्त हो जाने पर आर्य चारुदत्त को (इसे) देना, तो तब तक देवपूजा से निवृत्त आर्य चारुदत्त को देखता हूँ । (घूमकर और देखकर) यह आर्य चारुदत्त गृह-देवताओं की वलि को लिये हुए इधर ही आ रहे हैं ।

(उसके बाद यथानिदिष्ट चारुदत्त और रथनिका प्रवेश करने हैं ।)

चारुदत्त—(ऊपर देखकर और दुःख सहित लम्बी साँस लेकर) जिन मेरे घर की देहलियों पर (दाभी हुई) बलि हंस और सारसों के झुण्डों के द्वारा पहले

प्रयेनेन सिद्धं निष्पन्नैः । उद्गारेषु मुरभिगन्धो येषां तथाभूतं मोदकं अशितः अशनेन तृप्तः मल्लकानां पात्रविशेषाया [विद्रूपकफले-भ्यञ्जनादिपूरितपात्राणा, चित्रकारपदो-बलिकापात्राणाम्] शतेन परिकृतं । अयन्यामि त्यजामि, अत्यन्ततृप्तत्वाद् चित्रकरोऽपि विन्दुपातभयान् श्लिकापात्रं स्पृष्ट्वा-स्पृष्ट्वा विशिपति । आवागतिमिस्त निवामार्यम् । सिद्धीकृतं निन्नादिन देवकार्यं देवाचनं येन तस्य । पथीव्रतकृतदेवकार्यस्य इति पाठान्तरम्; पथीव्रते कृत देवकार्यं देन तस्य इत्यर्थः । बलि पूजाइत्यम् । 'प्राच्या विद्रूपकादी-नाम् इति दर्पणोक्तेः विद्रूपकस्य प्राच्या भागा । 'एषः चारुदत्त' इ यादिना चारुदत्तस्य प्रवेशः नृच्यते ।

सनिबद्धं निबेदेनं सहितम्; निबेदं दारिद्र्यजनितदुःखम् । 'निश्वस्य' इत्यस्य क्रियाविशेषणम् ।

विगतवैभवचारुदत्तः सविपादं प्राप्तनीमवस्थां स्पृष्ट्वा कथयति—यामामिति । दातां मद्रुहस्य देहलीना तत्र दत्ताः इत्यर्थः बलिः अत्यन्त सपदि इति हंसं सारसगणैः च पूर्व पूर्ववत् बलिपुस्तः भगदिरत्वा समाप्यते भ्यः तानु एव (पूर्वं बन्धनेन समुद्रामु देहलीनु) सप्रति अपुना मम दारिद्र्यावस्थापानिति दावद् (संस्कारामावाद्) विष्कृताः

तास्वेव सप्रति विरूढवृषाड्कुरामु  
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीडः ॥६॥  
(इति मन्द मन्द परिहृम्योपविशति)

विदूषकः—एसो मन्त्रचाखलो । ता आव सपद उवसप्पामि । (उपवृत्त)  
सोरिण ममहे । बड्डडु मवम् । एष आयंचारुदत्त । तद्यावत्सांप्रतमुपसर्पामि ।  
स्वस्ति भवते । वर्षतां भवान् ।]

धारवत्तः—अय सर्वकानमिन्न मंत्रेय प्राप्तः । सखे स्वागतम् ।  
आस्यताम् ।

विदूषकः - अं मव आपवेदि । (उपविश्य) भो वमस्त एसो दे विमन्त्रस्तेषु  
पुण्यवृद्धेण जातोकुमुमवासिदो धावारओ अणुप्यंसिदो सिद्धीविददेवकञ्जस्त अन्त्र  
चाखस्तस्त तुए उवणेदमो ति । [यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य एष ते प्रिय  
वयस्येन जूर्णवृद्धेन जातोकुमुमवासितः पादारखोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्या  
यं चारुदत्तस्य त्वयोपरेतव्य इति । (समर्पयति)

(धारुदत्तो गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः)

विदूषकः - भो किं इदं चिन्तोमहि । भो—[किमिदं चिन्त्यते]

धारवत्तः—वयस्य,

सुखं हि दुःखान्धनुभूय शोभते  
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।  
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां  
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥

विदूषकः—भो वमस्त, मरणादो शालिहादो वा रुदरं दे रोअदि । [भो  
पयस्य, मरणाद्द्विधाद्वा कतरन्ते रोचते]

विदूषकः—वयस्य

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।

अतःकलेसां मरणं, दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥११॥

उत्पन्ना. वृषाड्कुरामुः यानु तथा भूतासु कीटमुखः अवलीडः आत्वादितः सञ्चितो वा  
बीजाञ्जलिः मन्त्रैरुपरिमितं दत्तवन्तं पतति । पर्यापालकाः । वसन्ततिलका  
वृत्तम् ॥६॥

विदूषकः नायकस्य मित्रं तस्य शृङ्गारे सहायकः । तत्सल्लभं चोक्तं सर्वमे—

“कुमुमवसन्ताद्यमिधः कर्मवपुर्वैयभाषात् ।

हास्यकः- कश्चिदुपरिविदूषकः एषाद् एव संगः ॥”

(साईं बाहर) लुप्त कर दी जाती थी, आज उसे हुए लुप्त-कृतियों से कुछ वही देह-विषों पर हीनों के मुख द्वारा खाने हुए बीजों की अञ्जलि गिरती है ॥६॥

(धीरे-धीरे घूमकर बैठ जाता है ।)

विद्वान्—यह जानें चाहेत है, तो अब इनके मनीष चलता है (मनीष जाकर) बाइका कल्याण हो । बाप वृद्धि को प्राप्त हों ।

शास्त्र—अरे सब समयों का मित्र मैत्रेय बापा है । मित्र, स्वामत है । बंधिने ।

विद्वान्—जमी बाप आज्ञा देते हैं । (बैठकर) हे मित्र, बाटी-मुणों (बनेली) से मुनस्थित यह वतरीय बापके द्विप मित्र जूनवृद्ध ने भेजा है और कहा है कि तुम (यह उतगीय) देवताओं की पूजा से निवृत्त हुए जायें चाहेत को दे देना । (अमर्षित कर देता है) ।

(चाहेत प्रह्न करके विचारभ्रम हो जाते हैं)

विद्वान्—अरे, यह बना सोचा वा रहा है ?

शास्त्र—मित्र ! दुःखों का अनुभव करने के अनन्तर सुख मोहित होता (अन्धा मगता) है, जिस प्रकार महल अंधकार में दीपक का दर्शन । किन्तु जो मनुष्य सुख से (सुख मोहने के अनन्तर) निर्धनता को प्राप्त होता है, वह जो भारी धारण बिदे हुए भी मृतक के कानन पीरत अज्ञान करता है ॥१०॥

विद्वान्—हे मित्र, मृत्यु और निर्धनता में से तुम्हें कौनसी घण्टी बघटी है ?

शास्त्र—मित्र, निर्धनता और मृत्यु में से मृत्यु मुझे अच्छी मघटी है, निर्धनता नहीं । मृत्यु में मोक्ष मष्ट है, किन्तु निर्धनता कभी न समाप्त होने वाला दुःख है ॥११॥

मरं हानेयु मन्वतु विपत्तु च निवन् । जायोदुःखैः सानिनः । चित्तया उहिहा मचिन्तः ।

कुतुम्बादिनिं प्रावारकमुपलभः 'मद्युनाहं समन्वितमपि हतेऽनुकम्प्यो आहः' इति चित्तवद् चाहेतः कल्पति—सुखं हीति—अन्तः मन्वतः सः येषु तादृशेषु स्थानेषु शीघ्रमन्तु इव दुःखानि अनुभूय हि मृत्युं शीघ्रने न तु कुलमनुभूय दुःखमिति भावः । किन्तु (ह) नः नष्ट सुखाद् सुखमनुभूय इतिप्रता निर्धनतां भाति ज्ञानोति सः मनुष्यः मरीचेम युतः मपि मद् मृतः मृतक इव मोचति धानाद् धारयति । अथ च पूर्वर्षिं उपनामदुष्ट उतपदं च विरोधाभासः । वंशत्वं दृशन् ॥१०॥

'शास्त्रिणमरमयोः कश्चिद् दे रोचते' इति विद्वान्कस्य विज्ञाहायो चाहेतः कश्चिद् शक्तिप्रतिविधि—शक्तिप्रदान् मन्वाद् वा संवमरणयोः मन् मष्ट चाहेतः

विदूषक मो वअस्त भत ततपिदेण । एणइजणत्तनामिदविहवत्त पुण  
णपोदीसत्त पट्टियच्चदस्स त्तिअ परिवज्जओ वि वे अहिभवर रमणीओ । [भो वपत्त  
अलं सतप्तेन । प्रणयिजणत्तप्रमितविभवस्य गुरजनपोतशेषस्य प्रतिपच्चदस्से  
परिक्षमोऽपि तेषधिवत्तर रमणीय ।]

चारदत्त — वयस्य न भगार्थान्प्रति दैन्यम् ॥ १२ ॥

एतत् मा दहति यद्गृहमस्मदीय

शोणार्थमित्यतिथय परिवर्जयन्ति ।

संशुष्यसान्द्रमदलेसमिव भ्रमन्त

कालात्यये मधुवरा करिण कपोलम् ॥ १२ ॥

विदूषक — मो वअस्त, एदे मधु वातोए पुत्ता अरथवत्सवत्ता वरदाभोसो त्ति  
गोवालदारभा अरण्णे जहि जहि ण अज्जन्ति त्तिहि त्तिहि गच्छन्ति । [भो वयस्य, एते  
सत्तु दास्या पुत्ता अर्थकल्पवर्ता वरदाभीता इव गोवालदारवा अरप्ये यत्त  
न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति ।]

चारदत्त — वयस्य,

सत्यं न मे विभयनाशमृतास्ति चिन्ता,

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।

एतत् मा दहति नष्टधनाश्रयस्य

यत्सोहृदादपि जना शिथिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

अपि च,

मरण शोचते न तु दारिद्र्यम् यत् मरणम् अल्पकलेसम् अल्प कलेस यत्तिम् तादृश  
अल्पसमयदुःखकाले तु दारिद्र्यं तु अल्पं न विद्यत अतः समाप्ति मरण तादृश  
दुःखम् । यावज्जीवनं तु एकरत्नात्तु दारिद्र्यम् अतः तदुःखमेवेति भावः । वाग्दर्शनम्  
अङ्कारः । आर्थापत्तम् ॥ ११ ॥

प्रणयिजनेषु प्रियजनेषु सक्रमिता विभवा मस्य तादृशस्य ते तव गुरजनं देवं  
पोतात् (पोतस्य) शेषस्य प्रतिषेधं शुभप्रतिपदाया चन्द्रस्य इव (इत्युपमा) परिक्षय  
अपि क्षीणता निपाता या अपि अधिकतर शोभतः । तथा चोक्तं कामन्दके—'धर्मार्थं  
क्षीणबोधस्य क्षीणत्वमपि शोभते । गुरुं क्षीणावशयस्य वृष्णपक्ष विद्योरेव । रघुपद्ये  
च—'पर्यावर्तीतस्य गुरोर्हिनाशो कथाशय शशाप्यतरो हि वृद्धे' (५ १६) ।

चारदत्त — नवसतापरय वारण वणमति—एतदिति । भ्रमन्त मधुवरा  
कालात्यये मधुवरासान्द्रमदलेसु करिण कपोलम् इव यद् अतिथय क्षीणापिपिति

विदूषक—हे मित्र ! अन्तः से बस करो (मत करो) स्नेही जनों को सम्पत्ति बहिष्कारने वाले आपका क्षय (दारिद्र्य) भी देवताओं के पान करने से बचे हुए प्रतिपदा विधि के चन्द्रमा के (सीपता के) समान और अधिक सुन्दर है ।

चारदत्त—मित्र ! मुझे धन नष्ट हो जाने के विषय में दुःख नहीं है । देखो—

यह तो मुझे तप्त कर रहा है (पीड़ा पहुँचा रहा है) कि हमारे घर को 'धन रहित है' इसने अनियम लोग इसी प्रकार त्याग देने हैं जिस प्रकार (मद का) समय व्यतीत हो जाने पर भ्रमण करते हुए भीरे जिसकी धनी मदराशि मूख गई है, ऐसे हाथी के कपोल को त्याग देने हैं ॥१२॥

विदूषक—हे मित्र ! ये दासी के पुत्र कलेवा (जंमे तुच्छ) धन वरं से डटे हुए गोपाल बालकों के समान वन में, वही-वहीं जाते हैं जहाँ खाने (भोगे, काटे) नहीं जाते हैं ।

चारदत्त—मित्र !

सर्वमुच धन-नाश-जन्य चिन्ता मुझे नहीं है (क्योंकि) भाग्य के अनुसार धन (प्राप्त) होता है या चला जाता है (किन्तु) यह तो मुझे सन्तप्त करता है कि जिसका धन रूपी आश्रय नष्ट हो जाता है उसकी मित्रता से भी मनुष्य विपन्न हो जाते हैं ॥१३॥

और भी—

अस्मदीयं गृहं परित्यजन्ति, एतत्तु मा दहीत-इत्यन्वयः ।

अमन्त-इतस्ततः गच्छन्तिः मघुरुरा. अमराः कासाश्रयमे मदसम्प्रापगमे संगुक्ताः शोष प्राप्ता. साग्नाः धनाः मदसेलाः दानराजयः एस्य तपाभूत करिणः गजस्य रूपोलं यथा परित्यजन्ति तर्पव यत् अतिधयः (इदानीम्) शोणार्थं धनहीनमेतद् गृहम् इति कृत्वा अस्मदीयं गृहं परित्यजन्ति परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्ति । एतत् तु इदमेव मां दहीति सतापयति, न तु अयस्य अभावः इति भावः । उपमालङ्कारः-। वसन्ततिलकावृतम् अत्र च विष्टेयाविमर्शो नाम दोषः इति केचित् ॥१२॥

वास्थाः पुत्राः अयमाः । कल्पे प्रातःकाले बल्दते अनेन इति कल्पवर्तः प्रातराराः । अर्धा. एव कल्पवर्तः अर्धकल्पवर्तः । इमानि धनानि यत्र नोपमुग्यन्ते तत्रैव गच्छन्ति, धनधानामेव दृष्टे तिष्ठन्ति इति भावः ।

सन्तापकारणमेव बधनभङ्गुपा निर्वृत्तिः—सत्यमिति—तापं, विमथनानेन धनक्षयेन कृता मे मम चिन्ता नास्ति इति मतः धनानि तु भ्रातृकमेव भाग्यानुसारेण (कदाचित्) भवन्ति आपन्ने (कदाचित्) यान्ति विनश्यन्ति । किन्तु तदि चिन्ता इत्याह- यत् धनमेकाधयः धनाधयः नष्ट. धनाधयः यस्य तादृशस्य जनस्य (यम रा) सोहृत्कारि मंत्रीभावाद् अवि ज्ञा. तिपिषोभवन्ति प्रपौदनाभावाद्, मंत्रीमपि न कुर्वन्ति, एतत्



दारिद्र्याद्भिन्नमेति ह्यीपरिगत प्रभ्रश्यते तेजसो  
 निस्तेजा परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।  
 निर्विण्ण शुभमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते  
 निर्वुद्धि क्षयमेत्यहो निधनता सर्वोपदामास्पदम् ॥१४॥

विदूषक — भो वयस्य त ज्ञेय अत्पकल्लवत्त सुमरिअ अल सतत्पिदेण ।

[भो वयस्य, तमेवार्थकल्यवर्तं स्मृत्वात् संतापितेन ।]

चाक्षुस्त — वयस्य, दारिद्र्य हि पुष्यस्य  
 निवासश्चिन्ताया परपरिभवो वैरमपर  
 जुगुप्सा मित्राणा स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।  
 वनं गन्त बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो  
 हृदिस्थ शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥१५॥

तद्वयस्य, कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलि । गच्छ । त्वमपि चतुष्पथे  
 मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषक — ण गमिस्सुभु । [न गमिष्यामि ।]

चाक्षुस्त — किमर्थम् ।

विदूषक — जसो एष्य पूज्यता पि देवता ण वे पत्तोदन्ति । ता सो गुणो  
 देवेषु अश्चिदेणु । [यत एव पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति । तत्त्वो गुणो  
 देवेष्वर्चितेषु ।]

मां दहति सन्तापयति । काञ्चलिङ्गालङ्कार । वसततित्वरादृत्तम् ॥१३॥

दारिद्र्यस्य सर्वापरकारणत्वं वक्ष्यति—दारिद्र्यादिति—मनुष्य दारिद्र्यात्  
 निर्धनेत्वात् हिद्य सञ्जाम् एति प्राप्नोति लज्जितो भवति । ह्यीपरिगत ह्यि प्राप्त  
 सज्जित पुरुष तेजस प्रतापात् प्रभ्रश्यते प्रभृष्टो भवति । निस्तेजा तेजोरहित  
 परिभूयते तिरश्च्यते भयवारणतेजोविरहात् । परिभवात् तिरस्कारात् निर्वेद ग्लानिम्  
 आपद्यते प्राप्नोति । निर्विण्ण ग्लानिमापन्न विघ्नमना च शुभ शोकम् एति वृथा  
 जीवन्मिति चिन्तयति । शोकपिहित शोषयुक्त बुद्ध्या विवेकेन परित्यज्यते । निर्वुद्धि  
 बुद्धिहीनश्च मनुज क्षय विनाशम् एति उक्तश्च 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' । अहो, निधनता  
 निवृत्त धन परमात्स निधन तस्म भाव दारिद्र्या सर्वाताम् आपदां विपदाम् आस्पदं  
 स्थानम् । दारणनालङ्कार । शार्दूलवित्रीहित वृत्तम् ॥१४॥

निवास इति—दारिद्र्य हि पुष्यस्य (इति गद्यभाष्येनावय) चिन्ताना

दरिद्रता से (मनुष्य) लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जा को प्राप्त (व्यक्ति) तेज से घ्रष्ट (तेजरहित) हो जाता है, तेजहीन अपमानित होता है। अनादर से श्लानि को प्राप्त हो जाता है, श्लानि युक्त शोक को प्राप्त होता है, शोकाकुल व्यक्ति को विवेक के द्वारा त्याग दिया जाता है, विवेकशून्य नाश को प्राप्त हो जाता है। यही ! निधनता सब आपदाओं का निवास स्थान है ॥१४॥

विदूषक—हे मित्र ! धन का स्मरण करके गन्ताप मत करो।

चारदत्त—मित्र ! दरिद्रता ही पुरुषों की चिन्ता का घर (निवास स्थान) है, परम अनादर (का कारण) है, दूसरी (अनोखी) शत्रुता है, मित्रों की घृणा, स्वजन तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है, वन में चले जाने का मन होता है, और पत्नी द्वारा (भी) तिरस्कार होता है, हृदय में स्थित शोकानल भस्म नहीं कर देता, सन्तप्त कर रहा है ॥१५॥

तो मित्र ! मैंने गृह-देवताओं को बलि दे दी है। जाओ, तुम भी चौराहे पर मानु-देवियों को बलि भेंट कर दो।

विदूषक—मैं नहीं जाऊँगा।

चारदत्त—क्यों ?

विदूषक—जब इस प्रकार (विधिवत्) पूजे जाते हुए भी देवता तुम पर प्रसन्न नहीं होते हैं तो देवताओं की पूजा करने से क्या लाभ (पूजित देवों में क्या गुण है) ?

[कथं मया जीवन निर्वाहमेवंप्रपायाः निवासः आश्रयः, परेषां परिभव तिरस्कारः तिरस्कारस्य स्थानमिति भावः। अथवा परश्वामी परिभवश्चेति कर्मधारयः। अपरम् अन्यत् विनश्रण वा वरं ददित् प्रति निर्हतुकमेव वरं जायते। मित्रानां जुगुप्सा घृणा तत्कारणमिति यावत्, स्वजनानां वन्धूनां जनानां भाषारणजनानां च विद्वेषस्य करणं साधनं च भवति। यत्रच दरिद्रस्य क्लृप्तात् स्वमार्यात्, (अपि) परिभव, अनादरो भवति अतस्तस्य वरं गन्तुं बुद्धिजपिते [भवति चेति चकारो हेतो वनगमने क्लृप्त-परिभवो हेतुः इति पृथ्वीघरः तथा च दारिद्र्यम् हृदिस्य, हृदये स्थित, शोकस्य अग्निः (मः) न च दहति 'भस्ममात् तु न करोति सतापयपि च विन्तु संतप्यं जनयति'। अत्र च अतिवयोक्ति—उल्लेख—रूपक—विशेषोक्तिप्रभृतयोऽन्तद्गाराः। शिखरिणो-दृष्टम् ॥१२॥

विदूषकेण उपेक्षितस्य देवाचनस्य अवश्यवर्तमानतां निरूपयति—वयस्येति। तदनु तपस्यया मनसा ध्यातव्यं शान्तिः वचनंः स्तुतिपाठः वा शान्तिर्मांसिच पूजिताः अर्पिताः देवताः शान्तिनां गम एषा विद्यते इति शान्तिः तेषां (कलाप्राप्तावपि कोऽगृह्णानामिति भावः) निश्च मन्तं तुष्पन्ति मन्नुष्ट्याः भवन्ति, अतः विचारित्वं।

चारुवतः—वयस्य, मा मैवम् । गृहस्थस्य नित्योज्यं विधिः ।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।

तुप्यन्ति शमिना नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥

तद्गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विकृतक — भो न गमिष्यम् । अण्णो को वि पउज्जोअणु । मम उण दग्गणस्स सच्च उजेद विपरोह परिणमदि । आदसगता विअ छाआ वामदो दस्सिणा दक्षिणादो वामा । अण्ण अ एवाए पवोसवेत्ताए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राजवल्लहा अ पुरिसा सचरन्ति । ता मण्डुअलुद्धस्स कालसप्यस्स मूषिको विअ अहिमुहावविदो यग्गो याणि भविस्सम् । तुमं इध उपविट्ठो किं करिस्ससि । [भो न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीत परिणमिति । आदर्शंगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा । अन्यच्चैतस्या प्रदोपवेलायामिह राजमार्गं गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषा सचरन्ति । तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानी भविष्यामि । त्वमिह उपविष्ट किं करिष्यसि ।

चारुवत — भक्तु । तिष्ठ तानत् । अहं समाधिं निर्वर्तयामि ।

(नेपथ्ये)

तिष्ठ वसन्तसेने तिष्ठ ।

(ततः प्रविशति विटशकारचेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना ।)

विट—वसन्तसेने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या

नृत्यप्रयोगविशदो चरणी क्षिपन्ती ।

उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-

व्याघ्रानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥१७॥

वितर्कः किं किं प्रयोजनम् ? नित्यविद्योनामनुष्ठाने सफलं नित्यं चेति वितर्को न कार्यः इति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१६॥

प्रयुज्यताम् नियुज्यताम् । आदर्शंगता दर्पणगता । गणिका वेश्या । राजवल्लभा-राजः प्रियाः । अत्र गणिकाशब्देन वसन्तसेना राजवल्लभशब्देन च शकारः सूच्यते । अत्र च 'नासूचितस्य प्रवेशः' इति नाट्यसिद्धान्तानुसारेण गणिकादीनां सञ्चारं वर्णयित्वा तेषां प्रवेशः सूच्यते । मण्डूकानुष्ठस्य मण्डूकभक्षणाभित्तापिणः कालसर्पस्य सम्मुत्सागतः मूषिको यथा बध्यो भवति तथाऽहं भविष्यामि । निर्वर्तयामि

चारदत्त—मित्र ! ऐसा नहीं, गृहस्थी का यह (देवताओं की पूजा करना) नेत्य कर्म है ।

तप, मन वचन एवं बलिऋमों के द्वारा पूजा किये गये देवता शान्त मन वाले लोगों से सदा सन्तुष्ट रहते हैं, (इस विषय में) विचार करने से क्या ॥१६॥

तो जाओ, मातृदेवियों को बलि भेंट कर दो ।

विदूषक—जी, मैं नहीं जाऊँगा । किसी और को भेज दो । फिर मुझ (बेचारे) शास्त्र के निये सब उल्टा ही फल होता है जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाली परछाईं शयों से दाहिनी ओर दायें से बाईं ओर (होती है) ।

और इस रात्रि (के प्रथम पहर) में यहाँ राजपथ (सड़क) पर गणिकायें, बिट, चेट और राजा के स्नेही जन घूम रहे हैं, जिनसे मेटक के लोभी काले सपं के सामने आये हुए चूहे के समान अब (मैं) वध्य हो जाऊँगा । तुम यहाँ बँठे हुए क्या करोगे ?

चारदत्त—अच्छा, तब तक ठहरो । मैं सन्ध्या (समाधि) समाप्त करता हूँ ।

(नेपथ्य में)

ठहर, वसन्तसेना ठहर .

(इसके अनन्तर बिट, शकार और चेट से पीछा की जाती हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है) ।

बिट—वसन्तसेने, ठहर ठहर ।

भय से सुकुमारता को त्याग देने वाली, नृत्य के प्रयोग से दक्ष चरणों को शीघ्रता में रखती हुई, व्याकुल एवं चञ्चल कटाक्षों से दृष्टिपात करती हुई तुम शिकारी के पीछा करने से चकित हुई हरिणी के समान क्यों जा रही हो ॥१७॥

पूर्ण करोमि ।

वेम्बानागारिकयोः मन्देश परस्परं विटति इति विटः तल्लक्षणं सूक्तं दर्पणे-सम्भोगहीनमम्पट्टिस्तु धूर्तं कलकदेशज्ञः । वेगोपचारदुग्धलो वाग्मी मधुरोऽप्य बहुमतो गोष्ठ्याम् (३.४१) । भयेन त्वरितगमना वसन्तसेना प्रति तदनुगामी विटः कथयति-किमिति त्वं वसन्तसेने, भयेन परिवर्तित द्रुतगमनाय अन्यथावृत्तं सौकुमार्यं सुकुमारता यना सा नृत्यप्रयोगेण नृत्याभ्यामेन विरादो स्वच्छो दशो व चरणौ विपन्ती इतस्ततः पातयन्ति जडिग्नेन व्याकुलेन चञ्चलेन च कटाक्षेण अपाङ्गदशनेन विसृष्टा परिशिप्ला दृष्टिः यना सा श्याग्रस्य अनुगारेण अनुगमनेन चकिता प्रस्ता हरिणीव मृगीव किं कथं योमि ? उरंमानद्धारः । वसन्ततिनकावृत्तम् ॥१७॥

शकार—ष्विष्ठ शरागतरोनिष् ष्विष्ठ ।

किं यासि धावसि पलायसि पवखलन्ती  
 वासु प्रसीद न मरिष्यसि चिट्टु दाव ।  
 कामेण दज्जदि हु मे हृदके तवशशी,  
 अङ्गाललाशिगडिदे विअ मशखण्डे ॥१८॥

(तिष्ठ वसन्तसेनिक, तिष्ठ ।)

[किं यासि धावसि पलायसि प्रस्वन्ती,  
 वासु प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत ।  
 कामेन दह्यते खलु मे हृदय तपस्वि,  
 अङ्गारराशिपतितमिव मासखण्डम् ॥]

षेट —अज्जुके निट्टु चिट्टु ।

उत्ताशिता गच्छसि अन्तिका मे शंपुण्णपच्छा विअ गिम्हमोरी ।  
 ओवग्गदी शामिअभट्टवे मे वण्ण गडे बुपफडशाववे व्व ॥१९॥  
 (आर्ये, तिष्ठ तिष्ठ ।)

[उत्तासिता गच्छस्वन्तिवाग्गम संपुण्णपक्षेन श्रीधम्मयूरी ।

अवल्गति स्वामिभट्टारो मम वने गत कुक्कुटशावक इव ॥]

वि —वसन्तसेने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं यासि बालवदलीव विकम्पमाना,  
 रक्ताशुक पवनलोलदश वहन्ती ।

रक्तोत्पलप्रकरबुडमलमुत्सृजन्ती

दङ्कमंन शिलगुह्य विदार्यमाणा ॥ २० ॥

शकार राट्टिय, 'शकारो राट्टिय स्मृत्' इति वचनात् । इत्येव स्यात्तु  
 'मदमूर्खताभिमानो दुष्पुलर्तश्चयसमुत्त । सोऽयमनूवाध्याता, राज्ञ इयास शकार  
 इत्युक्त । शकारस्य वचन तु—अपायमत्र न ध्यर्षं पुनरक्त हतोपमम्, सोऽश्मयावबिरुद्धञ्च  
 शकारवचन विदु ।

स्वरितगमना वसन्तसनामनुसरन् शकार कथयति—किं यासि । हे वासु कामे,  
 त्वं प्रस्वल्स्यती प्रस्वतन बुचती सती किं यासि धावसि पलायसे (इति शकार-

शकार—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो ।

मउमडातो हुई बरो जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो । बाले, प्रसन्न हो, मरोगी नहीं तनिक ठहरो । अङ्गारों के ढेर में गिरे हुए मास के टुकड़े के समान मेरा बेचारा हृदय काम के द्वारा जलाया जा रहा है ।

पेट—आगे ठहरो, ठहरो ।

(तुम) मेरे राम से भयभीत हुई सम्पूर्ण पक्षी वाली शीघ्र काल की मयूरी के समान जा रही हो । मेरा स्वामी (शकार) वन में गये हुए मुझे के बच्चे के समान (तुम्हारे-बीछे) उतावली के साथ जा रहा है ॥१६॥

पिट—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो ।

अभिनव कदली के समान (भय से) कपिली हुई, वायु के द्वारा चञ्चल बंधल (दगा) बाले साल रोगी बदन को धारण करती हुई, टांकी द्वारा छेदी जाती हुई मनः गिता की कन्दरा (से निकलने वाली चिनकारियों) के समान (केसपान में गुंथे हुए) रक्त-कमलों की कनियों को (वेग से दौड़ने के कारण) बिखरती हुई कहीं जा रही हो ? ॥२०॥

वचनत्वेन वीनरक्तपम्) प्रमोद प्रसन्ना भव, तिष्ठ तावत् स्थितावपि न मःस्प्यति । मे मम तपस्य वराक हृदय अङ्गारराशी पतित अग्निपुञ्जपतितं मांसस्यमिव कामेन दहते खनु । उपमातद्वारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६॥

वसन्तमेवामुद्दिश्य चेटोऽपि कपयति उत्प्रासितेति । मम—अन्तिकात् सर्वापात् सम्पूर्णपक्षा परिपूर्णपुञ्जयुक्ता शीघ्रमयूरी इव उत्प्रासिता भीता गच्छति । बने गतः कुक्कुटस्य शाशकः शिशुः इव मम स्वामी मट्टारकः नृपः (नृप इव प्रभावयुक्तः) अववत्याति समग्रमन् आगच्छति । उपमातद्वारः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥१६॥

मूयोपि पिटः सातुरोत्र वयपति - किं वामीति । हे वसन्तसेने, त्वं बालकदली इव नूतनकदली इव विषममाना कपिला पशनेन शोतदशा चञ्चलदशा यस्य तादृशं रक्षागुण रक्तवर्णं वसन बहनी पारयन्ती तथा टड्डुः पापापशरणीः विदार्यमाना मनः गितायाः गुहा इव रक्तोत्पत्तानां रक्तवर्णकमलानां प्रकरः समूहः तन्निमित्तमात्ययिति यावत् तस्य कुहमल कनिकाम् उत्पृजन्ती गमनप्रवाहेन पानयन्ती मनः गितायां विदारकमवेऽपि रक्तोत्पन्नकनिका इव प्रादुर्भवति तथा—'पशं रक्तोत्पन्नप्रकरवद् कुहमतान् कुहमनमद्वयप्रउरणशान् उःशपन्ती' इति कामेनहोदयः । किं कथं वामि ? अत्र उन्नेशा जना च । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२०॥

शकार — चिट्ट वसन्तसेनि ए चिट्ट ।

मम मज्जमणङ्ग मम्मथ वड्डअन्ती

णिशि अ शअणके मे णिट्ठअ आविखवन्ती ।

पशलशि भअभीदा पस्खलन्ती खलन्ती ।

ममवशमणुजादा लावणशेव कुन्ती ॥२१॥

[तिष्ठ वसन्तसेने, तिष्ठ ।

मम मदन्तमन्ङ्ग' मन्मथ वयधन्नी

निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती ।

प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती

मम वशमनुयाता रावणरथेय कुन्ती ॥]

विट्ट—वसन्तसेने,

कि त्व पर्दभम पदानि विशेषयन्ती

व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ।

वेगादह प्रविमृत्त पवन न रुन्ध्या

त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि न म प्रयत्न ॥२२॥

शकार — भावे भाव,

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका

णिष्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मञ्जूशिका ।

एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशङ्गणा वेशिआ

एशे शे दश णामके मइ कले अञ्जावि न षेच्छादि ॥२३॥

पुन शकार एव वसन्तसेनामुद्दिश्य प्रतपति—ममेति । मम मदन्तम् अनङ्गं बद्धयन्ती उद्दीपयन्ती, निर्दिश रात्रौ च शयनके शय्याया मम निद्रा स्वविन्दनेन आक्षिपन्ती विक्षिपन्ती, अधुना भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन कुर्वती प्रसरसि धावति रावणस्य कुन्ती इव मम वश स्वम् अनुयाता आगता । शकारवचनत्वादेन मदन्तमन्ङ्गम् इत्यादि पुनरक्तम्, रावणस्येव कुन्ती इति हतोपमम् । नातिनीवृत्तम् ॥२१॥

तथापि वेगेन प्रसरन्ती वसन्तसेना विलोचय विट्ट कथयति—किमिति । त्व पर्दे स्वपदविशेषं मम पदानि विशेषयन्ती अतिशयानाः पतगेन्द्रात् गरडात् यद् भव तेन अविभूता आशान्ता व्यालीव इव सर्पा इव कि कथयसि ? हे वरगात्रि, अह

शकार—ठहर, वसन्तसेना, ठहर ।

मेरे मदन, मनङ्ग, मन्मथ (नाम) को बड़ाती हुई, और रात्रि में बिस्तर पर घेरी नौद को उचकानो हुई (तुम) भयभीत होकर लड़खड़ाती हुई भाग रही हो (किन्तु तुम) उमा प्रकार मेरे बग में आ गई हो बिम प्रकार रावण के बग में कुन्ती (आ गई थी) ॥२१॥

विट—हे वसन्तसेना !

पश्चिमात्र (पुरुष) से भयभात हुई सुनिनी के समान अपने डगों से घेरे डगों को भी अतिशय करती हुई तुम क्यों जा रही हो ? वेग से दौड़कर (वया) में (बलवन्त लीडनानी) बाधु को (पी) नहीं रोक सकता ? (अथवा रोक सकता है) हे सुन्दर शरीर वाली, मेरा प्रयत्न तुम्हें (बलात्) रोकने का नहीं है ॥२२॥

शकार—महानुभाव, महानुभाव !

यह (वसन्तसेना) नामक (गिवाङ्कचिह्नित निक्के) को चुराने वाले (चोरों) के निधे काम-बाधना की कशा (कोटा अर्थात् प्रेरक, उद्दीपक), मछली खाने वाली नन्दी, नीची नाक वाली (अप्रतिष्ठित), कूल को नष्ट करने वाली, बग में न होने वाली (स्वच्छन्द), काम की विधारी यह वेग्यालय की स्त्री, सुन्दर वेग्यालय में निवास करने वाली, वेग्यालय की कामिनी, वेग्या—ये दस नाम मैंने इसके रखे हैं. अब भी यह मुझे नहीं चाहती है ॥२३॥

वेग्यात् प्रविभूतः प्रचलितः पवनम् न इग्याम् (वाक्त्रा) कि न इग्याम् ? अपि तु इग्याम् एव निग्याम् इति पाठान्तरं निरोधुं शक्नुयाम् इत्यर्थः], स्वनिग्रहे तत्र इहे तु न मे प्रयत्नः अनापान्त एव त्वा इहेतुं शक्नोमि इति भावः । यदा त्वां बनात् इहेतुमह न प्रपठे अविनु अनुवयेत एवेति भावः । उपनातद्वारः । वसन्तदिनकृतम् ॥२२॥

पुनरपि शकार-विटमुद्रिय कदरि—एवेति । एषा वसन्तसेना नामकानि द्रुपदादिचितानि मुष्पति इति नामकमोचिनः तेषां कामस्य शक्तिका कथा दत्तकान्तं नामस्य प्रेरिकेत्यर्थः वल्लभ-नरकराः पाण्डकाः भूताः सुत-प्राप्त-अनास्तदा निहितगदल्लकानाद्या कामा प्रायेण वल्लभाः इति, मत्स्वाशिका मत्स्यशक्तिका, साशिका नर्तकी, निर्वासा निम्ननामा [प्रतिष्ठशून्या इति भावः] निस्वारा इति पाठान्तरं निस्वारा निर्धनानाम् आद्या इत्यर्थं (अनम्यत्वादागामाभवेव केवलम्—काले), कुलस्य शक्तिका, अशक्तिवा दानेनापि कस्यापि वगे नापाति इति, कामस्य मञ्जूषिका पेटिका एषा वसन्तसेना वेग्याः वेग्यालयः तस्य षड् मुवेग्यानां सुन्दरपरिधानानां विषयः आशयः अथवा मुवेग्याः सुन्दरवेग्यालयः एव विषयः यस्याः तदापूजा, वेग्यास्य अङ्गना रमणी, वेग्याका वेग्यावी (वेग्याङ्गा अम्पीति) एतादि द्वा नामानि मया शकारेण कृतानि; किन्तु अद्यापि इत्तं मा मेच्छति नाभिनयति । अब शकारोक्त्यात् पुनरपिः । शार्दूलविहीरिदितं कृतम् ॥२३॥



भाव भाव

[एषा नाण्ड्यमोयिकामकशिका मत्स्याशका लासिका  
निनासा कलन्याशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका ।  
एषा वेदवधूः सुवैशनिलया वेशाङ्गना वेशिका  
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मा नेच्छति ॥]

विटः—

प्रसरसि भवविकलवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलपृष्ठगण्डपाशर्वा ।  
विटजननखघट्टितं वीणाः जलधरगजितभीतसारसीव ॥२४॥

शकार —

क्षणज्झणन्तवहुभूषणशद्मिष्य  
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा ।  
एशे ह्लामि शहणति जघा हणूम  
विशशावणुश वहिणि विअ त शुभद्म ॥२५॥  
[क्षणज्झणद् बहुभूषणशब्दमिथ किं द्वीपदीव पलायसे रामभीता ।  
एष हारामि सहमेति यथा हनूमान्विश्वावसोभंगिनीमिथ ता सुभद्राम् ॥]

वेटः—

लामेहि अ लाअवल्लह सो वलाहिशि मच्छमशकम् ।  
एदेहि मच्छमशकेहि शुणआ मलअ ण शेवन्ति ॥२६॥  
[मय च राजवल्लभ तत खादिप्यसि मत्स्यमासकम् ।  
एताभ्या मत्स्यमासाभ्या ध्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥]

विटः—भवति वणन्तसेना,

कं त्व कटीतटनिवेशितमुद्गहन्ती  
ताराविचिप्रचचिरं रशनाकलापम् ।  
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमन शिलेन  
यस्तादमुत नगरदेवतदत्प्रयासि ॥२७॥

पुनरपि विट वणन्तसेना वयदति—प्रसरतीति—विटजननखघट्टिता वीणा इय प्रचलितकुण्डलपृष्ठगण्डपाशर्वा (२५) जलधरगजितभीतसारसीव भवविकलवा किमर्थं प्रसरसि ? इत्यन्वयः ।

विटजनाना नखं विघट्टिता परिमृष्टा ताडिता या वीणा इय प्रचलिताभ्यां

बिट—बिट लोपों के मुख से घषित वीणा के समान (भागने के कारण) हिलते हुए कुण्डलों (के बार बार स्पर्श) से घषित कपोलों वाली (तुम) बादन के गर्जन से भयभीत सारसी को भीति भयातुर होकर क्यों भागी जा रही हो ॥२४॥

शकार राम ने डरी हुई द्रौपदी के समान अनेक आभूषणों के शब्द से निधित जनननाह्न के साथ तुम क्यों भागी जा रही हो ? हनुमान ने विश्वाधमु की उस (विश्यात) बहिन मुभद्रा का जिस प्रकार लपहरण किया था, उसी प्रकार यह मैं बलात् तुम्हारा हरण करता हूँ ॥२५॥

घेट—राजा के कृपापात्र (शकार) के साथ रमण करो, तब तुम मछली और मांस खाना । इन दोनों मछली और मांस के कारण (परितुष्ट हुए शकार के) कुत्ते मृत्क (मृत पशु आदि की लाश) का खेवन नहीं करते हैं ॥२६॥

बिट—सुधी वसन्तसेने, कटि-प्रान्त से बंधी हुई, तारों के समान विचित्र और मुन्दर मेखला (तगड़ी) को धारण करती हुई, चूर्णीकृत मन-शिला (मनसिल) को भी (अपने गुलाबी बर्ण से) तिरस्कृत करते खाले मुख से युक्त, भयभीत हुई नगर देवता की भीति विचित्र रूप से क्यों भागी जा रही हो ॥२७॥

अञ्जलाभ्यां कुण्डलभ्यां घृष्ट गण्डयोः कपोलवो पाशवं यस्याः तादृशी स्वं वसन्तसेना मुनोद्गतवाद् शब्दवत्वाद्वा वीणातुल्यत्वम् इति पृथ्वीघटः असद्यस्त्व मेघस्य गजिनेन भीडा सारसी इव भयेन विचलत्वा व्याकुला सती किमपि प्रसरति स्वरितं गन्धर्वि । मालोपमानद्वारः । पुष्पिताप्रा वृत्तम् ॥२४॥

पुनः शकारः वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—अणदिति अणञ्जपरिति । बहुभूषणानां शब्दः तेन निश्रं यथा स्यात् तथा (त्रिधाविशेषणम्) (अणञ्जनापमानइति पाठाः स्तरम् अणञ्जनापमानानि बहुनि भूषणानि तेषां शब्देन निश्रं यथा स्यादेवम् इत्यर्थः) एताद् मोता द्रौपदी इव किं कथं वनायते ? यथा हनुमान् विजनायनोः एतन्मानकस्य सिद्धजातीस्य नृपस्य भगिनो ता प्रमिटां मुभद्रां हरति स्म तथा अहं शकारः सहाता बलात् स्वा वसन्तसेनां हरासि । वसन्ततिनक वृत्तम् ॥२५॥

पेटोऽपि वसन्तसेनां प्रति पुनः कथयति—रमयेति । हे वसन्तसेने, रात्रयस्सर्पं नृपतेः त्रिमं रात्रयमानमिति यावत् रमय ततः तस्मात् मत्स्यपादक मांसं च मत्स्यमांसं तदेव भास्यमानकं एवं स्थाद्विष्यसि । (अस्य ग्रहे) एनाभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां हेतुभ्यां मत्स्यमांस-प्राप्तुमर्ति इति भावः । शकारः कुकुराः मृत्कं न खेवन्ते न गादन्ति । मायाहमकं धृष्टः इति पृथ्वीघटः । मार्यावृत्तम् इत्यन्ते ॥२६॥

वसन्तसेनामनुसरन् बिटः पुनः कथयति—किं स्वमिति । हे वसन्तसेने त्वं इति इतिनेतिनेतिं वापि विचित्रपतिं रमनाकलापम् इदृश्वी निर्मषितचूर्णमनः

शकारः—

अम्हेह चण्ड अहिशालिअन्ती वण शिआली विअ कुबकुलेहि ।

पलाशि शिग्घ तुलिद शवेग्ग शवेण्टण मे हलअ हलन्ती ॥२८॥

[अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कूबकुः ।

पलायसे शीघ्र त्वरित सवेग सवृन्त मम हृदय हरन्ती ॥]

वसन्तसेना—पल्लवभा पल्लवभा, परहृदिए परहृदिए । पल्लवक पल्लवक,  
परभृतिके परिभृतिके ।]

शकार—(सभयम्) भावे भावे, मधुसो मधुसो । भव भाव मनुष्या  
मनुष्याः ।]

विट—न भेतय्य न भेतय्यम् ।

वसन्तसेना—माहृदिए माहृदिए । [माघविके माघविके ।]

विट—(सहासम् ।) मूर्खपरिजनोऽन्विष्यते ।

शकार—भावे भावे, इत्थिमां अणेशदि । [भाव भाव, 'स्त्रियमन्वेपयति]

विट—अथ किम् ।

शकार—इत्थिभाण शव मालेमि । शूने ह्ये । [स्त्रीणां शतं मारयामि ।  
शूरोऽहम् ।]

वसन्तसेना—(शून्यमवलोक्य ।) हृदी हृदी, कथ परिजनों वि परिभ्रष्टो ।  
एष मए अप्पा शअ ज्जेव रसिलदव्वो । [हा धिक् । हा धिक् । कथ परिजनोऽपि  
परिभ्रष्टः । अद मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः ।]

विट—अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकार—वसन्तसोणिए, विलव विलवपरहृदिअ वा पल्लवअ वा शब्ब एव  
वसन्तमाशम् । मए अहिशालिअन्ती तुम को पलित्ताइशदि ।

किं भीमणेणे जमदग्निपुत्रे मन्तीशुदे वा दशकन्धले वा ।

एशे ह्ये गेण्हिअ वेसहत्थे दुशशाशणशशाण्किदि कलेमि ॥२९॥

न वेरल न वेरल ।

शिलेन वचनेण जस्ता नगरदेवतवद् अद्भुत किं प्रमासि इत्यन्वयः ।

एव कटिलटे निवेगित सस्थापित ताराभि मुक्ताभि विचित्ररत्नास्तौ च विररच  
सं रशनाकलाय मेखलाभूषणम् उद्धहन्ती पारयन्ती, निर्मेषिता तिरस्वता चूर्णा  
चूर्णाहृता मत्तशिला येन तादृगेन वचनेण मुधेन उपलक्षिता ('इत्थमूतसशणे'- इति  
दृष्टीया) अथवा निर्मेषिता आत्वं चूर्णां या मन गिला तान्त्येन मुधेन लक्षिता प्रता  
पुष्पभीना क्षती नगरदेवतेन दुःख नगरदेवतवत् अद्भुत यथा स्वात् तथा ('इत्थम्'

शकार—कुत्तों के झंझा पीछा की जाती हुई शृगाली के समान हमारे द्वारा तीव्र गति से अनुकरण की जाती हुई मेरे हृदय को समूल हरण करती हुई (तुम) शीघ्र, तुल्य और वेगपूर्वक भाग रही हो ॥२५॥

वसन्तमेना—हे पल्लवक ! पल्लवक !, परमृतिके ! परमृतिके !

शकार—(भयमहित) भाव ! मनुष्य, मनुष्य ।

विट—डरना नहीं चाहिये, डरना नहीं चाहिये ।

वसन्तमेना—माघविके ! माघविके !

विट—[हँसी पूर्वक] मूर्ख, भृश को दूड रही है ।

शकार—म्हरी को दूड रही है ।

विट—और क्या ?

शकार—सौ स्त्रियों को मार डालूंगा । मैं शूर हूँ ।

वसन्तमेना—(मूना देमकर) हाय ! हाय ! क्या सेवक भी छूट गये । यहाँ मुझे स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

विट—दूँडा जाये, दूँडा जाये ।

शकार—हूँ वसन्तमेना ! विलाप कर ! विनार कर, परमृतिका के लिये; पल्लवक के लिये या मारे वसन्त नाम के लिये । मेरे द्वारा अभिसरण की जाती हुई तुझको कौन बचायेगा ?

क्या जमदग्नि का पुत्र भीमसेन; या कुन्ती का पुत्र या दग्नीशः (रावण ?) यह मैं (तुम्हारे) केजवाज को पकड़ कर दुःखामन का अनुकरण करता हूँ ॥२६॥  
देखो तो, देखो तो,

इति पाठान्तरम्) कि केन हेतुना प्रयाति मच्छसि ? तद्विदोभवा उत्प्रेक्षा वा । वसन्ता-  
त्रिनकादृतम् ॥२७॥

पुनः शकारः वसन्तमेनादित्य कथयति—अस्मान्मिरिति । यने कुशकुरः  
शृगाली इव अत्र अस्माभिः खाईं शीघ्रम् अभिमार्यमाना अनुगम्यमाना त्वं मम हृष्य  
सकृन्तं ममूनकण्यं हरन्ती शीघ्रं त्वरित स्वयं मया म्याउ तथा पलायते । शकारोक्ति  
त्वान् शीघ्रत्वादीना पुनरक्तिः । उरमानद्धारः । उपत्रति वृत्तम् ॥२८॥

पल्लवकः वसन्तमेनायाः परिवारक परमृतिका माघविका परिवारिके । भाव  
इत्यादरमूचक मन्वीप्रनम् । परितनः सेवकः ।

वसन्तमेना भीमपत्न शकारः कथयति—विमिति । भीमसेनः, जमदग्निपुत्रः  
परमुरामः, कुन्तीपुत्रः अत्रुनः कर्णो वा अपवा दशकण्ठरः दशप्रवीकः रावणः कि त्वा  
रक्षिन्तुं समर्थः इति शेषः । एव अहम् शकारः केजहमे केजवाजने शरीरका घृश्या  
ः दुःखामनकथ्य अनुहतिम् अनुकरण करोमि । इन्द्रवज्या वृत्तम् ॥२९॥

अशो शुतिवखे वल्लिदे अ मरथके  
कप्पेम शीश उद मालएम वा ।

अल तवदेण पलाइदेण

मुनुवप्पु जे होदि ण षे वप्पु जीअदि ॥३०॥

[वसन्तसेनिके' विलप विलप परभृतिका वा पल्लवकः वा सर्व वा वसन्त-  
मासम् । मयाभिसार्यमाणा त्वा क परित्रास्यते ।

किं भीमसेनो जमदग्निपुत्र कुन्तीमुतो वा दशकन्धरो वा ।

एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःखासनस्यानुकृतिं करोमि ।

[ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व ।

असि मुतीक्षणा वलित च भस्तकं कल्पये शीर्षमुत मारयामि वा ।

अल तवैतेन पलायितेन मुमुषूर्ध्वो भवति न स खलु जीवति ॥]

वसन्तसेना—अज्ज, जमला वधु महम् । [आयं अबला खल्वहम् ।]

द्विट—अतएय दियते ।

शंकार—अवो ज्जेय ण मात्तोअसि । [अतएव न मार्यसे]

वसन्तसेना—(रवगतम् ।) वध अशुणभो वि सो भअ उप्पवेदि । भोदु । एष  
हाय । (प्रकाशम् ।) अज्ज, इमादो विपि अलकरण तवकीअदि । [कथमनुनयाऽप्यस्य  
भयमुत्पादयति । भवतु । एव तावन् । आय, अस्मात्किमप्यलङ्कारण तर्ह्यति ।]

द्विट—शान्तम् । भवति वसन्तसेने, न पुप्पमोपमहंरुच्छानसता । तत्तद्दतमस-  
ररम् ।

वसन्तसेना—ता कि वपु वाणिम् । [तत्किं खल्विदानोम् ।]

शंकार—हये वरपुत्तिशीमगुरके वायुदेवके कामहइखे [अहं वरपुष्पमनुष्पो  
यासुदेव, वामयित्थ्यः ।]

वसन्तसेना—(सशोधम् ।) शन्त शन्नम् । अवेहि । अणज्ज मन्तेसि । [शान्तं  
शान्तम् । अपेहि । वनार्यं मन्त्रयसि ।]

शंकार—(सतार्थितं' विहाय ।) भावे भावे वेक्ख हाय । मं शन्तसेण  
शुशान्तिद्धा एसा गणिभाइसिभा वम् । जेण म मयाहि 'एहि । शन्तेसि  
किन्तिन्तेसि' ति । हये ण वामगतल ण वगलगतल वा गडे । अउरुके, इज्जानि  
भाववशा शीघ्र भसणकेहि पावेहि तथ । ज्जेज्ज वरषाशुपरिषभाए भाहिइइन्ते शन्ते

अतिरिक्तं मम भति. इत्याण मुतीक्षणा अस्ति तत्र भस्तकं च वलितं तानितं  
सुन्दरं वा वर्तते । शीर्षं विर कल्पये द्विपदि मारयामि वा अतएव तत्र एतेन पलायि-

तलवार बड़ी तीक्ष्ण है और तुम्हारा मस्तक बड़ा मुन्दर है, मैं तुम्हारा मिर-  
काट डालूँगा या मार डालूँगा । तुम्हारा इस प्रकार भागना निरर्थक है, (क्योंकि) जो  
मरने वाला होता है वह निश्चित रूप में जीवित नहीं रहता ॥३०॥

वसन्तसेना—आपें ! मैं तो अबला हूँ ।

विट—इसीलिये (तुम अब तक) जीवन धारण कर रही हो ।

शाकार—इसीलिये तुम नहीं मारी जा रही हो ।

वसन्तसेना—(अपने आप) इसकी नम्रता भी किस प्रकार भय उत्पन्न करती  
है ? अच्छा, तो ऐसा करूँ । (प्रकट रूप में) आर्य ! मुझसे किसी आभूषण की  
बपेक्षा है ?

विट—पाप शान्त हो ! हे वसन्तसेना, उद्यान-लता पुष्प-हरण के योग्य नहीं  
है । इसलिये आभूषणों को रहने दो ।

वसन्तसेना—तो अब क्या ?

शाकार—भुक्त पुरुषश्रेष्ठ, मनुष्य वामुदेव की (तुम्हें) कामना करनी चाहिए ।

वसन्तसेना—(क्रोध महित) पाप शान्त हो ! दूर । अशिष्ट (आपों के अव्योम्य)  
बात कहता है ।

शाकार—(ताली बजाकर और हँस कर) भाव ! भाव ! तनिक दया तो  
सहो । यह वेश्या-नुषी वास्तव में मुझसे प्रेम करती है, जिसमें मुझे यह कहती है  
"आओ, एक गये हो विन्न हो गये हो ।" मैं न किसी दूसरे गाय को पका या, न  
किसी दूसरे नगर को गया था । भट्टानिके, मैं अपने पैरों से महानुभाव (विट) के सिर  
की शपथ उठाता हूँ कि तुम्हारे ही पीछे-पीछे घूमता हुआ थान्त (पका हुआ) और  
विन्न हो गया हूँ ।

तेन पनायनेन असं व्यर्धमिति भावः (यत्.) यः मुमुर्षुः आसन्नमरणः भवति स क्षतु  
निश्चयेन न जीवति । अत्र प्रथमचतुर्चरणयोः वंशस्य द्वितीये तृतीये च इन्द्रवज्या ।  
अतः उपजातिवृत्तम् ॥३०॥

स्त्रियते जीवति । अनुनयः अनुकूलता । तस्यैति अन्विष्यते । शान्तं पापम् न दैवं  
तथा कुर्यात् । पुष्पमोषं पुष्पश्रोतनम् । अयं भावः यथा उद्यानलताया पुष्पश्रोतनेन  
शोभाहानिर्वापने तपैव अलङ्कारहरणेन तत्र मोन्दयंहानिर्भविष्यति तच्च नोचितम् ।

शान्तं न वाच्यमेतद् । अपेहि दूरं गच्छ । अनायम् अनुचितम् । सहस्रतात  
हस्ततानिकानुर्वचम् । माम् अन्तरेण मम विषये (अन्तरान्तरेण युक्ते द्वितीया) इति  
द्वितीया) । मुक्तिगथा साम्यम् अनुरक्ता । शपे शपथं करोमि । वृष्टानुशुद्धक्या पाचात्,  
पाचात् । आहिष्मान्, प्राप्स्यन् । पैरो वेनालये शान्त तस्य विरुद्धं प्रतिवृत्तम् ।

कलित्ते म्हि शंयुत्ते । [भाव भाव, प्रेक्षस्व तावत् । मामन्तरेण सुस्तिगधैषा  
गणिकादारिका ननु । येन मा भणति—'एहि । श्रान्तोऽसि' क्लान्तोऽसि' इति ।  
अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः । मृच्छालिके शब्दे भावस्य शीर्षमात्मी-  
यान्या पादाभ्याम् । तत्रैव पृष्ठानुपृष्ठिकयाहिण्डमान् श्रान्त क्लान्तोऽस्मि  
संवृत्तः ।

विट — (स्वगतम् ।) अये, कथं शान्तमित्यभिव्रिते श्रान्त इत्यवगच्छति  
मूर्खः । (प्रकाशम् ।) वसन्तसेने, वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या । परय,

तद्व्यजनसहायश्चिन्त्यता वेशवासो

विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव ।

यहसि हि धनहाये पण्यभूत शरीर

सममुपचर भद्रं सुप्रियं चाप्रियं च ॥३१॥

अपि च—

वाप्या स्नाति विचक्षणो द्विज्वरो मूर्खोऽपि वर्षाघमः

फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बहिणा ।

ब्रह्मक्षेत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे

त्वं वापीव लतेव नीरिव जतं वेश्यासि सर्वं भज ॥३२॥

वसन्तसेना—गुणो बलु अपुराग्रस्य कारणम्, ण उण बल्लकारो । [गुणः

खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्वनात्कार । ] ।

शकार — भावे भावे एशा गर्भदाशी कामवेवाअवणुज्जाणादो पटुदि ताह  
बलिहृचालुइत्ताह अगुलत्ता ण म कामेदि । वामदो तइश पलम् । जया तय मम भ  
हृत्पादो ण एशा बलिहृअशदि तथा कलेदु भावे । [भाव भाव, एषा गर्भदासी काम-  
देवायतनोद्यानान्प्रभृति तस्य दग्धिचार्दत्तस्यानुत्ता न मा कामयते । वामतस्तस्य  
गृहम् । यया तव मम च हस्तान्नेया परिभ्रस्यति तथा करोतु भावः] ।

विट — (स्वगतम् ।) यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः । कथं वसन्त-  
सेनार्यचारुदत्तमनुत्ता । सुष्ठु खल्विदमुच्यते—'रत्न रत्नेन संगच्छते' इति ।  
तद्वगच्छतु । किमनेन मूर्खेण । (प्रकाशम् ।) काणेलीमातः, वामतस्तस्य सार्ध-  
वाहस्य गृहम् ? .

वसन्तसेनायाः कथनं वेशवासविरुद्धमिति विट. द्वाभ्यां कथयति—तरणोति-  
वेशवास वेद्यालये निवासः तद्व्यजन युवजन सहायो यस्य तादृश तद्व्यजनापेक्षी  
इत्यर्थः इति चिन्त्यताम् विचार्यताम् । त्वं च मार्गजाता मार्गो उत्पन्ना लताइव गणिका  
इति विगणय विचारय । हि यतैव पण्यभूत विद्वेषस्त्वत्प तथा च धनहार्यं धनेन

विट—(अपने आप) अरे ! यह मूल किस प्रकार 'शान्त' ऐसा नहे जने पर  
 लन (पका हुआ) समझ रहा है ? (प्रकट रूप से) वसन्तसेने, आपने (अपने) वेश्यालय  
 के वाम (जीवन) के विरुद्ध कहा है । दोनों—

वेश्यालय के जीवन (वास) को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो, सोचो,  
 [म मार्ग में उगी हुई लता के समान वेश्या हो, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्रय्य  
 वस्तुरूप शरीर को तुम धारण करती हो इसलिये हे भद्र महिला, प्रिय और अप्रिय  
 दोनों का समान रूप में सेवन करो ॥३१॥

और भी—

विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच जाति वाला मूल भी एक बापी (बावड़ी) में स्नान  
 करता है. जो पुण्डित लता पहले मयूर के द्वारा (बँठकर) झुकाई गई थी, उमी लता  
 को (उम पर बँठकर) कौआ भी झुका देता है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जिम नाव से  
 पार उतरते हैं उमी से दूसरे लोग भी । तुम वेश्या हो (इसलिये) बापी (बावड़ी) के  
 समान, लता की भाँति और नाव की तरह ही सब जनों का सेवन करो ॥३२॥

वसन्तसेना—प्रेम का वास्तविक कारण गुण है न कि बलात्कार ।

शकार—भाव, भाव, यह जन्म-दासी कामदेवायतन उद्यान (में जाने) से लेकर  
 उस दरिद्र चाखदल से प्रेम करने लगी है, मेरो कामना नहीं करती है । बाईं ओर  
 उसका पार है, जिमसे तुम्हारे और मेरे हाथ से यह निकलने न पाये, आप वैसा  
 (उपाय) करें ।

विट—(अपने आप) मूल वही वह रहा है जो छोड़ने योग्य है । क्या वसन्त-  
 सेना आप चाखदल से प्रेम करती है ? यह वस्तुनः ठीक ही कहा जाता है कि—'रत्न  
 रत्न के साथ (ही) समुक्त होता है ।' तो जाने दो । इस मूल से क्या ? (प्रकट रूप में)  
 जानेकी के पुत्र, उम मायंवाह चाखदल का घर बाईं ओर है ?

ब्राह्मण शरीर क्षत्रिय धारयति अतः हे मन्त्रे ब्रह्मणि भूषिष्य च अक्षिष्य च क्षत्र समान-  
 रूपेण उपचर सेवस्व । उपमा काव्यनिर्द्ग चालङ्कारो । मानिनीकृतम् ॥३१॥

वाप्यामिति—विचक्षणः विद्वान् द्विजवरः अपि ब्राह्मणोऽपि वाप्या दीधिवायां  
 स्नाति स्नान करोति, वपनं अग्रम. भूदादिः मुखोऽपि च स्नाति । या लता बहिष्णा  
 मयूरेण नामिता भवति ता कुलतां पुण्डितां सतां वापसाः अपि काकोर्जि नाम्यति नमयति  
 (नाम्यतीति बण्डुवादि पाठान् 'नाम करोति' इत्यर्थे यकि अवारलोपे च रूपम् इति  
 पृथवाधरः) । यथा च नामा नीरया ब्रह्मक्षत्रविशः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः तरन्ति तथा एव  
 इतरे भूदादयोऽपि तरन्ति । एव वेश्या अमि अनः वापी इव लता इव नीः इव च अति  
 तस्मात् सर्वं जन मुषियम् अप्रियम् वा भज मेवम्य । मा नोगमा काव्यनिर्द्ग चालङ्कारो ।  
 शार्ङ्गविश्वोदित इतम् ॥३२॥

गर्भदासी जन्मप्रभृति नामो । कामदेवस्य आयतन उद्यान तदेव उद्यानम् एतन्नामक-  
 मुद्यानम् इति भावः । मदेव परिहृतं च त्यक्तव्यम् उदाहरति कथयति । चारुदत्तस्य  
 इह समीपे बहते शीतं कपन नीचिन तदेव च मूलं. शकारः कथयति । 'वसन्तसेना'



शकारः—उघ इ । यामदो तरसा घतम् । [उघ किम् । वामतस्तः  
गृहम् ।]

वसन्तसेना—(स्वगतम् ।) अहहे । यामदो तरसा गेहं ति जं शब्दम्, अदरश्चनेर  
वि दुश्चरणेण उच्यते, जेण विअसङ्गम पाविस्सम् । [आश्चर्यम् । वामतस्तः  
गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनैर्नोपगतम्, येन प्रियसङ्गमः प्रापितः ।]

शकारः—भावे भावे, बलिन् वसु अन्धआत्ते पाशाताशिपट्टिा विअ मत्तिगुट्ठिा  
दीरादो ज्जेण पण्डा वसन्तसेनिआ । [भाव भाव बलीयसि खल्वन्धकारे भापरकि  
प्रविष्टेय मसीगुटिका दृश्यमानं व प्रनष्टा वसन्तसेना ।]

बिटः—अहो, बलवान्धकारः । तथाहि ।

आलोकविशाला मे महसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।

उन्मीलितपि दृष्टिनिमीलितेवान्धकारेण ॥३३॥

वपि च—

तिम्बतीव तमोज्झानि वर्षतीवाञ्जन नभ ।

असत्पुरपसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥३४॥

शकारः—भावे भावे, अण्णेतामि वसन्तसेनिअम् । [भाव भाव, अन्विष्टानि  
वसन्तसेनिकाम् ।]

बिटः—काणेलीमातः अरित किञ्चिच्चिह्नं यदुपलक्ष्यसि ?

शकारः—भावे भावे, कि विअ । [भाव भाव, किमिव ।]

बिटः—भूषणशब्दं सौरभ्यानुविद्धं माल्यगन्धं वा ।

शकारः—शुणामि मल्लगन्धम्, अन्धजातपूतियाए उण जासिआए ण शुण्ण  
पेवपामि भूषणशब्दम् । [शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारवृत्तिया पुनर्नासिज्ज्या न  
शुब्धत्तं पश्यामि भूषणशब्दम् ।]

बिटः—(जनान्तिवम् ।) वसन्तसेने

चारदत्तेश्वरता' इति शकारमुखाद् निगम्य बिटः वर्षयति यत् रत्नस्य सङ्गति रत्नेन  
साधं भवति । वसन्तसेना चारदत्तश्च एतौ रत्नपुत्रौ एतयोश्च अनुरागः स्पृहणीय एवेति  
भावः । काणेलीमातः काणेली वन्ध्या असती वा माता यत्र तत्समुद्योः ।

अपराध्यता अपराधं कुर्वता । मायाणां रामो पविष्टा प्रशिष्टा या मसीगुटिका  
तद्दृष्ट्वा दृश्यमाना एव वसन्तसेना प्रनष्टा अदृश्या जाता ।

बिटः द्वाभ्यां श्लोकभ्यां पंताग्यशारं वर्षयति—आलारेति-आलोके प्रकाशे  
दग्ने वा विहाता विस्तृता महती वा मे मम दृष्टिः सहा निमिरे प्रवेशः तेन विविदन्ता

शकार—ओर क्या ? उसका घर बाई ओर है ।

व्यन्तमेना—(अपने आप) आन्तर्यं यदि सचमुच बाई ओर उसका घर है; (तो) अन्याय करने हुए भी दृष्ट ने उपहार कर दिया, जिसने प्रिय ममागम तो प्राप्त कराया ।

शकार—भाव, भाव, गहन अन्धकार ने माप (उर्ध्व) के ढेर में प्रविष्ट हुई स्थाहों की टिकटों के समान—दृष्टिगोचर होनी हुई ही वसन्तसेना तिरोहित हो गयी ।

द्विद—अहां, प्रबल अन्धकार है, क्योंकि—

प्रकाश में विलीन (दूर तक देखने वाली) मेरी दृष्टि अन्धकार में प्रवेश करने में मरुता अवलम्ब हो गई । मेरी आँखें खुली होकर भी अन्धकार ने बन्द-सी कर दी है ॥३३॥

ओर भी—

अन्धकार धङ्गों को निष्पत्ता कर रहा है, आकाश मानो काजल (अंजन) बरसा रहा है । दृष्ट मनुष्यों की मवा की भाँति मेरी दृष्टि निष्पत्तना को प्राप्त हो-पई है ॥३४॥

शकार—भाव, भाव, वसन्तसेना को दूडता है ।

द्विद—बागेती के पुत्र, कुछ चिह्न है जो (वसन्तमेना को) दूड रहे हों ।

शकार—भाव, भाव, कैना (चिह्न) ?

द्विद—आभूषण की ध्वनि या सुगन्धयुक्त माता की गन्ध को ?

शकार—माता की गन्ध (तो) सुन रहा है, (किन्तु) अन्धकारयुक्त नाक से आभूषणों के शब्द को स्पष्ट नहीं देख रहा है ।

द्विद (जनात्मिक) हे वसन्तमेने !

वितस्ता याता उन्मीलित्वा अवि च दृष्टिः अन्धकारेण निष्पीलित्वा मुद्रिता । इव उत्प्रेक्षा-  
सङ्कारः । आर्षावृत्तम् ॥३३॥

तिम्बतोत्रि—तम. अन्धकारः अङ्गानि निष्पत्ता इव तमः आकाशम् अञ्जनं  
करजन वर्धनि इव । दृष्टिः अतत्पुरुषस्य अथमपुरुषस्य सेवा इव विकलतां विगतं फलं  
दायाः ना विकला तस्या. भाव. ता निष्कलता पत्ता अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षा उत्तरार्द्धे च  
उत्पत्ता । तयोः संसृष्टिः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥३४॥

चिह्नं भूषणशब्दादि । सौरभ्येन सुगन्धेन अनुविद्धं व्याप्तम् । शृणोमि मातय-  
गन्धम् इत्यादि शकारस्य अमम्बुडोक्तिः ।

जनात्मिकम् इति नाट्योक्तिभेद. तस्य । च साधयन्तुं दर्शने-

'त्रिरशक्तकरेणान्जानरवादीनाम कथाम् ।

अन्वोपानमन्त्रं यत् स्यात्तत्रान्ते जनात्मिकम् ॥" (३७)

कामं प्रदोषपतिमिरेण हृष्यसे त्व  
 सौदारमिनीव जलदोदरसन्धिलीना ।  
 त्वा सूचयिष्यति तु मात्स्यसमुद्भवोऽयं  
 गन्धश्व भोरु मुसराणि च नूपुराणि ॥३५॥

श्रुतं वसन्तसेने ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) गुरु गृह्ये अ । (नाट्येन नूपुराण्युत्सायं मात्स्यानि  
 आपनीय किञ्चित् परिव्रज्य हस्तन परामृश्य ।) अम्मो, भित्ति-परामरिससुहृद परञ्चु  
 आरब्धं वञ्च एवम् । जानामि अ सजोएण गेहसस सवृद परञ्चुआरअम् । [श्रुतं गृहीत  
 च । अहो, भित्तिपरामशंसूचित पक्षद्वारक खल्वेतत् । जानामि च सजोएण  
 गेहसस्य सवृत्त पक्षद्वारकम् ।]

आरुढत वयस्य, समाप्तजपोऽस्मि । तत्साम्प्रतं गच्छ । मातृम्नो  
 बलिमुपहर ।

विदूषकः—भो, ण गमिरसम् । [भो, न गमिष्यामि ।]

आरुढत—धिक्कष्टम् ।

दारिद्र्यात्पुरुषस्य श्वान्धवजनो वानये न सतिष्ठते

सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृद स्फागीभवन्त्यापद ।

सत्त्व ह्यासमुपति शीलशशिन कान्ति परिम्लायते

पाप कर्म च यत्परैरपि वृतं तत्तस्य सभाव्यते ॥३६॥

अपि च—

राज्ञ नैव हि नृशिवदस्य कुरते सनापते नादरा—

त्सप्राप्तो गृहमुत्सवेषु घनिना सावजमलोक्यते ।

विट वसन्तसेना प्रति वचयति— काममिति हे भोर, काम यद्यपि त्व जलदानं  
 मेवानाम् उदरसन्धौ मध्ये लीना अन्तहिता सौदारमिनी विद्युत् इव प्रदोषपतिमिरेण  
 प्रदोषस्य निशामुखस्य तिमिरेण अन्धकारेण न दृश्यते तु विद्युत् मात्स्यसमुद्भवः मात्स्य-  
 निर्गत अय गन्धः त्वो वसन्तसेना सूचयिष्यति मुखराणि शब्दयुक्तानि नूपुराणि चरम-  
 भूषणानि सूचयिष्यन्ति । आत्सरक्षार्थम् अवसरानुसारं वियताम् इति व्यग्यते । उपमा-  
 सद्धारः । वसन्तसेना वृत्तम् ॥३५॥

भित्ते परामरसेन स्पशेन सूचितम् । पक्षस्य पार्श्वभागस्य डारम् । संश्लेषेण स्पशे-  
 नेन्द्रियानुभवेन । समाप्तजप समाप्त जप येन स ।

बादलों के भीतर सन्धि-स्थल में छिपी हुई बिजली के समान तुम भले ही रात्रि के प्रथम भाग (प्रदोष)-के अन्तकारक न दिखाई देती हो, परन्तु हे डरफोक (भीष्ट) ! (तुम्हारी) माना से उत्पन्न होने वाली यह गन्ध और शब्द करने वाले नूपुर तुम्हें प्रकट (सूचित) कर दोगे ॥३५॥

मुना, वसन्तसेना !

वसन्तसेना—(अपने आप) मुना और ममज लिया । (नाट्य से नूपुरों को उतार कर और मालाओं को फेंक कर बुद्ध घूमकर हाथ से छूकर) अहो ! दोवार (भित्ति) के छूने से ज्ञात हुआ यह अवश्य ही बगल वा दरवाजा (पक्षद्वार) है और लगता है दैवयोग (मयोग) से घर का (यह) पक्षद्वार बन्द है ।

चारदत्त—मित्र ! (मैं) अब समाप्त कर चुका हूँ । तो अब जाओ । मातृ-देवियों के लिये बलि ले जाओ ।

विदूषक—हे (मित्र) ! नहीं जाऊँगा ।

चारदत्त—हाय ! बड़ा दुःख है ।

बन्धु लोग भी निघंनना के कारण (निघंन) पुरुष के कहने में नहीं रहने, अत्यन्त स्नेही मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, आपत्तियाँ अधिष्ठ हो जाती हैं । शक्ति शय को प्राप्त हो जाती है, चरित्र (शील) रूपी चन्द्रमा की मोमा धुंधली हो जाती है, जो दूरियों के द्वारा भी किया गया पाप-कर्म है, वह उमी वा (निया हुआ) समझा जाता है ॥३६॥

कोई इसका मंग नहीं करता, न ही (कोई उनके साथ) आदर से बोलता है, घनों लोगों के घर (विवाहादि) उमरों में गया हुआ अनादरपूर्वक देखा जाता है,

यदा मैत्रेय क्वचिप्रदानाय गन्तुं नीयते भवति चारदत्तोऽप्य आमाभद्रस्य कारणं दरिद्रतैवेति मन्वानं मैत्रेयं प्रति (ग्नोऽश्वयेन) कथयति-दारिद्र्याद् इति । दारिद्र्यात् घनाभावात् वाग्ध्वजः पुष्पाय वाचये न सन्निष्ठने वचनं न पातयति । मुनिनाथा अनिस्मृत्पुत्राः मद्रुद निशानि अपि विमुग्धाभवन्ति विमुक्ताः जायन्ते । आपद आपतय स्कारोभवन्ति विस्तारं यन्ति । मत्स्य बत ह्रास क्षीणताम् वर्षति मत्स्येति । शीततामित शीतकृपस्य चन्द्रस्य कान्ति परिष्पापने क्षीणताम् आप्नोति । यच्च पाप कर्म चोर्षादिकं निन्दितं कार्यं परैः अन्यै अपि कृतं भवति तत् तस्य संमाष्यते तेनैव कृतम् इति आशङ्कयते । रूपकानन्दारः । शार्दूलविभीषित वृत्तम् ॥३६॥

सङ्गमिति-कश्चिदपि जनः अथ निघंनस्य सङ्गं नैव कुरते, आदरात् कादरपूर्वकं न सम्भाषणे । उत्पत्त्येव घनिता गृहं मग्नाय गमागतः स जेने सावतम् धवजया घहितं निरस्कारपूर्वकम् अजलोषणे । स च अत्यस्तुतः अत्यस्तुतः सन् सज्जया महाजनस्य कुरादेव गृह्णति मध्यमि । अनात् मन्वे निघंनना अयम् अन्यत् पठं प्रकामं प्रपृष्टं

दूरादेव महाजनस्य विहरत्येत्पच्छदो लज्जया'

मन्ये निर्घलता प्रकाममपरं पथ महापातकम् ॥२७॥

अपि च—

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीर सुहृदित्युपित्वा ।

विपन्नदेहे मयि मन्दभागे ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ॥२८॥

विदूषक.—(सर्वलक्ष्यम्) भो वयस्स, जइ भए गन्तव्यम्, ता एतापि मे सहा-  
इनी रदनिभा भोदु । [भो वयस्य, यदि मया गन्तव्यम्, तदेतापि मम सहायिनी  
रदनिका भवतु ;]

चारुवत्.—रदनिके, मैत्रेयमनुगच्छ ।

चेटी—ज अञ्जो आणवेवि । [यदायं आज्ञापयति] ।

विदूषक.—भोदु रदणिए, गेह् वलि पदीव अ । अह अवाबुद पक्षदुआरअ  
करोमि । [भवति रदनिके, गृहाण बलि प्रदीप च अहमपावृत पक्षद्वारक करोमि]  
(तथा करोति ।)

यत्नन्तेना—मम अभुववत्तिणिमित्त विभ अवाबुद पक्षदुआरअम् । ता जाय  
पवित्तामि । (दृष्ट्वा) हृद्धी हृद्धी । कथं पदीवो । [ममाभ्युपपत्तिनिमित्तमिवापावृतं  
पक्षद्वारकम् । तथावत्प्रविशामि । हा धिक्, हा धिक् । कथं प्रदीपः] (यत्नन्त  
निर्वाप्य प्रविष्टा ।)

पाक्षत्.—मैत्रेय किमेतत् ।

विदूषक.—अवाबुदपक्षदुआरएण पिण्डीमूदेण वादेण निध्याविरो पदीवो ।  
भोदि रदणिए, निवकम तुम पक्षदुआरएण । अहपि अम्मन्तरचदुस्तालावो पदीवं  
पञ्जासिअ आप्रच्छामि । [अपावृतपक्षद्वारेण पिण्डीभूतेन वातेन निर्वापितः  
प्रदीपः । भवति रदनिके, निष्क्राम त्व पक्षद्वारकेण अहमप्यम्यन्तरचतुः शातातः  
प्रदाप प्रज्वाल्यागच्छामि ।] [इति निष्क्रान्तः ।]

शकार.—भावे भावे अण्णेशामि यत्नन्तणेनिभम् । [भाव भाव, अन्वेषयामि  
यत्नन्तसेनिकाम् ।]

वित्.—अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकार.—(तथा इत्वा) भावे भावे, गहिदा गहिदा । [भाव भाव, गृहीता  
गृहीता] ।

वित्.—मूर्खं, मन्वहम् ।

शकार.—इरो दाव मपिअ एअन्ते भावे चिट्ठदु । (पुनरन्विष्य चेटं गृहीत्वा) ।  
भावे भावे, गहिदा, गहिदा (इतस्तावद्भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु । भाव भाव,  
गृहीता गृहीता) ।

अल्प वस्त्र वाला होने से लज्जा के कारण बड़े लोगों से दूर ही धूमता है। मानता है कि (मेरे विचार में) निर्घनता भी एक अन्य छटा महापाप है ॥३७॥

और भी—

हे शारिङ्ग, तुम्हारे विषय में (मैं) इस प्रकार दुःखी होता हूँ कि मेरे शरीर में मित्र के समान बास करके मुझ अभागे के शरीर त्याग देने (मर जाने) पर तुम कहाँ जाओगे ? मुझे यही चिन्ता है ॥३८॥

विदूषक—(तज्जापूर्वक) हे मित्र ! यदि मुझ जाना (ही) है तो यह रदनिका भी (बलि-सामग्री ले चलने में) मेरी सहायिका होव ।

शारदत्त—रदनिके, मैत्रेय का अनुगमन करो ।

रदनिका—जो कार्य आज्ञा देते हैं ।

विदूषक—हे रदनिके, बलि और दीपक को पकड़ो । मैं बगल के दरवाजे (दशद्वार) को खोलता हूँ (बँसा करता हूँ) ।

वसन्तसेना—माताँ मुझ पर अनुग्रह (= अम्भुपपत्ति) करने के लिये बगल का द्वार खुल गया है तो (जब तक) प्रवेग करती हूँ । (देखकर) हाय ! हाय ! ! क्या दीपक (जल रहा) है ? (वस्त्र के छोर से बुझाकर प्रविष्ट हो जाती है) ।

शारदत्त—मैत्रेय, यह क्या ?

विदूषक—बगल का द्वार खुलने के कारण एकत्रीभूत वायु (के सोके) ने दीपक बुझा दिया । हे रदनिके ! पञ्चद्वार से तुम बाहर चलो । मैं भी भीतरी षण्मुखात्ता से दीपक जला कर आ रहा हूँ । (निकल जाता है) ।

शकार—भाव, भाव वसन्तसेना को डूँडना है ।

विट—डूँडिये, डूँडिये ।

शकार—(बँसा करके) भाव, भाव, पकड़ लो, पकड़ लो ।

विट—सूनें ! (पह लो) मैं हूँ ।

शकार—तो आप (भाव) इधर होकर एकान्त में चढ़े रहे (फिर वूँडकर घेत को पकड़ कर) भाव, भाव पकड़ लो, पकड़ लो ।

महापातकम् अस्ति । मनुष्याः पञ्च महापातकानि उक्तानि "ब्रह्महत्याः सुरापानं, स्तेयं शूरापणम् । महान्नि पातकान्याहुः समग्रवाणि तं सह ।" तदतिरिक्तं शारिङ्गं पण्डं पातकम् इति भावः । उत्प्रेक्षातद्द्वारात् । शार्दूलविशोदितं वृत्तम् ॥३७॥

शारिङ्ग इति—हे शारिङ्ग, वसन्त एवं मोक्षार्थि यन् त्वन् अस्माकं शरीरे मुद्गद, इति 'अत्र मन मित्रमिति' बुद्ध्या उपदिष्टा वासं कृत्वा, अयुता च यमि मन्दभागे विद्वन्नेहे विद्वन्नेः देहः यस्य तस्मिन् विनष्टदेहे त्वं वद यमिष्यसि इति मन चिन्ता पक्षवि । अत्र 'शारिङ्गम्' इति तन्मन्त्रेण 'अस्माकम्' इति वृत्तिशून्य-निर्देशवित्पः । उत्प्रेक्षा वृत्तम् ॥३८॥

चेट — सटके, चेडे हगे । [भट्टाङ्क चेटोऽट्म]

शकार — इयो भावे, इयो चेडे । भावे, चेडे, चेडे भावे । तुम्हे दाव एअन्ते चिट्ठ । (पुनरन्विय रदनिरा वेशेषु गृहीत्वा ।) भावे भावे शब्द गहिद । गहिदा वसन्तसेनिभा ।

अन्धआले पलाअन्ती मल्लगन्धेण शूइदा ।

केशविन्दे पलामिट्टा चाणक्येणव्व दोवदी ॥३६॥

[इतो भाव, इतश्चेट । भावश्चेट, चेटो भाव । युवा तावदेकान्ते तिष्ठतम् । भाव भाव, साप्रत गृहीता वसन्तसेनिना ।]

[अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता ।

केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी ॥]

बिट —

एपासि वपसो दर्पात्कुलपुत्रानुसारिणी ।

केशेषु वुसुमाढयेपु सेवितव्येषु कपिता ॥४०॥

शकार —

एशाशि वाशु शिलशि ग्गहीदा वंशेषु बालेषु शिलोलुहेणु ।

अक्कोश विक्कोश लवाहिनण्ड शम्भु शकलमोशाल वा ॥४१॥

, एपासि वामु शिरास गृहाता वशेषु बानेषु शिरोरुहेपु ।

आक्कोश विक्कोश लपाधिचण्ड शम्भु शिव शङ्करमोश्वर वा ॥

रदनिका—(ममयम् ।) शि अञ्जमित्तेहि ववसिदम् । [किमार्येभिर्ध्वयव-

सितम् ।]

बिट — वाणलीमात, अन्य एवैप स्वरसंयोग ।

शकार — भावे भावे, जथा रहिशरपलिलुद्धाए मञ्जातिए शतपलिवत्ते होरि तथा दासीए धोए शलपलिवत्ते रुडे । [भाव भाव, यथा दाधिशरपरिलुब्धाया मार्जारिकाया स्वरपरिवृत्तिभवति, तथा दास्या पुत्र्या स्वरपरिवृत्ति कृता ।

बिट — कथ स्वरपरिवृत्त कृत । अहो चित्रम् । अथवा विमत्र चित्रम् ।

अपावृतम् उद्पाटितम् । अप्पुपपतिनिमित्तम् अनुग्रहायम् । अपावृत तव पक्षद्वार तेन निमित्तन । विण्डीमूतेन एवीभूतन ।

शकार कथयति—अन्धकारे इति अन्धकारे पलायमाना धावन्ती वसन्तसेना मात्मस्थ गन्धेन सूचिता चाणक्येन द्रौपदी इव केशवृन्दे पञ्जपाशे परामृष्टा गृहीता ।

चेट स्वामिन्, मैं तो देवक हूँ ।

शकार— इधर भाव (विट), इधर चेट । भाव-चेट, चेट-भाव, । तुम दोनों तो एकान्त में खड़े रहो । (घिरि हँडकर रदनिका को केशों से पकड़कर) भाव, भाव, अब बसन्तसेना पकड़ ली, पकड़ ली ।

अन्धकार में भगती हुई नाता की गण से मूर्खित बसन्तसेना मेरे ढाँट इस प्रकार केशों से पकड़ ली गई है, जैसे चाणक्य के द्वारा द्रौपदी ॥३६॥

विट - (मीवन) अवन्या के गर्व से कुलीन पुत्र (चारदल) का अनुगमन करने वाली मह (तुम) पुष्पकुल, सेवा (रक्षा) करने योग्य बानों से (पकड़कर) खींची जा रही हो ॥४०॥

शकार—हैं बाले, मह (तुम) सिर के बालों के (गिरोरह, सिर पर उत्पन्न होने वाले बालों के) ढाँट पकड़ ली गई हो अब बालों दो, चित्लाको, छन्मु, गिब, शकर या ईश्वर को पुकारो (हमें किसी से भय नहीं है) ॥४१॥

रदनिका—(भयपूर्वक) (आर) महाकुभावों ने (मह) क्या किया ?

विट—अरे कालेजो के पुत्र, मह स्वर तो दूबग सा (तपता) है ।

शकार—भाव, भाव, जिन प्रकार दही की मलाई की इच्छुक (सुगंध) बिल्ली के स्वर से परिवर्तन हो जाता है वगैरे प्रकार (इन) बालों की पुरी (नीच बसन्तसेना) ने स्वर से परिवर्तन कर लिया है ।

विट—क्या स्वर से परिवर्तन कर लिया ? अहो आश्चर्य है ! या इस (स्वर-परिवर्तन) से आश्चर्य ही क्या है ?

शकारवाक्यत्वाद् अन्वयस्योपना । अनुपुत्र वृत्तम् ॥३६॥

विटः कथमनि - एनेति । वपन मीवनावन्धाना बर्षान् कुलपुत्रानुमारिणी कुपुत्र चारदल अति वननगौरा एव वननवना स्व सेवित्त्येषु सेनामीक्षेणु कुनुमाह्मेणु पुष्पः मृच्छेणु अनह्मेणु इत्यर्थं केशेषु कविना बनाद् दृष्टोता अस्ति । अनुपुत्र वृत्तम् ॥४०॥

शकार वसन्तसेनानुद्दिश्य कथमनि - एवामीमि । हे वायु बाले एना वसन्तसेना स्व गिरति केशोदु बालेषु गिरोरहेणु पुरीना अमि । अधुना आशोक गानं देहि, विज्ञोता आदर कथमि अपना शम्भु गिब शङ्करम् ईश्वर वा प्रति अधिकच्छम् अनुपुत्रं सव दिवस कु । दृष्टवत्या वृत्तम् ॥४१॥

अस्ति-विश्वः मान्यः । अस्ति-विश्वम् आश्चर्यम् । इतिगार. इत्य. उगतिभाष. इति उद्योषट, तत्र परिवृत्तानाः सन्निवृत्तानाः ।



इय रङ्गप्रवेशेन कलाना चोपशिक्षया ।

वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरर्नपुण्यमाश्रिता ॥४२॥

(प्रविश्य ।)

विदूषक — ही ही भो, पदोपमन्दमारुदेण पशुबन्धोवणीदस्त विअ छागलस्त  
हिअअम् फुरफुराअदि पदीयो । (उपसृत्य रदनिका दृष्ट्वा ।) भो रदणिए । [आरचये  
भो प्रदोपमन्दमारुतेन पशुबन्धोपणीतस्येव छागलस्य हृदयम्, फुरफुरायते  
प्रदाप । भो रदनिके ।]

शकार — भावे भावे, मनुश्चो मनुश्चो । [भाव भाव मनुष्यो मनुष्य ।]

विदूषक — जुत णेदम्, सरिस, णेदम ज अजचारदत्तरा दत्तिददाए सपव  
परपुरिता गेह पविसन्ति । [युक्त नेदम् सदृश नेदम, यदायंचारुदत्तस्य दरिद्रया  
साप्रत परपुरिया गेह प्रविशन्ति ।]

रदनिका — अज निस्सेअ पेवल मे परिहवम् । [आय मंत्रेय, प्रक्षस्व मे  
परिभवम् ।]

विदूषक — किं तव परिहवी । आउ अग्हाणम् । [किं तव परिभव ।  
अथवास्माकम् ।]

रदनिका — ण तुम्हाण ज्जेव । [ननु युष्माकमेव ।]

विदूषकः — किं एसो बलवकारो । [किमेव बलात्कार ।]

रदनिका — अथ इ [अयं किम् ।]

विदूषक — सच्चम् । [सत्यम्]

रदनिका — सच्चम् । [सत्यम् ।]

विदूषक — (सत्रोध दण्डकाष्ठमुद्यम्य) मा दाप । भो, सके गेहे कुक्कुरो वि  
दाव घण्डो मोवि, कि उग अह बहणो । ता एदिणा अहारिसज्जणमाअघेअकुडितेण  
दण्डकट्टेण कुट्टरस विअ सुवत्थानवेषुअस्त मत्पअ दे पहारेहि कुट्टइस्तम् । [मा  
तावत् । भो., स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति किं पुनरहं ताहाण ।  
तदेतेनास्मादृशजनभागधेयकृटिलेन दण्डकाष्ठेन द्रष्टव्येव शश्ववेणकरय मस्तक  
ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि ।]

विट वसन्तेनाया स्वरर्नपुण्य हेतु दशमति-इयमिति । इय वसन्तेना रङ्गः  
नृत्यशास्त्रा तत्र प्रवेशेन कलाना समीतादीना च उपशिक्षया अभ्यासेन, वञ्चनाया  
लोकप्रतारणोया पण्डितत्वेन नैपुण्येन स्वरर्नपुण्य स्वरपरिवर्तनकीमलम् आश्रिता  
प्राप्तवती । समुञ्ज्यावद्धार (वाते) । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥४२॥

इम (वसन्तवेना) ने रङ्गशाला (नाट्यशाला) में प्रवेश तथा कलाओं की शिक्षा के द्वारा (दूसरों को) ठगने में कुशल हो जाने के कारण स्वर (परिवर्तन) में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥४२॥

(प्रवेश करके)

विदूषक—अरे आश्चर्य है ।

राशि के प्रथम पहर की धीमी-धीमी वायु में यूपकाष्ठ, वध्य पशु को दौड़ाने के छूटे) के ममीप ले जाये गये वक्त्र के हृदय के समान, दीपक काँप रहा है । (ममीप आकर रदनिका को देखकर) हे रदनिके ।

शकार—भाव, भाव, मनुष्य, मनुष्य ।

विदूषक—यह उचिन नहीं है, यह योग्य नहीं है कि आर्य चारदत्त की निर्धनता के कारण आजकन दूसरे लोग (उसके) पर में प्रवेश करते हैं ।

रदनिका—आर्य भंशेय ! मेरा अनादर (तु) देखो ।

विदूषक—बेया तुम्हारा अनादर अथवा हमारा ?

रदनिका—आप सबका ही ।

विदूषक—बेया यह बलात्कार ?

रदनिका—और क्या ?

विदूषक—सचमुच ।

रदनिका—सचमुच ।

विदूषक—(द्रोणपूर्वक लकड़ी का टण्डा उठाकर) ऐसा नहीं (होगा) । अरे ! अपने घर में तो कृत्ता भा बलवान् (शेर) होता है, फिर मैं ब्राह्मण तो क्या ?

अनः इम इमारे भाग्य जैम टेरे काठ के टण्डे से विवृत्त (दुष्ट) मूमे हुए बंस के समान तेरे मस्तक को प्रहारों के द्वारा कूट डालूंगा ।

पशुः वध्यन्ते अत्र इति पशुवध्यः यूपकाष्ठं तत्र उरनीतस्य प्रापितस्य । कृत्फुरास्ये अन्वत्तं प्रकम्पते । परिवधः निरस्कारः । चण्डः भीषणः बलीयान् वा अस्मादृशजनानां मादनानां जनानां भागधेयवन् प्राग्वयन् बुद्धिमेव व्रंशेत् । दुष्टस्य दोषशुक्तस्य विवृत्तस्य । सस्मानकः इति शकारस्य नाम । उपमर्दः निरस्कारः ।

शकारइतिमयमान दारिद्र्यपट्टेतुःशमिति मन्वानः भंशेयः कपयति—मेति । दुर्गतः दरिद्र इति एव मत्वा पश्चिमः निरस्कारः वा न कर्त्तव्यः यतः कृतान्तस्य

विट — महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय ।

विदूषक — (विट हृष्ट्वा) ण एत्थ एसो अवरज्जदि (सकार हृष्ट्वा), एसो ष्णु एत्थ अवरज्जदि । अरे रे राअसात्तअ सट्ठाअज दुज्जण दुग्गणुस्स, जुत्त गेवम् । णइ वि णाम तत्तभव अज्जवात्ततो दत्तिहो सवृत्तो ता कि तस्स गुणेहि ण अत्तकिवा उज्जहणी । जेण गेह पवित्तिअ परिअणस्स ईरित्तो उचमहो करीअदि ।

मा दुग्गदोत्ति परिहवो णत्थि वअत्तस्स दुग्गदो णाम ।

चारित्तण विहीणो अडदो वि अ दुग्गदो होइ ॥४३॥

[नात्र एषाऽपराध्यति । एष खल्वनापराध्यात् । अरे रे राजश्यालक सस्थानक दुजा दुमनुष्य, युवत नेदम् । यद्यपि नाम तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्र सवृत्त । तर्कित तस्य सुर्णनालिङ्कृतोऽब्रह्मिणी । येन तस्य गृह प्रविश्य परिज्ज-स्येदृश उपमर्दं क्रियत ।

मा दुग्गंत इति परिभयां नास्ति कृतान्नस्य दुग्गतां नाम ।

चारित्र्येण विहीन आहयोऽपि च दुग्गतो भवति ॥,

विट — (सर्वेनध्यम्) महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्वि-दमनुष्ठितम्, न ददाति । पश्य,

सकामान्विष्यतेऽस्माभि ।

विदूषक — कि इअम् । [किमियम्]

विट — शान्त पापम् ।

काचित्स्वाधीनयीवना ।

सा नष्टा शङ्कया तस्या प्राप्तेय शीलवञ्चना ॥४४॥

सर्वथा इदमनूनयसर्वस्व गृह्यताम् । (इति सङ्गमुगृह्य इताञ्जलि पादयो षतति ।)

ममराजस्य देवस्य वा समसो बुध्तिं निधेन नास्ति नात्थ इति समवादानायाम् अपि च प्रत्युत तस्य तु चारित्र्येण सदाचारेण विहीन आइय सगृहोऽपि बुध्तिं दरिद्र एव षति । दुर्दंशा वान्ति । गायो वृत्तम् ॥४३॥

विट—महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो ।

विदूषक—(विट को देखकर) यहाँ वह अपराध नहीं कर रहा है । (शंकर को बो देखकर) निश्चय ही यह अपराध कर रहा है । अरे, रे राजश्यालक (राजा के सारे) संस्थानक ! दुष्ट ! दुर्मनुष्य ! यह ठीक नहीं है । यद्यपि पूजनीय आर्यं चारुदत्त निर्घन हो गये हैं । तो (भी) क्या उनके गुणों से उज्जयिनी भूषित नहीं है ? जिससे उसके घर में पुत्रकर उसके सेवक का, इस प्रकार अपमान किया जा रहा है । 'दरिद्र है' यह जानकर अपमान मत करो, यमराज के (समक्ष) निर्घन (कोई) नहीं है और चरित्रहीन घनवान् भी दुर्दशा (दुर्गति) को प्राप्त होता है ॥४३॥

विट (लज्जापूर्वक) महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो । वास्तव में यह (रदनिका के केश पकड़ने का कार्य) हमारे व्यक्ति के मन्देह के कारण किया गया है, शर्म से नहीं । देखो—हमारे द्वारा (एक) कामासक्त (युवती) डूबी जा रही है ।

विदूषक—क्या यह (रदनिका) ?

विट—पाप घान्त हो ।

कोई अपने यौवन की स्वामिनी स्त्री । वह खो गई उसी की आशंका के कारण (रदनिका को पकड़ने से) यह शील की हानि हुई है ॥४४॥

(आप) सब प्रकार से मेरी इस विनती (मनोती) को स्वीकार कीजिए (ऐसा कहकर तलवार त्याग कर अञ्जलि बाँधकर पैरों पर गिर जाता है) ।

क्षमा याचमानः विटः वस्तुतस्तु वर्णपति—सकामेति । 'यस्मापि सकामा कामोत्सुका युवती अन्विष्टये विमिश्र रदनिकैव सकामा ? इति विदूषकस्य शङ्कायां सत्यां वक्ष्यति—वाचिन् स्वार्थीनयोवना स्वार्थीनं यौवन मन्थाः स्वैच्छया विहारिणी वेश्या इति यावत् । सकामा-स्वार्थीनयोवना—इति विशेषणभ्यां 'मा वेश्या' इति सूच्यते तथा च तस्याः पारण न दोषाय । सा पूर्वोक्ता युवती च नष्टा अदर्शनीया जाता तस्याः शङ्काया एव इयं शीतवञ्चना रदनिकापट्टपटा दुश्चरितसमावना प्राप्ता संजाता । नास्माकं शक्तिर्दोष इति भावः । पञ्चावकत्रं वृत्तम् ॥४४॥

अनुनयसर्वस्व अनुनयस्य आदरातिशयस्य अनुकूलिकरणाय सर्वस्वम् । उपासक्यः उपासक्यं श्रापितः अनुनयामि अनुकूलिकरोमि । ममयतः प्रपयत, समयः द्विधावच्छ्र- ('सतं' इति भाषायात्) ।

विदूषक — सप्पुरिस, उट्टेहि उट्टेहि । अभाणत्तेण मए तुम उयालद्धे । सपव  
जण जाणन्तो अणुणेमि । [सत्पुरुष, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । अजानता मया त्वमुपा-  
लब्ध । साम्प्रत पुनर्जानिन्ननुनयामि ।]

विट — ननु भवानेवात्रानुनेय । तदुत्तिष्ठामि समयत ।

विदूषक — भणानु भवम् [भणतु भवान् ।]

विट — यदीम वृत्तान्तमार्यचारदत्तस्य नाहयास्यसि ।

विदूषक — न कथइस्सम् । [न कथयि-यामि]

विट —

एष ते प्रणयो विप्र शिरसा धार्यते मया ।

गुणशस्त्रैवय येन शस्त्रवन्तोऽपि निजिता ॥४५॥

शकार — (साधुयम्) किनिमित्त उण भावे, एवशा दुष्टमनुभवा किविणअ-  
ञ्जलि कदुअ पाएशु णियद्धिदे । [किनिमित्त पुनर्भाव, एतस्य दुष्टवटुकस्य  
कृपणाञ्जलि कृत्वा पादयोनिपतित ।]

विट — भीतोऽस्मि ।

शकारः — कशा तुम भीदे । [कस्मात्त्व भीत. ]

विटः — तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्य ।

शकार — के तस्य गुणा जशा नेह पविशिन अशिवध्व वि णत्थि । [के तस्य  
गुणा यस्य गृहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति ।]

विट — मा भवम् ।

सोऽस्मद्विधाना प्रणये कृशीकृतो

न तेन वशिचद्विभवेविमानित ।

निदायकालेष्विव सोदको हृदो

नृणां स वृष्णामपनीय शूष्कवान् ॥४६॥

इममपराध चारुदत्ताय न कथयिष्यामि इति विदूषकवचनं निशम्य विटः  
विदूषकमभिनन्दयति—एष इति । हे विप्र एष ते प्रणय स्नेह मया विटेन शिरसा  
धार्यते तेन यस्मात् पारणात् (टि०) शस्त्रवन्त शस्त्रधारिणोऽपि यय गुणशस्त्रं गुणा-  
एव शस्त्राणि तैः (साधनभूतैः) निजिता । रूपबालद्वार । पय्यायवत्र वृत्तम् ॥४५॥  
कृपणाञ्जलि दीनाञ्जलिम् । अशितस्य गालम् ।

विदूषक—हे मज्जन, उठो, उठो, उठो, उठो, उठो तुम्हें बुरा कहा। इस समय तो (आपको निर्दोष) जानकर (आपको) विनती करता हूँ।

विट—यहाँ तो आपकी ही विनती करनी चाहिए। तो एक शर्त (समय) पर चयता हूँ।

विदूषक—कहिए भाप।

विट—यदि इस बात को आपके सामने नहीं बनावोगे।

विदूषक—नहीं बनाऊँगा।

106460

विट—हे ब्राह्मण (मंत्री), तुम्हारे इस अनुग्रह को मैं निरोधायं करता हूँ (अर्थात् आदर करता हूँ)। क्योंकि शत्रुगुण भी हम लोग गुणरूपी शस्त्रों के द्वारा जीत लिये गये हैं ॥४३॥

शकार—(ईर्ष्या के साथ) भाव, आप-दीनता से हाथ जोड़कर इस दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर क्यों फिर पड़े ?

विट—(मैं) डर गया हूँ।

शकार—तुम किन्ने डर गये हो ?

विट—उन चाण्डाल के गुणों से।

शकार—उसके क्या गुण हैं जिसके घर में घुसकर मारने को भी नहीं है।

विट—ऐसा नहीं,

वह (चाण्डाल) हम जैसे लोगों की (धन सम्बन्धिनी) पाषाणियों की स्वीकृति (अनुमति) के द्वारा शीघ्र (धनहीन) कर दिया गया है। सम्पत्ति के द्वारा उसने कोई अपमानित नहीं किया (अर्थात् धन सम्पन्न होते हुए भी वह विनम्र बना रहा)। मनुष्यों की (धनसम्बन्धिनी) प्यास मिटाकर वह गर्मों के समय में जड़युक्त तानाब के समान मूय गया है ॥४६॥

शकारमुसात् चाण्डालस्य उग्रहःम निशम्य विटः चाण्डालस्योदारता वर्णयति—  
 म इति । सः चाण्डालः आत्मद्वेषिताम् अस्नातमानां अन्वयैः प्रायणाभिः कृशोदितः  
 दरिद्र इतः तेन कश्चित् जनः विमर्षं धर्तुं न विमानितः न निरम्कृतः । निदापकालेषु  
 शीघ्रमनये सोदकं जनयुक्तं हृदं प्रयागर्ष इव मः, चाण्डालः नृणां जनानां कृपया  
 अभिवाया (अनुमतिं विनामान्) अपवोधं कृशोदितं मुष्कसात् शीघ्रं मवानः । उग्रहा-  
 लकृष्टः । उग्रहाति कृतम् ॥४६॥

शकारः—(सार्धम्) के शे गमसदासीए पुत्ते ?

शूले विक्कन्ते पाण्डवे शेटवेद्

पुत्ते लाघाए लावणे इन्ददत्ते ।

आहो बुन्तीए तेण लामेण जादे

अश्वत्थामे धम्मपुत्ते जटाउ ॥४७॥

[क स गर्भदास्या पुत्र ।

शूरो विक्रान्त पाण्डव श्वेतोतु पुत्रो राघाया. रावण इन्द्रदत्त ।

आहो बुन्त्या तेन रामेण जात अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायु ॥]

विट —मूर्ख, आर्यचारदत्त सत्वसो ।

दीनाना मल्पवृक्ष स्वगुणफलनत सज्जनाना कुटुम्बी

आदशं शिक्षिताना सुचरितनिष्ठम शीलवेलासमुद्र ।

सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिदक्षिणोदारसत्त्वो

ह्येक प्रलाप्य स जीवतमधिवगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्धे ॥४८॥

तदितो गच्छाम ।

शकारः—अग्निहृथ वशन्तशोनिअम् [अगृहीत्वा वसन्तसेनाम् ।]

विट —मष्टा वसन्तसेना ।

शकार —अथ विअ । [यथमिय ।]

विट —

अन्धस्य दृष्टिरिय पुष्टिरियातुरस्य

मूर्खस्य बुद्धिरिय सिद्धिर्गियालमस्य ।

स्वल्पस्मृत्यैर्यसनिन परमेव विद्या

त्वा प्राप्य सा रनिरिवारिजने प्रनष्टा ॥४९॥

विटस्य वचन श्रुत्वा शकार सत्रोद्य गृच्छति—शूर इति । कं सः विद्वान्त  
पराक्रमी शूर ? स किं पाण्डव पाण्डुपुत्र स्वेतवेतु अपवा इन्द्रेण प्रवत्त. राघाया  
पुत्र रावण ? आहो अपवा तेन प्रसिद्धेन रामेण बुन्त्या जात समुत्पन्न अश्वत्थामा  
अथवा धर्मस्य पुत्र जटायु ? इदं सार्धम् असम्बद्धार्थम् ॥४७॥

शकारमुक्त्वा चारुदत्तविषयकमुपालम्भ निगम्य विट चारुदत्तस्य गुणान्  
वर्णयति दीनानामिति । स चारुदत्तः दीनानां हृते स्वस्य आत्मन गुणा एव क्लानि  
संभूतः कश्चिन्मल्पवृक्ष, सज्जनानां कुटुम्बी अथु, शिक्षितानां शिक्षितजनानाम्

शकार—(रोषपूर्वक) कौन है वह जन्मदासी का पुत्र ।

धूरवीर पाण्डुपुत्र स्वतंत्रकेतु ? अथवा इन्द्र-प्रदत्त राधा का पुत्र रावण (है) या उक्त प्रसिद्ध राम से उत्पन्न कुन्ती का (पुत्र) अवस्थामा (है) अथवा धर्मपुत्र जटामु है ॥४७॥

वित्—मूर्ख, यह तो आर्य चारुदत्त है ।

जो दीन लोगों के लिये अपने गूणरूपी फलों से नम्र कल्पवृक्ष हैं- सत्पुरुषों के परिपालक (कुटुम्बी), शिक्षितों के आदर्श, सच्चरित की कसौटी, सदाचरण रूपी मर्यादा के (न लागने वाले) सागर, सत्कार करने वाले, किसी का बनादर न करने वाले, मनुष्योचित गुणों के आगार सरल तथा उदार स्वभाव वाले हैं, गुणों की प्रचुरता के कारण एक सराहनीय वही (आर्य चारुदत्त सच्चे अर्थों में) जीवित हैं दूसरे ल ग तो सिसकते ही हैं ॥४८॥

तो यहाँ से चलो ।

शकार—वसन्तसेना को लिये बिना ?

वित्—वसन्तसेना तो अदृश्य हो गई ।

शकार—कैसे !

वित्—अग्ने की दृष्टि के समान, रोगी के बल के समान, मूर्ख की बुद्धि की भाँति, आलसी की सक्रमता की भाँति, अल्पस्मृति वाले दुर्गुणासक्त की उत्तम विद्या के महान्, मन्त्रुओं में प्रेम के तुल्य तुम्हें प्राप्त करके वह सुप्त हो गई ॥४९॥

मदरां: आदर्शभूत., सुचरितानां निष्प. परीक्षणवाक्य: (कसौटी), शीतं सद्दत्त-  
मेव वेत्ता मर्यादा तस्या. समुद्र: यथा सागर. मर्यादा न सङ्घयति तथाप्यपि रुदाचित्  
शीतं न लङ्घयति इति भावः, सत्कर्ता सर्वेषां सत्कारकर्ता, न कस्यचिदपि अथमन्ता  
तिरस्वर्ता, पुरुषगुणानां उदारतादीनां निधिः, दक्षिणं सरलम् उदार महत् च  
सत्त्वं स्वभावो यस्य सः तादृग. । सः चारुदत्तः एकः केवलः हि सत्तु अधिकगुणतया  
अधिकं गुणा. यस्य स तस्य भावः तथा इतरातिशयिगुणवद्देन जीवति प्राणात्  
धारयति । अन्ये च जनाः उच्छ्वसन्ति इव केवल (धर्मभक्ता इव) उच्छ्वासं कुर्वन्ति  
न तु वस्तुजः जीवन्ति इति भावः । अत्र उल्लेखः, रूपकम्, उपमा, उत्प्रेक्षा घातद्वाराः ।  
सम्प्रादायतम् ॥४८॥

रूपमिव वसन्तसेना मदरांभीया जानेति शकारस्य प्रसन्नं निगम्य वित्ः  
रूपयति—अग्नेत्येति । सा वसन्तसेना एतां शकार प्राप्य अग्नयस्य दृष्टिः दान्त-  
शक्तिः इव, मातुरस्य व्याधिपीडितस्य पुष्टिः शारीरशक्तिः इव, मूर्खस्य बुद्धिः  
दिवारशक्तिः इव, अक्षयस्य सिद्धिः कार्यमकतता इव, स्वस्त्वां स्मृतिः यस्य तस्य  
अक्षयिनः आपतिशक्तस्य घृताहिम्सनामक्तस्य वा परमां उत्कृष्टा विद्या इव तथा  
अग्निने शङ्खने रतिः अनुराग इव प्रनष्टा मदगेनं गता । मानोऽमानक्याः ।  
वसन्तसेनाका वृत्तम् ॥४९॥



शकारः—ओष्णं वायुं नोदिअ प गमिष्याम् । [पृथीत्वा वत्तत्तेणं  
न गमिष्यामि ।]

विट्—एतदपि न क्षुत त्वया ।

बालानि गृह्यते हृत्ती वाजी बल्गानु-गृह्यते ।

हृदये गृह्यत नारी यदिद नास्ति गन्पताम् ॥५०॥

शकारः—यदि वच्छति, वच्छ तुमम् । ह्ये प गमिष्याम् । [यदि गच्छति,  
गच्छ त्वम् । अहं न गमिष्यामि ।]

विट्—एवम् । गच्छामि । (इति निष्क्रान्त) ।

शकारः—गडे ऋषु भावे अभावम् । (दिदृष्वनुदिश्य) अने काकपरासीरानमहा  
बुद्धबुद्धा, उवविता उवविश । [गत खनु भावोऽभावम् । अरे काकपरासीर्यन्तक  
दुष्टवटुक, उपविशोपविश ।]

विदूषकः—उववेसिदा ज्ञेय अहे । [उपवेनिता एव वयम् ।]

शकारः—केय । [केन ।]

विदूषकः—कअन्तेण । [कृतान्तेन ।]

शकारः—उट्ठेहि उट्ठेहि । [उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।]

विदूषकः—उट्ठिस्सामो । [उत्पास्यामः ।]

शकारः—कदा । [कदा ।]

विदूषकः—अदा पुणो वि देव अणुज्ज भविस्सहि । [यदा पुनरपि देवमन-  
कूल भविष्यति ।]

शकारः—अते, सोद सोद । [अरे, रुदिहि रुदिहि ।]

विदूषकः—रोदाविदा, ज्ञेय अहे । [रोदिता एव वयम् ।]

शकारः—केय । [केन ।]

विदूषकः—दुग्गदोए । [दुर्गत्या ।]

शकारः—अते, हा हा । [अरे, हस हस ।]

विदूषकः—हसिस्सामो । [हसिष्यामः ।]

शकारः—कदा । [कदा ।]

विदूषकः—पुणो वि ऋद्धोए अज्जचारदत्तस्स । [पुनरपि ऋद्धपामंचार-  
दत्तम् ।]

शकारः—अते बुद्धबुद्धा, भणेसि मम वमणेण त दसिद्वापुदत्तवम्—  
एसा शपुवण्णा शहिलण्णा णवभाइअदराणुट्ठिवा शुत्तघासि म् वसन्तोणा-  
णाप पणिमादातिआ कामदेवाअदणुग्जाणादो पट्टि तुम अणुत्ता, अहेहि

शकार—वसन्तसेना को दिना लिये नहीं जाऊँगा ।

विट—यह भी नहीं मुना तुमने—हाथी खम्बे (मे बांधने) से रोका जाता है ।  
घोड़ा गमग मे रोका जाता है, स्त्री हृदय से (प्रेम करने से) बंध में की जाती है,  
पाँद यह (हृदय) मे प्रेम) नहीं है तो जाइये ॥१०॥

शकार—यदि जाने हो तो तुम जाओ । मैं नहीं जाऊँगा ।

विट—अच्छा (ऐस ही), जाता हूँ (निकल जाता है) ।

शकार—भाव तो अभाव को प्राप्त हुए (चले गये) ॥ (विदूषक को लक्ष्य करके)  
अरे कीए के पजे के समान गिर वाले दुष्ट बटुक, बैठ जा, बैठ जा ।

विदूषक—हम तो बंटा ही रखते हैं ।

शकार—किमने ?

विदूषक—भाग्य ने ।

शकार—सडा हो खडा हो ।

विदूषक—उठगे ।

शकार—कब ?

विदूषक—जब फिर भी भाग्य अनुकूल होगा ।

शकार—अरे रोओ, रोओ ।

विदूषक—हम तो रना ही रखते हैं ।

शकार—किमने ?

विदूषक—दुर्दशा ने ।

शकार—अरे, हैस, हैस ।

विदूषक—हँसोगे ।

शकार—कब ?

विदूषक—पुनः आमं चारदत्त की समृद्धि से ।

शकार—अरे दुष्ट बटुक, मेरे बचन (मेरी ओर) से उस दष्टि चाहदत्त से  
बहना—“यह सुन्दर वर्णं (रंग) वाची सुवर्णं (के व्याभूषणों) से युक्त, नूतन नाटक के  
प्रदर्शन के लिए बट कर सड़ी हुई मुख्य नटी जैसी वसन्तसेना नाम की वेत्याभुत्री

आप्ताने इति । हस्तो आप्ताने बन्धनस्तुम्भे गृह्यते वशीक्रियते । वाचो वदकः  
वल्गामु सुगररत्नपु गृह्यते । नारो हृदये अनुरागपूर्णे मनसि दृह्यते । परि इदम् अनुताग-  
पूर्णे हृदये नास्ति तदा गम्यताम् । नाम स्थित्या कोऽपि लाभः इति भावः । पम्पावर्त्त-  
वृत्तम् ॥१०॥

अमाधन् अदर्शनम् । शारदद्वन्द्वं (कुटिलं पञ्चवधां विभक्तं वा) शीर्षं  
मन्त्रं च दम्प्य अत्रशतनुकमन्त्रः इत्यर्थः समुवर्णां शोभनवर्णमहिता, सहिरण्यां

यत्तद्वकालानुशीभ्रमाणा तुद् गेहं पविष्टा । ता जइ मम हृत्ये राअ उजेव पट्ठाधिअ एण  
साम्प्येसि, तवो अधिअत्तणे ववहाल विणा सहु णिज्जावमाणाह तव मए अणवट्ठा पोशे  
हविशशदि । आहु अणिज्जावमाणाह मसणन्तिके वेत्ते हविरशदि । अवि अ पेसस ।

कश्चालुका गोच्छडलित्तवेण्टा

शाके अ शुक्त्वे तलित्ते हु मणे ।

भत्ते अ हेमन्तिअलत्तिशिद्धे लीणे

अ वेत्ते ण हु होदि पूदी ॥५१॥

शोरतक भणेशि सहक भणेशि । तथा भणेशि अथा ह्ये अत्तणकेत्तिकाए  
पाशादवात्तम्कवोदयात्तिआए उवविट्ठे शुणामि । अण्णथा जदि भणेशि, ता  
कपालपविट्ठकवित्त्यगुडिअ विअ मरतअ . दे मडमडाइरराम् [अरे दुष्टवट्टक,  
भणिप्यसि मम वचनेन त दरिद्रचारुदत्तकम्—'एया समुवर्णा सहिरण्या  
नवनाटकदशानोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायत-  
नोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिवंलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।  
तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्येना समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहार विना  
लघु निर्यातयत्तव मयानुबद्ध प्रीतिर्भविष्यति । अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं  
वंर भविष्यति । अपि च प्रेक्षस्व—

कूप्याण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्क तलित खलु मांसम् ।

भवतं च हैमन्तिकत्तिसिद्ध लीनाया च वेलाया न खलु भवति पूति ॥

शोभन भणिप्यसि, लघुकं भणिप्यसि । तथा भणिप्यसि यथाहमात्मकीयाया  
प्रासादवालाप्रकपोतपालिकायामुपविष्टः शृणोमि । अन्यथा यदि भणसि,  
तदा कपाटप्रविष्टकपित्त्यमुलिकमिव मस्तक ते मडमडायिष्यामि ।]

विदूषकः—भणिस्तम् । [भणिप्यामि । ]

शकार.—(अपवाये) चेटे, गडे शच्चक उजेव भाये । चेट, गत. सत्यमेव  
भावः । ]

चेट—अथ । अथ विम् ।

शकार.—ता शिघ्र अवक्कमह् । [तच्छीघ्रमपक्रानाव. । ]

चेट—ता गेण्डु मट्टके अशिम् । [तद्गृह्णान्तु भट्टारकोऽसिम् । ]

शकार.—तव उजेव हृत्ये चिट्टु । [तव हस्ते तिष्ठतु । ]

सुवर्णभूषणैः युक्ता । नवनाटकस्य दर्शनाय प्रदर्शनाय उत्थिता उद्यता ।  
ब्रह्मस्कारेण अनुनीयमाना प्रसाद्यमाना । अधिकरणे न्यायालये । व्यवहारं विचारम्

जो कि कामदेवायतनोद्यान (मे जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बल पूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गई है। तो यदि स्वयं ही भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सोप देते हो तो न्यायालय में विवाद (मुकदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायेगा, अथवा न लौटाने पर मृत्युपर्यन्त शत्रुता हो जायेगी।”

और भी देखो—

गोबर से लिप्त इण्ठन वाला कुम्हड़ा (कुम्भाण्ड), सूखा हुआ शाक, तला हुआ मांस, हेमन्त (ऋतु) की रात्रि में बनाया हुआ भात, (अधिक) काल बीत जाने पर भी विहृत नहीं होते हैं ॥५२॥

भली प्रकार कहोगे, शीघ्र कहोगे, उस प्रकार कहोगे जिससे मे मत्तवारणी से चिह्नित (लक्षित) छत्रों की कपोतपालिका पर बैठा हुआ सुनता रहूँ। यदि ऐसे नहीं कहोगे, तो किवाड़ों के बीच में फँसे हुए कपिरथ (कंय) के गोले के समान तेरा मस्तक कुचल दूँगा (मरोड़ दूँगा)।

विदूषक—कह दूँगा।

शाकर—(अलग हटकर) चेट, सबमुच ही भाव (वित) चले गये ?

चेट—और क्या ?

शाकर—तो (हम दोनों) शीघ्र चलें।

चेट—तो स्वामी तलवार ग्रहण करें।

शाकर—तुम्हारे ही हाथ में रहे।

अभियोगं वा (अनेन ध्ववहारनाम्नी नवमाङ्कस्य सूचनमिति पृथ्वीषट्) सपु शोभं ।  
निर्मातपतः समर्पयतः । अनुबद्धा दृडाः ।

अप्रस्तुतप्रशसया शकार वचयति—कूष्माण्डीति । गोमयेन सिप्त वेष्टितं शून्त पस्या सा कूष्माण्डी, शुष्क च शाक, तलित घृतादिना संभूष्टं मांसं, हैमन्ति-कराप्रौ हेमन्तस्य रात्रौ सिद्ध पक्व च भक्तम् अन्न ('भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः) च बेलयां सीनायां काले व्यतीते सति पूति दुर्गन्धयुक्तं न भवति । समर्पणस्य च काला-तिपाते प्रीतिविच्छेदो भविष्यति अत्र अप्रस्तुतानां कूष्माण्डीदीना कालातिपातेऽपि दुर्गन्धतायाः अभाववर्णनात् प्रस्तुतस्य (वसन्तसेनायाः समर्पणाभावे) वैररूपदोषस्य प्रतीतिः—इति अप्रस्तुतप्रशंसा । उपजाति वृत्तम् ॥५१॥

प्रासादस्य बालाग्र मत्तवारणं (टि०) तेन उपलक्षितायां कपोतपालिकायां दृष्टोपरिभागे तत्र उपविष्टः भृगोमि । कपाटे प्रविष्टं सर्वं कपिरथगुप्तिकं कपिरथकतं, (संय द्वाि भाषायाम्) तदिव तव मन्तकं मद्मडादिव्यामि वृषं विप्यामि (टि०) ।

चेष्ट — एते मृष्टालके । नेष्टुदु ण मृष्टके अतिम् । [एष भट्टारक ।  
मृष्टालत्वेन भट्टारकोऽसिम् ।]

शकार — (विपरीत गृहीत्वा ।)

णिष्कवल्ल मूलकपेशिवर्ण स्वर्धेण धेत्तूण अ कोशशुप्तम् ।

कुक्केहि कुक्कीहि अ बुक्कअन्ते जघा शिलात्वे शलण पलामि ॥५२॥

[निर्वल्लक मूलकपेशिवर्ण स्वर्धेन गृहीत्वा च कोशशुप्तम् ।

कुक्कुरे कुक्कुरीभिश्च बुक्कयमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि ॥]

(परिब्रम्य निज्रान्ती)

विद्रूपक — भोदि रदणिण ण वधु दे अअ अवमानो तत्तभवदो चारु-  
दसस णिवेदइदग्दो । वोगच्चपीडिअसस मण्णे दिउणदरा पीडा हविस्तवि ।  
[भवति रदनिके, न खलु तस्यमपमानस्तत्रभवत्तश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्य ।  
दोग्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति ।]

रदनिका अज्ज मित्तेअ, रदणिजा वधु अह सजवधुही । [आय मैत्रेय,  
रदनिवा खल्वह रायतमुखी ।]

विद्रूपक — एव ण्णेवम् । [एवमिदम् ।]

चारुदत्त — (वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके, मारुताभिलाषो प्रदोषसमय-  
शीतार्तो रोहसेन । तत प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छाद-  
यन्म् । [इति प्रावारकं प्रयच्छति ।]

वसन्तसेना — (स्वगतम्) कथं परिअणोत्ति स अवणच्छदि । (प्रावारकं  
गृहीत्वा समाधाय च स्वगतं सस्पृहम्) अम्हहे, जादोकुमुमवासितदो प्रावारअो । अणुदासीण  
से जोश्वण पडिमासेदि । [वधु परिजन इति मामवगच्छति । आश्चयम्,  
जातोकुमुमवासित प्रावारकं । अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।]  
(अपवारित्वेन प्राकृणोति ।)

चारुदत्त — ननु रदनिके, रोहसेन गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्तसेना — (स्वगतम्) मन्दाभाडणी वधु अह तुम्हे अठमन्तरसस ।

[मन्दभागिनी खल्वह तवाम्भ्यन्तरस्य ।]

चारुदत्त — ननु रदनिके, प्रतिवचनमपि नास्ति । कष्टम् ।

अपवार्येति तस्य लक्षणं तूष्णं दपणं — 'तद्भूवदपवारि०म् । रहस्यं तु यदयस्य  
परावृत्त्यं प्रवृत्तम् ।'

शकार अस्मि गृहीत्वा स्वगमास्य वणनं करोति — निर्दलकसमिति । निर्गन्तं

चेष्टा यह (तलवार, स्वामी को है (अतएव) तलवार को स्वामी ग्रहण करें ।  
 शस्त्रार—(उल्टे पकड़कर) नग्न (कोशरहित) दशा में मूनी के छितके के  
 सहज (कुछ लाल) रंग वाली कोप (म्यान) में स्थित तलवार को कंधे पर रखकर में  
 कुत्ते और कुतियों के द्वारा भक्ति गये मियार के समान घर को जाता है ॥१२॥

(धूमकर निजत जाते हैं)

विदूषकः—अरी, रदनिका अपने इन जनादर को पूज्य चारदत्त से निवेदन  
 नहीं करना चाहिए । मैं समझता हूँ (यह दुःखद समाचार सुनकर) बुद्धि से पीड़ित  
 (आर्य चारदत्त) की पीडा दुगुनी हो जायेगी ।

रदनिका—आर्य मंत्रेण, मैं रदनिका मुख (जिह्वा) को संयम में रखने वाली हूँ ।

विदूषक—हां, (यह) ऐसा ही है ।

चारदत्त—(बालन्तसेना को लक्ष्य करके) हे रदनिके, वायु (सेवन) का इच्छुक  
 रोहमेन रात्रि के प्रथम पहर की ठण्ड से पीड़ित है । इसलिये इसे भीतर ले जाओ ।  
 इस उत्तरीय में इसे ढक दो । (उत्तरीय प्रदान करता है)

बालन्तसेना—(अपने आप) क्या (मून से) मुझे परिजन समझ रहे हैं । (उत्तरीय  
 ग्रहण करते और मूँ षकर अपने आप अभिनायात्रुंबक) आश्चर्य ! उत्तरीय जातो पुष्पों  
 से सुवासित है । इसका बौधन उदासीनता रहित (माभिवाप) प्रतीत होता है । (अल्प  
 हटकर अपने आप को ढक लेती है)

चारदत्त—अरी रदनिके रोहमेन को लेकर भीतर जाओ ।

बालन्तसेना—(अपने आप) मुझारे अन्तःपुर के (प्रवेश के) लिए मैं मन्द भाव  
 वाली हूँ—

चारदत्त—अरी रदनिके ! उत्तर भी नहीं, संद है

वस्त्रेण लक्षणया कौग. यस्य तं नानावस्त्रं मूनस्य पेशि. त्वक् तद्वर्णः इव वर्णः यस्य  
 तं (अग्नि) कोशमुत्पन्नं कोशस्थितं कृत्वा स्वर्ण्येन घृहीत्वा अहं तपैव शरणं गृहं श्रयामि  
 पञ्चाङ्गि यथा कुबहुतः कुबहुतीमिः च सुससमान भयं कृत्वा अनुसिपमागः शृयाता  
 शरणं शरणयोग्य स्थानं पञ्चति । उमानन्दारः । उत्रानिहृत्तम् ॥२५॥

संपन्नमुत्तो मयत्तं निपन्नित्तु पुनं यस्य (टि०) । मारताभिनायो वायुनेवनस्य  
 इच्छुकः । प्रबोधममयस्य शस्त्रैः प्रथमग्रहरस्य शीनेन आर्तः । रोहमेन चारदत्तस्य  
 पुनः । प्रवारणेन उत्तरीयस्य अनुदासीनम् औशमोन्वरहितं माधितापम् । अथवारि-  
 त्केन अथवापं पृथक् भूत्वा इति वा. ३३ । अथ्यन्तरस्य मन्दभाषितो अभाषितो इति  
 पाठान्तरम् अहं वीरशक्ति, अत्र पश्यः एते प्रवेशं नाहामि इति भावः ।

यदा तु भाग्यक्षयपीडिता दशा नर कृतान्तोपहिता प्रपद्यते ।  
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रता चिरानुरक्तोऽपि विरज्यत जन ॥५३॥'  
(रदनिकामुपसृत्य)

विदूषक — भो, इह सा रदनिवा । [ भो, इय सा रदनिवा । ]

धारदत्त — इय सा रदनिवा । इयमपरा का ।

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम धाससा ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) ण भूतिदा । [ननु दूषिता । ]

धारदत्त —

छादिना शरदध्रेण चन्द्रनेखेव दृश्यत ॥५४॥

अथवा, न युक्त परकलत्रदर्शनम् ।

विदूषक — भो, अल परकलत्रदशनशङ्काए । एसा वसन्तसेना कामदेवा-  
अदण्ज्जाणादो पद्दुदि भवन्तमणुरता । [भो, अल परकलत्रदशनशङ्कया एसा  
वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्ता । ]

धारदत्त — इय वसन्तसेना । (स्वगतम्)

यया मे जनित वाम क्षीणे विभवविस्तरे ।

क्रोध मुपुरुषस्येव स्वगाम्प्येव सीदति ॥५५॥

विदूषक — भो वअरस, एसो श्शु राअसालो भणति । [भो वयस्य, एष  
खलु राजश्यालो भणति । ]

धारदत्त — किम् ।

विदूषक — एसा समुवण्णा सहिलण्णा णयणाअदसण्ठिवा युत्तधासि  
व्व वसन्तसेना गाम गणिआदासिआ कामदेवाअदण्ज्जाणादो पद्दुदि सुम अणुत्ता  
अम्हेहि बलशकालाणुणीअमाणा तुह गेह पविट्ठा । [एसा समुवण्णा सहिरण्य  
नवनाटकदशनोत्थिता सूत्रधारोव वसन्तसेनानाम्नी गणिआदारिवा कामदेवायत-  
नोद्याना प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिवलाकारानुनीयमाना तव गेह प्रविष्टा । ]

धारदत्त स्वभयनस्य प्रतिवचन न प्राप्नोति तस्मात् क्षिन्त् सन् वप्यति—  
यदेति । यदा तु नर मानव कृतान्तेन देवेन उपहिता प्रापिता भाग्यक्षयेण विभवनाशेन  
शोभनकर्मनाशेन वा पीडिता वराम् अवस्थां प्रपद्यते प्राप्नोति तदा अस्य मित्राणि अपि  
अमित्रतां स्नेहरहित्य याति । विरेण अनुरक्त प्रीत अपि च जन विरज्यते विरत  
भवति । अत्रस्तुतप्रणसालद्वार । वशस्य वृत्तम् ॥५३॥

रदनिकापुद्गला अन्यथ वा मम वस्त्रेण अपवित्रीकृता ? इति धारदत्त विदूषकं  
पृच्छति-अविज्ञातेति । या अविज्ञाता यथायरूपेण अज्ञाता अत अवसक्तेन स्पृष्टेन

जब मनुष्य देव (इतान्त) द्वारा प्राप्त कराई गयी, भावनाश के कारण दलित (पीडित) दशा को प्राप्त हो जाता है, तब इस (निर्घन) के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं, दीर्घकाल से अनुराग करने वाला व्यक्ति भी विरक्त हो जाता है ॥१३॥

विदूषक—(रदनिका के पास जाकर) अरे ! यह वह रदनिका है ।

चारदत्त—यह वह रदनिका है । यह दूसरी कौन है ? जो अनजाने में स्पर्श किये हुए मेरे वस्त्र से दूषित हो गई ।

वसन्तसेना—(अपने आप) अपितु भूषित हो गई ।

चारदत्त—शरद् (शत्रु) के मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला के तुल्य दृष्टिगोचर होती है ॥१४॥

या पराई स्त्री का दर्शन करना उचित नहीं ।

विदूषक—अरे ! पराई स्त्री के दर्शन को शब्दा से बस (मत) करो । यह वसन्तसेना कामदेवापतनोद्यान (मे गमन) से लेकर तुल्य में अनुरक्त है ।

चारदत्त—यह वसन्तसेना है !—(अपने आप) धनराशि के क्षीण हो जाने पर त्रिस्तके द्वारा उत्पन्न की हुई मेरी कामवासना कायर मनुष्य के क्रोध की भाँति अपनी देह में ही विनष्ट हो जाती है ॥१५॥

विदूषक—हे मित्र ! यह राजशाल (घकार) कहला है—

चारदत्त—क्या ?

विदूषक—यह मुन्दर वर्ण (रंग) वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्तः नूतन नाटक के प्रदर्शन के निम्ने उठकर खड़ी हुई मुख्य नटी जैसी वसन्तसेना नाम की बेयाश, पुरी जो कि कामदेवापतनोद्यान (मे जान) से लेकर तुममें प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे घर प्रविष्ट हो गई है ।

अथवा अविज्ञात यथा तथा अवमितेन (काले) मम वापसा वस्त्रेण दूषिता परपुरय-  
धनवसनस्य स्पर्शनाद् इति भावः । या च शरदः प्रस्रवणं मेषेन द्यावित्ता आच्छादित्ता  
चन्द्रलेता चन्द्रकला इव दृश्यते । उपमानद्वारः । पम्पावकनं दृत्तम् ॥१४॥

अथ 'अन परकलत्रतद्दृश्या इत्यागम्य 'अये इय वसन्तसेना' इत्यन्तेन नायकोऽ-  
कारिकाया अर्थसम्पत्तेरवगमात् प्रथमं पताशास्थानम् (काले) ।

'इय वसन्तसेना' इति धृत्वा चारदत्तः मनसि चिन्तयति—यदेति । विमर्शविस्तरे  
धनराशौ क्षीणे विनष्टे सति यथा वसन्तसेनाया जनिवः उत्पादित-मे मम चारदत्तस्य  
कामः अभिलाषः साकल्याभावात् कुतुर्यस्य कुक्षितस्य जनस्य क्रोध इव स्वगात्रेषु स्वा-  
ङ्गेषु एव सौदरि मनसि । यथा निम्नेऽवगम्य पुरयस्य बोधोऽकिञ्चित्कृतः तथैव मम  
अभिलाषोऽपि निष्फलः जातः पताशाशाद् इति भावः । उपमानद्वारः । पम्पावकनं  
दृत्तम् ॥१५॥



वसन्तसेना—(स्वगतम्) बलवकालाणुणोअमाणोति अ सच्चम्, अलंविदस्मि  
एवाहं अवसरेहि । [बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलङ्कृतास्म्येतैरक्षः ।]

विदूषकः—ता जइ मम हृत्ये सअ उजेव पट्टाविअ एण समपेत्ति, तदो अदि-  
अलंगे ववहाल विणा सह णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पोदी हुविस्सदि ।  
अण्णधा मत्तण्णतिके वेत्ते हुविस्सदि । [तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैता  
समपयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहार विना लघु नियतियतस्तव मयानुबद्धा प्रीति-  
भविष्यति । अन्यथा मरणान्तिक वैर भविष्यति ।]

चारवत्त —(सावजम्) अजोऽसो । (स्वगतम्) अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या  
युवतिरियम् । तेन खलु तस्या वंलायाम् ।

प्रविण गृह्मिति प्रतोद्यमाना

न चलति भाग्यकृता दशामवेक्ष्य ।

पुरूपपरिचयेन च प्रगल्भ

न वदति यद्यपि भापते बहूनि ॥५६॥

वसन्तसेना—एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरज्जा अज्ज सीसेण  
पणमिअ पसादेमि । [एतेनानुचितभूमिवारोहणेनापराद्वार्यं शीर्षेण प्रणम्य  
प्रसादयामि ।]

विदूषकः—भो, दुवेवि तुम्हे सुख पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णो सीसेण  
सीस समाअया । अहं पि इमिणा करहज्जाणुसरित्तेण सीसेण दुवेवि तुम्हे पसादेमि ।  
[भो, द्वावपि मुवा सुख प्रणम्य कलमकेदारावन्वोन्य शीर्षेण शीर्षं समागतौ  
अहमप्यमुना करभज्जानुसहणेन शीर्षेण द्वावपि मुवा प्रसादयामि ।]  
(इत्युत्तिष्ठति)

चारवत्त—भवतु । तिष्ठतु प्रणयः ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) चटुरो मधुरो अ अअ उयण्णासो । ण जुत्त

अलङ्कृतास्मि 'तस्या अन्यत्र अभिलाषो नास्ति' इति 'बलात्कारानुनीयमाना'  
इत्यनेन शब्देन ध्यज्यते, अतः सा अनेन शब्देन अलङ्कृता । देवता इव उपस्थान देवतो-  
पस्थान तद्योग्या अथवा देवताया उपस्थान देवपूजा तद्योग्या देवतो पूज्येति भावः ।

चारवत्त रोहमनस्य अभ्यन्तरप्रवेशाभासमये प्रकटिता वसन्तसेनाया शालीनतां  
विचारयति-प्रविशेत् । गृहम् अभ्यन्तरं प्रविशेति प्रतोद्यमाना मया प्रेषमाणा भाग्यकृता

वसन्तसेना—'बलात् मनाई जाती हुई' यदि सत्य है तो मैं इन बखरों से भ्रमङ्कृत हो गई।

विदूषक—'तो यदि स्वयं भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में विवाद (भृकदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायेगा। अन्यथा मृत्युपर्यन्त शत्रुता ही जायेगी।

चारुदत्त—(अनादरपूर्वक) वह मूर्ख है। (अपने आप) भरे। यह कैसी देवता के तुल्य पूजा करने के योग्य युवती है। तभी तो उम समय—

(रोड़मेन को लेकर) 'घर में प्रवेश करो', इस प्रकार प्रेरित की गई भाग्यकृत दशा को देखकर (भीतर) नहीं गई। यद्यपि यह (गणिना है अतः) बहूत बोलने वाली है तथापि मेरे जैसे पुरुष की उपस्थिति में (टि०) धृष्टता से नहीं बोलती ॥२६॥

(प्रकट रूप में) हे वसन्तसेने, अज्ञान के कारण ठीक से न जानी गई तुम्हारे माय सेवक के समान व्यवहार करने में मैं अराधी हूँ अतः मैं आपकी सिर झुकाकर मनीनी करता हूँ।

वसन्तसेना—(पक्ष द्वार से प्रवेश आदि) अनुचित कार्य करने के कारण अपराधिनी मैं (वसन्तसेना) सिर से प्रणाम करके आर्य को प्रसन्न करती हूँ।

विदूषक—जरे! मुखपूर्वक प्रणाम करके आप दोनों, धान की दो स्फारियों के समान सिर से मिल गये। मैं भी ऊंट के दन्धे के घुटने जैसे इस सिर से आप दोनों को ही प्रसन्न करता हूँ।

(उठता है)

चारुदत्त—जाने दो। औपचारिकता (प्रणय) को रहने दो।

वसन्तसेना—(अपने आप) यह कथन (तिष्ठतु प्रणयः) चतुर और मधुर है।

दुर्देवकृता दशाम् अवस्थाम् अवेक्ष्य विचार्यं न क्षतति अभ्यन्तरं न गता। यद्यपि च इयं गणिना अत्र बहूनि क्षणते तथापि पुरुषपरिषयेन माह्वारय पुरुषस्य सङ्गेन सङ्ग प्राप्येति यावन् प्रणमं धृष्टं न वदति सज्जावशात्। विवादास्त्रदमस्य पदस्य श्लथयः (टि०) पुत्पिताशा वृत्तम् ॥२६॥

अविज्ञानात् अज्ञानात्। अपरिज्ञातायां त्वयि परिजनवत् सेवकवद् उपचारेण आज्ञाप्रदानादिव्यवहारेण अनुचितभूमिशारोहणम्, पक्षदारेण आवाप्त-  
प्रवेगादिभ्यः (पृ० १०)। अतमानां चालीनां वेदारी धोत्री समागनी करम-  
सृष्टिगिणुः तन्व जानु तत्तन्नेन। प्रणयः स्नेहः। उपन्यासः प्रयोगः प्रस्तावः।

भञ्ज एरितेण इष धाभवाए भए पडिबसिदुम् । भोडु । एष्व दाव भगिस्सम् ।  
 (प्रकाशम्) भञ्ज, जइ एष्वं अह अञ्जस्स अणुगेज्जा ता इच्छे अहं इमं  
 अलकारअ अञ्जस्य गेहे निक्षिखविदुम् । अलकारस्स निमित्त एदे पावा अनुसरन्ति ।  
 [चतुरो मधुरश्चायमुपन्यामु । न युक्तमद्येदृशेनेहागतया मया प्रतिवस्तुम् ।  
 भवतु एवं तावद्गणिधामि । आर्यं, यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छा-  
 म्यहमिममलङ्कारकमार्यम्य गेहे निक्षेप्तुम् । अलङ्कारस्य निमित्तमेते पावा  
 अनुसरन्ति ।

षारदत्त — अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम् ।

वसन्तसेना— अञ्ज, अलीकम् । पुरुषेषु न्यासा निक्षिखविअन्ति, ण उअ  
 नेहेसु । [आर्यं अलीकम् । पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु ।]

षारदत्त — मैत्रेय, गृह्यतामयमलङ्कार ।

वसन्तसेना— अणुगहोदह्नि [अनुगृहीतास्मि ।] (इत्यलङ्कारमप्यति ।)

विदूषक — (गृहीत्वा) सोत्थि भोडोए । [स्वस्ति भवत्ये ॥]

षारदत्त — धिङ् मूलं, न्यास सत्वयम् ।

विदूषक — (अपवार्यं) जइ एष्व ता चोरेहि हरिज्जउ । [यद्येव तदा  
 चोरेहियताम् ।]

षारदत्त — अचिरेणैव कालेन ।

विदूषकः— एतो से अह्माण विण्णातो । [एपोऽस्या अस्माकं विन्यास ॥

षारदत्त — निर्यातयिष्ये ।

वसन्तसेना— अञ्ज, इच्छे अहम् इमिणा अञ्जेण अणुगच्छिअज्जन्ती सक्कं नेह  
 गन्तुम् । [आर्यं, इच्छाम्यहमनेनार्येणनुगम्यमाना स्वकं गेह गन्तुम् ।]

षारदत्त — मैत्रेय, अनुगच्छ तत्र भवतीम् ।

विदूषकः— तुम उजेव एदं कलहंसगामिणी अणुगच्छन्तो-राअहसो विअ  
 सोहसि अह उअ बह्णो जहि जणेहि अजप्पहोवणीदो उवहारो कुक्कुरेहि विअ  
 सज्जमाणो विअजिज्जसम् । [त्वमेवैता कलहंसगामिनीमनुगच्छन्राजहंस इव  
 शोभसे । अहं पुनर्ग्राह्णो यत्र तत्र जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः कुक्कुरैरिव  
 खाद्यमानो विपत्स्ये ।

षारदत्त — एव भवतु । स्वयमेवानुगच्छामि तत्र भवतीम् । तद्राजमाणं-  
 विस्वासयोग्याः प्रज्ज्वाल्यन्ता प्रदीपिका ।

विदूषकः— अइदमाणअ, पञ्जासेहि पदोविआओ । [वर्धमानक, प्रज्ज्वालय  
 प्रदीपकान् ।]

चेटी— (जनान्तरम्) असे, सेत्तेण विणा पदोविआओ पञ्जालीअन्ति ।]  
 [अरे, तंलेन विना प्रदीपका- प्रज्ज्वाल्यन्ते ।]

इस प्रकार (बिना बुनाये) आईं मेरे द्वारा बाज (यहाँ) रहना उपयुक्त नहीं है । अन्धा ! तो इस प्रकार कहूँगी । (प्रफट रूप से) आर्य ! यदि इस प्रकार मैं आर्य के द्वारा अनुग्रहीत की जाती हूँ, तो मैं इस आभूषण को आर्य के घर में धरोहर रखना चाहती हूँ । आभूषण के निमित्त ये पापी मेरा पीछा कर रहे हैं ।

चारदत्त—यह घर धरोहर के योग्य नहीं है ।

वसन्तसेना—आर्य, झूठ है । पुरुषों पर धरोहर रखी जाती है, न कि घरों में ।

चारदत्त—मंत्रेय, यह आभूषण ले लो ।

वसन्तसेना—अनुग्रहीत हूँ ; (आभूषण दे देती है) ।

विद्रुपक—(लेकर) आपका कल्याण हो ।

चारदत्त—धिकार मूर्ख ! यह तो धरोहर है ।

विद्रुपक—(अनग हटकर) यदि ऐसा है तो चोरों के द्वारा मले ही यह (आभूषण) चुरा लिया जाय ।

चारदत्त—स्वल्प समय में ही.....

विद्रुपक—यह उसकी हमारे महा विशेष धरोहर है ।

चारदत्त—नोटा दूंगा ।

वसन्तसेना—आर्य मैं इस आर्य (मंत्रेय) के द्वारा अनुमरण की जाती हुई अपने घर जाना चाहती हूँ ।

चारदत्त—मंत्रेय ! आपका अनुगमन करो (साथ जाओ) ।

विद्रुपक—तुम ही इस कनक के समान (मुन्दर) गमन करने वाली (वसन्तसेना) का अनुगमन करने हुए राजहंस के समान शोभिन होने हो । फिर मैं (बेचारा) ब्राह्मण उग्रो प्रकार मारा जाऊँगा जिस प्रकार जहाँतहाँ चीराहं पर मनुष्यों द्वारा सार्द (चन्द्र) हुई अग्नि कुत्तो द्वारा खा ली जाती है ।

चारदत्त—ऐसा ही हो । स्वयं ही आपका अनुगमन करता हूँ । तो राजमार्ग में विश्वमनीय दीपकों को जलाओ ।

विद्रुपक—वर्धमानक दीपक जलाओ ।

छेटी—(धन्य में) अरे, तेन के बिना दीपक जलाये जाते हैं ?

ईदृशेन एतारसम्प्रेष, अग्रहीतमभोगोपकरणैः (पृथ्वी०) क्षीरैः हृद्यताम् इति मन्दिच्छेदनाम्पत्नीनाश्चुम्ब मूषनम् । तेन नृतीयं पनावास्यानकमुत्तम् (काले) । कनकम् इव कन्दर्पि तन्दीपा इति कनकमगामिनी ताम् । उपनीतः समन्वितः

विदूषक—(जनान्तिवम्) ही ताओ बलु अम्हाण पदोविआओ अयमानिद-  
निद्वणकामुआ विअ गणिआ निस्तिणेहाओ दाणि सवुत्ता । [आश्चर्यम्, ता  
सल्वस्माक प्रदीपिका अपमानितनिधनवामुवा इव गणिका नि स्नेहा इदानी  
सवृत्ताः ।]

चारदत्त—भंशेय, भवतु । पदीपिकाभि । पश्य ।

उदयति हि शशाङ्क वामिनीगण्डपाण्डु

ग्रहगणपरिवारा राजमागप्रदीप ।

तिमिरनिष्क्रमध्ये गममो यस्य गौरा

च्युतजल इव पङ्के क्षी घारा पतन्ति ॥५७॥

(सानुरागम्) भयति वसन्तसेना, इद भयत्या गृहम् । प्रविशतु भवती ।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता)

चारदत्त—उयस्य, गता वसन्तसेना । तदेहि । गृहमेव गच्छाव ।

राजमार्गो हि शून्योऽय रक्षिण सचरन्ति च ।

चञ्चना परिहृतव्या बहुदोषा हि शर्नरी ॥५८॥

(परिद्वम्) इद च मुवर्णभाण्ड रक्षितय्य त्वया रात्री, वर्धमानवेनापि दिवा ।

विदूषक—अथा भव आणवेदि । [यया भवानाज्ञापयति ।]

(इति निष्क्रान्ती)

इति मृच्छकटिकेजलद्वारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्क ।

विपत्तये मरिष्याभि विपत्तिप्रस्तौ वा भविष्यामि । अयमानित तिरस्कृत निर्धन-  
वामुव. यया सा, (निर्धनत्वदिव अपमानित ) नि स्नेहा तंनरहिता अनुरागरहिता च;  
स्नेहोऽनुराग तैल च । कृतम अलम् सम्प्रति प्रदीपिकानाम् आवश्यकता नास्ति, इति  
भाव ।

चारदत्त प्रदीपिकाना व्यर्थतामेव प्रकटयति—उदयतीति । हि यतः वामिन्याः  
गण्ड वपोल इव पाण्डु गौरवर्णं, ग्रहगण नक्षत्रसमूह एव परिवार यस्य तादृश  
राजमार्गस्य प्रदीप. शशाङ्क चन्द्र उदयति । यस्य चन्द्रस्य गौरा शुभ्रा, रश्मय  
किरणा स्रुत गत जल यस्मात् तादृशे पङ्के क्षीरस्य दुग्धस्य घारा इव तिमिरनि-  
करस्य अन्धकारसमूहस्य मध्ये पतन्ति । वामिनीगण्डपाण्डु इत्यत्र सुप्तोपमा । राज-  
मार्गप्रदीप इति रूपकम् । उत्तरार्धे च श्रीनो उपमा । मालिनी कृतम् ॥५७॥

विदूषकः—(अलग से) आश्चर्य ! वस्तुतः वे हमारी प्रदीपिकायें धनहीन कानुकों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के सदृश आजकल स्नेहहीन (वेर्या पक्ष में प्रेम-रहित, प्रदीपिका पक्ष में—तेल रहित) हो गई हैं ।

चारदत्त—मैत्रेय रहने दो । प्रदीपिकाओं की आवश्यकता नहीं है । देखो—

तल्पी के कपोल के समान गौरवर्ण, नक्षत्र ममुदाम रूपी परिवार वाला तथा राजमार्ग का दीपक चन्द्रमा उदित हो रहा है । अन्धकार-समूह के बीच में जिसकी उगड़न किरणें जल-रहित कीचड़ में दूध की धाराओं के समान पड़ रही हैं ॥१७॥

(प्रेमपूर्वक) वसन्तसेने, यह आपका घर है । आप प्रवेश करें । (वसन्तसेना प्रेमपूर्वक देखती हुई निकल जाती है ।

चारदत्त—मित्र, वसन्तसेना गयी, तो आओ । घर को ही चलो । यह राजमार्ग मूना है और रक्षक लोग (पहरेदार) घूम रहे हैं, ठगों (चोरी) से बचाना चाहिये (क्योंकि) रात्रि वास्तव में बड़ी दोषपूर्ण होती है ॥१८॥

(धूमकर) और इस स्वर्ण-भात्र (Jewel-case or golden casket R. P. Oliver) की तुझे रात्रि में और वर्धमानक को दिन में रक्षा करनी चाहिए ।

विदूषक—जैसी आप आज्ञा देने है ।

(निकल जाते हैं ।)

अनङ्कारन्याम नामक प्रथम अङ्क समाप्त ।

चारदत्तः विदूषकं प्रति कथयति—राजमार्ग इति । आवां गृहमेव गच्छावः द्वि यतः भयं राजमार्गः दूष्यः जनरहितः रक्षणः रक्षाः च सञ्चरन्ति इतस्ततः गच्छन्ति तथापि बञ्चना प्रतारणा (अनङ्कारहरणरूपा) परिहृत्या निवारणीया द्वि यतः सर्वरी रात्रिः बहुदोषा बहवः दोषा चोरादिहृत्वाः उपद्रवाः दस्यां तादृशी भवति । काव्यसिद्धम् अर्थात्न्यामरबालद्वारी । तयोः अङ्गाङ्गत्वेन सङ्घटः । पम्पावचनं वृत्तम् ॥१८॥

'इति समाप्तौ । अनङ्काराणां वसन्तसेनादूषणानां न्यातः निधेयः यस्मिन् वसितः तथाद्वृतः प्रथमः अङ्कः समाप्तः । अङ्कस्य नक्षत्रे तूष्णीं रूपे (दि०) ।

(१, १२-१६).

इति मृच्छकटिकप्रदीपिकायां प्रथमोऽङ्कः ।

## द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्य)

चेटी—अत्ताए अज्जआसआसं संदेसेण पेसिदम्हि । ता जाव पविताअ अज्ज-  
आसआसं गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एता अज्जआ हिअएण किपि आत्तिहन्तो  
विट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । [मात्रार्थामकाश संदेजेन प्रेषितास्मि । तद्या-  
वत्प्रविशयार्थसिकाशं गच्छामि । एपार्था हृदयेन किमप्यात्तिखन्ती तिष्ठति ।  
तद्यावदुपसार्पामि ।]

(ततः प्रविशत्यासनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे, तदो तदो । [चेटी ततस्तः]

चेटी—अज्जए ण किपि मन्तेसि । कि तदो तदो । [आर्ये, न किमपि मन्त्र-  
यसि किं ततस्ततः ।]

वसन्तसेना—कि मए भणितम् । [किं मया भणितम् ।]

चेटी—तदो तदो त्ति । [ततस्तत इति ।]

वसन्तसेना—(सभ्रूक्षेभम्) आं, एव्वम् । [आम् एवम् ।]

(उपमृत्य)

प्रथमा चेटी—अज्जए, अत्ता आदिसिदि—‘ण्हादा मविअ देवदानं पूअं णिण्वत्तेहि  
त्ति’ । [आर्ये, मातादिशति—‘स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्तय’ इति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, विण्णवेहि ‘अत्तम्—अज्ज ण ण्हाइस्सम् । ता चत्थणो व्जेम  
पूअं णिण्वत्तेदुत्ति । [चेटि, विज्ञापय मातरम्—‘अद्य न स्नास्यामि । तद्ब्राह्मण  
एव पूजां निर्वर्तयतु’ इति ।]

चेटी—अं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता) ।

मदनिका—अज्जए, सिण्णेहो पुच्छदि ण पुरोभाइदा, ता कि णेवम् । [आर्ये,  
स्नेहः पृच्छति, न पुरोभांगिता, तत्किं न्विदम् ।]

वसन्तसेना—मदणए, केरिंसि मं पेखत्ति । [मदनिके, कीदृशीं मां  
प्रेक्षसे ।]

मात्रा वसन्तसेनामात्रा । सन्देशेन सन्देशं दत्वा । आत्तिखन्ती चिन्तयन्ती  
उपसर्पामि समीपे गच्छामि । सोत्कण्ठा उत्कण्ठया सहिता । मन्त्रयसि वयसि । हञ्जे  
इति चेटीयम्बोधनम् । आं स्मरणार्थं एवम् अवययम् ।

## द्वितीय अङ्क

(प्रवेश करके)

चेटी—माता ने आर्या (वसन्तसेना) के पास सन्देश लेकर भेजी है। तो जब तक प्रवेश करके आर्या के समीप जाती हूँ। (धूमकर और देखकर) यह आर्या हृदय से कुछ विचार करती हुई बैठी है। तो जब तक उसके समीप चलती हूँ।

(इसके बाद आमन पर बैठो हुई उत्कण्ठित वसन्तसेना तथा मदनिका प्रविष्ट होती हैं)

वसन्तसेना—चेटी ! इसके बाद ?

चेटी—आर्य ! कुछ भी नहीं कह रही हो, 'इसके बाद' क्या ?

वसन्तसेना—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके बाद'।

वसन्तसेना—(हाँ चढ़ाकर)—हाँ, इसी प्रकार।

(समीप जाकर)

पहली चेटी—आर्य ! माता जी यह आज्ञा दे रही हैं कि 'स्नान करके देवताओं की पूजा को निबटा लो।'

वसन्तसेना—चेटी ! माता जी को यह सूचना दो कि आज नहीं गंहाऊँगी इसलिए बाह्यग ही पूजा को निबटा लें।

चेटी—ओ आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

मदनिका—आर्य ! दोषदृष्टि नहीं अपितु प्रेम पूजने को प्रेरित करता है कि यह क्या (बात) है ?

वसन्तसेना—मुझे कौमी देख रही हो ?

---

मदनिकानाम्नी चेटी पृच्छति—स्नेहः इत्यदि । स्नेहः पृच्छति स्नेहात् पृच्छामि । अथवा स्नेहो मा प्रष्टुं प्रेरयति । पुरोमागिता दोषदृशिता । 'कुतः तदेवञ्चो दद्या जाता' इति स्नेहवशात् पृच्छामि न तु दोषदृष्टेति भावः ।

परस्य हृदयग्रहणे चित्तवृत्तिमाने पश्चिता चतुरा । एव सत्तु भगवान् कामः श्रवणा (वसन्तसेनाया) अनुदहोतः (टि०) । पः कामः तस्मात्तस्य सुखवनांश्च मह्यम्



मदनिका—अञ्जाआए सुण्णहिअत्तणेण जाणामि हिअअगदं कवि अञ्जआ अहितसदि ति । [आर्याया शून्यहृदयत्वेन जानामि हृदयगतं कमप्यार्याभिलषतीति ।]

वसन्तसेना—सुठु तुए जाणिवम् । परहिअअगहणपण्डिआ मदणिआ षणु सुमम् । [सुष्ठु त्वया ज्ञातम् । परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम् ।]

मदनिका—पिअ मे पिअम् । कामो षणु णाम एसो अअवं अणगहिदो महसवो त्तरुणजनसस । ता कधेदु अञ्जआ, कि राआ राअवल्लहो वा सेवअदि । [प्रिय मे प्रियम् । काम खलु नामैप भगवान् अनुगृहीतो महोत्सवस्तरणजनस्य । तत्कथयत्वार्या, कि राजा राजवल्लभो वा सेव्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, रमिदुमिच्छामि ण सेविदुम् । [चेटि, रत्तुमिच्छामि, न सेवितुम् ।]

मदनिका—विज्जावित्तेसात्तंकिदो कि कोवि बहाणजुआ कामीअदि । [विद्या-विशेषालङ्कृतं किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ।]

वसन्तसेना—पूअणीओ मे बहणजनो । [पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः ।]

मदनिका—कि अणेअणअराहिगमणजणिदविहववित्थारो वाणिअजुआ वा कामीअदि ? [किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे उवाह्दत्तिणेहं पि पणइअणं परिच्छइअ देसन्तरगमणेअ वाणिअजणो महन्त विओअज दुख उत्पादेदि । [चेटि, उपाह्दस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महद्वियोगज दुःखमुत्पादयति ।]

मदनिका—अञ्जए, ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बहणो, ण वाणिअजणो । ता को वाणि सो अट्टिदारिए कामीअदि ? [आर्ये, न राजा, न राजवल्लभः, न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः । तत्क इदानीं स भर्तृदारिक्या काम्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे सुम मए मह कामदेवाअट्टणुज्जाणं गटा आसि । [चेटि, त्वं भया सह कामदेवापतनोद्यानं गतासीः ।]

मदनिका—अञ्जए, गदहि । [आर्ये गतास्मि ।]

वसन्तसेना—सह वि मं उदासीणा विअ पुच्छसि । [तथापि मामुदासीनवपृच्छसि ।]

मदनिका—जाणिवम् । कि सो ज्जेअ जेण अञ्जआ तरणाअदा अणुववण्णा । [ज्ञातम् । किं स एव येनार्या शरणागताम्युपपन्ना ।]

वसन्तसेना—किणामहेओ षणु सो ? [किं नामधेयः खलु सः ?]

मदनिका—आर्षा के शून्य हृदय के कारण यह जान रही है कि हृदयस्थ किसी (प्रेमी) को आर्षा चाहती है ?

वसन्तसेना—तुमने ठीक जाना । वस्तुतः तुम दूसरे के हृदय (की बातों) को ग्रहण करने में कुशल 'मदनिका' हो ।

मदनिका - मेरा बहुत प्रिय हुआ । सचमुच यह भगवान् कामदेव जो युवा पुरुषों का महोत्सव है आपके द्वारा अनुगृहीत हो गया है, तो आर्षा बतलाये कि क्या राजा या राजा का प्रिय नेविन किया जा रहा है ।

वसन्तसेना - बेटी ! रमण करने की इच्छा करती हूँ न कि (धन प्राप्ति की इच्छा में) मेवा करने की ।

मदनिका - क्या विजिष्ट विद्या में अलङ्कृत किमी ब्राह्मण युवक की कामना को जा रही है ?

वसन्तसेना—ब्राह्मण लोग तो मेरे पूज्य हैं ।

मदनिका - क्या अनेक नगरों में गमन में प्रचुर सम्पत्ति अर्जित करने वाले व्यापारी युवक की कामना को जा रही है ?

वसन्तसेना - हे बेटी ! व्यापारी पुरुष प्रवृद्ध प्रेम वाले प्रेमीजन को छोड़ कर विदेश चले जाने से महान् वियोग जनेत्र दुःख को उत्पन्न करता है ।

मदनिका—आर्षे ! न राजा, न राजपुरुष, न ब्राह्मण, न व्यापारी । तो कौन है वह जो अब स्वामिनी के द्वारा चाहा जा रहा है ।

वसन्तसेना—बेटी ! तुम मेरे साथ कामदेवामनन उद्यान में गई थी ।

मदनिका—आर्षे ! गई थी ।

वसन्तसेना—फिर भी अनजान के समान मुझ में पूछ रही हो ?

मदनिका—जान लिया । क्या वही जिनके शरण में आई हुई आर्षा को (शरण देना) स्वीकार किया था ।

वसन्तसेना—वह किम नाम वाला है (उसका क्या नाम है) ?

एवमि तया समानि क्विनाप्रतिनिविप्यति इति हृदि निषाद्य मदनिक्या द्विषं मे द्विरम्' एतुक्तम् । रन्तुं रमणं वर्तुम् कामोपभोगरमिना अस्मि न द्रव्यादिनीति भावः ।

विद्याविरोधं अलङ्कृत । पुत्रनीय, पूजनीयाः सन्तु न रमणयोग्या इति भावः । अनेकनगरेषु अभिषेकनेन व्यापारार्थं दानेन जनिवः विमशस्य सम्पत्तेः विस्तारः सेन हासनः वाणिज्यपुत्रा ।

मदनिका—सो षष्ठु सेदिठचत्तरे पडिवसदि । [स खलु थ्रेण्टिचत्तरे प्रतिवसति ।

वसन्तसेना—अद्द णाम से पुच्छिदासि । [अयि, नाम्मात्स्य पृष्ठासि ।]

मदनिका—सो षष्ठु अज्जए, सुगहीदणामहेओ अज्जचारुत्तो णाम । [स खलु आर्ये, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुत्तो नाम ।]

वसन्तसेना—(सहर्षम्) साहु मदणिए, साहु । सट्ठु तुए जाणिवम् । [साधु मदनिके, साधु । सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]

मदनिका—(स्वगतम्) एव्व दाव । (प्रकाशम्) अज्जए, दलिट्ठो षष्ठु सुणो, अवि । [एवं तावत् । आर्ये, दरिद्र खलु स श्रूयते ।]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव कामीअदि । दलिट्ठपुरिससकन्तमणा षष्ठु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि । [अत एव काम्यते । दरिद्रपुरुषसक्रान्तमना खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति ।]

मदनिका—अज्जए कि हीणकुसुम सहआरणादव महअरीओ उण सेवन्ति ? [आर्ये, कि हीनकुसुम सहवाराणादव मधुवय पुनः सेवन्ते ।]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव ताओ महअरीओ पुच्छन्ति । [अत एव ता मधुवयं उच्यन्ते ।]

मदनिका—अज्जए, जइ सो मणीसिदो ता कील दाणि सहसा ण अहिंसा-रीअदि ? [आर्ये, यदि रा मनीषितरतत्किमयंमिदानीं सत्सा नाभिसार्यते ?]

वसन्तसेना—हज्जे, सहसा अहिंसारीअन्तो वच्चुअआरदुग्ग्वलदाए, वा दाव, जणो दुल्लहदसणो पुणो भविससदि । [चेटि, सहसाभिसार्यमाण प्रत्युपकार-दुर्बलतया, मा तावत्, जनो दुर्लभदर्शनं पुनर्भविष्यति ।]

मदनिका—कि अदो ज्जेव सो अलज्जारओ तत्ता हत्थे निविसत्तो । [किमन एव सोऽनङ्कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ।]

वसन्तसेना—हज्जे, सट्ठु दे जाणिवम् । [चेटि, सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]  
(नपथ्ये)

अले भट्टा, वत्तसुयणसस सुट्ठु अदव्व पपत्तीणु पापत्तीणु । ता गेण्ह गेण्ह । चिट्ठ चिट्ठ । दूलात्पट्टो मि । [अरे भट्टारक, द्रशसुवर्णस्य रद्धो द्यूतंकर प्रपत्ता-पित प्रपत्तायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ । दृरात्रहृष्टोऽसि ।]

उत्तरात्त विदुः स्त्री-वत्स सपाभूतमपि प्रणापिजन प्रियजनम् । उदासीना मध्यम्या अपरिचितेव दूरवर्षे । शरणागता शरणं प्राप्ता । अम्बुपपन्ना स्वीकृता ।



मदनिका—वह सेठो के चौक में रहती है।  
 वसन्तसेना—अरी (मैं तो) उनके पास प्रपन्न रहो।

मदनिका—आर्ये ! वह सुन्दर नाम है। आर्ये चाण्डाल है।

वसन्तसेना—(प्रसन्ननासपूर्वक) बहुत अच्छी। बहुत अच्छी। तुमने ठीक (अच्छा) जाना।

मदनिका—(अपने आप) नो ऐसा है। (प्रकट रूप में) आर्ये ! ऐसा मुना जाना है कि वह निर्धन है।

वसन्तसेना—इसीलिए चाहा जाता है। निर्धन व्यक्ति में मन लगाने (प्रेम करने) वाली बेव्या नि मन्देह समार में निन्दनीय नहीं होती।

मदनिका—आर्ये ! क्या भ्रमरियां और (बुसुम) रहित आम के वृक्ष का भी सेवन करती है ?

वसन्तसेना—इसीलिए तो वे 'मधुवरियां' कही जाती है।

मदनिका—आर्ये ! यदि वह मनचाहा (वाञ्छित प्रेमी) है तो क्यों नहीं तुरन्त इसी समय अभिमार करती हो ?

वसन्तसेना—चेटी ! महमा अभिसरण किये जाने पर प्रत्युपकार करने में अग्रत होने के कारण, ऐसा न हो, कि फिर इस जन (आर्ये चाण्डाल) का दर्शन भी दुर्लभ हो जाये।

मदनिका—क्या इसीलिए वह आभूषण उसके हाथ में धरोहर रक्ता है।

वसन्तसेना—चेटी ! मुमने ठीक जाना।

(निपथ्य में)

हे स्वामी ! दम मुक्कं (उम समय का सोने का सिक्का—देखिए टिप्पणी) के लिए रोकता हुआ जुआरी भाग गया। तौ पकड़ो, पकड़ो ! ठहर, ठहर दूर से ही दित्तार्थ दे गया है।

मुमुक्षुर्लं दानृष्वेन शोभनं (श्रद्धया) गृहीत नामधेय नाम यस्य सः । इति पुरुषे सञ्जाल मत्तः मनः यस्याः तादृशी अवचनीया निन्दनीया न भवति यतो हिन घनाभिवायेन तस्या अनुरागी भवति किन्तु गुणानुरागेण । मद्यु कुर्यन्ति सेवने नत्ताः इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः । तस्मादेव ता मधुकर्यः कथ्यन्ते ।

मनोविनः अभिविनः । अमिमत्तने तं प्रयमिरणं त्रियते । महमा विन्वामो- एषाश्नान् प्राग् अभिवायेमाणः प्रत्युपकारे दुर्बलतया घनाभावात् मनोपकार क्तुंम् अममपंशया । दुर्बलदर्शनं । दुर्बल दर्शनं यस्य सः । अतएव नाह घनममितपामि अत्रि तु भाद्रुगानुरक्तंवेनि विगशायांशान्दनायेव ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण तत्रान्त )

सायाहकः—हीमान्हे । कष्टे एगो जूदिअलभावे ।

णवबन्धणमुक्काए विअ

गद्हीए हा ताडिहो म्हि गद्हीए ।

अङ्गलाअमुक्काए विअ शतीए

घडुक्की विअ घादिदो म्हि शतीए ॥१॥

लेखअवावडहिअअ शहिअ दट्टूण क्षत्ति पन्भट्टे

एण्ह मग्गणिवडिदो क णु वसु शरण पपञ्जे ॥२॥

ता जाव एवे शहिअजुविअला अण्णदो म अण्णेरान्ति, ताथ हस्के विप्पडीवेहं  
पादेहि एव शुण्णदेउल पविशअ देवी भविशम् । [आश्चर्यम् । कष्ट एव सूतकर-  
भावः ।]

नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।

अङ्गराजमुक्तयेव शक्त्या घटोत्कच इव धातितोऽस्मि शक्त्या ॥

लेखकव्यापृतहृदय सभिक दृष्ट्या शक्ति प्रभ्रष्टः ।

इदानीं मार्गनिपतितः क नु खलु शरण प्रपद्ये ॥

[तद्भावदेतो सभिकघूतकरावन्वतो भामन्विष्यत, तावदह विपरीताभ्या  
पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुल प्रविश्य देवीभविष्यामि । ] (बहुविध नाट्यं कृत्वा तथा  
स्थितः)

(ततः प्रविशति माथुरो सूतकरश्च)

माथुरः—अले मट्टा दशसुवण्णाहं सुद्धं जूदकक पपलीणु पपलीण । ता गेण्ह  
गेण्ह । घिट्ठ घिट्ठ । दूरात्प्रदृष्टोऽसि । अरे भट्टारक, दशसुवणंस्य रद्धो घूत-  
करः प्रपलायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ । दूरात्प्रदृष्टोऽसि ।]

घूतकरः—

जइ वज्जसि पादालं इन्द्र पालण च सपद जासि ।

सहिअं वज्जिअ एवक रद्धो वि ण रविखडुं तरइ ॥३॥

[यदि वज्जसि पातालमिन्द्रं शरण च साप्रतं यासि ।

सभिकं वज्जयित्वैक रद्धोऽपि न रक्षितुं तरति ॥]

दशसुवणंस्य दृते रद्धः । घूतकरस्य भाव घूतकरत्वं घूतक्रीडा इति भाव ।  
घूतक्रीडया सिन्न सवाहयं वपयति—नवेति । नवबन्धनात् मुक्तया गर्दभ्या

[बिना पर्दा गिरे घबराता हुआ प्रवेश करके]

सबाहक—आश्चर्य ! यह जुआरीपन भी कष्टदायक है—

हाय ! नवीन बन्धन से सुली हुई गर्दभी (गधी) के समान यदभी नामक पासे ने मुझे मार दिया । अङ्गराज (कर्ण) द्वारा छोड़ी हुई शक्ति से घटोत्कच के समान मैं भी शक्ति (जुए में कौडीयाँ की एक विशेष चाल) के द्वारा मारा गया ॥१॥

सभिक (छूत ज़ीड़ा कराने वाले) का लेख (छूतज़ीड़ा का लिखित विवरण) को खोर मन लगाये देखकर तुरन्त भागा । अब मार्ग पर आ पहुँचा हूँ, किस की शरण में जाऊँ ? ॥२॥

तो जब तक सभिक और जुआरी मुझे दूसरी ओर दूँडे तब तक मैं चले पंरों से इस सूने देव मन्दिर में घुसकर देवी हो जाऊँ । (बहुत प्रकार का अभिनय करके बैठा हो जाता है) ।

(इसके पंरघान् मायुर जुआरी के साथ प्रवेश करता है)

मायुर—अरे स्वामी, दम मुवर्ण के लिये रोका हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया । तो पकड़ो, पकड़ो । ठहरो, ठहरो । दूर से ही दिसाई दे गया है ।

जुआरी—बदि (अपनी रक्षा के लिये तुम) पातास में जाने हो या इन्द्र की शरण में चले जाने हो तो इस समय एकमात्र सभिक को छोड़कर शिव भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता ॥३॥

पशुविज्ञेयेण इव गर्दभ्या एतन्नामधेयया छूतवराटिकया ताडितः अस्मि । अङ्गराजेन कर्णेन मुक्तया शक्त्या अस्पविज्ञेयेण घटोत्कचः भीममेतमुन इव बहू शक्त्या एतन्नामधेयया छूतवराटिकया ताडितः अस्मि । उत्तरार्द्धे पूर्वार्द्धे चोपमानङ्कारः । तयोः समृष्टिः । चित्रजाति वृत्तम् ॥१॥

सेख्येति । सेखः सेखन तदेव सेखक स्वार्थे वन् (काले) । सेने ध्यापृत तत्परं हृदय यस्त तयामूनं सभिक दृत्तारक दृष्टया शक्तिं त्वरित प्रस्रष्टः अदमनं गतः पनापितो वा । इदानीं मार्गं राजमार्गं निपतित स्थितः कं नु सन्तु इति विमर्शं शरणं प्रथमे प्राप्नोमि । गाथा वृत्तम् ॥२॥

गुण्यं प्रतिमारहितम् । देवकुल देवमन्दिरम् ।

दृत्तकरः संबाहकमुद्दिश्य वधयति—यदीति । यदि त्व पातास प्रजति भ्राम-रसायं गच्छामि, सात्प्रतन्मु ददानोम् इन्द्र च शरणं यामि शरणार्थं गच्छामि । तयापि एक सभिक दृत्तकारक वर्जयित्वा त्यक्त्वा रटः अपि शिवः अरि स्वा रक्षितु न शक्यति शक्नोति । आयां वृत्तम् ॥३॥

मायुर.—

कहि कहि सुसहिअविप्पलम्भजा  
पलासि ते भअपलिवेविदङ्गभा ।

पदे पदे समविसाम खलन्तआ  
कल जसं अदिकसण कलेन्तआ ॥४॥

[कुत्र कुत्र सुमभिकविप्रलम्भक पलायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक ।  
पदे पदे समविषम स्खलन्कुल यशोऽतिकृष्ण कुर्वन् ॥]

घृतकर —(पदवी षीःय) एसो वज्जदि । इअ एणट्ठा पदवो । [एय वज्जति ।  
इय प्रणप्पा पदवो ।]

मायुर—(आलोक्य सवितम्भम्) अले, विप्पदोवु पादु । पडिमाघुण्णु देउतु  
(विचिन्त्य) घुत्तु अदकह विप्पदीवेहि पारेहि देउल पविट्ठो । [अरे, विप्रतीपो पादो ।  
प्रतिमाशून्य देवकुलम् । धूर्तो घृतकरो विप्रतीपाभ्या पादान्या देवकुल  
प्रविष्ट ।]

घृतकर —ता अणुत्तरेह । [ततोऽनुसराव ।]

मायुर—एव्व भोदु । [एव भवतु ।]

(उभो देवभुत्तप्रवेश निरूपयत । दृष्ट्वान्योऽप सजाप्य)

घृतकर—कध वट्ठमयो पडिमा । [कथ काष्ठमयी प्रतिमा ।]

मायुर—अले गह्व णह्व । शंलपडिमा । (इति बहुविधं चालमति । सजाप्य च)  
एव्व भोदु । एहि । जूव किलेह । [अरे, न खलु 'न खलु । शंलप्रतिमा । एव  
भवतु । एहि । घृतं क्रीडाव ।] (इति बहुविध घृत व्रीडति)

सबाहक—(घृतेच्छाविशारसवरण बहुविध इत्वा स्वगतम्) अले,

कत्ताशहे णिण्णाणअशश हसइ हडक मनुशशरा ।

ढवकाशहे ध्व णडाधिवरश पव्वभट्टलज्जश ॥५॥

सबाहकमुद्दिश्य मायुरः कथयति—कुत्रेति । रे मुत्तभिक्षरय ध्रेष्ठघृतवाररस्य  
विप्रलम्भक वज्जक, भयेन परिवेपितानि अङ्गानि यस्य तन्मयुद्धो भयवर्षितगात्र त्व  
पदे पदे समविषम स्यात् इत्यतन् (गमविषम यथा स्यात्तथा स्खलन् वा) इत्तं यत्तद्व

माधुर—अरे धेय्य सभिकर को ठगने वाले तथा भय से प्रकम्पित कल्लु वाले (संवाहक) अपने कुछ ली कौटिल को अत्यन्त कापी करता हुआ ऊँची-नीची भूमि पर लड़खड़ाता हुआ वहाँ भाग रहा है ॥४॥

जुआरी—(पैरों को देखकर) यह जा रहा है । यह मार्ग अदृश्य हो गया ।

माधुर—(अनुमानपूर्वक देखकर) अरे उच्छे पैर ! मूर्खगहित देवमन्दिर ! छूटें जुआरी उच्छे पैरों के देवमन्दिर में प्रविष्ट हो गया है ।

जुआरी—इतना पीछा करने हैं ।

माधुर—ऐना ही ही ।

(दोनों देवमन्दिर में प्रवेग करने का अभिनय करते हैं । देखकर और एक दूसरे को संकेत करते)

जुआरी—बया काठ की मूर्ति ?

माधुर—अरे नहीं नहीं । पत्थर की मूर्ति (है) । नाना प्रकार से उसे हिलाता है । (संकेत करते) । (ऐना ही करें) आज्ञा हुआ संकेत है । (नाना प्रकार से जुआ संकेत है) ।

संवाहक—(जुआ की इच्छा में उत्पन्न होने वाले विकारों (भावों) का नाना प्रकार में संवरण करके अपने जान)—अरे,

विन प्रकार छन्द राजन जाने राजा के हृदय को इच्छा (नामक बाध, पट्ट) का रज्जु हर लेता है उनी प्रकार बना (काइ, जुआ का एक विशेष चिह्न) अनर्हित भी (जुआरी) मनुष्य के मन को हर लेता है ॥५॥

मनिहृत्तम वन्दुभिर्नं कुर्वन् कुत्र कुत्र वन्मिन् न्ययने पचापने । रविना वृत्तम् ॥४॥

प्रनष्टा अङ्गना जाता, पदवी मार्ग, पदचिह्नमावात् तटाः पर मार्गों न दृश्यते इति भावः ।

माधुरदुर्गन्धो दुर्गन्धो दुष्टा संवाहक स्वयन्वति विचारयति—वसन्ति । कल्लु भागं मज्जक दुर्गन्धम तस्य तटाः ध्वनिविशेषः निर्वाचकस्य नास्ति नामकं धनं यस्य अस्य निर्धेयस्य हृदय तथा हृदि आत्तवति तथा उच्यते तटाः प्रकृत्यं राग्यं वन्दु कल्लुस्य असाधिमत्त हृदय हृदि । उच्यते तटाः । विदुसा वगम् ॥



जाणामि ण कीलिशश शुमेलुशिह्लपडणणिह जूअम् ।

तह वि ह्नु कोइलमहुले कत्ताशदे मण ह्लदि ॥६॥

[अरे, कत्ताशब्दो निर्माणकस्य हरति हृदय, मनुष्यस्य ।

ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य;॥]

[जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसनिभ द्यूतम् ।

तथापि खलु कोकिलमधुर कत्ताशब्दो मनोहरति ॥]

द्यूतकर — मम पाठे मम पाठे । [मम पाठे, मम पाठ]

माधुर — ण ह्नु मम पाठे, मम पाठे । [न खलु मम पाठ, मम पाठ ।]

सवाहक (अ यत् सहसोपमृत्य) ण म पाठे । [ननु मम पाठ ।]

द्यूतकर — लद्धे गोहे । [लब्ध पुरप ।]

माधुर — (गृहीत्वा) अले सुत्तदण्डा गृहीदोति । पअच्छ त दशमुवणम् ।

[अरे लुप्तदण्डक गृहीताऽसि । प्रयच्छ तद्दशमुवणम् ।]

सवाहक — अज्ज दइइशम् । [अथ दास्यामि ।]

माधुर — अहणा पअच्छ । [धुना प्रयच्छ ।]

सवाहक — दइइशम् । पसाव कलेहि । [दास्यामि । प्रसाद कुरु ।]

माधुर — अले ण सपव पअच्छ । [अर, ननु साप्रत प्रयच्छ ।]

सवाहक — शिलु पडदि । [शिर पतति ।] (इति भूमी पतति) ।

(उभो बहुविध ताडयत )

माधुर — एसु सुम ह्नु जूदिअरमण्डलीए बद्धोति । [एष त्व खलु द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि ।]

सवाहक — (उत्थाय सविपादम्) कथं जूदिअरमण्डलीए बद्धो ह्यि । । ही, एशे अहाणं जूदिअलाण भलद्धणीए शमए । ता कुदो दइइशम् । [वयं द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि । वष्टम्, एषाऽस्माकं द्यूतकराणामलद्धनीय समय । तस्मात् कृतो दास्यामि ।]

माधुर — अले, गण्डे कुत्तु कुत्तु । [अरे, गण्ड क्रियता क्रियताम् ।]

सवाहक — एध्व वलेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्ध ते देमि, अद्ध मे मुञ्चतु । [एव वरोमि अध ते ददामि, अध म मुञ्चतु ।]

द्यूतकर — एध्व भोदु । [एव भयतु]

सवाहक — (सभिवृत्तपश्य) अद्धश गण्डे वलेमि । अद्ध वि मे अज्जो मुञ्चतु [अधस्य गण्ड वरोमि । अधमवि म आर्यो मञ्चतु ।]

बान्ता है कि नुमेर (पर्वत) की चोटी में गिरने जैसे (दुःखदायी) जुए की वही बेचूंग, फिर भी कोयल के (मधुर स्वर) जैसा कत्ता का शब्द मन को हर ही लेता है ॥६॥

जुआरी—मेरा दांव, मेरा दांव ।

मायुर—नहीं । मेरा दांव है, मेरा दांव है ।

संवाहक—(दूसरी ओर से अचानक पास आकर) दांव तो मेरा है ।

जुआरी—(अनराधी) व्यक्ति मिल गया ।

मायुर—(पकड़ कर) अरे दण्ड न देने बाते, पकड़ लिये गये हो, तो वह इस मुकाम दो ।

संवाहक—आज दे दूंगा ।

मायुर—इसी समय दो ।

संवाहक—दे दूंगा, दना करो ।

मायुर—अरे, नहीं इसी समय दो ।

संवाहक—मिर चक्कर खा रहा है । (भूमि पर गिर पड़ता है) (दोनों नाता प्रकार से फोड़ने हैं) ।

मायुर—यह तुम जुआरियों की मग्दली के द्वारा निबद्ध हो ।

संवाहक—(विषादपूर्वक उठकर) क्या जुआरियों की मग्दली के द्वारा निबद्ध हो गया है । दुःख है, यह हम जुआरियों का न उल्लापन करते योग्य निधम (समय) है । इस लिये कहाँ से दूँ ।

मायुर—अरे, बापदा (गड) करो ।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ (जुआरी को छत्र) बाधा तुम्हें लिये देता है, बाधा मेरे लिये छोड़ दें ।

जुआरी—ऐसा ही हो ।

संवाहक—सभिक के पान जाकर आँधे का बापदा करता हूँ । आर्द्र, बाधा मेरे लिये छोड़ दें ।

जानामीनि—नुमेरोः शृङ्गात् पतनसनिमं पतनमहां कष्टहरं द्रुतं न धीक्षिष्यामि इत्यहं जानामि । तथापि कौकिलगच्छन् मधुरः कत्तागच्छः मम मनः हरति । वदमान्कृतं । विजुता वृत्तम् ॥६॥

मुक्तदण्डकः मुक्त दण्डः देन । प्रसारं दृशाम् ।

अनल्पकोयः मधुरस्वरितुम् अनीम्यः । समयः निधमः क्षापारः । पकड़ः पकड़ः । वदन्तुव हाँ हैना ।

मायुरः—को दोसु । एष्वं मोदु । [दोष । एवं भवतु ।]

सबाहकः—(प्रवाशम्) अज्ज, अडे तुए मुक्के । [आर्यं, अर्घं त्वया मुक्तम् ।]

मायुर—मुक्के [मुक्तम् ।]

संवाहकः—(घृतकर प्रति) अडे तुए वि मुक्के । [अर्घं त्वायापि मुक्तम् ।]

घृतकर—मुक्के । [मुक्तम् ।]

सबाहकः—सपद गमिश्शम् । [साप्रतं गमिष्यामि ।]

मायुर—पअच्छ त दशसुवण्णम् फंहि गच्छति । [प्रयच्छ तं दशसुवर्णम् ।

कुत्र गच्छसि ?]

सबाहक—पेवल्ल पेरल्ल भट्टालभा । हा, सपद ज्जेव एक्काह अडे गरे कडे, अवत्ताह अडे मुक्के । तहवि म अबल सपद ज्जेव मग्गदि । प्रेक्षध्व प्रेक्षध्वा भट्टारया । हा, साप्रतमेव एवस्याधे गण्ड कृतः, अपरार्धं मुक्तं । तथापि मामबल साप्रतमेव याचते ।]

मायुर—(श्रीत्वा) घत्तु मायुर अह निज्जुं । एष्वं तुए ण अह धुत्तिज्जापि । सा पअच्छ त लुत्तदण्डभा, सव्व सुवण्णं सपदम । [धूर्तं, मायुरोऽहं निपुणः । अथ त्वया नाह धूर्तंयामि, तत्प्रयच्छ त लुप्तदण्डक, सर्वं सुवर्णं साम्प्रतम् ।]

सबाहक—कुदो दइश्शम् । [कुतो दास्यामि ।]

मायुर—पितरं विविक्कणिज्ज पअच्छ । [पितरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

संवाहकः—कुदो मे पिवा । [कुतो मे पिता ।]

मायुर—मातरं विविक्कणिज्ज पअच्छ । [मातरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

सबाहकः—कुदो मे मादा । [कुतो मे माता ।]

मायुर—अत्ताणं विविक्कणिज्ज पअच्छ । [आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ ।]

सबाहक—कलेध पशादम् । णेध म साज्जाणम् । [कुरत प्रसादम् । नयत मां राजमार्गम् ।]

मायुर.—पत्तव । [प्रसर ।]

साम्प्रतं गमिष्यामि उभाभ्यां राशिरेव मुक्त इति मुक्तदेयत्वात् यामि इति कृते । (पृथी०) । अबलं निर्बलम् । धूर्तंयामि धूर्तरमं करोमि ।

आकाशे दृष्ट्वा एषा हि आकाशभाषित नाम नाट्योक्तिः । तस्याः सप्तमं सूक्तं दर्शने—

किं श्रुवीयीति यन्नाट्ये बिना पात्रं प्रमुञ्चते ।

ध्रुवेष्वानुवामप्यर्षं तत् स्पाशकागभाषितम् ॥

मायुर—क्या बुराई है ? ऐसा ही हो ।

संवाहक—(पकट रूप में) आये, आधा तुमने छोड़ दिया ।

मायुर—छोड़ दिया ।

संवाहक—(जुआरी के प्रति) आधा तुमने भी छोड़ दिया ।

जुआरी—छोड़ दिया ।

संवाहक—अब जाऊँ ।

मायुर—वह दम सुवर्ण दो, वहाँ जाने हो ?

संवाहक—राजकीय पुम्पो ! देखिये, देखिये । हाय अभी तो एक से आधे का वापदा किया है, दूमरे ने भी आधा छोड़ दिया है । फिर भी मुझ निर्बल से इसी समय माँगता है ।

मायुर—(पकड़ कर) घूत, मैं कुशल मायुर हूँ । यहाँ मैं घूतता नहीं कर रहा हूँ, तो दण्डन देने वाले, वह सभी सोना इसी समय दो ।

संवाहक—कहाँ से दू ?

मायुर—पिता को बेचकर पों ।

संवाहक—मेरे पिता वहाँ है ?

मायुर—माता को बेचकर दो ।

संवाहक—मेरी माता कहाँ हैं ।

मायुर—अपने को बेचकर दो ।

संवाहक—कृपा कीजिये । मुझे राजमार्ग पर ले चलिये ।

मायुर—चलो ।

कर्मकरः भृत्यः अवधीयं उपेक्ष्य । विघटिते नष्टे सति । एष एतादृशावस्यो वतं सम्प्राप्तः ।

दंडुरकः क्षुत्तस्य प्रशमां करोति—न गणपतोति । क्षुत्तहि नाम नृपतिः इयं क्षुत्तश्चिदपि कस्यादपि परामस्य निरसकार न गणपति, नृपः स्वमामस्यैव क्षुत्तं च क्षुत्तदराणां मातापमानयोः अविगणनात् । निगम्य भयंजनात् घनः क्षुत्तं हरति क्षुत्तमिति इति च क्षुत्ते तु विचितात्, पन क्षुत्तने जेने च दीपने राजार्थं प्रजाप्यः वलि

संवाहक — एषं भोदु (परिज्जामति) अज्जा, विकण्ठ म इमरा शहिअरा हत्यादो वशेहि शुयण्णकेहि । (दृष्ट्वा आवाशे) किं भणाथ 'किं वसइशसि' इति । गेहे वे कम्मइले हुविशसाम् । कथम् अदइअ पडिअअणं गदे । भोदु एवम् इम अण्णं भणाइशसम् । (पुनस्तदेव पठति) कथम् । एशे यि म अवपीलिअ गदे । हा, अज्जघालुवत्तस्स विहवे यिहइडे एशे वइठामि मन्दभाए । [एव भवतु । आर्या, क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्तादृशभि सुवणंके । किं भणत 'किं करिप्यसि' इति । गेहे ते वमंरुगे भविष्यामि । कथम् अदत्त्वा प्रतिवचनं गत । भवत्वेवम् । इममन्य भणिष्यामि । कथम् एपोअपि मामवधीर्यं गतः । हा, आयंचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्ते मन्दभाग्य ।]

मायुर — ण देहि । [ननु देहि ।]

संवाहक — कुदो दइशसम् । [कुतो दास्यामि ।] (इति पठति)

(मायुर वपंति)

संवाहक — अज्जा, पत्तिअअथ पत्तिअअथ । [आर्या, परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।

(सत प्रविशति पटुंरक )

पटुंरकः — भो घत्तं हि नाम पुरपस्यासिहासनं राज्यम् ।

न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्षंजातम् ।

नृपतिरिव निवाममायदर्शो विभववता समुपास्मते जनेन ॥७॥

अपि च —

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव ।

दत्तं भुवत्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥८॥

अपि च —

श्रेणाहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोपितशरीर ।

नदितदशितमार्गं कटेन विनिपातितो यामि ॥९॥

हरति वमंचारिभ्यश्च ददाति । निकामम् अत्यन्तम् आप्य घनागमं वसंयति इति समानमुभयोः पशयोः । इदं च द्यूतं राजा इव विभववता ऐश्वर्यं पुत्रेण अपि जनेन समुपास्मते सेष्यते । अतः द्यूतं हि सिंहासनरहितं राज्यमेव । पूर्णोपमा । पुष्पिताप्रा वृत्तम् ॥७॥

द्रव्यमिति (मया दर्दुरवेण) द्यूतेन एव द्रव्यं द्यूतेन एव दारा लब्ध्या मित्रं च लब्धम्, द्यूतेन एव दत्तं दानादिव द्यूतं, भुवत्तं गुलादिभोगं द्यूतं, द्यूतेन एव सर्वं द्यूतादिव नष्टं हरितम् । विषमालङ्कारः । त्रिचुन्माला वृत्तम् ॥८॥

संवाहक—ऐसा ही हो । (धूमता है) भद्रपुरियों ! इस सभिक (वृत्तकारक) के हाथ से मुझे दस मुदणों से खरीद लीजिए । (आकाश की ओर देखकर) क्या यह कहते हो "क्या करोगे ?" तुम्हारे घर में नीकर हो जाऊँगा । क्यों ? उत्तर दिये बिना ही चला गया ? अच्छा रहने दो । इस दूसरे (व्यक्ति) से कहूँगा । (फिर वही पढ़ता है) क्यों ? वह भी मेरी उपाशा करके चला गया ? हाथ आर्यचारुदत्त की सम्पत्ति के क्षीय हो जाने पर मैं अभाग्य इस दशा में हो गया हूँ ।

माधुर—दो न !

संवाहक—कहाँ से दूँ ? (गिर जाता है)

(माधुर खीचता है)

संवाहक—भद्रपुरियों, रक्षा करो, रक्षा करो ।

(इसके पश्चात् ददुरक प्रवेश करता है)

ददुरक—अरे, जुआ भी मनुष्य का बिना सिंहासन का राज्य है ।

(जुआ) अपमान होने को नहीं गिनता है (चिन्ता नहीं करता है), कहीं से (धन) हर लेता है और (जीतने वाले को) निरन्तर धनराशि देता रहता है । राजा के सदृश अत्यन्त लाभ दिलाने वाला (जुआ) सम्पत्तिशास्त्री पुरुष के द्वारा सेवन किया जाता है ॥७॥

और भी—

मैंने वृत्त द्वारा ही धन प्राप्त किया, स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किए; जुए से ही (किसी को दानादि) दिया और खाया तथा जुए से ही सब कुछ नष्ट कर दिया ॥८॥

और भी—

प्रेता ('तीया' नामक एक विशेष दौब) के द्वारा सर्वस्व गँवा देने वाला, पावर ('दूआ' नामक दौब-विशेष) से शुष्क शरीर वाला, नर्दित ('नक्का' नामक विशेष दौब) के द्वारा (धर का) रास्ता दिखाया जाने वाला, कट ('पूरा' नामक दौब विशेष) के द्वारा मारा हुआ, मैं जाता हूँ ॥९॥

प्रेतेति । प्रेतयां 'तीया' इति प्रसिद्धेन वृत्तविशेषेण हृतं सर्वस्वं यस्य सः, पावरस्य 'दूआ' इति प्रसिद्धस्य पतनाद् च शोषितं शरीरं यस्य तत्परभूतः, नर्दितेन 'नान्दो' (नक्का) इति प्रसिद्धेन ब्रह्मिणः मार्गः पलायन-मार्गः यस्मिं तादृशः, कटेन 'पूरा' इति प्रसिद्धेन च विनिपातितः सर्वथा भ्रष्टः अहं ददुरकः यामि गच्छामि । 'पावरः पूरा, कटो दूआ' इति केषिद् (पृथ्वी०) ॥९॥

(अप्रतोऽबलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको मायुर इत एवाभिवर्तते । भवतु ।  
अपक्रमितुं न शक्यते । तदवगुण्ठयाम्यात्मानम् (बहुविध नाट्यं कृत्वा स्थितः ।  
उत्तरीय निरीक्ष्य ।)

अयं पटः सूत्रदरिद्रता गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः ।

अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः सवृत एव शोभते ॥१०॥

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति । यो हि

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भ्रूतले ।

तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः ॥११॥

मायुर—दापय दापय । [दापय दापय ।]

सवाहकः—कुदो दइरशम् । [कुतो दास्यामि ।]

(मायुर वपति)

ददुरक—अये, किमेतदप्रतः । (आकाशे) किं भवानाह—'अयं दूनकर-  
सभिकेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति ।' इति । नन्वयं ददुरो मोचयति ।  
(उपमृत्यु) अन्तरमन्तरम् । (दृष्ट्वा) अये, कयं मायुरो धूर्तः । अयमपि तपस्वी  
सवाहकः ।

यं स्तब्धं दिवसन्तमानतशिरा<sup>१</sup>नास्ते समुल्लम्बितौ ।

यस्योदघर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ॥

स्वकीयं जीर्णमुत्तरीयं दृष्ट्वा ददुरकं वपयति—अयमिति । अयं पटः सूत्राणां  
तन्तूनां दरिद्रतां क्षीणतां गतः प्रान्तः । अयं पटः छिद्रशतैः शतसंख्याकैः छिद्रैः अलङ्कृतः  
मुक्तः । अयं पटः प्रावरितुं परिघातुं न शक्यते हि निश्चितम् अयं पटः सवृतं वेष्टितं  
एव शोभते । वशस्य वृत्तम् ॥१०॥

तपस्वी—वराकः, धुद्रः इति यावत् ।

ददुरकः मायुरस्य भीषणतां दृष्ट्वा स्वकीयां माहृष्णुतां विचारयति—यो  
होति । यं अहम् एकेन पादेन गगने आकाशे द्वितीयेन च भ्रूतले उत्लम्बितं ऊर्ध्वं  
सम्बितशरीरैः सन् तावत् तिष्ठामि<sup>१</sup> यावत् बाल भास्करः सूर्यं तिष्ठति अस्तं न  
गच्छति । एतादृशस्य मम मायुराद् भयं नास्तीति भावः । पृथ्वावपन्नं वृत्तम् ॥११॥

खलीक्रियते भस्मन्ते । अन्तरमन्तरम् इति जनसमर्पे प्रवेगाय अवकाशप्रार्थना  
(पृष्ठो०) ।

ददुरे हि नाम महाकृष्टसाध्यं, यत्र सवाहनसदृशं जन-भनेशं न सोदुरं शक्नोति  
तस्य ददुरेन हि प्रयोजनमित्याशयेन ददुरक आह—य इति । यः समुल्लम्बितः आनत-

(सामने देखकर) यह हमारा भूतपूर्व सभिक (जुआ कराने वाला) मापुर् इधर आ रहा है। वस्तु, भाग तो जा नहीं सकता। तो अपने को देखता है। अनेक का अभिनय करके खड़ा हो जाता है (उत्तरीय को देखकर)

यह वस्त्र धारण की दरिद्रता (सीपता अथवा नाश को प्राप्त हो गया है), यह (तो मैकड़ो छिद्रो से शोभित है (अर्थात् अन्यन्त जीर्ण-शीर्ण है), यह वस्त्र (शरीर) ढक नहीं सकता है, नास्तव में यह वस्त्र लिपटा हुआ (सकून) ही अच्छा लगता है ॥१०॥

यह बेचारा (मापुर्) क्या करेगा ? जो (मैं) —

एक पैर से आकाश में और दूसरे से पृथ्वी पर, सभी तक लटका हुआ ठहर गया है जब तक मूर्ख रहता है अर्थात् भारे दिन इतने कष्टप्रद कार्य को भी करता है, मापुर् बेचारा तो इसमें कठिन क्या दण्ड देगा ॥११॥

मापुर्—दिलामो, दिलामो ।

संवाहक—कहाँ से तू ?

(मापुर् लीचता है)

दुर्बुरक—भरे, यह सामने क्या है ? (आकाश की ओर) क्या यह कहा आपने कि 'यह जुआ' कराने वाले (सभिक) के द्वारा मस्तिष्क (अपमानित किया जा रहा है), कोई नहीं छुड़ाना है। लो यह दुर्बुरक छुड़ाना है। (समीप जाकर) मार्ग छोड़िये। (दिशकर) भरे, क्या धूर्न मापुर् ? यह भी बेचारा संवाहक—

जो (मेरे समान) दिन के अन्त तक नीचे मिर करके (और ऊपर पैर करके) चुनचुन लटका हुआ नहीं रह सकता, धर्षण करने वाले देवों के द्वारा जिसकी पीठ पर बिह्व (किंग जनमाया में घट्टा, चोट का निशान) नहीं पड़ा और जिसका यह

गिराः दिवसान्तं स्वर्गं न आस्ते, मत्स्य पृष्ठे बद्धपंक्तोप्यर्कैः अपि सदा किणः न वलः । पत्स्य च एतद् जहान्तरं कुक्कुरैः अहः अहः न चप्यंते, तस्य अत्यायतकीमतस्य मयत्तं दूतप्रकङ्क्षेन निम् ? इत्यन्वयः ।

य जनः बह्मिन्व संपुत्सम्बितः ऊर्ध्वं लम्बमानः आनतगिराः आनतं गिरौ मत्स्य तादृगः (अथ गिराः कृत्वा ऊर्ध्वं च पादौ विधाय इत्यर्थः) दिवसान्तं मूर्धास्तं पयव् स्तव्यं निरखलं न आस्ते न स्थानुं मनोति । मत्स्य च पृष्ठे उद्भूयन्ते एभिः इति उद्भूयन्तानि तानि च लोप्यकानि तैः सदा किणः शुल्कवणः न जातः । पत्स्य च एतद् दुरोदीति जहान्तरं जहान्तरमागः कुक्कुरैः अहः अहः प्रतिदिनं न चप्यंते न काञ्चने । तस्य तादृगस्य अत्यायतरथ अतिदीर्घः च भवती कोमतरथ तस्य मत्स्य



यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तर च०पंतै ।

तस्यात्यायतकोमलस्य सतत द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥१२॥

भवतु, माधुर तावत्सान्त्वयामि (उपगम्य) माधुर अभिवादेयै ।

(माधुर प्रत्यभिवादिष्यते)

ददुरक — किमेतत ।

माधुर — अह दशसुवर्णं घातेदि । [अय दशसुवर्णं धारयति ।]

ददुरक — ननु कल्यवर्तमेतत ।

माधुर — (ददुरकस्य वक्षतललुण्ठीवृत पटमाकृष्य) भट्टा, पश्चात् परगत । जञ्जरपटम्पावुवो अयं पुनिसो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणादि । [भर्तारि, पश्यत पश्यत । जञ्जरपटप्रावृत्तोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणति ।]

ददुरक — अरे मूर्खं नन्वहं दशसुवर्णाङ्कितवरणेन प्रयच्छामि । तत्किं यस्यास्ति घनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति । अरे,

दुर्वर्णोऽसि दिनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।

पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥१३॥

माधुर — भट्टा, तुए दशसुवर्णं कल्यवत्सु । मए एमु विहृष्टु । [भर्त, तव दशसुवर्णं कल्यवर्तं । मर्मप विभव ।]

ददुरक — यद्येवम्, श्रूयता तर्हि । अन्यास्तावद्दशसुवर्णानिस्यैव प्रयच्छ । अयमपि द्यूतं शीलयतु ।

माधुरः — तत्किं मोदु । [तत्किं भवतु ।]

ददुरक — यदि लेप्यति तदा दास्यति ।

माधुर — अहं नं जिणादि । [अयं न जयति ।]

ददुरक — तदा न दास्यति ।

माधुरः — अहं नं जुक्तं जल्पिदुम् । एष्यं अवसन्तो तुम पयच्छ द्यूतमा । अहं पि नाम माधुर द्यूतं अहं मिथ्या अदसप्राप्ति । अण्यस्मि वि अहं नं विभेमि । द्यूता, खण्डिभ्रुतोऽसि तुमम् । [अयं न युक्तं जल्पितुम् । एवमावकाशस्त्वं प्रयच्छ द्यूतं । अहमपि नाम माधुरो द्यूतं द्यूतं मिथ्या दर्शयामि । अन्यास्मादप्यहं न विभेमि । द्यूतं, खण्डितवृत्तोऽसि त्वम् ।

सवाहस्य सतत निरन्तर द्यूतप्रसङ्गेन द्यूतव्यापारेण किं प्रयोजनम् । न किमपीति भावः । मादूर्कत्वविशीलित द्यूतम् ॥१३॥

कल्यवर्तं प्रातर्भोजनम् । तद्वद स्वल्पमिति भावः ।

बंया का भीतरी भाग कुत्तों क द्वारा प्रतिदिन नहीं चबाया जाता, उस तन्त्रे शरीर काने तथा कोमल (गुवाहक) को निरन्तर छूतकार्य से बचा प्रयोजन ॥१२॥

बसु, तब तक मायुर को साम्बना देता है । (समीग जाकर) मायुर, प्रणाम करता है ।  
(मायुर प्रणाम का उत्तर देता है)

दुर्दुरक—यह क्या है ?

मायुर—यह दस सुवर्ण लिये हुए है ।

दुर्दुरक—यह तो कमेवे जैसा (तुच्छ घन) है ।

मायुर—(दुर्दुरक की बगल में दबाये हुए कपडे को खींचकर) प्रभुगण, देविए गीए, जीपं-जीपं वस्त्र में ढका हुआ यह व्यक्ति दस सुवर्ण को कलेवा मात्र बता रहा है ।

दुर्दुरक—अरे मूर्ख, मैं तो दस सुवर्ण को बायदे के द्वारा ('बट' फेंककर) दे साठा हूँ । तो क्या जिसके पास घन होता है वह गोद में (रख) करके दिखताता है ? अरे—(तुम) वर्णापम (नीच) हो भ्रष्ट हो । दस सुवर्ण के कारण पाँच इन्द्रियों में पुक्त पर्य तुम्हारे द्वारा मारा जा रहा है ॥१३॥

मायुर—महाराज, दस सुवर्ण तुम्हारे लिए कलेवा (तुच्छ) हैं । यह (दस) सुवर्ण ही मेरी तो सम्पत्ति है ।

दुर्दुरक—यदि ऐसा है, तो सुनो, इसको दस सुवर्ण ही और दो । यह भी बुझा नते ।

मायुर—तो क्या होगा ?

दुर्दुरक—यदि जीत जायेगा तो दे देया ।

मायुर—यदि नहीं जीतना है ?

दुर्दुरक—तब नहीं देगा ।

मायुर—और प्रलाप (बकवास) करना उचित नहीं है । रे धूर्त, ऐसा कहते हो, तो तुम्हीं दे दो । मैं भी तो धूर्त मायुर हूँ, जुए का मिथ्या प्रदर्शन करता हूँ । हमरे से भी नहीं डरता है । वृत्त, तुम चरित्रहीन हो ।

कञ्जले सुग्रीहलां वेष्टितं गोपित वा । भट्टा इति आदरमूचकं सम्बोधनम् ।  
कञ्जरेपट्टमातृनः जीर्णवस्त्रसंकृतः । कटकरणेन पूरापतनेन इतिकारणे, सामयिकप्रतिज्ञायाः  
करणेन इत्यन्वे ।

दुर्दुरक. मायुरं प्रति कथयति—दुर्बर्णः इति । हे मायुर, त्वं दुर्बर्णः दुष्टः बर्णः  
वस्त्र वर्णापमः नीच. इत्यर्थः अस्ति, विनष्टः (बुराचरणात्) भ्रष्टः अस्ति । मद् स्वया  
मायुरेण दासवर्णास्य कारणात् पञ्चेन्द्रियं. नेत्रादिभिः ममायुक्त नरः मनुष्यः व्यापादते  
इत्येते । काव्यलिङ्गमचक्षुः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१३॥

दुर्दरक — अरे, क खण्डितवृत्त ।

मायुर तुम ह खण्डितवृत्तो । [ त्व खलु खण्डितवृत्त । ]

दुर्दरक — पिता ते खण्डितवृत्त (सवाहवस्यापन्नमितु सज्ञा ददाति)

मायुर — गोसावित्रापुत्रा, एवञ्च अनेव नूद तुए सेविदम् । [वेश्यापुत्र, एवमेव द्यूत त्वया सेवितम् ।]

दुर्दरक — मयैव द्यूतमासेवितम् ।

मायुर — अने सवाहृत्, पञ्चस्रं त दशगुवणम् । [अरे सवाहृत्, प्रयच्छ तद्दशगुवणम् ।]

सवाहृत् — अञ्ज ददशम् दश ददशम् । [अद्य दास्यामि । तावदास्यामि ।]  
(मायुर वपंति)

दुर्दरक — मूर्ख, परोक्षे खलीकतुं शक्यते, न ममाग्रत खलीकतुंम् ।

(मायुर. सवाहृत्माहृद्य घोणायां मुष्टिप्रहार ददाति । सवाहृत् सशोणित मूर्च्छां नाटयन् भूमौ पतति । दुर्दरक उपमृत्यान्तरयति । मायुरो दुर्दरक ताडयति । दुर्दरको विप्रतीप ताडयति ।)

मायुर — अने कुट्ट द्विष्णासिआपुत्रम्, फलपि पाविहसि । [अरे अरे दुष्ट पु श्वलीपुत्रक, फलमपि प्राप्स्यसि ।]

दुर्दरक — अरे मूर्ख अह त्वया मागंगत एव ताडित । त्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि ।

मायुर — एमु पेक्षितसम् । [एय प्रेक्षिये ।]

दुर्दरक — काय द्रक्ष्यसि ।

मायुर — (प्रसापं वधुयी) एव्य पेक्षितसम् । [एवं प्रेक्षिये, ।]

(दुर्दरको मायुरस्य पासुना पशुयी पूरयित्वा सवाहवस्यापन्नमितु सज्ञा ददाति । मायुरोऽक्षिणी निष्टह्य भूमौ पतति । सवाहृकोऽपन्नमति ।)

भावभाण वचनम् । अहमपि.....न विभेमि इत्यस्य—'अहमेवाग्य निभय' प्रतारयामि न तु मामग्य' इत्यर्थे इति पृथ्वीघर । 'अहमपि नाम मायुरो द्यूतो द्यूतो निष्याऽऽवशंयागीति वापुः । पणमप्रतिपातित त्यजन् हि द्यूतमेव वितथयति । नाहमेव द्यूतस्य प्यपदेग दूपयामीत्यर्थ' । नेद धनस्पृहया पीडन नि तहि द्यूतधर्मरक्षार्थमिति भाव — इति श्रीनिवासाचार्य' (कालेमहोदयेन उद्घृतम्) खण्डितवृत्त खण्डित वृत्त परम स परित्रहीन इत्यर्थे । अपक्रान्तु पलायितुम् ।

दुर्दुरक—अरे, कौन है चरित्रहीन !

मायुर—मुम्ही चरित्रहीन हो ।

दुर्दुरक—तेरा पिता चरित्रहीन है । (संवाहक को भागने के निचे मञ्च देना है)

मायुर—बेस्वामिन्, तुमने ऐसे ही जुआ खेना है ।

दुर्दुरक—मैंने ऐसे ही जुआ खेना है ।

मायुर—अरे संवाहक, वह दम सुवर्ण दो ।

संवाहक—आज दे दूंगा । तब तक दे दूंगा ।

(मायुर खींचता है)

दुर्दुरक—मूर्ख, (मेरे) पीछे अवमानित कर सकते हो, मेरे आगे अवमानित नहीं कर सकते । [मायुर संवाहक को खींचकर (ऊनची) नाक पर धूसा लगाता है । संवाहक रत्न-शंकाह पूर्वक मूर्खों का अभिनय करता हुआ धरती पर गिरता है । दुर्दुरक मर्मान्नाक ब्रीच में पड़ता है । मायुर दुर्दुरक को पीटता है । दुर्दुरक उल्टा (मायुर को पीटता है ।)]

मायुर—अरे, अरे दुष्ट कुलटापुत्र (इस दुर्ध्वंशवार का) फल भी पाओगे ।

दुर्दुरक—अरे मूर्ख तुम्हारे द्वारा (निर्दोष) मैं मार्ग में चलता हुआ ही पीटा गया हूँ, कब को यदि राजकुल में पीटो, तब देखना ।

मायुर—मह मैं देण लूँगा ।

दुर्दुरक—कैसे देण लोमे ?

मायुर—(अति काइकर) ऐसे देण लूँगा ।

(दुर्दुरक मायुर की आँखों को धून से भरकर संवाहक को भागने का मञ्च दे देता है । मायुर आँखों को पकड़ कर धूमि पर गिर पड़ता है। संवाहक भाग जाता है ।)

परतोऽपि अहम् परम् इति परोषाम् । सतीकृतुं तिरस्करुं । षोडश्यां नासिकायाम् ।

• अन्तरपतिः कन्दरं स्ववधानं करोति । विप्रतीयं विप्ररीतम् ।

पापुः पापुनिमद्वेत्त । निपृष्टः तिमोऽपि । मिद्वर्यः आदेशेन निवेदेत् । सभारिष्टः

निरिष्टः । अनपावृतम् उदपाशितं पञ्चद्वारं गन्त तद् दृष्टम् । निमेहि माद्वयु । मपावृत्तु

उदपाशय ।

दुर्दरक —(स्वगतम्) प्रधानसभिको मायुरो मया विरोधित । तन्नाव युज्यते स्यात्तुम् । कथित च मम प्रियवयस्येन शविलकेन, यथा किल—'आयं-कनामा गोपालदारक सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति ।' इति । सर्वश्चास्मद्विद्यो जनस्तमनुसरति । तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । (इति निष्क्रान्त ) ।

सबाहक —(सत्रास परिक्रम्य दृष्ट्वा) एसे कश्चि अणपाकुदपक्षदुआलके गुहे । ता एत्य पविशिशम् । (प्रवेश रूपयित्वा वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे, शलणागवे म्हि । [एतत्त्वस्याप्यनपावृतपक्षद्वारक गेहम् । तदत्र प्रविशामि । आयं, शरणागतोऽस्मि ।]

वसन्तसेना—अमभ शरणागदस्स । हञ्जे, ढक्केहि पक्षदुआरअम् । [अभयं शरणागतस्य । चेटि, पिधेहि पक्षद्वारकम् ।]

(चेटि तथा करोति)

वसन्तसेना—कुदो वे भअम् । [कुतस्ते भयम्]

सबाहक —अज्जे घणिकादो । [आयं घनिकात]

वसन्तसेना—हञ्जे, सपव अवावुणु पक्षदुआरअम् । चेटि साप्रतमपावुणु पक्षद्वारकम् ।]

सबाहक —(आत्मगतम्) कथ घणिकादो तुलितदो भअवालणम् । शुद्धु ष्ठु एय वुच्चवि ।

जे अत्तबल जाणिअ भाल तुलित वहेइ माणुस्से ।

ताह खलण ण जाअदि ण अ कन्तालगदो विवज्जदि ॥१४॥

एत्य सखिलदोमिह । [कथ घनिकातुलितमस्या भयकारणम् । सुष्ठु एतत्वेवमुच्यते ।

य आत्मबल ज्ञात्वा भार तुलित वहति मनुष्य ।

तस्य स्वलन न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते ॥

अत्र लक्षितोऽस्मि ।]

मायुर —(अक्षिणी प्रमृज्य द्यूतकर प्रति) अले, देहि देहि । [अरे, देहि देहि ।]

द्यूतकर—मट्टा, जावदेव अहं ददुतुरेण बसहाइरा तापदेव सो गोहो अय-कन्तो । [भर्त, यावदेव वय ददुरेण कलहायितास्तावदेव स पुरयोऽपक्रान्त ।]

मायुर —तस्स जूदकलस्स मुट्टिप्पहालेण णात्तिवा मग्गा आत्ति । ता एहि । दहिरपह अणुसरेह । [तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नाचिना भग्नासीत् । तदेहि । दधिरपयमनुसराव ।]

दुर्जर—(अपने आप) मुख्य दूतकारक मेरे द्वारा विरोधी बना लिया गया है, तो यहाँ ठहरना उपयुक्त नहीं है और मेरे प्रिय मित्र घनिका ने यह कहा भी है कि निन्द के आदेश के द्वारा निर्दिष्ट आर्यक नामक गोपाल-वालक राजा होगा। और इनारे जूँसा-प्रत्येक व्यक्ति उसका अनुसरण करता है। तो मैं भी उसके णम हो जाता हूँ। (निकल जाता है)

संवाहक—(मनपूर्वक घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसका पक्ष द्वार (बगन का दरवाजा—Side door) खुला है। तो यहाँ प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करने का अभिनय करके बसन्तसेना को देखकर) आर्या शरणागत हूँ।

बसन्तसेना—शरणागत के लिये अभय है। चेटि, पक्ष द्वार को बन्द कर दो।

(चेटी बैसा करती है)

बसन्तसेना—तुम्हें किस से डर है ?

संवाहक—आर्य, घनिका से।

बसन्तसेना—चेटि, अब पक्षद्वार को खोल दो।

संवाहक—(अपने आप) क्यों ? घनिका से इसके मय का कारण सीमित (कम) हो गया ? वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है—

जो मनुष्य अपने बल को जानकर उसके अनुसार (तुलित=मित) मार को बूझ करता है, उसका पतन नहीं होता है, वह दुर्गमपथ पर चलने से भी विपद्ग्रस्त नहीं होता है ॥१४॥

एत विषय में मैं परल (देख) लिया गया हूँ।

मायुर—(आँखें पोंदकर जुआरी के प्रति) अरे दो-दो।

जुआरी—स्वामिन्, जैसे ही हम दूर्जर के साथ झगड़ा करने लगे, तभी वह दुर्गम भय गया।

मायुर—उन जुआरी की नाक धूँके के प्रहार से टूट गई दो। तो भाओ। लड़ मिलने के पथ का अनुसरण करें।

यदि घनिकाद् मयं लहि बनावतु पक्षद्वारकम् इति बसन्तसेनायाः वचनं श्रुत्वा संवाहकः मनसि करोति कथम् इति। आर्यवर्तं घनिकाद् अस्याः बसन्तसेनायाः मय-कारणं तुलितम् आर्यवर्तं नितं वा जातम् ! मृदु शोभनं यमु उच्यते युयुः। य इति। यः मनुष्यः आत्मबलं स्वमानस्यं ज्ञात्वा तुलितं तुल्यं मितं वा मारं वहति धारयति तस्य मनुष्यस्य स्वसत्त्वं पतनं न जायते स च काल्नायनः दुर्गममार्गपटिनः अति न विपद्यते विपद्ग्रस्तो न भवति। अत्रन्तुत्रमंगलद्वारः। आर्या वृत्तम् ॥१४॥

अत्र अस्मिन् विषये सतिक्तः परीक्षितः अस्मि। अस्मिन् स्तोत्रोक्तविषये

(अनुमृत्य)

दूतकर — भट्टा, वसन्तसेनागेह पविट्टो सो । [भर्त, वसन्तसेनागृह प्रविष्टः ।  
स ।]

मायुर — भूवाइ सुवर्णाह । [भूतानि सुवर्णानि ।]

दूतकर — सामञ्जस गबुअ निवेदेमह । [राजकुल गत्वा निवेदयाव ।]

मायुरः—एसो घुतो अहो निक्खमिअ अण्णत्त गमिस्सदि । ता उअरोपेण्य  
णेहेमह । [एसो घूर्तोऽतो निष्क्रम्यान्वयत्र गमिष्यति । तदुपरोधेनैव गृह्णीव ।]

(वसन्तसेना मदनिवाया सज्ञां ददाति)

मदनिका—कुहो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्त वा अज्जो ? कि वा विति  
अज्जो उवज्जोअदि ? कुहो वा मभम् ? [कुत आर्य ? को वार्य ? कस्य वार्य ?  
का वा वृत्तिमार्य उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?]

सवाहक — शुणाहु अज्जभा । अज्जे पाटलिउत्ते मे जम्मभूमो । गह्यइदालके  
हणे । सवाहअरश धित्ति उवज्जोभामि । [शृणोत्वार्था । आर्ये, पाटलिपुत्र मे जन्म-  
भूमि । गृहपतिदारकोऽहम् । सवाहकस्य वृत्तिमुपजीयामि ।]

वसन्तसेना— सुजमारा षण्णु कला सिखिरा अज्जेण । [सुकुमारा खसु कला  
शिक्षितार्येण ।]

सवाहक — अज्जए, कलेत्ति सिखिरा । आजोविभा बाणि सवुत्ता । [आर्ये,  
कलेत्ति शिक्षिता । आजोविकेदानी सवृत्ता ।]

चेटी—अदिनिव्विण्ण अज्जेण पड्वियअण दिण्णम् । तरो तरो । [अतिनिव्विण्ण-  
मार्येण प्रतिवचन दत्तम् । ततस्तत ।]

सवाहक — तरो अज्जए ण्णे पित्तगेहे आहिण्णवणं मुहारो शुणिअ अपुव्यदेश-  
वराणकुद्दहलेण इह भागवे । [अत्र अत्र परिशिष्ट उज्जइणि एवके अज्जे शुशुशिरे ।  
जे तालिरो विअवराणे पिअपासी वइअ ण वित्तेदि, मयविदि विमुमत्तेदि । कि वहुणा  
पलत्तेण । दविलणदाए पलकेतअ विज्ज अत्ताणअ अवगच्छदि, शलणागभवच्छत्ते अ ।  
[तत आर्ये, एष निजगृह आहिण्डकाना मुखाच्छु त्वापूर्वदेशदर्शनवृत्तहलेनेहागतः ।  
इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शूश्रू पितः । यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रिय-  
यादी, दत्त्वा न कीर्तयति, अपकृतं विस्मरति । कि वहुना प्रलपितेन । दक्षिणतया  
परकीयमिवात्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च ।]

(अनुसरण करके)

बुआरी—स्वामिन्, वह बसन्तसेना के घर में प्रविष्ट हो गया है।

माधुर—(तब तो) सुवर्ण प्राप्त हो गये।

बुआरी—राजकुल में जाकर निवेदन किये देते हैं।

माधुर—यह वृष्ट यहाँ से निकलकर अग्यत्र पला जायेगा। तो (बसन्तसेना के) अनुनय (अनुरोध) के द्वारा ही (सवाहक को) पकड़ लें। (बसन्तसेना मदनिका को संकेत देना है)

मदनिका—आर्यं वहाँ में (आ रहे हैं) ? अथवा आर्यं कौन है ? आर्यं किसके (पुत्र) हैं आप किम वृत्ति से जीवनयापन करते हैं ? और किम मे डर है ?

सवाहक—आर्यं मुने। आर्यं पाटलिपुत्र (पटना) मेरी जन्मभूमि हैं। मैं गृहस्थ का बानक हूँ। सवाहक (शरीर दवाने वाले) की वृत्ति के द्वारा जीवन-यापन करता हूँ।

बसन्तसेना—आर्यं ने यास्तव में सुकुमार कला सीखी है।

संवाहक—आर्यं कला (मान करके) सीखी थी। इस समय तो (वह) काजीविका हो गई है।

बसन्तसेना—आर्यं ने अत्यन्त दुःखपूर्ण उत्तर दिया है। इसके बाद ?

सवाहक—इसके अनन्तर आर्यं अपने घर पर यात्रियों के मुक्त से (इस प्रदेश के विषय में सुनकर) अपूर्व देश का दर्शन करने के कौतूहल में यहाँ आया। यहाँ भी उज्जयिनी में प्रवेश करके मैंने एक सज्जन की सेवा की, जो ऐसा सुन्दर आवृत्ति वाला है, प्रिय बोलने वाला है, देकर बचन नहीं करता, बुरा किये हुए को भूल जाता है। अधिक कहने में क्या ? उदारता के कारण अपने को दूसरों का-सा समझता है और घरण में आये हुए को प्रेम करने वाला है।

बंधुर्भ्यो हृष्टान्नीभूतोऽस्मि इति भावः। रेटीमहोदयेनापि (Mr. Raddi) तर्पणं प्याम्नातम् स्वस्मिन्निष्नातोच्य दूने प्रवृत्तीऽह्निद्वयस्य मयि सभन्वयान्तद्वयता प्राप्तोऽस्मि (बाले नोटम् पृ० २२)।

भूतानि सुवर्णानि प्राप्तानि, शरणापनवत्सना वगन्तसेना दाम्पतीत्यर्थः। तदुपरोधेन तस्याः बसन्तसेनायाः उपरोधेन अनुनयेन अपत्रा तद् ततः उपरोधेन बसन्तसेनागृहस्थ उपरोधेन संवाहकं गृहस्थिकः। सतां मद्धेनम् ददाति। संवाहकस्य परिवच पृच्छति कदाभेन मूचयति। का वृत्तिम् उपजोवति का जीविकाम् आश्रयति।



चेटी—को ाणि अज्जआए मनोरहन्तरस्त गुणाइ चोरिअ उज्जइणि अलङ्क-  
रेदि । [क इदानीमार्याया मनोरथान्तरस्य गुणाश्चोरयित्वीज्जयिनीमलङ्क-  
रोति ।]

वसन्तसेना—साहृ हञ्जे, साहृ । मए वि एथ ङ्जेय हिअएण मन्तिवम् ।  
[साधु चेदि, साधु । मयाप्येवमेव हृदयेन मन्त्रितम् ।]

चेटी—अज्ज, तदो तदो । [आर्यं, संतस्तत ।]

सबाहक—अज्जए, शो वाणि अनुपकोशविदेहि पदारणेहि । [आर्यं, स इदानी-  
मनुक्रीशकृते प्रदानं ।]

वसन्तसेना—कि उवरद्विहयो सवुत्तो । [निमुपरतविभव सवृत्त ।]

संवाहक—अणाजबिलवे ङ्जेय कथ अज्जआए विण्णावम् । [अनाध्यातमेय  
कथमार्याया विज्ञातम् ।]

वसन्तसेना—कि एथ जाणीअदि । दुल्लहा गुणा जिहवा अ । अपेएमु लङ्गाएणु ।  
घट्टवर उवअं भोदि । [किमत्र ज्ञातव्यम् । दुर्लभा गुणा विभवाश्च । अपेयेषु  
तडागेषु बहूतरमुदकं भवति ।]

चेटी—अज्ज किनामधेओ वणु सो । [आर्यं, किनामधेय खलु स ।]

संवाहक—अज्जे, के वाणि तइश भूदलमिशङ्कुस्त नाम ण जाणादि । शो वणु  
शेट्टिचत्तले पडिवरादि । शलाहिणज्जणामधेए अज्जघालुदत्ते नाम । [आर्यं, व इदानी  
सस्य भूतलमृगाङ्कुस्य नाम न जानाति । स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति । श्लाघ-  
नीयनामधेय आदंचारदत्तो नाम ।]

वसन्तसेना—(सहर्षमासनादवतीर्यं) अजस्त अत्तणवेरए एइ नेहम् । हञ्जे, वेहि  
से आत्तणम् । तालवेण्टेअ नेणह । परित्तमो अज्जस्त थापेदि । [आर्यस्यात्तीयमेतद्-  
गेहम् । चेदि, देख्यस्यात्तनम् । तालयन्तर्फं गृहाण । परिश्रम आर्यस्य बाधते ।]

(चेदि तथा करोति)

सबाहक—(स्वगतम्) कथ अज्जघालुदत्तस्त नामशवीरणेण ईविशे मे आदले ।  
साहृ अज्जघालुदत्तो, साहृ । घट्टवोए तुम एक्के जीवसि शोवे ङण जणे शसवि । (इति  
पादयोनिपत्य) भोदु । अज्जए, भोदु । आशने णिशोदवु अज्जआ । [कथमार्याचारदत्तस्य  
नामसंवीर्तनेनेदृशो म आदरः । साधु आर्यचारदत्त, साधु । पृथिव्यां त्वमेवो  
जीवसि । शेष पुनर्जनः श्वसति । भवत्वार्यं, भवतु । आशने निपीदत्यार्या ।]

चेटी—(गंगा) कौन है जो आजकल आर्या (वसन्तसेना) के मनोरथामिषुल्ल (प्रिय, आर्य चारदत्त) के गुणों का हरण करके उज्जयिनी को मृषित कर रहा है।

वसन्तसेना—बहुत अच्छा, चेटि बहुत अच्छा। मैंने भी हृदय से यही बिचारा था।

चेटी—आर्यं तन्वश्चात्।

संवाहक—आर्य वह इस समय दया के कारण किए हुए दान में...

वसन्तसेना—क्या क्षीणवर्भव (मम्पनिहीन) हो गए ?

संवाहक—बिना कहे ही आर्या ने कैसे जान लिया ?

वसन्तसेना—यहाँ जानने योग्य ही क्या है ? गुण और मम्पति (वा एकत्र पाया जाना) दुर्लभ है। न पीने योग्य (पानी वाले) तालाबों में बहुत पानी होता है।

चेटी—आर्य, वह किस नाम वाले है ?

संवाहक—आर्य, इस समय इस पृथ्वी के चन्द्रना का नाम कौन नहीं जानता ?

वह सेठों के मुहूर्त में रहते हैं। वह प्रगमनीय नाम वाले 'आर्य चारदत्त' है।

वसन्तसेना—(द्वर्गपूर्वक आमन से उतर कर) आर्य का यह अपना ही घर है।

चेटी, इन्हें आमन दो। पंथा ले लो। आर्य को यकाल (परिश्रम) पीडित कर रही है।

(चेटी बैसा करती है)

संवाहक—(अपने आप) क्या आर्य चारदत्त का नाम लेने में मेरा ऐम,

सम्मान ? अन्य आर्य चारदत्त, धन्य हो। पृथ्वी पर (वाम्पद में) तुम अकेले ही जीते

हो, अब कि शेष मनुष्य तो बेइजल मांस लेते हैं। (पैरों पर गिरकर) रहते दो, भाव

रहते दो। आर्या आमन पर बैठें।

गृह्यतिः दामाद्यम्, दृह्वामो वा, तस्य दारकः पुत्रः। संवाहकस्य शरीर-  
मदंश्चम्। मुकुमारा कोमला। आशीविद्या वृत्तिः। संसृता संज्ञाना। अतिनिश्चिन्नाम्  
कृतिनिर्वेदकुम्। प्रतिवचनम् उतरम्। आदिभक्तानां पर्यटकानाम्। अत्रुबदेराण्य  
कद्रुतमदेगन्ध। प्रियं दर्शनं यस्य तादृगः सपुरावृत्तिः। अपहृतम् अन्कारम्। बसिष-  
तस्य दाशिम्येन (नेद्यनया उदारतया. च)।

मनोरथस्य जन्तव तस्य, मनोरथामिषुल्लस्य दिग्म्य काश्म्य वा। मन्थितं  
विचारितम्। अनुहोमः। करमा त्वेन कृतः इवानेः उपरतः, नष्टः किमव मूर्ध्निः यस्य  
दशमः नष्टघनः।

वसन्तसेना—(आसने समुपविश्य) अञ्ज कुदो सो घणितो । [आर्य, कृत  
स घनिक ॥

सवाहक —

शाननालघणै वसु शञ्जण काह ण हाइ चलाचले घणे ।  
जे पूइदु पि ण जाणादि शे पूआविशश पि जाणादि ॥१५॥  
[सत्कारघन खल सञ्जन कस्य न भवति चलाचल घनम् ।  
य पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥  
वसन्तसेना—तदो तदो । [ततस्तत ।]

सवाहक —तदो तेण अञ्जेण शविस्ती पतिचात्तके किदो म्हि । चात्तित्तवणे  
अ तस्सि जूदोवजोवो म्हि श्चुत्ते । तदो माअधेअविशमदाए दशमुवणअ जूदे हाति  
ध्म । [ततस्तेनार्येण सगृत्ति परिचारक वृत्तोऽस्मि । चारित्र्यावशये च तस्मि  
न्यूतोपजोव्यस्मि सदृत्त । तता भागधेयविपमतया दशमुवणं द्यूतं हारितम् ।]

माधुर—उच्छादिदो म्हि । सुसिदो म्हि । [उत्मादितोऽस्मि । मूपितोऽस्मि ॥]

सवाहक —एदे दे शहिअज्जिअला म अणुशघअन्ति । शपद शुणिअ अज्जअ  
पमाणम । [एतो तो सभिकदूतवरो मामनुसघत्त । साप्रत श्रुत्वार्था प्रमाणम् ॥]

वसन्तसेना—मदणिए वासपादवविसत्तुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहि  
ण्णत्ति । हज्जे, ता गच्छ । एदाण सहिअज्जिअराणम् अअ अज्जो पट्टिवादे ति  
इम हत्वाभरणअ तुम देहि [मदनिके, वासपादपविसत्तुलतया पक्षिण इतन्त  
तोऽप्याहिण्डन्ते । चेटि, तद्गच्छ । एतयो सभिकदूतकरयो, अयमाय एव  
प्रतिपादयतीति, इदं हस्त्राभरणं त्वं देहि ।] (इति हतारस्सट्ठमादृष्य चेट्ठा  
प्रयच्छति)

गुणा ओदार्यादय विमयात्तच्च एकत्र तुलभा । यत्र उदारतादय गुणा सन्ति  
तत्र सम्पत्ति न चिर तिष्ठतीति भाव । एतस्यैव, समघनाय कचयति यद् अवेयेषु पादुम्  
अयोमेषु तडागेषु बहुतरम् अत्यधिकम् उदकं भवति न तु पेयेषु तथा । अप्रस्तुतप्रवा  
सद्धार । भूतस्य मृगाङ्गु चन्द्र तस्य । श्लाघनेय प्रशसनीय नामधेय यत्  
सादृश ।

वसन्तसेना—(आसन पर बैठकर) आर्य, वह (आर्य चारदत्त) धनी (कैसे) कहीं से हों ?

संवाहक—दूसरो का सत्कार करना ही मत्पुरषों का धन होता है । चञ्चल (अस्थायी क्षणिक) सम्पत्ति किसके पास नहीं होती ? जो (दूसरो का) सम्मान करना भी नहीं जानता, (क्या) वह (अपने प्रति किये गये) विशेष सम्मान को जान सकता है ? ॥१५॥

वसन्तसेना—तदनन्तर ?

संवाहक—तब उम आर्य ने (मुझे) सवेतन सेवक बना लिया । उनके चरित्र मान देखे रह जाने (धनहीन हो जाने) पर द्यूत से जीविका चलाने वाला हो गया । इसके पश्चात् भाग्य की विषमता (वक्रता) से जुए में दस सुवर्ण हरा दिये ।

मायुर—नष्ट हो गया है । लूट लिया गया है ।

संवाहक—ये दोनों वे सभिक और जुआरी मुझे ढूँढ रहे हैं । अब मेरी कहानी सुनकर जाप निषंग करे (क्या किया जाये) ।

वसन्तसेना—भद्रनिके, निवास-दृष्ट की अस्थिरता के कारण पक्षी इधर उधर ही भटकते हैं । चेटि, तो जाओ । इन दोनों सभिक जुआरी को यह हाथ का आश्रुपण (पह पहकर) तुम दे दो कि यह आर्य (संवाहक) ही दे रहे हैं

(हाथ में कगन चतार कर देनी है)

नाममंकीर्तनेन नामकथनेन । सः औदार्यादिमुक्तः चाष्टदत्तः धनिकः कुतः भवेद इति भावः ।

संवाहकः अग्रस्तुतप्रशंसया चारदत्तस्य प्रशंसां करोति—सत्करोति । सत्कारः श्रद्धान्तरानां मत्करणम् एव धन इत्यस्य सः सञ्जनः श्रेष्ठो जनो भवति । इदं चत्ताघतं कञ्चन धनं कस्य न भवति सर्वस्यैव जनस्य भवितुं शक्यते इति भावः । यः जनः पूर्वनिवृत्तये सम्मानं कर्तुं न जानाति सः पूजाविशेषं स्वं प्रति कृतम् आदरविशेषम् न जानाति किम् ? इति काकुत्स्थः न जानात्वेव इत्यर्थः । यदि तु कृतीपचरणे नकारो नास्ति तर्हि—यः अन्येषां सम्मानं कर्तुं जानाति स स्वं प्रति कृतं सत्कारविशेषमपि अनुभवितुं शक्नोति इत्यर्थः । अग्रस्तुतप्रशंसात्पुनः । मात्रासमक दत्तम् ॥१५॥

चेनी—(गृहीत्वा) न अग्नाया आणवेदी । [यद्रार्याजापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

माधुर —उच्छादिवो म्हि । मुषित्वो म्हि । [उच्चादितोऽस्मि मुषितोऽस्मि ।]

चेटी—जघा एवे उद देववन्ति, दीह णीममन्ति अहिलहन्ति अ बुआरणिहि वलोभणा, तथा तवकेमि, एदे वे सहिअजूदिअरा हृषिस्सन्ति । (उपगम्य अग्ग, वन्दामि ।, [यथैतावूर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं नियवस्यत अभिनपतश्च द्वारनिहितलोचनो, तथा तर्कयागि, एतो तौ सभिवच्चूतकरो भविष्यत । आर्यं, वन्दे ।]

माधुर —गृह तुए होदु । [मुखं तव भवतु ।]

चेटी—अग्ग, वदमो तुम्हाण सहिओ । [आय, कतरो युचयो सभिव ।]

माधुर —

वस्स तुदु तणुमज्जे अहरेण रददटठदुध्विणीदेण ।

जल्पसि मणोह्वयवअण आलोअन्ती वडवलेण ॥१६ ।

अरिय मम विहवो अण्णत एवज ।

[वस्य त्व तनुमध्ये अधरेण रतदष्टदुविने तेन ।

जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ॥

नास्ति मम विभव । अन्यत्र व्रज ।]

चेटी—अइ ईदिमाइ ण मनेमि, ता ण होसि जूदिअरो । अरिय कोवि तुम्हाणं वारओ । [यदीदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि चूतकर । अस्ति कोऽपि युग्माव धारव ।]

माधुर —अरिय दशमुवण्ण घालेदि । कि तस्स । [अस्ति । दशमुवर्णं धारयति । कि तस्य ।]

चेटी —तस्य वाग्नादो अग्गआ इम हत्थाभरण पडिवादेदि । नहि नहि सो ण्णैव पडिवादेदि । [तस्य वारणाद्रायेंद हस्ताभरणं प्रतिपादयति । नहि नहि स एव प्रतिपादयति ।]

माधुर —(सहर्षं गृहीत्वा) अले मणेसि त कुलपुत्तम् 'धूद तुए गण्डे आअण्ण । पुणो जूद रमअ' [अरे, मणसि त कुलपुत्रम्—भूतस्तव गण्ड । आगच्छ । पुनचूत रमस्व' ।]

(इति निष्क्रान्ता)

चेटी—(वसान्ततानामुष्णृत्य) अग्गए, पडितुट्टा गवा सहिअजूदिअरा । [आर्यं परितुष्टो गतो सभिवच्चूतकरो' ।]

चेटी—(लेकर) जो आया जाता देती हैं (निकल जाती है)

मापुर—नष्ट हो गया है, लुट गया है।

चेटी—क्योंकि ये ऊपर को देख रहे हैं, सब्जे सांस ले रहे हैं, द्वार पर बाँतें गड़ाये बाँतें कर रहे हैं, इममे अनुमान लगाती हैं, (कि) ये दोनों वे ही सभिक और जुआरी होंगे। (ममोप जाकर) आर्य प्रणाम करती है।

मापुर—तुम्हें मुझ हो।

चेटी—आप आप दोनों में से सभिक कौन से हैं ?

मापुर—हे सीप कटि वाली, कटाज से देखती हुई रतिकाल में क्षत इस घृष्ट (दुःखित) ओठ से मनोहर वचन किससे बोल रही हो ॥१६॥

मेरे पास सम्पत्ति नहीं है, अन्वय जाओ।

चेटी—यदि तुम ऐसी बान करते हो, तब तुम जुआरी नहीं हो (सकते) क्या आप लोगों का कोई श्रृणा है ?

मापुर—है। दस स्वर्ण का श्रृणा है। उसका क्या ?

चेटी—उसके कारण ने आया यह कंगन दे रही हैं। नहीं, नहीं वही दे रहा है।

मापुर—(हर्षपूर्वक लेकर) बरी उम कुलीन पुत्र से कह देना, 'तुम्हारा वापदा (पूर्व) हो गया। आओ फिर जुआ खेलो।'।

(बाहर चले जाते हैं)

चेटी—(वमन्तसेना के निकट आकर) आर्य सभिक और जुआरी सन्तुष्ट होकर चले गये।

सवृत्तिः सवेनतः। चारिष्यामस्ये चारिष्यन् एव अस्येयो यस्य स तस्मिन् चारिष्यमानावशेषे धनहीने जाते सति। एतम् उपजीवति इति दूनोपजीवी। पाग-पेस्य विषमनया बहुरथा उत्सादितः विनाशितः। मुषितः चोरितः, नुष्टितः। मनुमन्तः अन्वेषणं कुरतः। आर्या तत्रभवती वसन्तसेना। प्रमाणम् निर्णायिका।

वाससादपस्य निवासवृक्षस्य विसृष्टतया अम्पिरतया अस्तम्बस्ततया। माह्विगन्ते घमन्ति। चारुदत्तस्य दरिद्रतया तस्य उपजीविनोर्जपि इतरततः घमन्तीति भावः। अपस्तुतप्रमंसा। अयमार्यः उवाहक एव प्रतिपादयति वदति।

द्वारे निहिते स्थिते लोचनं ययोः तौ। तर्कयामि जल्पयामि। मदनिकायाः वचनं श्रुत्वा मापुरः पृच्छति-कस्येति। हे तनुमध्ये तनु दीर्णं मध्यं यस्याः तल्लम्बदो ह्योदरि, एवं कटाक्षेण आसोक्तयन्ती रते दष्टः अतएव दुःखिनोतः घृष्टः रतिमूषारंवात् तेन अघरेष मनोहरवचनं मधुरं वचनं कस्य क प्रति जल्पति ? याया इत्तम् ॥१६॥

वसन्तसेना—ता गच्छतु । अञ्ज बन्धुअणो समस्तसत्तु । तद्गच्छतु । अद्य बन्धुजन समारवमित्तु ।]

सवाहक—अञ्जए जइ एव्व ता इअ कला पालिअणहत्थगदा कलौअदु । [आर्ये, यद्येव तदिय कला परिजनहस्तगता क्रियताम् ।]

वसन्तसेना—अञ्ज, जस्त कारणादो इअ कला सिक्खीअदि, सो ज्ञेण अज्ञेण सुस्सुसिक्खिअणो सुस्सुसिद्धो । [आर्ये, यस्य कारणादिय कला शिक्ष्यते, स एवा-र्येण शुश्रूषितपूर्वं शुश्रूषितव्य ।]

सवाहक—(स्वगतम्) अञ्जआए णिउअ पच्चाविट्ठो म्हि । कथ पच्चुवकत्तिशम् (प्रकाशम्) अञ्जए, अह एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्कशमणेके हुविशम् । ता शवाहके जूदिअले शक्कशमणेके शयुत्तेति सुमत्तिदव्वा अञ्जआए एदे अक्खत्तु । [आर्येया निपुण प्रत्यादिष्टोऽस्मि । वय प्रत्युपकरिष्ये । आर्ये अहमेतेन द्यूतकरा भानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । तस्सावाहयो द्यूतकर शाक्यश्रमणक सवृत्त इति स्मृतव्यान्याययैतान्यक्षराणि ।]

वसन्तसेना—अञ्ज, अल साहसेण । [आर्ये, अल साहसेन ।]

सवाहक—अञ्जए कले णिच्चए । [आर्ये, कृतो निश्चयः ।] इति परिव्रज्य ।

जूदेण त कद मे ज वीहत्थ जणशश शशरशश ।

एणहि पाअडणीजे णत्तिन्दमग्गेण विहरिणशम् ॥१७॥

[एतेन तत्कृत मम यद्विहस्त जनस्य रावस्य ।

इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥]

(नेपथ्ये क्लवण )

सवाहक—(आनर्थं) अले, कि णोदम् (आनाले) कि भणाघ 'एसो क्खु वसन्तसेनाआए खुण्टमोडके णाम दुट्टहत्थो विअलेदि' इति । अहो, अञ्जआए गन्धगभ पेक्खिसस गहुअ । अहवा कि मम एदिणा । जघावण्णिसिद्ध अणुच्चिट्ठिरशम् । [अरे, विन्विदम् । कि भणत—'एए खलु वसन्तसेनाया खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विचरति' इति । अहो, आर्याया गन्धगज प्रेक्षिष्ये गत्वा अथवा कि ममेतेन । यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।] (इति निष्क्रान्त )

(तत प्रविशत्यपटीशेषेण प्रहृष्टो विषटोऽञ्जवलेपेयः कर्णपूरण )

१ ॥

"धारक धारयतीति अधमर्णं" ऋषी । कुत्तपुत्र सस्वगजावम् दुत्तीनम् । गण्ड समय, शपथ ।

इद कला सवाहनरूपा । परिजनस्य भवत्परिचारिकाया हस्तगता प्राप्ता (सिद्धिता) । 'त्वया अनुमन्यते चेदह भवद्गण्डे नियत्नात् स्थित्वा भवत्या रोचिका-

बनलमेना—तो अब (आप भी) जायें । आज बान्धवों को मानवता दें ।

संवाहक—आपें, यदि ऐसा है तो यह (अहमदन को) कला (अपनी) सेविका को हस्तगत (प्राप्त) करा दें ?

बनलमेना—जिसके कारण में यह कला सीखी गई है, वही (शायद चाण्डल) को आनंदे द्वारा पढ़ने सेविन हुआ है, (अब भी) सेविन होना चाहिये ।

संवाहक—(अपने आप) आपों के द्वारा कुशलतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया गया है । इनका प्रयुक्तकार कैसे करूँ ? (प्रकट रूप में) आपें, मैं इस जुआरी के (रूप में) अवमान के कारण बौद्ध भिक्षु ही जाऊँगा तो संवाहक जुआरी बौद्धभिक्षु हो गया है' में असर आपों को स्मरण रखने चाहिये ।

बनलमेना—अहम् माहम् से बन करो ।

संवाहक—आपें, (मैंने) निगमन कर लिया है । (धूमकर) जुए ने मेरे तिरंदाजिना कि सब व्यक्तियों के व्याकुल (अवमानित) करा टाटा । इस समय मुझे निर रात्रनामं में (पर) डूबूँगा ॥१॥

(निरात्र में क्लकन)

संवाहक—(मुन कर) अरे, यह क्या है ? (आकाश की ओर) क्या उठने हो ? यह बनलमेना का मुण्डमोडक (बगधन मन्मन को ठोड़ने वाला) नाम वाला दुष्ट हाथी घूम रहा है । अहो जाकर आपों के मण्डपत्र (दोसिये टिप्पणी) को देखूँ । अपना मेरा इनमें क्या (मन्डपत्र) ? निष्कामानुसार कळूँगा (निकल जाता है) ।

(नदनन्तर पदों के बिना गिरे, प्रदलन एवं मण्डपत्र उद्वेगन देखावाया कर्णोपूरक प्रवेश करना है) ।

निबन्ध अहमदनसेविना गिरीपिशा स्वस्थानं समिप्यातीति धाव ' (J V. नवीन संस्करण, काने) । पूर्वं सुभूषितं शनैः सुभूषितजुवं । प्रत्यादिष्टः निराहृतः, प्रयान्मानः । शाक्यधर्मणकः बौद्धभिक्षुः ।

बनलमेनायाः बचनं श्रुत्वा संवाहकः कथयति—छूतेरेवि । छूतेन मम मवाहकम् तन् नाहृतं कृतम् एव सर्वस्य जनस्य सर्वसमाप्तं बनात् विहस्य व्याकुलीकरणम् (विहस्यव्याकुली मनी) अवमाननमिति यावत् । इवान्ते मण्डपति छूतदेवदममुवर्षानिपोतकाने बौद्धभिक्षुः भूत्वा प्रकटशीलः प्रकटं शीलं यस्य (प्रकटशिवान्) तथाप्यः नरेन्द्रपतेन राजनामेन विहरिष्यापि स्वतन्त्रं प्रमिष्यामि । आपों कृतम् ॥१॥

सुष्टमोडकः सुष्टं स्वप्नं मोडयति इति, स्वप्नमन्त्रकः मण्डपत्र मण्डपनात् । यत्र मण्डपत्रः । यथोक्तम्—'यस्य मण्डप ममाप्य न निष्कलितं प्रतिष्ठितं तं मण्डपित्तिनं शान्तिपतेर्विदनावहम् ।' यथास्त्विति स्वस्थिति निमित्तम् अन्तिष्ठस्य निगमनानुसारं परिश्रममहत्तममिति यावत् । अनुष्ठास्यामि करिष्यामि ।



कर्णपूरक—कहिं बहिं भज्जआ । [बुद्ध कुत्रार्या ।]

चेटी—दुम्मणुस्स किं ते उव्वेअकालणम् ज अग्गदो यट्ठद अन्धअ ण पेवक्षसि । [दुर्मनुष्य, किं त उद्वेगवारणम् यदग्रतोऽवस्थितामार्या न प्रेक्षसे ।]

कर्णपूरक—(हृष्टवा) अज्जए वन्दामि । [आर्ये, वन्दे]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ पत्तितुट्टमुहो लख्खोअसि । ता किं ण्णेदम् । [कर्ण-पूरक परितुष्टमुखो लक्ष्यसे । तत्किं न्विदम् ।]

कर्णपूरक—(सविस्मयम्) अज्जए वञ्चिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरअस्स परवक्कमो ण दिट्ठो । [आर्ये, वञ्चिदासि यमाद्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न हृष्ट ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, किं किम् । 'वर्णपूरक' किं किम् ।

कर्णपूरक—मुणानु अज्जआ । जो सो अज्जआए सुण्णमोडको णाम दुट्टहत्थो सो आलाणत्थम्भ भञ्जिअ महमेत्थ थावादिअ महन्त सखोह करन्तो राअमग्ग ओदि-ण्णो । तदो एरफन्तरे उप्पुट्ट जणेण—

अवणेध वालअलण त्तिरिद आरूह्ध वुव्खपासादम् ।

किं ण हु पेक्खध पुरदो दट्ठो हत्थो इदो एदि ॥१८॥

अवि च ।

विचलइ णंउरजुअल छिज्जन्ति अ मेहला मणिवलइआ ।

वलआ अ सुन्दरदरा रअणड्कुरजालपडिबद्धा ॥१९॥

तदो तेण दुट्टहत्थिणा कलचरणरदणेह फुल्लनलिणि विअ णअरि उज्जइणि अवणा हमाणेण समासादितो परिध्राजको । तच्च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिआभाअण सोअरेहि तिअच्चिअ दन्तान्तरे विप्लव पेविलअ पुणोवि उप्पुट्ट जणेण—'हा परिध्राजको थावादी-भवि'ति [शृणोत्वार्या । य स आर्याया सुण्णमोडको नाम दुष्टहस्ती स आलानस्रम्भ भङ्क्त्वा महाभाथ व्यापाद्य महान्त सक्षोभ मुक्त्वा राजमार्ग-मवतीर्णं । ततोऽत्रान्तरे उद घुष्ट जनेन—

'अपनयत बालकजन त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम् ।

किं न खलु प्रेक्ष्य पुरतो दृष्टो हस्ती इत एति ॥१८॥

अपि च ।

विचलति नूपुरयुगल छिद्यन्ते च मेखला मणिलचिता ।

वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाडकुरजालप्रतिबद्धा ॥१९॥

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदने फुल्लनलिनीमिव नगरीमुञ्जयिनीमव-गाहमानेन समासादित परिध्राजक । तच्च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिआभाअण श्रीकरे मिकत्वा दन्तान्तरे विप्लवं प्रेक्ष्य पुनरप्युदघुष्ट जनेन—'हा, परि-ध्राजको व्यापाद्यते' इति ॥

अप्यतोऽप्येव विना जवनिवापातमेव । विचट उज्ज्वलश्च द्वेष दस्य तथाभूत ।

कर्णपूरक—कहाँ हैं, कहाँ हैं, आर्या !

चेटी—वे दुर्जन, तुम्हारी ध्वंसाहट का क्या कारण है जो सामने स्वित आर्या को नहीं देखने हो ?

कर्णपूरक—(देखकर) आर्य प्रणाम करता है ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, अत्यन्त प्रसन्नमूख दिखाई दे रहे हो । तो यह क्या (बात) है ।

कर्णपूरक—(आश्चर्यपूर्वक) आर्या वञ्चित रह गयी (क्योंकि) तुमने आज कर्णपूरक का पराक्रम नहीं देखा ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, क्या, क्या ?

कर्णपूरक—आर्यो मुने । वह जो आपका (आर्या का) सुष्टमोडक नामक दुष्ट हाथी है वह अत्यन्तम्भ को तोड़कर, महाबल को मारकर महान् उपद्रव करता हुआ सड़क (राजमार्ग) पर उतर आया । तब इसी बीच में मनुष्यों ने घोषणा की—

‘बालको को हटा लो, तुरन्त पेड़ों या पत्तों पर चढ़ जाओ । क्या देख नहीं रहे हो (कि) सामने से दुष्ट हाथी श्घर आ रहा है ॥१८॥

और भी—

नूपुरों का जोड़ा गिर पड़ा है, मण्डित मेखलायें तथा लघुरत्नसमूह से जड़े हुए अति सुन्दर कण (भागने से परस्पर सपर्य होने के कारण) टूट रहे हैं ॥१९॥

इसके पश्चात् (अपने) सँड, पैर और दाँतों के द्वारा उज्जयिनी नगरी को विषे कमलों बानी सरसी के तुल्य मथते हुए वह दुष्ट हाथी एक सन्ध्यासी पर पहुँचा । जिसका दण्ड और कमण्डलु गिर गए हैं, ऐसे उस (सन्ध्यासी) को बलविन्दुओं से सींचकर दाँतों के बीच में रक्ता हुआ देखकर जनता ने फिर से यह बोलाहन किया—हाय ! सन्ध्यासी मारा जा रहा है ।

परिद्वष्टं मुलं यत्न ताहयः ।

महमात्रं—हस्तिपालकं, हस्तिचालकं वा ।

अत्यन्तम्भं भङ्कवा राजमार्यो समागत वसन्तसेनायाः राजं विलोभय जनैरेतद् वस्तुदमिति कर्णपूरकः कथयति—अपनीयत इति । धानकरनषु अपनयत राजमार्गात् दूरं गतः, शुभं प्रसादं च स्वरितम् आरोहत् किं न क्षतु प्रेक्ष्यं परम्य युजम् ? पुरतः वसतः दुष्टः हस्ती इव. एतदिना प्रति एति आगच्छति । गाया वृत्तम् ॥१८॥

विचित्रोक्तिः । (गजभयान् नारीणां गमनवेगात्) नूपुरयुगलं (पादेषु) विचलति सन्ध्यासान् ताः । मण्डितचिन्ता मण्डितदिना. मेखलाः रत्नाङ्कुराणां लघुरत्नानां जालः प्रभृतेः प्रतिबद्धा. जटिताः सुन्दरतराः बलयाः कटराः च दिग्गते दिग्ना भवन्ति । पञ्चावसम् ॥१९॥

वसन्तसेना—(ससध्रमम्) अही पमादो, अहो पमादो । [अहो प्रमाद, अहो प्रमाद. १]

कणपूरक —अल सममेण । सुणाडु दाव अजजआ । तवो विच्छिन्नविसदुल-  
सिद्धुत्ताकस्तावथ उद्वहन्त दन्तन्तरपरिग्राहिद परिव्याजम उद्वहन्त त पेविसअ कण-  
ऊरण मए, नहि नहि अजजआए अण्णपिण्डपुट्टेण दासेण, वामचत्तणेण अूवत्तेरत्तम  
उग्गुसिअ उग्गुसिअ तुरिद आवणावो सोहदण्ड गेहिण्ण आभारिवो सो बुट्टहत्थो । [अल  
सध्रमेण । शृणोतु तावदार्या । ततो विच्छिन्नविसम्भुलशृङ्खलाकलापमुद्वहन्त  
दन्तान्तरपरिगृहीत परिव्राजकमुद्वहन्त त प्रेक्ष्य कणपूरकेण मया, नहि नहि,  
आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन नामचरणेन द्यूतलेखक उदधुप्योदधुप्य त्व  
रितमापणाल्लोहदण्ड गृहीत्वाकारित स द्रुष्टहस्ती ।]

वसन्तसेना—तवो तवो । [नतस्तत ।]

कणपूरक —

आहृणिऊण सरोस त हस्तिं विञ्जसैलसिहराभम ।

मोआविओ मए सो दन्तन्तरसठिओ परिव्वाजओ ॥२०॥

[आहत्य सरोप त हस्तिन विन्ध्यशैलशिखराभम् ।

मोचितो मया स दन्तान्तरसस्थित परिव्राजक ॥]

वसन्तसेना—मुट्टु वे किबम् । तवो तवो । [सुष्टु त्वया कृतम् । ततस्तत ।]

कणपूरक —तवो अजजए, साहु रे कण्णऊरम, 'साहु' ति एत्तिअमेत्तं भणती  
विसमभरवकन्ता विअ नावा, एकवो पत्तहत्था सअता उग्गद्वणी भासि । तवो अजजए  
एवकेण सुण्णाइ आहरणट्ठाणाइ परामुसिअ उद्व पेविसअ धीह णीत्तसिअ अम पावा-  
रओ मम उवरि किलसो । [तत आर्ये 'साधु' र कर्णपूरक, 'साधु' इत्येतावन्मात्र  
भणन्ती, विषमभराक्रान्ता इव नो एकत पर्यस्ता सकलोज्जयिन्यासीत् । तत  
आर्ये, एकेन शून्यान्याभरणत्वानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं नि श्वस्यार्यं  
प्रावारको ममोपरि क्षिप्त ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरम, जानीहि दाव कि एतो जावीडुमुमवासिवो पावारओ  
ण वेत्ति । [कर्णपूरक, जानीहि तावलिमेय जाताडुमुमवासित्त प्रावारको न  
वेत्ति ।]

कर्णपूरक —अजजए, मदगणेण मुट्टु त गन्ध ण जानामि । [आर्ये मद-  
गन्धेन सुष्टु त गन्ध न जानामि ।]

बसन्तसेना—(घबडाहटपूर्वक) अहो अनवधानता (लापरवाही) ! अहो अनवधानता !

कर्णपूरक—घबडाहट से बस करे । आवां सुनें तो । तदनन्तर टूटी हुई तथा अस्थिर (हिलने वाली) शृङ्खला (जर्जर) को धारण किये हुये दाँतो के बीच में घृहीत सन्ध्यामी को उठाने वाले उस दुष्ट हाथी को देखकर मुझ कर्णपूरक ने, नहीं नहीं, आवां के मन्त्रविण्ड से पुष्ट हुए सबक ने दूतलेखक को बार बार चेताकर सुरन्त-बाजार से लोहे का डगडा लेकर बाईं और चल करके (बाईं और पंतरा बदलने से) उस दुष्ट हाथी को लनकारा । (टिप्पणी भी देखिये)

बसन्तसेना—तरश्चात् ।

कर्णपूरक—विच्छिन्नपर्वत की चोटी जैसे (विनाश) एवं प्रोथित उस हाथी पर प्रहार करके मैंने वह (हाथी के) दाँतो के बीच में देखा हुआ (या स्थित) सन्ध्यामी छुड़ा दिया ।

बसन्तसेना—तुमने बड़ा अच्छा किया । तदनन्तर ?

कर्णपूरक—इसके पश्चात् आये 'धन्य रे कर्णपूरक, धन्य !' एकमात्र यही कहती हुई सम्पूर्ण उज्ज्विनी, विषम भार से दबी हुई नौका के समान एक ओर झुक गई । तब आये, एक (नागरिक) ने अपने शून्य आभूषण-रूपानो (जिन अङ्गो में पहले आभूषण धारण करता था और अब जो आभूषणहीन थे ऐसे अङ्गो) को छुकर ऊपर देखकर, लम्बी साँस लेकर यह उत्तरीय मेरे ऊपर फेंक दिया ।

बसन्तसेना—कर्णपूरक, देखो तो, क्या यह उत्तरीय चमेली के पुण्यो से सुवासित है या नहीं ?

कर्णपूरक—आयें, मद की गन्ध के कारण भली प्रकार उस (चमेली की गन्ध) को नहीं पहचान रहा हूँ ।

कृत्तानि विकसितानि नलिनानि कमलानि यस्यां तां कूलपद्मा सरसीम् इव  
अवगाहमानेन मयनं कुर्वता । समासादितः प्राप्तं, दृष्टोती वा । दण्डदण्ड कुण्डिकाभाजने  
ध दण्डकुण्डिकाभाजने, परिभ्रष्टे हस्ताभ्यां पतिते दण्डकुण्डिकाभाजने यस्य तं शोकैः  
जनविन्दुभिः । इन्तान्तरे दन्तमध्ये । श्यापापते हन्यते ।

सध्रमः उद्वेगः । विधिध्रमः नृदितः अत्रएव विसंयुतः अस्थिरः इतस्ततः विकीर्णो  
वा सः शृङ्खलाकृत्सापः शृङ्खलासमूहः तस्य उद्भवन्तः धारयन्तः । अन्नविण्डेन बन्धनशक्तेन  
पुष्टः पालितः तेन । उद्भूयते उद्भवाय्यं । आकाशितः साहजः ।

साहस्येति—विन्दुवर्तितशिरस्य आभा इव आभा यस्य तं सरोयं दण्ड-मुक्तं  
हस्तिनस्य साहस्य लोहदण्डेन प्रदृश्य मया कर्णपूरकेण इन्तान्तरे दन्तमध्ये संस्थितः दृशीयः  
सः परिप्राजकः मोषितः । यायादृशम् ॥२०॥

वसन्तसेना—नाम वि दाव वेकल । [नामापि तावत्प्रेक्षस्व ।]

कर्णपूरक—इमं नाम अञ्जना एव वाएडु । [इदं नामार्थैव वाचयत् ।]

(इति प्रावारकमुपतपति ।)

वसन्तसेना—अञ्जनाएदत्तस्य । [आर्थेचारुदत्तस्य ।] (इति वाचयित्वा  
सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति ।)

चेटी—कृष्णऊरभ, सोहृदि अञ्जनाए पावारओ । [कर्णपूरक, शोभत  
आर्याया. प्रावारक ।]

कर्णपूरक—ओ सोहृदि अञ्जनाए पावारओ । [आ शोभत आर्याया  
प्रावारक ।]

वसन्तसेना—कृष्णऊरभ, इदं दे पारितोषिअम् । [कर्णपूरक, इदं ते पारि-  
तोषिकम् ।] (इत्याभरणं प्रयच्छति)

कर्णपूरक—(शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) सधं सुट्टु सोहृदि अञ्जनाए  
पावारओ । [साप्रतं सुट्टु शोभत आर्याया प्रावारकः ।]

वसन्तसेना—कृष्णऊरभ, एवाए वेलाए कंहि अञ्जनाएदत्तो । [कर्णपूरक,  
एतस्या वेलाया कुत्रायंचारुदत्त ।]

कर्णपूरक—एदेण उच्चैव मग्गेण पवुत्तो गन्तु गेहम् । [एतेनैव मार्गेण  
प्रवृत्तो गन्तु गेहम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, उवरिदण अलिन्दभ आरहिअ अञ्जनाएदत्त वेक्खेह ।  
[चेटि, उपरितनमानन्दकं मारुह्यार्थं चारुदत्तं पश्याम ।]

(इति निष्क्रान्ता सर्वे)

इति सूतकरसमाह्वो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

विषयमग्रेण गुह्यतरभारेण आश्रान्ता नो इव राकता उज्जयिनी एवत एव-  
दितायां पर्यगता आनता, एतन्नीभूता वा । परामृश एवृष्ट्वा, विचार्य वा मवत्

वसन्तसेना—तो नाम भी देखो ।

कर्मपूरक—यह नाम आर्या ही पढ़ें (उत्तरीय दे देता है)

वसन्तसेना—आर्य चारदत्त का । (यह पढ़कर प्रेमपूर्वक लेकर ओढ़ लेती है)

सेटी—कर्मपूरक, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है

कर्मपूरक—हाँ, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है ।

वसन्तसेना—कर्मपूरक, यह तुम्हारा पुरस्कार है । (आभूषण देती है)

कर्मपूरक—(झुके सिर से ग्रहण करके और प्रणाम करके) अब आर्या के

उत्तरीय अधिक अच्छा लगता है ।

वसन्तसेना—कर्मपूरक, इस समय आर्य चारदत्त कहीं हैं ?

कर्मपूरक—इसी मार्ग से जाने लगे हैं ।

वसन्तसेना—चेटि, ऊपर छत पर चढ़कर आर्य चारदत्त को देखें ।

(सब निकल जाते हैं)

छूतकर संवाहक नामक द्वितीय अङ्क समाप्त

हस्तिनदम्य गन्धेन । सुष्ठु सम्प्रपूषेण त्रिषाविशेषणम् । भतिन्दरकं बहिर्द्वारप्रकोष्ठकम् ।

दूतकटः संवाहकः हस्तिन् त्रिषेपेण वणितः तेषामूतोर्ष्यं द्वितीयः मङ्कः  
गन्धः ।

इति मृच्छकटिकटीकायां द्वितीयोऽङ्कः

## तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटः)

चेटः—

शुभ्रणे क्वु भिच्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शौह्दि ।  
पिशुणे उण दब्बगन्विदे दुष्कले क्वु पलिणामदालुणे ॥१॥

अवि अ ।

शशशपलक्कवलददे ण शक्कि वालिद  
अण्णकलत्तपशात्ते ण शक्कि वालिदुम् ।  
जूदपशत्तमणुशे ण शक्कि वालिदु  
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुम् ॥२॥

का वि वेत्ता अञ्जचाहवत्तइया गग्घयं शुणिवु गदरसा । अरिक्कमदि अद्धतअणी  
अञ्ज वि ण आअन्नादि । ता जाव बाहिलवुआत्तरात्ताए, गदुअ शुविरसाम् ।

[सुजनं खलु भूत्यानुकम्पक स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते ।  
पिशुन पुनद्रान्यगवितो दुष्करं खलु परिणामदायण ॥]

अपि च ।

सस्यलम्पटवलीवदो न शक्यो वारयितु-  
मस्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।  
सूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितु  
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥

[कापि वेलार्यचारुदत्तस्य गाग्घयं श्रोतु गतस्य । अतिक्रामत्यर्घरजनी ।]  
अद्यापि नागच्छति तद्यावद् बहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वप्स्यामि ।] (इति तथा  
परोति)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

चारुदत्त —अहो अहो, साधु साधु रेभित्तेन गीतम् । खीणा हि नामा-  
समुदोत्पित रत्नम् । नूत —

## तृतीय अङ्क

(तत्परवाद् चेट प्रवेग करता है)

चेट—सेवकों पर दया करने वाला सज्जन स्वामी घनहीन होता हुआ भी शोभित होता है । किन्तु धन से गवित दुर्जन (स्वामी) दुःख से सेवा करने योग्य एक काल में भयंकर होता है ॥१॥

और भी—

ग्राम्य का सोभी बँत रोका नहीं जा सकता, दूधरे की स्त्री में वास्तव पुरर को रोका नहीं जा सकता, जुए में अनुरक्त मनुष्य को रोका नहीं जा सकता, जो भी स्वाभाविक बुराई होती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता ॥२॥

मौत (गान्धर्व) मुनने के सिधे गये हुए आर्य-चारदत्त को कितना समय हो पया ? अंधरात्रि स्पतीव हो रही है । अब भी नहीं आ रहे हैं, तो सब तरु बाहरी दरवाजे वाली कोठरी में आकर सोजें । (बँसा करता है) ।

(इसके परवाद् चारदत्त और विदूषक प्रवेग करते हैं)

चारदत्त—जहो, अहो, रेभिन ने बहुत मच्छा गया । योगा ठोः वास्तव में रिता समुद्र से निकला हुआ रत्न है । क्योंकि—

चारदत्तस्य चेटः वर्धमानकः स्वकीयस्वामिनः चारदत्तस्य स्वभार्य चिन्तयन्  
 कथयति—मुञ्चत इति । मुञ्चतः सज्जनः भृत्यानाम् अनुकम्पकः सेवकेषु दत्तावान् स्वामी  
 निर्धनकः अपि निर्धनः अपि सन् शोभते समु । पुनः किन्तु स इत्यगवितः इत्येव गवितः  
 विद्युतः दुर्जनः चेट दुष्करः दुष्टेन सेवनीयः सेवितोऽपि सन् च परिणामे फलदानसमये  
 शाल्यः मज्झकः भवति । यद्यपि मम स्वामी चारदत्तो निर्धनः तथापि भृत्यानुकम्पकोऽयः  
 शोभते इति व्यग्यते । अत्र च अपस्तुयाद् सामान्याद् प्रस्तुतस्य विशेषस्य (चारदत्तस्य)  
 प्रशोतेः अपस्तुतप्रशंसासङ्कारः । यतानीयं वृत्तम् ॥१॥

तत्प्रेषि । तस्मत्प्रसन्नः तस्यमन्त्रे प्रसन्नः अतोवरेः वृषभः वारदितुं न शक्यः ।  
 अन्वेषां कलत्रेण प्रसन्नः मनुष्यः वारदितुं न शक्यः । कृते प्रसन्नः मनुष्यः वारदितुं न  
 शक्यते । एवं यः अपि मनुष्यस्य स्वाभाविकः स्वभाविकः शोक भवति सः अपि  
 वारदितुं न शक्यते । मम स्वामिनः चारदत्तस्य कठिरित्तदान्त्वं स्वभावशेष एव तन्व न  
 तस्त्वं शक्यते इति भावः । अपस्तुतप्रशंसासङ्कारः । प्रसन्नी जातिः वृत्तम् ॥२॥

कन्धर्वास्वामिदं गान्धर्वं गोदम् ।



उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या  
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोद ।

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणा  
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकर प्रमोद ॥३॥

विदूषक—भो, एहि । गेह मन्देम्ह । [भो, एहि । गृह मन्ददाव ।

चारवत्त — अहो, सुष्ठु भावरेभिलेन गीतम् ।

विदूषक—मम दाव कुवेहि ष्जेव हस्स जाअदि । इत्थिआए सक्कअ पठन्तोए, मणुस्सेग अ कामत्तो गाअत्तेण । इत्थिआ दाव सक्कअ पठन्तो, दिण्णवणत्ता विअ गिट्ठी, अहिअ सुसुआअदि । मणुस्सो वि कामत्तो गाअत्तो, सुखल्लुमणोदामवेट्ठिरे बुद्धपुरोहितो विअ मत्त जयत्तो दिद मे ण रोअदि । [मम तावदद्वाभ्यामय हास्य जायते । स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकली गायता । स्त्री तावत् सस्कृतं पठती दत्तनवनस्येव मृष्टिं अघ्नियं सूनुषाब्दं करोति । मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुक्रगुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन् हृदं न रोचते ।]

चारवत्त—वयस्य सुष्ठु सत्वद्य गीत भावरेभिलेन । न च भवान् परितुष्टः ।

रपत्तं च नाम मधुरं च सभं स्फुटं च  
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च ।

विद्या प्रशस्तवचनं वदुभिर्मदुक्तै—  
रन्तहिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥४॥

रेभिल चारवत्तस्य मिम वरिवत्तं सार्धंवाह, एको विपुणो गायक । समुदायं उच्यते समुद्रोत्थित इति न समुद्रोत्थितम् अथमुद्रोत्थितम् । सगीतधवणानन्तरं चारवत्तं धीनाया प्रशंसा करोति—उत्कण्ठितस्येति । धीना हि उत्कण्ठितस्य उत्कण्ठां सञ्जाता अस्य असौ उत्कण्ठितं तस्य विरहोत्सुकस्य हृदयानुगुणा हृदयानुरूपा वयस्या सती । सङ्केतके सङ्केतशक्तिनि प्रियजने चिरयति विलम्बं मुच्यति प्रवरो उत्तमं विनोद । विद्वेषेण प्रियवियोगेन आतुराणां जनानां प्रियतमा अस्वप्नप्रिया संस्थापना आश्रयात्-प्रदात्री । रक्तस्य अनुरक्तस्य जात्यं च रागस्य अनुरागस्य परिवृद्धिकरं सत्वद्यं प्रमोदं विनोदं । विद्वेषामु परिरिपतिषु धीनायादत्तं मनापिनोदस्योत्कण्ठं साधनमिति भावः । रूपकेषानुपासितं उत्कण्ठानुद्धारः । वयस्यतिशयं कृतम् ॥३॥

आव विद्वान् । भावस्यातो रेभिरन्यत्र भावरभिलेन ।

(बीणा) उत्कृष्ट (मनुष्य) की मनचाही (हृदय के अनुकूल) सती है। सकेत (वायदा) करने वाले प्रेमी के देर कर देने पर एक उत्कृष्ट मनोरंजन है। विरह-पीड़ितों को अत्यन्त म्रिय समाश्वासन देने वाली है। यह मनोरंजन (बीणावादन) प्रेमी के अनुराग को बढ़ाने वाला है ॥४॥

विदूषक—श्रीमान् जी, आइये घर की चलें।

चारदत्त—अहो ! रेभिल महोदय (भाव) ने अच्छा गाया।

विदूषक—मुझे तो दोनों से ही हँसी उत्पन्न होती है। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री से, मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाते हुए पुरुष से। स्त्री तो संस्कृत पढ़ती हुई, नवीन रज्जु ढाली हुई एक बार प्रसूत गाय (शृष्टि) की भाँति अधिक 'सू, सू' शब्द करती है। शुष्क पुष्पमाला से वेष्टित (पहने हुए) मन्त्र जपते हुए वृद्ध पुरोहित की भाँति, मनुष्य भी मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाता हुआ मुझे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता।

चारदत्त—मित्र, रेभिल महोदय ने आज वास्तव में बहुत अच्छा गाया और काज सन्तुष्ट नहीं हुए।

(भाव रेभिल का वह गीत)—रागपूर्ण, मधुर, (स्वर) तथा लय आदि की समजा जाता, स्पष्ट, भावपूर्ण, सलिल एवं मनोहर (धा)। या मेरे कहे बहुत से प्रशंसा के वचनों से क्या ? ऐसा, लगता या कि (रेभिल के रूप में) स्त्री छिपी हुई हो ॥४॥

वाक्स्तौ सूक्ष्ममधुरध्वनि ("काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनी" इत्यमरः)। इत्ता एता नस्या नासिकाविवररज्जुः यस्यै सा शृष्टिः सकृत्प्रसूता गीः सा इव । शुष्काणां पुषनमां पुष्पाणां दाम्ना मालया वेष्टितः वृद्धपुरोहित इव । शुष्केत्यादि विशेषणैर्न चिरसान्त्रयप्रवणता व्यज्यते । यथा स वृद्धपुरोहितः चिराय मन्त्रं जपन् न रोचते एवं वाक्स्तौ गायन् पुरुषोऽपि ।

विदूषकस्य वचनं निशाम्य चारदत्तः भूयः रेभिलस्य गीतस्य प्रशंसा करोति—  
रक्तमिति । तस्य गीतं हि च नाम रक्तं रागयुक्तं च मधुरं श्रुतिमुक्तं च समं स्वराणां गान्ध्रस्ययुक्तं स्फुटं च स्पष्टं सुश्राव्यमिति यावत् भावान्वितं च भावपूर्णं सलिलं च सान्निध्यव्ययमविशेषज्ञानि (पृ०वी०) मनोहरं च हृदयकार्यकं च आसीत् । वा अथवा कृष्णिः मधुरः मया कथितः प्रशस्तवचनैः प्रशंसावचनैः किं को लाभः ? यदि वनिता सुन्दरी, अन्तहिता रेभिलरूपेण प्रच्छन्ना भवेत् इति मन्ये संभावयामि । अन्तहिता योपदेव गायति न रेभिलः इति प्रतीयते । अनेन गीतस्य माधुर्यातिरेको व्यज्यते—  
वेन्दमानङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४॥

अपि च ।

त तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिर श्लिष्टं च तन्वीस्वनं  
वर्णानामपि मूर्च्छंनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।

हेलासंयमितं पुनश्च मलितं रागाद्विरुच्चचारितं

यरसस्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि श्रृण्वन्निव ॥१॥

विदूषक—भो वरसस, आयणान्तररच्छाविभाएणु सुह कुवकुरा वि सुत्ता । ता  
गेह गच्छेम्ह । (अप्रतोऽवलोरय) वरसस, वेवत वेवत । एतो वि अन्धभाररस विअ  
अवभास देन्तो अन्तरिवलपासादयो ओदरदि भअय चन्वो । भो वयस्य, अ पणा-  
न्तररष्याविभागेषु सुख कुवकुरा अपि सुत्ता । तद्गृह गच्छाव । वयस्य, पश्य  
पश्य । एपोऽप्यन्धकारस्तेवाव ताश दददन्तरिक्षप्रासादादयतरति भगवाश्चन्द्र । ]

धारवत्त—सम्यगाह भयान् ।

असौ हि दत्त्वा निमिरावताशमस्तं प्रजतमुन्नतरोटिरिन्दु ।

जलागमादस्य वनद्विपस्य तीक्ष्ण विषाणाद्यमिवावशिष्टम् ॥६॥

विदूषक—भो, एव अम्हाण गेहम् । वड्डमाणअ, वड्डमाणअ उम्पाटेहि  
बुभारअम् । [भा, ददमस्माकं गृहम् । वधमानं वधमानं, उद्घाटय द्वारम् । ]

चेट—अज्जमित्तेअसस मससजोए सुणीअदि । आणवे अज्ज, चाबुदत्ते । ता  
जाव दुआसअ शे उम्पाटेमि । (तथा वत्त्वा) अज्ज वन्दामि । मित्तेअ, तुमपि वन्दानि  
एस्य विरिषण्णे आसणे जितीऽणु अज्जा । [आर्यमैत्रेयस्य स्वरसंगीतं श्रूयते ।  
आगत आयचारदत्त । तत्रावद्द्वारमस्योद्घाटयामि । आर्यं, वन्दे । मैत्रेय, त्वा-  
मपि वन्दे । अत्र विस्तीर्णं आसने निपीदतमाथो । ]

(उभो नाटकेन प्रविश्योपविशत )

विदूषक—वड्डमाणअ, रअणिअ तद्वावेहि पावाइं धोइदुम् । [वधमानक,  
रदनिकामावारय । पादो घायितुम् । ]

तमिति । तस्य यत् गीतसमये विरते अपि वर्णानां मूर्च्छंनान्तरगतम् अपि तारं  
विरामे मृदु पुनश्च हेलासंयमितं रागाद्विरुच्चचारितं तस्य (रथिलरय) मधुरगिर त स्वर-  
संक्रमं श्लिष्टं तन्वीस्वनं च श्रृण्वन् इव अहं गच्छामि-इत्यन्वयः ।

इदं तस्य यत् गीतसमये गीतकाले विरते व्यतीतं अपि तस्य रेभितस्य मधुरगिर-  
मधुरवाण्याः तं तदानीं श्रुतं स्वरसंक्रमं स्वरानां निपादादीनां सप्तानां सङ्गमं समीचीन-  
क्रमं सङ्गारं वा श्लिष्टं गीतादारैरभिगताया श्रूयमाणं तन्वा वीणायाम् स्वनं इति

और भी—

सत्य है, कि गीत (गाने) का समय बीत जाने पर भी वर्णों की मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के अन्तर्गत (आरोह के समय) अत्युच्च, विराम के समय कोमल और फिर सीलापूर्वक (हेतया) नियन्त्रित, सुन्दर, एवं रागो में दो बार उच्चारण की हुई उस (रेभिल) की कोमल वर्णों की उस स्वरयोजना को एवं (उपसे) मिली हुई वीणा की ध्वनि को, मैं मुनता-मा जा रहा हूँ ॥१॥

विदूषक—हे मित्र, बाजार की मध्यवर्तिनी गलियों की शाखाओं में कुत्ते भी सुख से सो गये हैं। तो पर चलो (सामने देखकर) मित्र, देखो देखो। यह भी अंधेरे को अवकाश सा देते हुए भगवान् चन्द्रमा आकाशरूपी महल से उतर रहे हैं।

चारदत्त—आपने ठीक कहा।

अंधकार को अवकाश प्रदान करके उन्नत अग्रभाग वाला यह चन्द्रमा इसी प्रकार अस्त होने जा रहा है जिम प्रकार जल में डूबे हुए वन्य हाथी के दाँत का तीक्ष्ण अग्रभाग (पानी में डूबने से) जेष रह गया हो ॥२॥

विदूषक—श्रीमान् जो यह हमारा पर है। वर्धमानक, वर्धमानक, दरवाजा खोलो।

चेट—आर्य मंत्रेय का स्वरसंयोग सुनाई दे रहा है। आर्य चारदत्त आ गये। तो अब दरवाजा खोलता हूँ। बैसा करके) आर्य प्रणाम करता हूँ। मंत्रेय, तुम्हें भी वन्दना करता हूँ। यहाँ विद्ये हुए आमन पर आप दोनों बैठें।

(दोनों अभिनय के द्वारा प्रवेश करके बैठ जाते हैं।)

विदूषक—वर्धमानक, पैर धोने के लिए रदनिका को बुलाओ।

न इदानीमपि शृण्वन् इव अहं (चारदत्तः) गच्छामि । स्वरसंक्रममेव विगिनष्टि, कीदृशं स्वरसंक्रमम् ? वर्णानां गीताक्षराणां मूर्च्छना स्वराणां क्रमेण आरोहावरोहौ तस्याः अन्तरगतं मध्ये स्थितमपि तारम् उच्च विरामे वर्णानां विद्यामे च. मृदुं कोमलम् । पुनश्च हेतया सीलयो मयमिन् नियन्त्रितं रागेषु संगीतविद्यायाः रागविशेषेषु द्वि. वाद्ययम् उच्चारितम् । उद्वेगालङ्कारः । मार्दलविशीलित वृत्तम् ॥१॥

आपणस्य हृदस्य अन्तरे मध्ये ये रम्यानां विभागाः तेषु । अन्तरिक्षनेव प्रासादः तस्मान् ।

चारदत्तोऽन्तं गच्छन् चन्द्रमग वर्णयति—असाविति जसे अवगाढस्य निमग्नस्य वनद्रिपस्य वनगजस्य अक्षशिष्टं जलावगाहनात् शिष्टं तीक्ष्णं विषाणायम् इव दन्तस्य अग्रभाग इव दृश्यमानः हि सन्नु उन्नता कोटि. अग्रभागो यस्य तथाभूत्. अमो इन्दु. चन्द्र. तिमिरस्य अंधकारस्य अवकाश प्ररणावसर दस्या अत घनति गच्छति । उपमातद्गारः । उपजातिः वृत्तम् ॥२॥

धारुदत्त—(सानुक्म्पम्)अल सुप्तजन प्रबोधयितुम् ।

चेट —अञ्जमित्तेभ, अह पाणिभ मेणेहे । तुम पादाइ धोवेहि । [आर्यमंत्रेय, अह पानीय गृह्णामि । त्व पादो धाव ।]

विदूषक—(सक्रोधम्) भो वअस्त, एसो दाणि दासीए'पुत्तो भविअ पाणिअं मेणेहेदि । म उण बग्हेण पादाइ धोवावेदि । [भो वयस्य, एष इदानी दास्या पुत्रो भूत्वा पानीय गृह्णाति । मा पुनर्ब्राह्मण पादो धावयति ।]

धारुदत्त —वयस्य मंत्रेय, त्वमुदकं गृह्णाण । वर्धमानक पादो प्रक्षालयतु ।

चेट —अञ्जमित्तेभ, देहि उडभम् । [आर्यमंत्रेय, देह्युदकम् ।]

(विदूषकस्तथा वरोति । चेटपधारुदत्तस्य पादो प्रक्षालयापसरति)

धारुदत्त —दीयता ब्राह्मणस्य पादोकम् ।

विदूषक—किं मम पादोदकं । भूमोइ ज्जेव मए ताडितगदंभेनेव पुनरपि लोठितव्यम् । [किं मम पादोदकं । भूम्यामेव मया ताडितगदंभेनेव पुनरपि लोठितव्यम् ।]

चेट —अञ्जमित्तेभ, बग्हेणे वत्तु तुमम् । [आर्यमंत्रेय, ब्राह्मणः सलु त्वम् ।]

विदूषक—जथा सभ्यणागान मज्जे डुण्डुभो तथा सव्वबग्हेणाण मज्जे अह बग्हेणो [यथा सर्वनागाना मध्ये डुण्डुभ, तथा सर्वब्राह्मणाना मध्येऽह ब्राह्मण ।]

चेट —अञ्जमित्तेभ, तथा वि धोइदसम् । (तथा वृत्वा) अञ्जमित्तेभ, एव स शुवण्णमण्डअ मम विद्या, तुह सति च । ता मेह् । (इति दत्त्वा निष्क्रान्त) आर्य-मंत्रेय, तथापि धाविष्यामि । आर्यमंत्रेय, एतत्तत्तुमुवणंभाण्ड मम दिवा, तव रात्री च । तद्गृह्णाण ।]

विदूषक—(गृहीत्वा) अञ्ज वि एव चिट्ठवि । वि एष उञ्जइणीए घोरो वि णरिय, जो एव दासीए पुत्त णिदाचोर ण अवहरदि । भो वअस्त अभ्यन्तरचतु-स्तालअ पवेतभ्रामि णम् । [अद्याप्येतत्तिष्ठति । किमत्रोज्जयिन्या घोरोऽपि नास्ति य एतं दास्या पुत्र निद्राचोरं नापहरति । भो वयस्य, अभ्यन्तरचतु-शालकं प्रवेशयाम्येनम् ।]

धारुदत्त —

अर्त्तं चतु शालमिमं प्रवेशय प्रनाशनारीघृत एव यस्मात् ।

तस्मारस्वयं धारय विप्र तावद्यावन्त तस्या रलु भो सम्प्यंते ॥७॥

(निद्रां नाटयन्' त तस्य स्वरसङ्गमम्—'(१/५) इति पुन पठति)

धारवत्—(दया सहित) सोने हुए जन (रत्निका) को बचाने की रहने दो।

सेट—आयं मंत्रेय, मैं पानी लेता हूँ। तुम परीं को छोड़ो।

विदूषक—(कोधदूषक) यह (सेट) दासी का पुत्र होकर आप पानी लेता है और मुझ ब्राह्मण से परे धुलवाता है।

धारवत्—मित्र मंत्रेय, तुम पानी लो। वर्धमानक परीं को छोड़ो।

सेट—आयं मंत्रेय पानी दो।

(विदूषक बैसा करता है। सेट धारवत् के परीं को धोकर हट जाता है)

धारवत्—शाश्वत के लिए पादोदक ढींजिए।

विदूषक—पादोदक से मेरा क्या ? पीटे हुए गधे की भाँति मुझे तो फिर धरती पर ही लेटना होगा।

सेट—आयं मंत्रेय तुम ब्राह्मण हो।

विदूषक - त्रिन प्रकार सब तीनों के बीच में (विपरहित) जन सपं (दुग्धम) है, उनी प्रकार सब ब्राह्मणों के बीच में मैं (तेजहीन) ब्राह्मण हूँ।

सेट—फिर भी धुनाऊँगा। (बैसा करके) आयं मंत्रेय, यह स्वर्ग-भात्र दिन में मेरा और रात में तुम्हारा (है)। तो लो (देकर निकल आता है)।

विदूषक—(निकर) यह आज भी स्थित है। क्या यहाँ उज्जयिनी में चौर भी नहीं है जो इस दासी के पुत्र नींद के चौर (मुवर्गपात्र) को नहीं चुरा लेता है। मित्र ! इनकी भीतरी बतुआला में प्रविष्ट कराता (रखता) हूँ।

धारवत्—इम (मुवर्गपात्र) को बतुआला में पहुँचाने को रहने दो, क्योंकि यह देवता के ड्राण रक्ता गया है। इमानिये हे शाश्वत, इनको तब तक स्वयं रक्खो, जब तक उच्छा यह (पात्र) मोटा नहीं दिना जाता ॥३॥

(निद्रा का जमिनय करता हुआ, 'जसही जस स्वल्पोत्रता को—(३/१) यह फिर पढ़ता है)

इन्द्रमः जनसर्पः । यथा सन्नेषु ब्रह्मसर्पः विषहीनो भवति तथैव ब्रह्मपि ब्रह्मणेषु ब्रह्मदेशीनीर्भस्मि—इति भावः । .

ब्रह्मपिनि । इमं ब्रह्मण्येनायाः सुवर्गपात्रं बतुआला प्रयेय अने प्रविष्टं न. कृक पन्नात् यतः एवः प्रकाशनायं देवता धृतः न्यासीभूतः [धृतः परिहितः, अतः कुतुम्बिन्यन क्लृप्तनिवेशनम्पाने स्वारन्दिदुपयोग्य इत्यर्थः—इति जाने] तस्मात् कारणात् भोः विद, कान्त् कान्त् स्वयं धारय रत्न पात्रं बतु तस्याः ब्रह्मण्येनायाः (बर्ध भात्रः) न समर्थांते न दीयते । उपकारिः इत्यम् ॥३॥

विदूषक—अंवि निद्राभदि भवम् । [अपि निद्राति भवान् ।]  
 धारुदत्त.—अय किम् ।

इय हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।  
 अट्टशरूपा चपला जरेव वा मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते ॥८॥

विदूषक—ता मुवेह्य । [तत्स्वपिवः । ] (नाट्येन स्वपिति)  
 (ततः प्रविशति शविलक )

शविलक—

कृत्वा शरीरपरिणाहमुत्प्रवेशं  
 शिक्षाबलेन च बलेन च कर्मभागम् ।  
 गच्छामि भूमिपरिसर्पणमृष्टपाश्वर्यं  
 निमुञ्च्यमान इह जीणतमुभुञ्जङ्ग ॥९॥

(नमोऽवनोप सहर्षम्) अये, कयमस्तामृषगच्छात स भगवान् मृगाङ्क ।  
 तथा हि—

नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचार परगृहदूषणनिश्चिर्तकवीरम् ।  
 घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरिय जननीव सवृणोति ॥१०॥

विदूषकप्रश्नस्योत्तर ददान्शारुदत्त निद्राया आगमन वर्णयति इत्यमिति ।  
 ललाटदेशात् हि नयनावलम्बिनी इय इय निद्रा माम् उपसर्पति वा अट्टशरूपा चपला  
 जरा इव मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते, इत्यन्वय (टि०) । यतः (= हि) ललाटदेशात्  
 मस्तकप्रदेशात् नयने अकरावने इति नयनावलम्बिनी नेत्राभ्यांशो इव इयम् अनुभूय-  
 माना निद्रा माम् उपसर्पति मम समीपम् आकर्षयति इव । वा निद्रा अट्टशरूपा इव  
 यस्या तपाभूता अट्टशरूपा चपला चञ्चला जरा वृद्धावस्था इव मनुष्याणां सत्त्वं बल  
 परिभूय तिरस्कृत्य वर्धते परितरति । उपरोक्ता उपमा च । वरास्य वृत्तम् ॥८॥

नाट्येन स्वपिति स्वापस्य अभिनय करोति ।

शौचकर्मणि तत्परः शविलकः स्वकीय कर्म वर्णयति इत्येति । शिक्षा बलेन  
 शौचकर्मणायाः शिक्षासामर्थ्येन बलेन शरीरशक्त्या च शरीरस्य परिणाह विशालता तस्य  
 मुक्तेन प्रवेशो यत्र तयाभूत कर्मभाषं सन्धिच्छेद (टि०) इत्या निमुञ्च्यमान कञ्चुकेन  
 हीयमान जीर्णं तनुं यस्य स मुञ्जङ्ग सर्प इव भूमौ परितारयन्तेन मृष्टौ धर्ममपूरतो  
 पार्ष्णी यस्य तथाभूतं मन् गच्छामि । उपमा । वसन्ततितनावृत्तम् ॥९॥

विदूषक—अरे आप तो सो (निदिया) रहे हैं ?

चारुदत्त—और क्या ? क्योंकि मस्तक प्रदेश से नेत्रों में उतरती-सी यह निद्रा मेरी ओर आ रही है। जो अहस्य रूप वाली चञ्चल वृद्धावस्था के समान मनुष्य के मन की अभिमन्यु करके बढ़ती है ॥५॥

विदूषक—तो सोते हैं। (अभिनय के द्वाग सो जाता है)

(तत्परचात् शविलक प्रवेश करता है)

शविलक—गिर्रा के बल एव शक्ति के द्वारा देह की विगलता के मुख से प्रवेश करने योग्य संध (कर्ममांग) करके भूमि पर रेंगने से घषित (छिले हुए) पार्श्व-भाग वाला मैं (शविलक) केंचुली को छोड़ने हुए जबर देह वाले सर्प के समान संध में जाता हूँ ॥६॥

(आकाश की ओर देखकर हृष्युर्वक) अरे ! क्या वह भगवान् चन्द्रमा अस्त होने जा रहे हैं। क्योंकि—

राजकुमारों के द्वारा जिनके समनायमन में भी ताड्डा की जाती है, तथा जो दूसरे के घरों को दूषित करने में निश्चित (माना हुआ) एकमात्र बोर है, ऐसे मुझ को—घने अन्धकार-समूह के कारण भाच्छल हो गये हैं तारे जिनमें [माता के पक्ष में पटन नामक रोगविशेष रूपी अन्धकार से व्याप्त हैं पुनती जिनकी]-जैसी मैं रात्रि माता के दुस्य ढक रही है ॥७॥

अस्तं यच्छल चन्द्रमस्त हृष्युर्वकः स्वमनसि बरोदि-नृक्तोति । घन निविहं पदलं ससुरो मस्य तदाभूतेन तममा निष्ठा आच्छन्ना ताराः यत्र सा इयं रवितिः रात्रिः [ घनतिमिरनिच्छमवंभावा इति वा पाठः घनतिमिरेण निच्छाः सर्वे भावाः यत्र इत्यर्थः ] नृपतिनुस्येभ्यः राजनुरयेभ्यः शङ्कितः शङ्काविपयीकृतः प्रचारः सञ्चरन् मस्य तादृगं परंशुहापां दूषने निश्चितः एषवीरः प्रधानवीरः तं मां शविलकं बलं यत् मदनं रोगविशेषं तस्य तममा निच्छाः ताराः बनीनिद्याः यस्याः [ पाठान्तरे तु घनतिमिरं प्रेमान्पना नेत्र निच्छाः सर्वे भावाः मस्या मा रेवतं वात्स-रन्देखितोपसं, काले ] तादृगो बन्नी इव संशुनोति गोरात्रि । यथा वात्सल्यतुत्परा माता घातनुरगापां शङ्कासदं परंशुहापां दूषकमसि य स्वपुत्रं शोभयति तपेवं रात्रि-रति मां शोभयति-इति भावः । उतमानद्वारः । पुष्पिताया इतम् ॥७॥



वृक्षवाटिकापरिसरे सन्धि कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम् । तद्यावदिदानीं  
चतुःशालकमपि दूषयामि । भो ,

कामं नीचमिदं वदन्तु पुराणा स्वप्ने च यद्दधति

विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।

स्वाधीना वचनीयतापि हि परं बद्धो न सेवाञ्जलि-

मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥

तत्कस्मिन्नुद्देशे सन्धिमुत्पादयामि ।

देशः को नु जलावरोकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-

ङ्गिस्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।

क्षारसौप्ततया च लोष्टनकृत्वा जीर्णं क्व हर्म्यं भवे-

त्कस्मिन्सौजनदर्शनं च न भवेत्स्यादधेसिद्धिश्च मे ॥१२॥

वृक्षवाटिकायाः परिसरे समीपवतिदेशे ।

शबिलकः चौर्यकर्मविषये तर्कयति—शामिति । यत् स्वप्ने निद्रायां न तु  
जाग्रदवस्थायाम् बाधे प्रसरति, विश्वस्तेषु विश्वासम् आपन्नेषु शङ्कारक्षितेषु वा जनेषु  
वञ्चनाया इत्यादिहरणेन परिष्वत्तिच्छकारः भवति तत् तयाभूतं चौर्यं चौरकर्म न  
शौर्यं न घ्राणो कर्म न पराक्रम इति यावत् । तस्मात् कामं पुराणा इदं चौरकर्म  
नीचं वदन्तु वयन्तु तथापि वचनीयता अपि निन्दनीयता यत्र निन्दायाः निमित्तं  
कर्मपीति भावः, यदि स्वाधीना स्वायत्ता तदा हि निश्चयेन वरं श्रेष्ठं न सेवाञ्जलि  
सेवायाः अञ्जलि बद्धः तथा । सेवा हि श्रवृत्तिः तदपेक्षया स्वाधीनं चौर्यादिकमपि  
निन्दितं कर्म श्रेष्ठमिति भावः । यतः (—हि) एष मार्गं विश्वस्तानां वञ्चनारूपः  
पूर्वं पुरा एव नरेन्द्रस्य मुषिष्ठिरस्य पुत्राणां सौप्तिकवधे गुप्तावस्थायां यद्ये वृत्तः  
निमित्तः । 'सौप्तिकम्' इति भावकत्वान्नाद् अघ्यात्मादित्वाद्दृञ् (पृच्छी०) । काम्यनिङ्गम्  
अर्धान्तरं गच्छत् । शान्दुं सवित्रीदितं वृत्तम् ॥११॥

दृश-नाटिका के समीप संघ करके चारदीवारी के अन्दर घुस गया है । तो अब तनिक चतुःशास्त्रा को भी (गन्धि करके) दूषित करता है ।

जो लोगों के मो जान पर वृद्धि पाता है, विश्वस्त जनो का द्रव्यहरण (वञ्चना) रूपो पराभव करने वाला है वह चौर्यकर्म गुरों का कार्य नहीं है । इसीलिये मनुष्य इसे भले ही नाँच कार्य कह, तथापि निन्दनीय कार्य भी जो स्वार्थी है, वह श्रेष्ठ है, सेवा में हाथ जोड़ना अच्छा नहीं और यह (चोरी का) मार्ग तो पहले ही राजा (पाण्डव) के सोते हुए (सोयाओं या पुत्रों) के वक्ष में द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) ने बना (दिखा) दिया था ॥११॥

तो किस स्थान पर संघ बनाऊँ ।

जल के निरूपन से शिथिल हुआ दीवारी का कौनसा ऐसा स्थान है जिसमें (संघ लगाने में) शब्द न हो, संघ विशाल (=कराल) हो जाये किन्तु दृष्टिगोचर न हो [अथवा यह संघ चौर्य गाम्भ्य में विहित नियमों से विपरीत (कराल) न हो जाय] ? और, वहाँ धर (=हाथ) धार (धार-अथवा रेह) में क्षीण हो जाने के कारण दुर्बल देखा में मुक्त एवं जीर्ण है ? किम रथान पर स्त्रीजन का दर्शन न होगा तथा भेरे प्रयाजन (चोरी) में सफलता हो जायेगी ? ॥१२॥

शतिलकः सन्धिकरुणयोर्म्यं स्थान विचारयति—देश इति । कः नु मित्तोर्ना देश जनावगेवनिधितः भवेत् यस्मिन् शब्दः न भवेत्, सन्धि च करालः भवेत् न च दर्शनान्तरमनः, यत्र च हर्म्यं धारधीपतया लोप्टभृशं जीर्णं च भवेत्, यस्मिन् स्त्री-जनदर्शनं च न भवेत्, अपेमिद्धिः च मे स्यात् । इत्यन्वयः ।

क. नु मित्तोर्ना देश भाग जलस्य अवयवेन पतनेन शिथिलः भवेत्, यस्मिन् धारनञ्जन्य शब्दः न स्यात्, सन्धि च करालः विशालो भौषणो वा भवेत् न च दर्शनान्तर-मानः, दृष्टिविषय प्राप्यः भवेत् । यत्र रत्नपुण्या न द्रष्टुं प्रभवैरुक्ति भावः । दर्शनान्तरं कनकजन्त्यादिमनविशेषम् तदनुगतं तदुर्बोधितं । करालो विपरीतः इति वृष्वीधरः । यत्र च हर्म्यं गृहं गृहमितिर्वा धारेण शोणतया दुर्बलतया लोप्टभृशं कृशानि संश्लोकानि यत्र (आश्रितान्ग्यादिस्वान् कृशजन्त्यादि परनिपातं) तथाभूतमत एव जीर्णं च भवेत् । यस्मिन् प्रदेशे स्त्रीजनस्य दर्शनं न भवेत् तत्र चौर्यकार्ये निपिडत्वात् । शतिल-कस्य मे मम अपेक्ष्य प्रयोजनं च सिद्धिः च स्यात् । नार्दूनविशीलित इत्यम् ॥१२॥

(भिति परामृष्य) नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन . दूषितेयं भूमिः धारक्षीणा ।  
 मृषिकोत्कारश्चेह । हस्त ! सिद्धोऽयमर्थः । प्रथममेतत्स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम् । अत्र कर्मप्रदर्शने कीदृशमिदानीं रात्रिमुत्पादयामि । इह खलु भगवता  
 कनकशक्तिना चतुर्विधं रात्र्युपायो दर्शितः । तद्यथा पयवेष्टकानामाकर्षणम्,  
 आमोष्टयानां श्रेयनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति । तदत्र  
 पयवेष्टके इष्टिवाकर्षणम् । तत्र,

पद्मव्याकोशं भास्वर वातचन्द्र

यापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णवृम्भम् ।

तत्पश्चिन्देसं दर्शयाम्यात्मशिल्पं

दृष्ट्वा इवो यं यद्विस्मयं मन्ति पौरा ॥१३॥

तदत्र पयवेष्टके पूर्णवृम्भ एव शोभते । तमुत्पादयामि ।

अन्यामु भित्तिपु नया निर्णिष पाटितामु

धारक्षतामु विपणामु च कल्पनामु ।

दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशियतौ

दोवाग्न मे वदति कमणि कौशल च ॥१४॥

आर्षदत्तदर्शनस्य सूयदर्शनसामन्वितेन उदकरय सेचनेन । मृषिकानाम् उत्कर  
 उद्धृतधूलिमुञ्ज । हस्त इति सर्वमूत्रवगम्ययम् । स्कन्दपुत्राणां स्कन्दसिद्ध्यानां पौरा-  
 णाम् एतत् प्रथमं प्रथमं सिद्धिलक्षणं संपत्तायाः चिह्नम् । कनकस्य शक्तिं आधु-  
 विशेषः यस्य तेन कनकशक्तिनामकेन शौर्यशास्त्रकारेण ।

आत्मनाम् अपनयानाम् इष्टकानाम् । पिण्डमयानां मृत्तिकातोष्टकनिर्मिता-  
 नाम् । शौर्यशास्त्रे प्रोक्तानां सप्तविधानां सन्धीनां मध्येऽत्र कीदृशं विधातव्यं इति  
 तर्कयति पद्मेति । तत्र शौर्यशास्त्रे सप्त रात्रयः प्राणाः । पद्मव्याकोशादयः तेषां नामानि  
 सप्तानि— १ पद्मवत् व्याकोशं विनतितम्, २, भास्वरवत् गोलाकारं विज्ञानं वा  
 ३ बालचन्द्र इव चन्द्रकारं, ४ यापीसदृशं, ५ भित्तीर्णं विनृतं, ६ स्वस्तिकं  
 स्वस्तिकपिण्डसदृशं, ७ पूर्णवृम्भम् अथ संपूर्णम् उच्यते . च वृम्भम् । तत् ततः कर्मम्  
 हेतोः सद्यो आत्मशिल्पम् आगमनीयस्य दर्शयामि दर्शयामि यत् यस्मात् यं सार्धं

(दीवार को छूकर) नित्य मूर्ध्न दर्शन के समय जल देने (सिंचन करने) में यह भूमि दूषित है और रेह से जर्जर है। यहाँ चूहों द्वारा किया हुआ (मिट्टी आदि का) ढेर (मूषिकोत्करः) भी है। हर्ष है ! यह प्रयोजन (चोरी) सफल हो गया। स्कन्द के पुत्रों (शिष्य—अर्थात् चोरों) की सफलता का यह प्रथम चिह्न है।

यहाँ कार्य प्रारम्भ करने पर कौसी सेंध बनाऊँ ? वस्तुतः इस सम्बन्ध में भगवान् कनकशक्ति (चौधंशास्त्र के एक आचार्य) ने चार प्रकार का सेंध लगाने का उपाय प्रदर्शित किया है, जैसे कि—पक्की इंटों (वाले भवनों में इंटों) का खोचना, बच्ची इंटों (के घरों में इंटों) का छेदना, मिट्टी के ढेलों (गोदों) से निर्मित (घरों में भित्ति) का सिंचन करना, काष्ठ निर्मित (घरों में काष्ठ) का उलाड़ना। तो यहाँ पक्की इंटों (वाले भवन) में इंटों का खोचना (उचित है)।

वहाँ—

जिना हुआ कमल, मूर्ध्न (गोल), वाल चन्द्रमा (अर्धचन्द्राकार), वावही (जैसी) विम्बून, स्वस्तिक के चिह्न जैसा, पूर्ण कुम्भ—(सेंध लगाने के इन मात प्रकार में से किमका उपयोग करके) जिस स्थान पर अपना कौशल दिखलाऊँ जिसे देखकर कल को नागरिक लोग आश्चर्य को प्राप्त हो जायें ॥१३॥

तो यहाँ पक्की इंटों (वाले घर) में पूर्ण कुम्भ (नामक सेंध) ही अच्छी लगती है। वही बनाना है।

पट्टीमियों का समुदाय प्रातःकाल देखकर मेरे द्वारा रात्रि के समय फोड़ी गई पार-रेह) में अव्यक्त हुई अन्य भित्तियों में तथा (मेरी) विषम (दुष्कर) कल्पनाओं में मेरे दोषों को एवं कार्य-बीगत को कहेगा ही ॥१४॥

दृष्ट्वा इव पीराः पुरे भवा नागरिका विस्मयम् आश्चर्यं गान्ति प्राप्नुवन्ति । वैश्वदेवो वृत्तम् ॥१३॥

अन्वास्त्विति । प्रतिवेशिवर्यः प्रभातसमये दृष्ट्वा भया निगि पाटितान् अन्याम् धारशान्ताम् भित्तिषु, विषमाम् कल्पनाम् च मे दोषान्, कर्मणि कौशलं च वदति इत्यन्वयः ।

प्रतिवेशिता पार्व्वेतिना वर्यं समुदायः प्रातःकाले (मन्वृत मग्धि) दृष्ट्वा भया भस्मिन्नेन निगि रात्रौ पाटितान् विशग्निनाम् अन्याम् शारेण शान्ताम् जीर्णान् भित्तिषु विषमाम् अन्यैः दुष्करान् कल्पनाम् रचनाम् च मे मम दोषान् अपवादान् कर्मणि मग्धिप्रार्ये कौशलं नैपुण्यं च वदति (६०) । तुन्योगितासङ्कारः । वसन्ततिनवा वृत्तम् ॥१४॥

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवप्रताप्य नमो  
भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याह प्रथमं शिष्य । तेन च परितुष्टेन  
योगरोचना मे दत्ता ।

अनया हि समालम्ब्य न मा द्रक्ष्यन्ति रत्निण ।

शस्त्रं च पतितं गात्रे रज नोत्पादयिष्यति ॥१५॥

(तथा करोति) धिक्कष्टम् । प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम् । (चिञ्चिन्च) आ. इदं यज्ञो-  
पवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति । यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महद्रूपकरणद्रव्यम्,  
विशेषतोऽस्मद्विषयः । कुतः ।

एतेन भाषयति भित्तिषु कर्ममार्ग-

मेतेन मोक्षयति भूषणसप्रयोगान् ।

उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे

दष्टस्य कीटभुजगं परिवेष्टन च ॥१६॥

भाषयित्वा कम समारभे । (तथा इत्वावलोच्य च) एकलोप्यावसेपोऽयं  
सन्धिः । धिक्कष्टम् । अहिना दष्टोऽस्मिः । (यज्ञोपवीतेनाङ्गुली बद्ध्वा विषयेषु  
माटयति । चिञ्चिता इत्वा) स्वस्पोऽस्मिः । (पुनः कर्म कृत्वा । दष्ट्वा च) अये,  
ज्वलति प्रदीपः । तथा हि—

शिला प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा महीतले सन्धिमुखेन निगता ।

विभाति पर्यन्ततम समावृता सुवर्णरेखेव कप निवेशिता ॥१७॥

कार्तिकेयः परमगुरुः । “ब्रह्मण्यदेवादयोऽपरपुरवः इत्याहु सर्वे” इति पृथ्वीधरः ।  
अपवा कनकशक्तये नमः कीदृशाय ब्रह्मणि साधु ब्रह्मण्यः स पातो देवश्च तस्मै ।  
पुनः कीदृशाप्य देवानां दत्तं यस्मिन् तथाभूताय योगरोचना योगेन साधिता रोचना  
द्रव्यविशेषः ।

शक्तिकः योगरोचनाया प्रभायः पर्यन्तति—अनयेति । निश्चयेन हि अनया  
योगरोचनया समालम्ब्यं तित्परासीर मा शक्तिरु रत्निणः रसाकपुरुषा न द्रक्ष्यन्ति ।  
गात्रे मम देहे च पतितं शस्त्रं एज पीडा न उत्पादयिष्यति । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१५॥

शक्तिकः आत्मविधाना जनानां हृत्वे यज्ञोपवीतस्योपयोगं वर्णयति—एतेनेति ।  
मादुशः शीरजस एतेन यज्ञोपवीतेन भित्तिषु कर्मणः चोर्मकर्मणः मार्गं सन्धिद्रव्यं  
भाषयति । एतेन च भूषणानां षट्कवत्तपादीनां सम्प्रयोगान् स्तिष्टयन्त्यान् मोक्षयति  
शिपिलीकरोति । यन्त्रेण अगंलादिना दृढे कपाटे उद्घाटकं भवति । शीटेः भुजगः

यह प्रदान करने वाले कुमार कार्तिकेय के लिये नमस्कार है, कनकशक्ति ब्रह्मदेव एवं देवदत्त के लिये नमस्कार है, भास्करनन्दी के लिये नमस्कार है योगाचार्य के लिये नमस्कार है जिनका मैं प्रथम शिष्य हूँ। सन्तुष्ट हुए उस (योगाचार्य) ने योगरोचना (ऐसी वस्तु जिनसे मनुष्य ब्रह्म हो सके और शस्त्रादि के प्रहार से घोट न लगे) मेरे लिये दी है।

इस (योगरोचना) से लेपन किये हुए मुक्तको रसक सोंग नहीं देस पायेंगे और शरीर पर पड़ा हुआ शस्त्र पीड़ा उत्पन्न नहीं करेगा। (बैसा करता है)।

हाथ, छेद, ! अपना नानने का घाघा (प्रमाणसूत्र) भूज आया। (सोचकर) हाँ, यह यज्ञोपवीत नानने का घाघा बन जायेगा। यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण की बड़ी उपयोगी वस्तु है, विशेषतः हम जैसे की।

स्मोक्ति—

इसने (स्मिन्नि) दीवारों में मेष नापता है, इसमें आभूषणों के जोड़ (सन्धिस्थल) मोन देठा है। जिवाड़ के पन्त्र (मिटकनी) में बन्द किये होने पर (उसका) खोलने वाला होत्रा है तथा यह जोड़े और सरों के द्वारा काटे हुए का (विष निवारण के लिये समाये जाने वाला बन्द बन्धन (बाधने की वस्तु) हो जाता है ॥१६॥

नापकर कार्य (मेष नापना) आरम्भ करता है। (बैसा करके और देखकर) इस मेष में एक ईंट बची है। हाथ, कष्ट। साँप के द्वारा काट लिया गया है।

(यज्ञोपवीत में अगुनी को बांधकर विषवेग का अमिनय करता है। चिकित्सा करके)

स्वस्थ हो गया है। (निर कार्य करके और देखकर) अरे ! दीपक जल रहा है। स्मोक्ति—

स्वर्ग जंमी पीवी, संध के मार्ग में (बाहुर) भूमि पर निकली हुई (तथा) चारों ओर अन्धकार में आहत दीपक की मिखा ऐसी शोभित हो रही है जैसे कसौटी पर सीधी गई स्वर्ग की रेखा ॥१७॥

मरुः च ब्रह्मण्य इदं यज्ञोपवीतं परियेष्टनं दग्धनं च भवति । मनुष्यपुत्रद्वाराः । वनलक्षितका वृत्तम् ॥१६॥

एकः सोष्टः अगुनी यत्र सः ।

स्वस्थः स्वस्मिन् स्वल्पे निष्टनीति ।

दुर्गायने प्रणवनिर्गम्य प्रतीनस्य बहिरामकडनी प्रभा वगयति शक्तिरकः शिष्येति—सुवर्णवद् निररा निष्प्रतनवर्गा, सन्धिमुहेन महोत्तये बहिः पूम्ना निपंता नि मृता तथा परंत्नेयु परितः तमया अन्धरातेय ममावृता वेष्टिता प्रबोपस्य मिखा प्रभा कये सुवर्णनिर्गमे निवेष्टिता सुवर्णरेखा इव विधाति शोभते । उपमानद्वाराः । ब्रह्मण्य वृत्तम् ॥१७॥

(पुन कर्म कृत्वा) समाप्तो ग सन्धि । भवतु । प्रविशामि । अथवा न तावत्प्र-  
विशामि । प्रतिपुरुष निवेशयामि । (तथा कृत्वा) अये, न कश्चित् । नम दा-  
त्तिवेयाय । (प्रविश्य दृष्ट्वा च) अये, पुरुषद्वय सुप्तम् । भवतु । आत्मरक्षणार्थं  
द्वारमुद्घाटयामि । कथ जोषंत्वाद् गृहस्य विरोति कपाटम् । तद्यावत्सलिल-  
मन्वेपयामि । वव नु सलु सलिल भविष्यति । (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिल गृहीत्वा  
शिवन्तशङ्खम्) मा तावद् भूमौ पतच्छब्दमुत्पादयेत् । भवतु । एव तावत् ।  
(पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाटय च) भवतु । एव तावत् । इदानीं परीक्षो किं  
लक्ष्यसुप्तम्, उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् । (प्राप्तयित्वा परीक्ष्य च) अये, पर-  
मार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम् । तथा हि—

निश्वासोऽस्य न शङ्कित सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते

दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।

यात्र सस्तशरीरसन्धिश्चिथिल शय्याप्रमाणाधिक

दीप चापि न मर्षयेदभिमुखं स्यात्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥१८॥

(समाप्तादवलोच्य) अये, कथ मृदङ्ग । अगं ददुंर । अयं पणव । इयमपि  
वीणा । एते वशा । अमी पुस्तका । कथ नाटयाचार्यस्य गृहामदम् । अथवा  
भवनप्रत्यग्रात्प्रविष्टोऽस्मि । तर्हि परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चोर-  
भयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति । तन्ममापि नाम शविलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम् ।  
भवतु । वीजं प्रक्षिपामि (तथा कृत्वा) निदिष्टं वीजं न क्वचित्स्फारी भवति ।  
अये, परमार्थदरिद्रोऽयम् । भवतु गच्छामि ।

विदूषक — (उत्सवनायते ।) भो यअस्स, सधो विअ हिस्सदि । चोरं विअ  
वेवप्सामि । ता गेण्हतु भव एदं सुत्थणमण्डभम् । [भो वयस्य, सन्धिरिव दृश्यते  
चोरमिव पश्यामि । तद्गृह्णातु भवानिदं गुवणंभाण्डम् ।

प्रतिपुरुषं वाष्ठादिनिमित्ता गृह्यस्य प्रतिश्रुतिम् ।

सशयसुप्तं ध्याजसुप्तम् । परमार्थेन यथापत सुप्तम् ।

इह पुरुषद्वयं परमार्थसुप्तमिति निश्चिनोति शविलकः—निश्वासा इति ।  
अस्य पुरुषद्वयस्य निश्वासा शङ्कितं शब्दायुक्तं न, अपि तु सुविशदं मुत्पद्य तुल्यं  
समानम् अन्तरं यथा स्यात् तथा च वर्तते । अग्यं दृष्टिं गाढं दृढं निमीलिता वर्तते ।  
न तु ध्याजसुप्तस्य इयं विवस्ता, अन्यन्तरे मध्यं चञ्चला च । अस्य यात्र शरीरं  
सस्ताः शिथिलिता ये शरीरसन्धयं तं शिथिलं शब्धाया प्रमाणात् अधिकम्  
(अज्ञाना स्मरं प्रमाणात्) च वर्तते । यदि च सशयेन ध्याजेन सुप्तं स्यात् अमिमुक्तं  
मगलं दीपम् अपि न मर्षयेत् सहा । एभिः सक्षणं परमार्थसुप्तमिति प्रतीयते । अस्य  
च समर्थनाय कारणगमुदाहरणाभिधानात् समुच्चयार्थेन्दुवार । शाङ्खलविहीनित'  
वृत्तम् ॥१८॥

(फिर कार्य करके) यह सेंध समाप्त हो गई है। अच्छा प्रवेश करता है या तब तक प्रवेश नहीं करता है। प्रतिपुरुष (मनुष्य के बनावटी पुत्रले) को प्रवेश कराता है। (बंसा करके) अरे ! कोई नहीं है। कातिकेय के लिये नमस्कार है। (घुसकर और देखकर) अरे ! दो मनुष्य सोये हैं। अच्छा, अपने रक्षा के लिये द्वार खोलता है। क्यों ? घर के पुराना होने के कारण किवाड शब्द करते हैं तो जब तक पानी बूझता है। पानी होगा कहाँ ? (इधर उधर देखकर पानी लेकर शङ्कासहित डालता हुआ) पृथ्वी पर गिरता हुआ (यह जल) शब्द उत्पन्न न करे। अच्छा, तो ऐसा (करूँ) (पीछे की ओर देखकर और किवाडो को खोलकर)- अच्छा। तो ऐसा (करूँ)। अब परीक्षा करूँगा कि ये दोनों छन से सो रहे हैं या वास्तव में सोये हुए हैं। (दृष्ट कर और परीक्षा करके) अरे ये तो वास्तव में सोये हुए होने चाहिये। क्योंकि—

इनको सात शङ्कायुक्त नहीं है, स्पष्ट एव समान अन्तर वाली है, बाँस भती प्रकार बन्द हैं, वेचन (विकल) नहीं है, न भीतर (पुत्रसियाँ) ही चञ्चल हैं। देह डीली पड़ी हुई शरीर को गन्धियों के कारण शिथिल है, एव शय्या के आकार से अधिक है (अर्थात् नाड मित्रा के कारण शरीर के अग मट्या के नीचे भी चटक रहे हैं) यदि छल से सोये हुए होंगे तो सामने दीपक (के प्रकाश) को नहीं सहन करते ॥१२॥

(चारों ओर देखकर) अरे ! क्या मृदग (पखावज, डोलक जैसा एक बाजा) ? यह दर्दुर (एक बाजा)। यह पणक (वाद्ययन्त्र विशेष)। यह वीणा। ये बांसुरियाँ। ये पुस्तकें हैं। क्या नाट्याचार्य का घर है ? या भवन के विश्वास (घर की बाहरी शोभा) से प्रविष्ट हुआ है, तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है या राजा अथवा चोर के दर से घरती में छिपे हुए धन को रक्ता है (धारण करता है)। तो क्या मुझ शक्तिक के लिये भी भूमि में छिपा हुआ धन (अप्राप्य) है ? अच्छा बीज फेरता है। (बंसा करके) फेरता हुआ बीज कहीं नहीं फैल रहा है। अरे यह तो वास्तव में दरिद्र है। अच्छा, जाता है।

विदूषकः—(स्वप्न देखता हुआ बोलता है) हे मित्र, सेंध-सी दिसाई दे रही है। चौर-मा देख रहा है। अतः आप इस स्वर्णभाण्ड को लें।

भवनस्य प्रत्ययान् समृद्धेः विश्वासान् प्रतीतेः वा। प्रामिष्ठ भूमौ स्थितम्। अभिमन्त्रितो बीजविशेषो धनमहितमूनने शितो बहुमीभवतीति प्रसिद्धिः—इति पृथ्वीघरः।

उःस्वनापने स्वप्ने वदति।



शक्तिरु—किं नु सत्त्वमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपह-  
सति । तत्किं व्यागदयामि उत लघुत्वादुत्त्वप्नायते । (एष्ट्वा) अये, जर्जर-  
स्नानशाटीनिबद्ध दीपप्रभयोद्दीपित सत्यमेवंतदलङ्करणभाण्डम् । भवतु ।  
गृह्णामि । अथवा न युक्तं तुल्यावस्य कुलपुत्रजन पीडयितुम् । तद् गच्छामि ।

विदूषक—भो वधस्त, साविदोति गोब्राह्मणकाम्यया, जइ एद सुवण्णमण्डप म  
येहसि । भो वयस्य, शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यथेतत्सुवर्णभाण्डं न  
गृह्णसि ।

शक्तिरु—अनतिक्रमणीया भगवतो गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्-  
गृह्णामि अथवा ज्वलति प्रदीप । अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थं भागनेश-  
कीटा घायते । त तावत्प्रवेरायामि । तस्याय देशनात् । एष मुक्तो मया  
कीटो यात्वेवास्य दीपस्योपरि मण्डलैर्विचित्रं चरितुम् । एष पक्षद्वयानिलेन  
निर्वापितो भद्रपीठन । धिक्कृतमन्धकारम् । अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुले  
न धिक्कृतमन्धकारम् । अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिघातकरस्य पुत्रः शक्तिरुका  
नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्यमकायमनुत्पिष्टाम इदानीं करान् ब्राह्मणस्य  
प्रणयन् । (इति जिघृक्षति ।)

विदूषक—भो वधस्त, सीदतो दे अगहत्सो । [भो वरस्य धीतलस्ते-  
ऽग्रहस्त ।]

शक्तिरु—धिनप्रमाद । सनितसपकाराच्छीतलो मेऽग्रहस्त । भयतु ।  
कभयोर्हस्तं प्रक्षिपामि । (नाट्येन स्रग्धरस्तमुष्णीकृत्य गृह्णति)

विदूषकः—गहिदम् । [गृहीतम् ।]

शक्तिरु—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः । तद्गृहीतम् ।

विदूषकः—ताणि विक्रीणितपण्यो विभ्रं धाणिभ्रां, अहं सुहं सुविस्सम् ।

[इदानीं विक्रीतपण्यं द्वयं वणिक्, अहं सुरा स्वप्स्यामि ।]

शक्तिरु—महाब्राह्मण, स्वापाहं वपशतम् । नष्टमेव मदनिवागणि-  
कार्यं ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम् ? अथवा आत्मा पातितः ।

'गोकाम्या शबेच्छा, ब्राह्मणकाम्या ब्राह्मणच्छा । ताभ्यां शापितं शप  
शापित । सति सभवे गोब्राह्मणयोश्चिच्छाः पूरण्येवैवास्तिर्नरिति धर्मश्मनराज्ञान्त ।  
'गोब्राह्मणयोश्चिच्छाया प्रतिघाते महत्यानरमिति निर्णयसिन्धुप्रमुराग्रण्येषु स्तुत्यम् ।  
इति न० दो०' (कति) । गोब्राह्मणमहिताया भङ्ग, त्वं करोषि यदीदं न गृह्णासीति  
शपयाय—इति पृथ्वीपर । ज्ञानेव अग्नेः अपम् अग्निमन्वन्धी । पक्षद्वयस्य  
अनिलेन वायुना । भद्रपीठेन एतन्नामकेन पीठेन । चतुर्वेदान् वेति इति चतुर्वेदविद्  
तस्य । प्रतिगृह्णातीति प्रतिघातः न प्रतिघातः अप्रतिघातः च परेषां दायादिक  
न गृह्णाति । ईदृशो हि ब्राह्मण उदृष्टो गण्यते । उतं च मन्ता-प्रतिघातेन ग्राह्यं  
ब्राह्मणं तेन प्रणाम्यति ।

सपुत्रान् वननं वा, दुर्बलदृश्यं वा, वा । ज्वरं वा स्नानशाटी तया निबद्धम् ।  
पुत्र्या अवस्था यस्य तं मादलं निघ्नम् पुत्रपुत्रजन पीडयितुं न युक्तम् ।

शवितरु—क्या यह सचमुच मुझे यहाँ धुमा हुआ जानकर 'निर्घन हूँ' यह उपहास कर रहा है। तो क्या मार डालूँ, या चपल (अथवा दुर्बल मन) होने के कारण स्वप्न देवता हुआ बड़बड़ा रहा है। (दिलकर) अरे ! स्नान करने की जीर्ण-शीर्ण धोती में बंधा हुआ, दीपक की आभा से देशीयमान सचमुच ही यह आभूषण पात्र है। अच्छा लेता हूँ। अथवा (अपने) समान (निर्घन) अवस्था वाले कुलीन पुत्र को पीड़ा देना उचित नहीं है। तो जाता हूँ।

विदूषक—हे मित्र गौ और ब्राह्मण की अभिलाषा के द्वारा तुम्हें शपथ दिनाता हूँ, यदि (तुम) इस स्वर्ण—पात्र को नहीं लेते हो।

शवितरु—भगवती गौ की अभिलाषा और ब्राह्मण की अभिलाषा उल्लङ्घन करने योग्य नहीं होती। इसलिए लेता हूँ। परन्तु दीपक जल रहा है। दीपक बुझाने के लिए मैं आनेप कीड़ा रखता हूँ। तब तक उसको छोड़ता हूँ। उसका (उसके लिए) यह (उचित) स्थान और समय है। यह मेरे द्वारा छोड़ा गया कीड़ा इस दीपक के ऊपर विविध मण्डनों से भ्रमण करने के लिये उड़े (जाये)। भद्रपीठ ने दोनों पक्षों की वायु में यह (दीपक) बुझा दिया है, हाय ! अंधेरा कर दिया। अथवा—हाय ! मैंने भी अपने ब्राह्मण पुत्र में अंधेरा नहीं कर दिया है ? (अपान् कर ही दिया है)।

मैं चारों बेशों के जाता (शान आदि) न लेने वाले का पुत्र शवितरु नाम का ब्राह्मण बेरिया मदरिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा है। अब ब्राह्मण का प्रणय करता हूँ (उसको प्रार्थना, स्वीकार करता हूँ)। (मेला चाहता है)

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारे हाथ का अग्रभाग (अभुतिपां) शीतल है।

शवितरु—हाय ! अमात्रप्रानवा। जल के स्पर्श में मेरे हाथ का अग्रभाग शीतल है। अच्छा। हाथ को बगनों (काँच) में रखता हूँ (अभिनयपूर्वक दाहिने हाथ को गर्म करके (सुवर्णभाण्ड) ले लेता है)

विदूषक—ले लिया ?

शवितरु—ब्राह्मण का यह अनुरोध उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है। इसलिये ले लिया।

विदूषक—अब बेच दी है वरग वस्तु जिनने ऐने बनिदे की भाँति मुझ से सोझेगा।

शवितरु—महाब्राह्मण नौ वपं सोने रहो। भेद है कि मदरिका बेरिया के लिये (दौने) इन प्रकार ब्राह्मण पुत्र को अन्धकार में डाल दिया और अपने आप को गिरा दिया।

अकार्यं कर्तुं मनुजिनं घोरिकर्मं । प्रणयम् अम्पथना प्रार्थनां कर्तोमि स्वीकरोमि ।

अदग्धामो ह्मन्त्र्य मधट्मन्ः (भर्गुधारय) अक्वडावयविसम्बन्धे तु ह्मन्त्र्य मधन् एति ह्मन्त्र्यम् । मय्यं दत्तितं (दि०) । विहीतं पत्नं देव म वणिक् ।

धिगस्तु सत्तु दारिद्र्यमनिर्वेदितपीरुषम् ।

यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥१६॥

तद्योवन्मर्दानिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि ।

(परिब्रज्यावलोक्य च) अये, पदशब्द इव । मा नाम रक्षिण । भवतु । स्तम्भी-  
भूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शविलकस्य रक्षिण । योऽहं

मार्जारः क्रमण, मृग प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने,

मुप्तामुप्तमनुष्यवीर्यंतुलने श्वा, सपणे पन्नग ।

माया रूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे,

दीपो रात्रिषु, सक्तेषु डुण्डुभो, वाजी रथले, नौजले ॥२०॥

अपि च

भुजग इव गतौ, गिरि स्थिरत्वे, पतगपते. परिसपणे च तुल्य ।

शश इव भुयनावलोकनेऽहं युव इव च ग्रहणे वले च सिंह ॥२१॥

शविलकः दारिद्र्यं निन्दति—धिगितिः निर्वेद. स्वावमानन विषयेष्यो विर-  
क्तिर्वा [प्रकरणनिश्चयो निर्वेद इति पृश्नीधर] निर्वेद सजातोऽस्य इति निर्वेदितं  
न निर्वेदितम् अनिर्वेदितं विरक्तिहीनं पीरुष्य पुरषस्य भावः कर्म वा यस्मिन् तत् दारि-  
द्र्यं सत्तु धिक् । यत् यत्नं कारणाद् एतद् धीरुष्यं गृहितं निन्दितं कर्म निन्दामि च  
विवशतया करोमि च । न तस्माद् विरतो भवामीति भावः । वाण्यतिङ्गमसङ्कारः ।  
अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१६॥

निष्क्रयणं धनादिना मोघनम् । अस्तम्भ रतम्भो भूत्वा इति रतम्भीभूत्वा  
अभूततद्भावे च्चि ।

शविलक इत्यन्तित् पदेष्वनि श्रुत्वा पूर्वं शङ्कितो भवति ततश्च स्वसामर्थ्यं  
चिन्तयति—मार्जार इति । योऽहं शविलकः क्रमणे उच्छ्रयने मार्जार विशाल  
प्रसरणे शीघ्रतरगमने मृग हरिण । ग्रहणे ग्रहणेन युक्तो आलुञ्चने लक्ष्यस्य छेदने  
श्येन । मुप्तामुप्तयो मुप्तजागरितयो मनुष्ययो, अथवा मुप्तश्वासी अमुप्तश्च  
तस्य मुतामुप्तस्य मित्रिचमुप्तस्य वीर्यंतुलने सामर्थ्येन श्वा बुधपुर, स हि  
करेण बलाबलं परीणितुं शक्नोतीति प्रतिष्ठि । सपणे भूमितस्यवङ्गमने (बाले)  
पन्नगः सर्प । रूपमाकार शरीर विविधजीवानां नात्र वेग विभिन्नदेशानां वेगभूया  
तेषां रचने माया इन्द्रजायविद्या । अन्य देशभाषा व्रेशभाषान्तरं तस्मिन् अन्यदेश-

निधनना को विवहार है जिनमें (व्यक्ति) का पुरोपाय (अनुचित कार्य करने पर भी) निबेद अथवा विरक्ति को प्राप्त नहीं होता । जिनके कारण हम निन्दित काम (चोरी) को निन्दा कर रहा है और (फिर भी) कर रहा है ॥१६॥

तो जब तक (धन लेकर) मदनिहा को (दासी कम से) मुक्त कराने के लिए वनन्तमेना के घर को जाना है । (दूनकर और देनकर) अरे ! पैरों जैसा शब्द ! रत्नक (पहरेदार) न हों ! अच्छा । सम्भा भा बनकर (निरबल) लड़ा हो जाता है । अपदा, मुक्त शक्तिरु के लिए भी रत्नक (भय की वस्तु है) !

जो है—

कण्ठने अथवा उद्वेगने में विनाश, शीघ्र दौड़ने में हृरिण, आक्रमण (ग्रह) के द्वारा (मध्य को) छेद डानने (आनुञ्चन) में वाज, सोपे-बिना सोपे, मनुष्य की शक्ति बाँधने में कुत्ता, रेंगने में मर्ग, आकार, (पद्म आदि के विभिन्न) शरीर एवं वेश निर्माण में माया, विभिन्न देवों की भाषाओं के ज्ञान में सरस्वती, रात्रियों में दीपक, दुर्गम मार्गों में दृष्टदृभ (मर्ग विरोध), स्थान पर घोड़ा तथा पानी में नौका के सदृश है ॥२०॥

सौर भी—

मति में सूर्य के सदृश, स्थिरता में पर्वत एवं शीघ्र चलने में पशिराय (गर्ह) के तुल्य मंसार को देखने में मैं सरहे जैसा, (जिमी को) पकड़ने में भेड़िये के समान और शक्ति में सिंह है ॥२॥

भाषाज्ञाने भावने च वाह सरस्वती । रात्रिषु शोषः दीपवत् प्रसादकः संश्लेषु दुर्गममा-  
रुणु दुष्टेषु सर्वविधेभ्यः । स्थले दानी अयवत् द्रुतगामी, जने च नौः नौरेव तरणशीलः  
अग्नि तुल्य मन रक्षिणः हि वरिष्यन्तीति भावः । माताम्बरकमलद्वारः । शार्दूलवि-  
हीहितं वृत्तम् ॥२०॥

धृशय इति । अहं च मत्तो मतिविशेषे धृशयः रूप इवाग्नि, स्थिरत्वे स्थिरताया  
पिति पर्वतः, परिमर्शे द्रुततरणने च पनपवने पशिरायस्य मन्डस्य तुल्यः । अहं  
धृशयस्य मयास्य (निन्दमग्यातस्य इति कामे) अवनोकने गा इवाग्नि, घटने बस्त-  
विद् एते वृह इव, जने शाली च सिंहः अग्नि । मातोनमावद्वारः । दुष्पिताया  
वृत्तम् ॥२१॥

(प्रविश्य)

रदनिका—हृदी, हृदी बाहिरदुभारसालाए पमुत्तो बद्धमाणओ । सोवि एत्थ ण बोसइ । भोदु । अज्जमित्तेअ सहावेमि । हा धिक् हा धिक् बहिर्द्वारसालाया प्रसुप्तो वधंमानक । सोऽप्यत्र न दृश्यते । भवतु । आर्यमैत्रेयमाह्वयामि ।]

शबितक—(रदनिकां हन्तुमिच्छति । निरूप्य) कथं स्त्री । भवतु गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः )

रदनिका—(गत्वा सवासम्) हृदी, हृदी, अग्हाण गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कमदि । भोदु । मित्तेअ गदुअ पबोधेमि । (विद्रूपवमुपगम्य) अज्जमित्तेअ उट्ठेहि उट्ठेहि । अग्हाण गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कन्तो । हा धिक् हा धिक् ! अस्माकं गृहे सन्धि कल्पयित्वा चोरो निष्क्रामति । भवतु । मैत्रेय गत्वा प्रबोधयामि । आर्यमैत्रेय (उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।) अस्माकं गेहे सन्धि कल्पयित्वा चोरो निष्क्रान्तः ।]

विद्रूपक—(उत्पाय) आ दासीए धीए, कि भणसि—'चोर कप्पिअ सन्धि णिक्कन्तो ।' [आ दास्या पुत्रिके, कि भणसि चोर कल्पयित्वा सन्धिनिष्क्रान्तः ]

रदनिका—हृदास, अस परिहासेण । कि ण वेक्खसि एणम् । हृताश, अल परिहासेन । किं न प्रेक्षस एणम् ? ।

विद्रूपक—आ दासीए धीए, कि भणसि—दुदिअ विअ दुभारअ उग्घादिं' ति । भो बभसस धारदत्त, उट्ठेहि उट्ठेहि । अग्हाण गेहे सन्धि बद्धअ चोरो णिक्कन्तो । [आ दास्या पुत्रिके कि भणसि 'द्वितीयमिव द्वारमुदपाटितम्' इति । भो वयस्य धारदत्त, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । अस्माकं गेहे सन्धि दत्त्वा चोरो निष्क्रान्तः ।]

गच्छत—भवतु । भो, अलं परिहासेन ।

विद्रूपक—भो, ण परिहासो वेक्खतु भवम् । [भो न परिहासः । प्रेक्षतां भवान् ।]

धारदत्त—कस्मिन्नुद्देशे ।

विद्रूपक—भो, एतो । [भो, एप. ।]

धारदत्त—(बिलोक्य) अहो, दर्शनीयोऽयं सन्धिः ।

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं

शिरसि तनुविपुलश्च मध्यदेशे ।

असहस्रजनसंश्रयोऽभीरो-

हृदयमिव स्फुटितं महापृहस्य ॥२२॥

(प्रवेश करके)

रदनिका—हाय ! हाय ! ! वर्तमानक बाहर के दरवाजे वाली कोठरी में मो रहा था । वह भी यहाँ नहीं दिक्ताई दे रहा है । अच्छा । आर्य मंत्रेय को पुकारती हूँ । (धूमती है) ।

शक्तिरु—(रदनिका को मारना चाहता है । देखकर) क्या मत्री ? अच्छा जाता हूँ (निकल जाता है) ।

रदनिका—(जाकर भयपूर्वक) हाय ! हाय ! ! हमारे घर में सेंध फोड़कर चौर निकल रहा है । अच्छा मंत्रेय को जगाती हूँ ।

(मंत्रेय के समीप जाकर)-आर्य मंत्रेय, उठिये उठिये । हमारे घर में सेंध फोड़ कर चौर निकल गया ।

विद्रुपक—हूँ ! दानी की पुत्री, क्या कहती है ? चौर को फोड़कर सेंध निकल गई ।

रदनिका—अरे हँसो से बस करो । क्या इसे नहीं देख रहे हो !

विद्रुपक—हूँ ! दानी की पुत्री क्या यह कहती है ? 'धूमरा दरवाजा सों मोल दिया है ।' हे मित्र आर्य चारदत्त, उठो, उठो हमारे घर में सेंध लगाकर चौर निकल गया ।

चारदत्त—अच्छा ! अरे, हँसो से बस करो ।

विद्रुपक—जी, हँसो नहीं है । आन देख लीजिये ।

षाश्वता—किम म्यान पर ?

विद्रुपक—जी, यह रहा ।

षाश्वता—(देखकर) अहो ! यह सेंध देखने योग्य है । जिसमें ऊपर के भाग से इट्टें गिराई (निकाली) गई हैं, जो ऊपरी भाग में पत्थरी और बीच के स्थान में चौड़ी है, ऐसी यह (सन्धि) अक्षरगजन (अयोग्य मनुष्य चौर आदि) के सम्बन्ध (=संप्रयोग) से बने हुए महाद् धवन के विदीर्ण हुए हृदय के समान स्थित है ॥२२॥

हृदाय हृदा आत्मा यस्य तन्मन्वुदी । (टि०)

चारदत्तः सन्धिं दृष्ट्वा कथयति—उपरोक्ति । उपरितताद् उच्चैर्प्रदेशाद् निषानिना कः। हृदा इष्ट्वा पत्र तादृशः शिपिः उच्चैर्भागे तनुः अन्वविष्टारः मन्वुदी च विदुः विदुः अयं सन्धिः अक्षरगजनस्य अनुचितजनस्य चौरादिभ्यः सम्प्रयोगाद् प्रवेष्टादिनन्वन्धाद् क्षीरोः क्षीरस्य महापूरस्य विमानधवनस्य स्फुटितं विदीर्णं हृदयम् एव स्थितः । उच्चैर्भागे दूरारः । पृष्णिताया वृत्तम् ॥२२॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ।

विदूषक—भो वधस्त, अज सधो दुवेहि ज्जेव दिण्णो भवे । आहु भागन्तुएण, सिरितदुकाणेण वा । अण्णघा इय उज्जइणीए को अह्हाण तरविहव थ जानादि ।

[भो वयस्य, एष सन्धिद्वार्याभ्यामेव दत्तो भवेत् । अपवागन्तुवेन, सिधितु-  
कामेन वा अन्यथात्रोज्जयिन्या कोऽस्माक गृहविभवं न जानाति ।]

षारदत्त—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारभक्ष्यस्यता

नासौ वेदितवान्घर्नैविरहित विसब्धमुत्त जनम् ।

दृष्ट्वा प्राडमहती निवासरचनामस्माकमाशान्वित

सन्धिच्छेदनयित्वा एव मुच्चिर पश्वाग्निराशो गतः ॥२३॥

तत सुहृद्भ्य किमसौ वयमिष्यति तपस्वी—‘सार्धंवाहगुत्स्य गृह प्रविश्य न  
निश्चिन्मया समासादितम्’ इति ।

विदूषक—भो कथ त ज्जेव चोरहदअ भणुत्तोचसि । तेण चिन्तिद महन्त  
एद गेहम् । इदो रत्तणमण्डअ सुवण्णमण्डअ वा निरकामिरत्तम् । (स्मृत्वा सविवाय-  
मात्मगतम्) क्कहिं त सुवण्णमण्डअम् । (पुनरनुस्मृत्य । प्रशंसम्) भो वधस्त तुम  
राज्यवाल भणासि—‘मुखसो मितेअभो अपण्डितो मितोअभो’ ति । सुट्ठु मए विद  
त सुवण्णमण्डअ भवतो हत्थे समन्पअन्तेण अण्णघा दातीए पुरोण अवहिद भवे ।  
[भो, वय तमेव चोरहतामनुशोचसि । तेण चिन्तित महदेतदगृहम् । इतो  
रत्नभाण्ड सुवर्णभाण्ड वा निष्क्रामयिष्यामि । कुण तत्सुवर्णभाण्डम् । भो  
वयस्य, त्व सर्ववाल भणसि—‘मूर्खो मंशैय’, अपण्डितो मंशैय’ इति । सुण्ठु  
मया कृतं तत्सुवर्णभाण्ड भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्यः पुत्रेणापहत  
भवेत् ।

षारदत्त—अलं परिहासेन ।

विदूषक—भो अह नाम अह मुखसो ता कि परिहासस्य पि वेसावाल न  
जानामि । [भो, यथा नामाहं मूर्खस्तत्कि परिहासस्यापि देशवाल न जानामि ।]

‘आगन्तुवेन, सिधितुवामेन वा सन्धि इतो भवेत्-इति विदूषकस्य वचन निशम्य  
चोरमनुशोचन् चारदत्त वयस्यति—वैदेश्येनेति । वैदेश्येन विदेशे भव वैदेश्य, तेन  
वैदेश्येन व्यापार सन्धिच्छेदनकर्म अभ्यस्यता सिधमाणेन वा मम गृहे सन्धि इत  
दत्त भवेत् यत, इहस्य निपुणो वा चोरः ज्ञात सन्धि कुर्यात् । अस्ती अयं जनः

क्या इस कार्य में भी दुःखलता ?

विदूषक—हे मित्र, यह मंघ दो के ही द्वारा लगाई हुई हो सकती है या तो आगन्तुक के द्वारा, या (चौधे विद्या) सीखने के इच्छुक द्वारा। अन्यथा यहाँ, उग्रपिनी में कौन हमारे घर के वैभव को नहीं जानता ?

चारदत्त—मन्धि-कार्य का अभ्यास करते हुए विदंगी ने मेरे घर में (मंघ) की होगी। घनहीन (इसी कारण) विश्वामयूषक सोये हुए जन (हम दोनों) को वह नहीं जान पाया। हमारे महान् भवन-निर्माण को देखकर पहले आगायुक्त होता हुआ (वह) देर तक मंघ फोड़ने के कारण केवलत हुआ बाद में निराग (होकर) ही चला गया ॥२३॥

तब वह बेचारा (अपने) मित्रों में क्या कहेगा कि 'सायंवाह पुत्र के घर में पुनकर मैंने कुछ भी नहीं पाया।

विदूषक—अरे, क्यों उस दुष्ट चौर का ही सोच कर रहे हो ? उमने सोचा यह बड़ा घर है, यहाँ से रत्न-यात्र या स्वर्णपात्र निकाल लूंगा।

(माद करके। दुःखपूर्वक अपने आप) वह स्वर्ण-यात्र कहाँ है ? फिर माद-करके। प्रकट रूप में) हे मित्र तुम हर समय यह कहते हो—'मंघैय मूर्ख है, मंघैय अज्ञान है।' उम स्वर्णपात्र को आपके हाथ में देते हुए मैंने अच्छा किया। नहीं तो दामी के पुत्र (चौर) ने चुरा लिया होता।

चारदत्त—परिहाम (हैंगी) में बस करो।

विदूषक—अरे, यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, तो भी क्या परिहाम का स्थान और समय भी नहीं जानता ?

घनैः विरहित हीनम् अत्रैव विदग्ध निगच्छ मया स्वान् तथा मुक्त जन पुरयन्त्यं न धेदितवान् ज्ञानवान् । सः प्राहूँ पूरै तु अस्मत्ते मरुतो विद्याया निवासरक्षतां भवनरक्षणा दृष्ट्वा आगायुक्ता आगायुक्तः सन् मुदिर बहुकालपर्यन्तं मन्धिच्छेदनेन तिष्ठः परिश्रान्तः परवान् निरागः एव गतः निर्गतः । शार्ङ्गसवित्रीकृत इतिम् ॥२३॥

तपस्वी कराटुः । समासादिन प्राप्तम् । चौरत्वामो हनन्तव चोत्कुक दुष्टचोटः ।



धारदत्त—कृत्या वेतायान् ।

विदूषक—भो, जदा तुम मए भणितो ति—‘शीतलो वे अग्गहत्तो’ । [भो, यदा त्व मया भणितोऽसि—‘शीतलस्तेऽग्रहस्त’ ।

धारदत्त—कदाचिदेवमपि स्यात् । (सर्वतो निरूप्य । सर्वम्) वरत्प्य, दिष्ट्या ते प्रिय निवेदयामि ।

विदूषक—कि ण अग्रहत्तम् । [कि नापहतम् ।]

धारदत्त—हृतम् ।

विदूषक—तथा वि कि पिअम् । [तथापि कि प्रियम् ।]

धारदत्त—यदसौ कृतापों गत ।

विदूषक—णासो षणु सो । [न्यास खलु स ।]

धारदत्त—वथ न्यास । (मोहमुपगत)

विदूषक—समावसितु भवम् । जइ णासो धोरेण अग्रहो तुम कि मोह उगधरो । [समावसितु भवान् । यदि न्यासश्चोरेणापहतस्त्व कि मोहमुपगत ।]

धारदत्त—(समावसत्) ययत्प्य,

क अट्ठास्यति भूतापं सर्वो मा तूलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि लोकेऽन्मिन्निप्रतापा दरिद्रता ॥२४५॥

भोः वष्टम् ।

यदि तावत्वृतान्तेन प्रणयोऽप्येषु मे कुन ।

किमिदानी नृशसेन चारितमपि दूषितम् ॥२५॥

विदूषक—अह षणु अवसविस्तम्—‘वेथ दिण्णम्, वेण गहोवम्, को वा सस्सि’ ति । [अहं सत्वपलपिष्यामि ‘केन दत्तम्, केन गृहीतम्, को वा साक्षी इति ।]

धारदत्त - अहमिदानीमनृतमभिघात्ये ।

न्यास निरीपः समावसितु आवसतो भवतु प्रहृणित्यो भवतु ।

न्यासोद्वर्त सुवर्णपात्र धोरेण ह्यमिति धृत्वा सिन्धुवारदत्त वरत्पि—‘व इति । धूर्णं यदावतम् अयं धोरेणावहृण सुवर्णपात्रमिति व जन अट्ठास्यति विघ्वात

चारदत्त—किस समय ?

विदूषक—अरे, जब तुमने मैंने कहा था कि 'तुम्हारे हाथ का अप्रमाण ठण्डा है ।'

चारदत्त—सम्भवतः ऐसा भी हो (सब ओर देखकर । प्रसन्नतापूर्वक) मित्र, भाग्य से तुम्हें प्रिय (वात) सुनाता है ।

विदूषक—क्या नहीं चुराया ?

चारदत्त—चुरा लिया ।

विदूषक—फिर भी क्या प्रिय है ?

चारदत्त—कि वह कृतापं (झोकर) गया ।

विदूषक—वह तो धरोहर थी ।

चारदत्त—क्या धरोहर ? (मूर्च्छित हो गया)

विदूषक—आप धैर्य रखें । यदि धरोहर चोर ने चुराली (तो) तुम क्यों मूर्च्छित हो गये ।

चारदत्त—(आश्वस्त होकर) मित्र,

वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? सभी मुझे हस्का (तुच्छ अपराधी) समझेंगे । क्योंकि इस मसार में पौरुषविहीन निर्धनता शंका के योग्य होती है ॥२॥

हाय ! कष्ट है !

यदि भाग्य ने मेरी सम्पत्ति को अभिलाषा (=प्रणय) की तो इस समय निर्दयी (भाग्य) ने चरित्र भी क्यों दूषित कर दिया ॥२५॥

विदूषक—मैं दियाकर रहूँगा—'किमने दिया ? किसने लिया ? साक्षी (गवाह) कौन है ?'

चारदत्त—मैं इस समय मूठ बोलूँगा ? (नहीं)

हरिष्यति ? सर्वं जनः सां चारदत्तं हृतपिष्यति तूलवद् संपूरकरिष्यति हि यतः अस्मिन् सोमे निष्प्रनाया नास्ति प्रतापः तेजः पौरुष वा मस्या साहसी दरिद्रता शङ्कनोया चङ्काचोप्या भवति । अयान्तिरन्यामः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२४॥

यदोति । यदि तावद् वृत्तान्तेन दैवेन मे मम मर्त्येण सम्पत्तिषु प्रणयः अभिलाषाः अर्पित्वं वा हृत् मृतान्तेन निर्दयेन दैवेन इदानीं ममप्रति चरित्रमपि किं कथं दूषिताम् । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२५॥

अपसपिष्यामि भवनापं हरिष्यामि । अनूताम् असत्पम् ।

भैक्ष्येणाप्यजंयिष्यामि पुनन्यासप्रतिक्रियाम् ।

अनृत नाभिघास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥२६॥

रदनिका—ता जाय अञ्जा घृदाए गदुज निवेदेमि । [तद्यावदार्याधूतायै गत्वा निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्ता सर्वे)

(ततः प्रविशति चेटघा सह चारदत्तवधू)

वधू —(सत्तभ्रमम्) अइ, सच्च अवरिक्तवसरोरो अञ्जउत्तो अञ्जमित्तेण सह ।

[अयि, सत्यमपरिभ्रमशरीर आर्यपुत्र आर्यमंत्रेयेण सह ।]

चेटी—भट्टिणि, सच्चम् । किं तु जो सो वेत्साजणकेरको अलकारउो सो भव-  
हिवो । [भक्ति, सत्यम् । किं तु य स वेश्याजउत्त्यालङ्कारकः सोऽग्रहृत ।]

(वधूमोहं नाटयति)

चेटी—समस्तसदु अञ्जा घृता । [समाश्वसित्यार्या घृता ।]

वधू —(समाश्वइय) हञ्जे, किं भणसि—अवरिक्तवसरोरो अञ्जउत्तो' ति ।  
वर दाणि सो सरोरेण परित्तदो, ण उण चारित्तेण । सपद उञ्जइयोए जणो एयव  
मन्तइस्सदि—दलिद्दाए अञ्जउत्तेणं पजेव ईदिस अञ्ज अणुचिट्ठिदम्' ति ।  
(ऊर्ध्वमवलोभव नि श्वस्य च) भवव अञ्ज पोससंरवत्तपट्टिइजलकिन्दुवञ्चलेहि कीर्त्तसि  
दसिदुपुरिसमाभयेएहि । इअ च मे एवका भादुधरत्तया रअणायत्तो चिट्ठिदि । एव पि  
आदिसोण्डीरदाए अञ्जउत्तो ण मेऽइस्सदि । हञ्जे, अञ्जमित्तेण दाव तदावेहि ।  
[चेटि, किं भणसि—अपरिक्तशरीर आर्यपुत्र' इति वरमिदानी स शरीरेण  
परिक्षत । न पुनश्चारित्रण । साप्रतमुज्जयिन्या जन एव मन्त्रयिष्यति—'दरिद्र-  
तयार्यपुत्रेणवेदुशमकार्यमनृष्टितम्' इति । भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजल-  
किन्दुवञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरपभागधेयै । इय च म एका मातृगृहलव्या  
रत्नावलो तिष्ठति । एतामप्यतिशोण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहोष्यति । चेदि, आय-  
भैक्ष्ये, तावत शब्दापम ।]

भैक्ष्येणेति । भैक्ष्येण भिक्षाचरणेन भवि पुन न्यासस्य निधेयस्य प्रतिक्रियां  
प्रतिक्रियासाधन इत्ययम् अजयिष्यामि एकत्रीकरिष्यामि किन्तु चारित्रस्य भ्रंशकारण  
विनाशनिमित्तम् अनृतम् अस्त्य न अभिघास्यामि वदिष्यामि । अनुदुष् वृत्तम् ॥२६॥

घरोहर लौटाने के साधन द्रव्य को मित्रा के द्वारा भी अर्जित करूँगा । किन्तु धरित्र-पतन का कारण जो अमल्य है उसे नहीं कहूँगा ॥२६॥

रदनिका—तो जब तक जाकर आपां धूवा से (गरी पटना) कहती हूँ । (तब निकल जाते हैं)

(तदश्वात् चेटो के साथ चारदत्त की पत्नी प्रवेश करती है)

वधू—(धवराट्ट के साथ) अरो, सचमुच आपं मंत्रेय के साथ आर्यपुत्र (चारदत्त) मुरक्षित (घोट रहित देह वाले) तो हैं ?

चेटी—स्वामिनो, सचमुच । किन्तु जो वैश्याजन का आभूषण पा, वह पुरा लिया गया ।

(वधू मोह का अभिनय करती है)

चेटी - आपां धूता, धर्म रखें ।

वधू—(आश्वस्त होकर) चेटी, क्या कहती हो कि—'आर्यपुत्र का शरीर घोट रहित है' इस समय वह शरीर से धात (धावन) हुए अच्छे, धरित्र से (धात) नहीं ।

अब उज्जयिनी मे लोग कहेंगे कि निधनता के कारण आर्यपुत्र ने ही इस प्रकार अनुचित कर्म किया ।' (ऊपर देखकर और सम्बो सांस लेकर) भगवन् देव ! कर्म के फल पर पड़े हुए जलधिन्दुओं के समान चञ्चल दरिद्र पुराण के भाग्यो से तिलदाडू करते हो । वह मेरी माता के घर से प्राप्त हुई एक रत्नावली है । इसको भी अत्यन्त उदार चित्त (= शीण्डीर) होने के कारण आर्यपुत्र नहीं ग्रहण करेंगे । चेटी, तनिक आपं मंत्रेय की बुपाओ ।

धूता चारदत्तस्य पत्नी । न परित्यक्त शरीरं यस्य तथाभूतः । शीरेण न्यातो हस्तः, अरिभक्षितशरीरम्बु चारदत्तः इति रदनिकापचनं निरुक्त्य धूता कथयति—धरमिति । इदानीं विनाशरेण शरीरेण परित्यक्तः सः आर्यचारदत्तः यदि स्नातसि परं निश्चिन्तु मलं पुनः किन्तु धारिभ्रमे परित्यक्तः ग वरम् ।

मात्रविष्यति परस्परं कथयिष्यति । अनुष्ठितं कृतम् । पुष्करपत्रे कनकपत्रे पतिताः ये जलविन्दवस् तद्द् चञ्चलाः दृष्टिपुराणां भागधेयं कीर्तिताः । मातृ-पुत्राद् साध्या । अनिमोघशरीरतया महानुभावतया दाशिम्येन वा । शब्दापम भागारप, आहूय ।

चेटी—अ अज्जा धूवा आणवेदि । (विद्रूपकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ, धूवा वे  
सद्दावेदि । [यदायां धूताऽऽत्तापयति । आर्यमैत्रेय, धूता त्वामाह्वयति ।]

विद्रूपक—कहिं सा । [कुत्र सा ।]

चेटी—एसा विट्ठरि । उवत्तप्प । [एषा तिष्ठति । उपसर्प ।]

विद्रूपक—(उपसृत्य) सोत्थि षोडोए । [स्वस्ति भवत्ये ।]

वधू—अज्ज, अग्गामि । अज्ज, पीरत्थिआमुहो होहि । [आर्यं, वन्दे । आर्यं,  
पुरस्तान्मुखो भव ।]

विद्रूपक—एसो षोदि, पीरत्थिआमुहो सयुत्तो म्हि । [एष भवति, पुरस्ता-  
न्मुखः सवत्तोऽस्मि ।] ▲

वधू—अज्ज, पडिच्छ इमम् । [आर्यं, प्रतीच्छेदाम् ।]

विद्रूपक—रि ष्णेदम् । [किं न्विदम् ।]

वधू—एणु रअणसंदि उवत्तिसिवा आसिं । तहि जघाविह्वानुसारेण बग्गहो  
पडिग्गाहिदब्धो । सो अ ण पडिग्गाहिदो, ता तत्तत्त विदे पडिच्छ इम रअणमात्तिअम् ।  
[अहं सल्लु रत्तपष्ठीमुपोपितोसम् । तत्र यथाविभवानुसारेण आह्वान प्रतिगाहि-  
तव्यं । स च न प्रतिग्राहित, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेदमा रत्तमात्तिकाम् ।]

विद्रूपक—(गृहीत्वा) सोत्थि । गमित्तम् । पिअवत्तत्तत्त निवेदेमि । [स्वस्ति,  
गमिष्यामि । प्रियवयस्यस्य निवेदयामि ।]

वधू—अज्जमित्तेअ, मा एणु म सज्जावेहि । [आर्यमैत्रेय, मा सल्लु मां  
लज्जितां कुरु ।] (इति निष्क्रान्ता)

विद्रूपक—(सविस्मयम्) अहो, से महानुभाववा । [अहो, अस्या महानु-  
भावता ।]

षारदत्त—अये, चिरयति मैत्रेय । मा नाम वैवत्तव्यादाचार्यं कुर्यात् ।  
मैत्रेय, मैत्रेय ।

विद्रूपक—(उपसृत्य) एसो म्हि । गेह एवम् । [एषोऽस्मि । गृहार्पणम् ।]  
(रत्नान्वी दशंयति)

षारदत्त—किमेतत् ।

विद्रूपक—भो, वे तरित्तरारत्तगहत्त पत्तम् । [भो वत्ते सद्गुदारसग्रहस्य  
पत्तम् ।]

षारदत्त—कथम् । ग्राह्याणी मामनुकम्पते । वष्टम् । इदानीमस्मि  
दरिद्र ।

चेटी—जो आर्षा घूना आज्ञा देती है । (विद्रूपक के निकट जाकर) आर्षं मंत्रेय, घूना तुम्हें बुला रही है ।

विद्रूपक—वह कहां है ?

चेटी—यह है । (उनके) समीप जाइये ।

विद्रूपक—(समीप जाकर) आपका कल्याण हो ।

वधू—आर्षं, वन्दना करती हूँ । आर्षं, पूर्व की ओर मुक्त कर लीजिये ।

विद्रूपक—पूजने, यह मैं पूर्व की ओर मुम्बाला हो गया हूँ ।

घूता—आर्षं इमे लीजिये ।

विद्रूपक—यह क्या है ?

वधू—मैंने रत्नपट्टी का व्रत किया था । उसमें सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिये । उसे दान नहीं दिया गया था, अतः उसके लिये इस रत्नमाला को ग्रहण करो ।

विद्रूपक—(लेकर) कल्याण हो, जाता हूँ । प्रिय मित्र से निवेदन करता हूँ ।

वधू—आर्षं मंत्रेय, मुझे लज्जित मत करो । (निकल जाती है)

विद्रूपक—(आश्चर्यं सहित) अहो ! इसकी उदारता !

चारदत्त—अरे ! मंत्रेय देर कर रहे हैं । कहीं विकलता के कारण अनुचित कार्य न कर डालें ।

विद्रूपक—(समीप आकर) यह है । इसे ग्रहण करो । (रत्नमाला दिखाता है)

चारदत्त—यह क्या है ?

विद्रूपक—अरे, जो तुम्हारे सहाय (गुणवती) स्त्री से विवाह करने का फल है ।

चारदत्त—क्या ? ब्राह्मणी मूस पर दया कर रही है । कष्ट है ! अब मैं रुग्ण हो गया ।

पुरस्तात् पूर्वदिशायां मुनं यस्य सः (टि०) । प्रतीच्छं पृथगम् । यथाविश्व-  
मानुसारेण यः दृशी सम्पत्तिः तस्याः अनुसारेण (टि०) । तस्य ब्राह्मणस्य व्रतस्य वा  
हृते ।

वंशवध्यान् विसस्य दीर्घ्यान् । सहस्रशरानां संप्रहस्य योऽप्यस्त्रीग्रहणाय ।

आत्मभान्यक्षतद्रव्य स्त्रीद्रव्येणानुकम्पित ।

अयं तु पुरुषो नारी या नारी सार्धं तुमान् ॥२७॥

अथवा । नाहं दरिद्र । यस्य मम

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसमुद्भवान् ।

सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥२८॥

भैरवैय, गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनाया सवाशम् । यत्कव्या च सा मद्र-  
चनात्—यत्सत्त्वस्माभि सुवणभाण्डमात्मीयमिति कृत्या विश्रम्भाद् धृते  
हारितम । तस्य कृते गृह्यतामिष रत्नावली' इति ।

विदूषक — मा वाच अवलाइवस्त अनुत्तस्त अप्पमुत्तस्त चोरेहि अवहरंस्त  
कारणावो चतु समुद्रसारभूता रत्नावली सीमादि । [मा तावदस्तादितस्याभुक्तस्या-  
स्पमूल्यस्य चोरेरपहृतस्य कारणाच्चतु समुद्रसारभूता रत्नावली दीयते ।]

चारदत्त — धयस्य, मा मैवम् ।

य समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तथा कृत ।

सस्यैतन्महतो मूल्य प्रत्ययस्यैव दीयते ॥२९॥

तद्वयस्य, अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामप्राह्मित्वात्त्रागन्तव्यम् ।  
वर्धमानय,

धृताया अनुग्रहं निशम्य चारदत्त वचननि-शात्मेति । आत्मन स्पर्श भाग्येन  
। पुरैवेन शत मष्टं द्रव्य यस्य सा अह चारदत्त स्त्रीद्रव्येण स्पर्शतया धृताया धनेन  
अनुकम्पित-अनुग्रहीतो भवामि । ततोऽस्मि दरिद्र यत् अथत धनाद् कारणात् धना-  
भावाद् इति यावत् पुरुष नारी स्त्रीवत् भवति सा च नारी सा अर्धं धनस्य कारणात्  
पुमान् पुरुषवद् जायते । अनुष्टुप् छन्दः ॥२७॥

'अथवा नाहं दरिद्र' इति समर्पयति चारदत्त — विमवेति । यस्य मम चारदत्त-  
स्य भार्या स्त्री विमवेन धनेन अनुगता सुख, यथायं मंत्रेण सुखपुस्तयो मुहुर

अपने भाग्य के दोष से नष्ट हो गया है घन जिसका ऐसा मैं (चाहदत्त) स्त्री के घन से अनुग्रहीत किया जा रहा है (यह कष्टकर है क्योंकि) घन न होने के कारण ही पुरुष नारीतुल्य है और जो नारी है वह घन होने से पुरुष (के समान) है ॥२७॥

अथवा मैं निर्धन नहीं हूँ । जिस मेरी—

पत्नी घन मे मुक्त है । आप सुख-दुःख मे (समान) मित्र हैं । और साथ भी नहीं छूटा है जो कि मिर्घनों में दुर्लभ है ॥२८॥

मैत्रेय, रत्नावली को लेकर वसन्तसेना के पास जाओ, मेरी ओर से उसे यह कहना कि—'विश्वास मे अपना (ममता) करके हमने सुवर्णपात्र को जुए में हरा दिया । उसके बदले मे यह रत्नावली ले लीजिए ।'

विदूषक—बिना (बेवक्त्र) छाये हुए, न उपभोग किये हुए, स्वल्प मूल्य के (तप) चोरी के द्वारा चुपाये गये (आभूषण) के कारण से चारों समुद्रों की सारभूत यह रत्नावली मत दीजिए ।

चाहदत्त—मित्र, ऐसा नहीं ।

जिस विश्वास का आधार लेकर उसने हम पर धरोहर रखी, उस महाद्व विश्वास का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥२९॥

तो मित्र, तुम्हें हमारे शरीर-स्पर्श की शपथ है । इसे बिना दिये नहीं जाना चाहिए । वर्धमानकः ।

मित्रं तत्त्वं च न परिभ्रष्टं न मर्दं यद् एतत् त्रयं हरिष्येति निर्धनेषु दुर्लभं कष्टेन तस्युं शक्यते तच्च ममास्ति तस्मान्नास्मि हरिद्रः इति भावः । हरिद्रप्रामादसमर्पताप अनेक-कारणोपादानात् समुच्चयात्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२८॥

विद्यग्भान् विश्वासात् । असादितस्य अर्धवितस्य । अनुष्ठस्य यस्य केनापि प्रसारेणोपभोगो न श्रुतः तस्य अनुपश्रुतस्य ।

एतु समुद्राणां रत्नाकराणां सारभूता ।

अल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य श्रुते रत्नावलीयं न देयैति विदूषकवचनं निहम्य चारुदत्तः शययति—धमिति । यं विश्वासं समाप्तस्य तथा वसन्तसेनया अस्मान् दुनर्हीनेभ्यश्चि ग्यामः निर्धनः इतः तस्य मर्दनः प्रायसस्य विश्वासस्य एव एतद् रत्नावलीरूपं मूल्यं शोपते । अनुष्टुप् ॥२९॥



एताभिरिष्टिकाभिः सन्धिः क्रियतां सुसंहृत शीघ्रम् ।

परिवादबहलदोषान्न यस्य रसा परिहरामि ॥३०॥

यस्य मंत्रेय, भवताप्यकूपणशौण्डीर्यमभिघातव्यम् ।

विक्रमक — मो, द्रविहो कि अरिषण मन्तेवि । [मोः, दरिद्र किमकूपणं मन्त्रयति ]

चारुवत — अदरिद्रोऽस्मि सखे, यस्य मम । 'विभवानुगता भार्या', (३।२८ इत्यादि पुन. पठति ।) तद्गच्छतु भवान् । अहमपि कृतशीच. सन्ध्या-मुपासे ।

(इति निष्प्रान्ता सर्वे ।)

इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

अस्मच्छरीरस्य मया चारुवतस्य शरीरस्य स्पृष्टिवया स्वार्थेन शापितोऽसि शपय पाहितोऽसि ।

वर्धमानक सन्धिपूरणाय समादिशति चारुवत — एताभिरिष्टिकाभिः सन्धिः शीघ्रं सुसंहृतं सम्पूर्य पूर्णं क्रियताम् । यतः परिवादस्य लोनापवादस्य च बहलं प्रचुरः दोषं तस्मात् वारणात् यस्य सन्धे रसा न परिहरामि त्यजामि उपेक्षे वा । सन्तमेव सन्धि रक्षामीत्यर्थः । वाक्यविद्गमलस्यारः । आर्षाजातिः पतम् ॥३०॥

अहमप्यम् अमन्त्र शौण्डीर्यम् मोक्षार्थं यत् तद् गथा तथा (वाते) । भगवतः

शोध ही इन इंटों से सेंच भनी प्रकार ठोक कर दो, विस (सेंध) को रसा (मरम्भ होने) की महान् लोकायुक्त के दोष के कारण संभ्रा नहीं करेगा (अर्थात् यदि यह सेंध इसी प्रकार फूटी रहेगी तो जन्तु में मेरे सम्बन्ध में कनेक अपवाद देंगे) ॥३०॥

नित्र मंत्रेय, बासके द्वारा भी बेल्यन्त उदारतापूर्वक (बन्धनेना मे सारी बातें) कही जानी चाहिये :

विद्वेषक—अरे क्या निर्धन भी उदारतापूर्वक कह सकता है !

बाबदत्ता—नित्र, निर्धन नहीं है, विस मेरी (घन से अनुगत पत्नी (३।२८) इत्यादि द्विर पढ़ता है) । तो आन जाये । मैं भी शीघ्र करके सन्ध्या करना है ।

(सब निकल जाते हैं ।)

सन्धिच्छेद तृतीय अङ्क (समाप्त)

## चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटो)

चेटी—आणित्तिह अताए अग्गभाए सभास गन्तुम् । एता अग्गभा वित्तक-  
सभणिसण्णदिट्ठी मदनिआए सह क्विपि मन्तयन्ती चिट्ठीदि । ता जाव उवसप्पामि ।  
[आज्ञप्तास्मि मात्रार्यायाः सकाशं गन्तुम् । एषामां चित्रफलकनिषण्णहृष्टि-  
मंदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति । तत्रावदुपसर्पामि ।] (इति  
परिक्रामति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए, अवि सुसदिसो इध चित्तादिदी अग्गचारदत्तास्य ।  
[चेटि मदनिने, अवि सुसदिसो चित्ताकृतिरायंनारुदत्तास्य ।]

मदनिका—सुसदिसो ।, सुसदिसो ।]

वसन्तसेना—इध तुम जाणासि । । कय त्वं जानासि ।।

मदनिका—जेण अग्गभाए सुसदिद्वि विट्ठी अनुत्तमा । [येनार्यायाः  
सुस्तिग्धा हृष्टिरनुत्तमा ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, किं देतव्यासदाक्षिण्येण मदणिए, एव्यं णणासि । [चेटि,  
किं वेशवारादाक्षिण्येण मदनिने एव भणसि ।]

मदनिका—अग्गए, किं जो उजेव जणो वेसे पडिवसदि सो उजेव अलीअद-  
रित्तणो भोदि । [आर्ये किं य एव जणो वेसे प्रतिवसति, स एवालीकदक्षिणो  
भवति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, णाणापुरिसग्गणेण वेस्साजणो अलीअदरित्तणो भोदि ।  
[चेटि, नानापुरपद्दणेण वेस्साजणो अलीकदक्षिणो भवति ।]

मदनिका—अदो दाव अग्गभाए दिट्ठी इध अमिरमदि हिअअं च, तस्य वारणं-  
किं पुच्छीअदि । [यतस्तावदार्याया हृष्टिरिहाभिरमत्ते हृदयं च, तस्य कारणं  
किं पृच्छयते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, सहोजणादो उवहसणोअदां रक्तामि । [चेटि, सखीजना-  
दुपहसनीयतां रक्षामि ।]

मदनिका—अग्गए, एव्यं नेदम् । सहोजणचित्ताणुवतो अदत्ताजणो भोदि ।  
[आर्ये, एषं नेदम् । सखीजनचित्तानुव्यं बलाजणो भवति ।]

विषयसंदेहः निष्पन्ना सततान् रिपरा वा हृष्टिः यस्या सा । मन्त्रयन्ती संतपन्ती ।  
यथानिर्दिष्टा यथावजिता । सुसदिसो ताम्यक् सट्ठो अनुकुरा वा । चित्राहृष्टिः

## चतुर्थ अङ्क

(तत्पश्चात् चेटो प्रवेश करती है)

चेटी—माता जी ने बायाँ (वसन्तसेना) के पाम जाने की आज्ञा दी है। यह बायाँ चित्र-पट पर दृष्टि गढ़ाये हुए मदनिका के साथ कृद्य बातचीत कर रही है।

(इसके बाद यमानिदिष्ट वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना—चेटी मदनिके, क्या यह चित्रस्य आकृति आशुं चारुदत्त के अनुरूप है ?

मदनिका—अनुरूप है।

वसन्तसेना—तुम कैसे जानती हो ?

मदनिका—क्योंकि बायाँ की स्नेहपूर्ण दृष्टि (इसमें) संतप्त है।

वसन्तसेना—चेटी मदनिके, क्या वेद्यालय में रहने से चतुरडा (सीखलेने) के कारण ऐसा कहती हो ?

मदनिका—जहाँ, क्या जो भी व्यक्ति-वेद्यालय में रहना है, वह असत्य बोलने में कुशल (या मिथ्याश्रियवादी) होता है।

वसन्तसेना—चेटी, विभिन्न पुरुषों के संसर्ग के कारण वेद्याजन 'अमत्यण्डु' हो जाती है।

मदनिका—जब कि बायाँ की दृष्टि और हृदय यहाँ (चित्र में) रम रहे हैं (द्विः) उगका कारण क्या पूछ रही है।

वसन्तसेना—चेटी, सखीजन के उपहास में बचना चाहती हूँ।

मदनिका—यह ऐसा नहीं (हो सकता)। अबलापे (मिथ्या) सखीजन के चित्त के अनुसार बताने (स्ववहार करने) वाली होती है।

चित्रनिमित्ता आकृतिः । अनुगम्या संसक्ता । येषो वैद्यनये द्यतेन । नरसनेन एद्  
वाजिष्य चानुपं तेन । अतीकं मिथ्या दक्षिणः चतुरः । मिथ्याश्रियवादी इति भावः ।  
अपवा अतीके मिथ्यावादे दक्षिणः कुशलः ।

तस्य अभिरमणस्य । यत्र चतुर्हृदये साने तत्र कारणं किं दर्शयिष्यते । अति-  
श्रियवादीमावाक्यं शिवस्नेनेत्याहारः—इति पृथ्वीप्रतः । रक्षामि निवारयस्मि । सखी-  
जनस्य चित्तम् अनुभवन्ते अनुसरति सखीजनचित्तानुसरणशीलः । सखीजनः स्वमन्याः  
चित्तमनुसरति न तु तस्याः अभिरमणादिरमुपहसतीति भावः ।

प्रथमा चेदि—(उपसृत्य) अज्जए, अत्ता, आणवेदि—‘गहिवावगुण्ठण पवणदुआरण सज्ज पवहणम् । ता गच्च’ त्ति । [आर्ये, माताज्ञापयति—‘गृहीताव-  
गुण्ठन पक्षाद्वारे सज्ज प्रवहणम् । तदगच्छ’ इति ।]

वसन्तसेना—हृज्जे, कि अज्जवारदत्तो म णइस्तदि । [चेदि, किमा-  
चारदत्तो मा नेप्यति ।]

चेटी—अज्जए, जेण पवहणेण सह सुवण्णदत्तसाहस्सिओ अलकारओ अनुप्पे-  
त्तिरे । [आर्ये, येन प्रवहणेन सह सुवर्णवशासाहस्सिकोऽज्जङ्कारोऽनुप्रेषित ।]

वसन्तसेना—को उण स्रो । [कः पुन स ।]

चेटी—एसो ज्जेव राअस्सत्तो सठाणओ । [एय एव राजश्याल सस्थाणक ।]

वसन्तसेना—(सत्रोपम्) अवेहि । मा पुणो एश्व भणिस्सति । [अपेहि । मा  
पुनरेवं भणिष्यति ।]

चेटी—पसोददु पसोददु अज्जआ । सदेतेण ग्हि वेत्तिवा । [प्रसीदतु  
प्रसीदत्वार्या । स देशेनास्मि प्रेषिता ।]

वसन्तसेना—अह सदेसस्य उजेव कुप्पामि । [अह संदेशस्यैव कुप्पामि ।]

चेटी—ता किति अत्ता विष्णविस्सम् । [तत्किमिति मातर विज्ञाप-  
यिष्यामि ?]

वसन्तसेना—एश्व विष्णाविदस्वा—जइ म जीअन्तो इच्छसि, ता एश्व ण पुणो  
अह अत्ताए आणविदस्वा । एव विज्ञापयित्थ्या—‘यदि मा जीवन्तीमिच्छसि,  
तदेव न पुनरह माज्ञापयित्थ्या’ ।

चेटी—जधा दे रोअदि । [यथा ते रोचते ।] (इति निष्क्रान्ता)

~ (प्रविश्य)

शक्तिरु.—

दत्त्वा निशाया चवनोपदीव निद्रा न जित्वा नृपतेश्च रक्षान् ।

। स एव सूर्षोदयमन्दरशिमे धराक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ॥१॥  
अपि च ।

य कश्चित्त्वरितगतिर्निरोक्षने मा

सभ्रान्त द्रुतमुरसपति स्थित वा ।

गृहीतम् अवगुण्ठनम् आच्छादनम् आवरणं वा येन तत् प्रवहणं स्त्रीणां  
स्थितिभोग्यं समाच्छादितं वाहनं पक्षद्वारे सज्जं प्रस्तुतम् । सुवर्णानि दत्तसहस्रं  
सुवर्णवशासहस्रं तेन सध्यं स्त्रीणां वा सुवर्णवशासाहस्सिकम् ।

सुवर्णभाषणमपहृत्य शक्तिरु इति मदनिकानिष्क्रान्त्यर्थं वसन्तसेनायाः शब्दं गच्छन्

प्रयत्ना चेटी—(सर्माप जाकर) आर्य, मर्णा जी यह आज्ञा देती है कि बरत के दरवाजे पर परदे से ढका हुआ रथ तैयार है । इनमिने जाओ ।

बन्तसेना—चेटी, क्या आर्य चारदत्त मुझे ले जायेंगे ?

चेटी—आर्य, जिसने रथ के साथ दस सहस्र (हजार) मुवर्ण का आभूदन भेजा है ।

बन्तसेना—कौन है फिर यह ?

चेटी—यही राजा का साला संस्थानक ।

बन्तसेना—(शोधपूर्वक) दूर हटो । ऐसा फिर नहीं कहना ।

चेटी—आर्य, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, सन्देश लेकर भेजी गई हैं ।

बन्तसेना—नै सन्देश पर ही क्रोधित हैं ।

चेटी—तो भाता जी से क्या कह दूँ ?

बन्तसेना—यह कहना—'यदि मुझे जीवित चाहती हो, तो मुझे भाता जी के द्वारा इस प्रकार फिर आना न भिचनी चाहिये ।'

चेटी—जैसा तुम्हें (आर्यको) अच्छा लगता है । निरन जाती है)

(प्रवेग करके)

शबितक—निद्रा का दोष रात्रि पर नगाकर, निद्रा एव राजा के रसकों को जोतकर, यह (नै) रात्रि का अवमान हो जाने से मुर्योदय के कारण मन्द रगिभ बने (चन्द्र के पक्ष में—मन्दनेत्र, शबितक के पक्ष में—मन्द पचायन) चन्द्रमा के मरु हो गया है ॥१॥

बीर भी—

दोष पति बाना जो कोई मुझे देख लेता है या धरबाकर खड़े हुए मेरे पास गीमरा ने बा जाता है, मेरा यह दूषित (शब्दित) अन्तःकरण उन सबको सन्दिग्ध

स्वविषये विन्दयति—दत्तेति । निगायाः रात्रेः बह्वनोपशेषं निगायानेव चीर्णादिकं प्रकल्पत । निगा हि सर्वनिर्षङ्करीति । अत्रादरूपं दोषं दत्त्वा निद्रां श्रित्वा नृपतेः राज्ञः रसान् रसानुरयान् च जित्वा परिहृत्य स एषः अहं सरायाः निगायाः सजात् अवमानान् मूर्खोदयेत् मन्वाः सोमाः रथयः विरायाः मत्स्य उपासूतः चन्द्रः इव जातः अस्मि । अन्तःकृत्यात् । उपश्रातिः इत्यन् ॥१॥

य इति । यः कश्चिद् त्वरितपतिः । मां, विरीणते, सम्प्रान्त स्थितं वा द्रुत्स्व वरवरति । दूषितः अन्तरात्मा तं सर्वं दुनयति, मनुष्यः हि स्वरोचं । अश्रुतो भवति—अप्यन्तः । यः कश्चिद् त्वरिता पतिः पत्य तादृशः शीघ्रगामी मनुष्यः मा कश्चित्कं विरीणते अथवा सम्प्रान्तं कश्चिन् स्थितं मां द्रुत्स्व शीघ्रम् उपनयति समीपम् आगच्छति

त सर्वं तुल्यति दूषितोऽन्तरात्मा  
 स्वर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्य ॥२॥  
 मया खलु मदनिकाया कृते साहसमनुष्ठितम् ।  
 परिजनवचासक्त कश्चिन्नर समुपेक्षित  
 क्वचिदपि गृह नारीनाय निरीक्ष्य विवर्जितम् ।  
 नरपतिबले पार्श्वीयाते स्थित गृहदारुवद्  
 व्यवसितशतैरवप्रायैनिशा दिवसीकृता ॥३॥

(इति परिक्रामति ।)

वसन्तसेना—हृज्जे इमं दय चित्तफलम मम राशनीये ठाविभ तातवेष्टम  
 गेण्हम सहु भाअच्छ । [चेटी इम तावच्चिनयफला गम शयनीये स्थापयित्वा  
 तालवृन्त गृहीत्वा लघ्वागच्छ ।

मदनिका—अ अज्जभा जाणवेवि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति फलव  
 गृहीत्वा निष्क्रान्ता ।)

शविलक—इदं वसन्तसेनाया गृहम् । तथावत्प्रविशामि । (प्रविश्य)  
 एव नु मया मदनिका द्रष्टव्या ।

(ततः प्रविशति तातवृत्तहरता मदनिका)

शविलक—(दृष्ट्वा) अये, इयं मदनिका ।

मदनमपि गुणविशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम् ।

मम हृदयमनूवह्नितप्तं भूशमिव चन्दनशीतल करोति ॥४॥

मदनिके ।

मदनिका—(दृष्ट्वा) अग्गो सध्वित्तमो वध सध्वित्तम, साअर दे कहिं तुमम् ।  
 [आश्चर्यम् कथं शविलक । शविलक, स्वागतं त । मुत्र त्वम ।]

कृतित दोषयुक्त अन्तरात्मा मम हृदयं त सर्वं जन तुल्यति शङ्कादृष्ट्या पश्यति  
 हि यत मनुष्य स्वर्दोषैः शङ्कित शङ्कायुक्त भवति । अर्थातरयातोऽनङ्कारः ।  
 प्रहृषिणी वृत्तम् ॥२॥

परिजनेति । मया शविलकेन परिजनस्य भृत्यवर्गस्य वचायां यातायाम्  
 आसक्त सलग्न कश्चित् नर जन समुपेक्षित त्यक्तः । क्वचिद् अपि स्थाने  
 गृह नारीनाय यस्य तद् पुण्यरहित नार्थधिष्ठित च निरीक्ष्य दृष्ट्वा विवर्जित  
 त्यक्त तत्र प्रविष्टमिति भावः । नरपते राज यत्ने रणवर्गे पार्श्वीयाते समीपम्  
 अग्रेण मति गृहदारुवद् स्तम्भादिगृहवाष्टवत् स्थितम् । एव प्रायं एतादृशं व्यद

दृष्टि से देखने लायता है। वस्तुतः मनुष्य बनने दोषों के कारण शकित हो जाना है ॥२॥

वास्तव में मदनिका के लिए मैंने यह साहस (चोरकर्म) किया है। मृत्यु के साथ बात करने में लगे हुए किसी पुरुष की उपेक्षा की (अर्थात् उसके घर में प्रविष्ट नहीं हुआ), वहीं उस घर की स्त्री ही जिसकी स्वामिनी है ऐसा (अर्थात् पुरुष रहित) देखकर छोड़ दिया; राजरक्षक के ममीप में आ जाने पर गृहवाण्ड के ममान (निगबल) घरा हो गया, इस प्रकार के सैकड़ों कार्यों से (मैंने) रात्रि को दिन बना दिया (रात्रि जागते ही बिठा दी) ॥३॥

(धूमता है)

सन्तसेना—चेटी, ठनिक इस चित्रपट को मेरे बिस्तर पर रखकर तानवृत्त (ताड़ के पत्तों से बना पंखा) लेकर शीघ्र आ।

मदनिका—जो आर्मा बासा देती हूँ (चित्रपट को लेकर निकल जाती है)।

शबिलक—यह सन्तसेना का घर है। तब प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके) मदनिका को मुझे कहीं देखना (सोजना) चाहिये ?

(तत्पश्चात् ताड़ का पंखा हाथ में लिये मदनिका प्रवेश करती है)

शबिलक—(देखकर) अरे यह मदनिका।

जो यह (अपने) गुणों के द्वारा कामदेव का भी अतिक्रमण करती हुई (उससे अधिक बढ़ती हुई) मूर्तिमती (देहधारिणी) रति (कामदेव की स्त्री) के समान घोषित हो रही है। कामान्नि से संतप्त मेरे हृदय को चन्दन से शीतल-सा कर रही है ॥४॥

मदनिका—(देखकर) आश्चर्य ! क्या शबिलक ! शबिलक, मुन्दारा स्वापव है। तुम कौन ?

दिवाना कार्याणां मर्तः निरा रात्रिः दिवसोऽहता दिवसवत् कृता । जाग्रता एव रात्रिः  
मन्तिष्ठि भावः । हरिणी वृत्तम् ॥३॥

तानवृत्तं तामरचनिमित्तं मज्जनम् । मधु शीघ्रम् ।

मदनिकां दृष्ट्वा शबिलकः शब्दपति—मदनमपीति । इयं मदनिका मुनिः  
शब्दपतिभिः मदनं कामदेवं कृत्वा विशेषयन्ती विविष्टं कुप्यती कतिपयान्ती इति  
पापम् भूतिमती देहधारिणी रतिः इव विष्मति शोभते । या इयम् अन्तःसूत्रवद्विवा  
कामान्निता तत्तं मम शबिलकस्य हृदयं मृगम् अत्यन्तं चन्दनशीतलम् इव करोति ।  
उत्तं कामद्वारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥४॥

शब्दपति विषम् करोति । मूनिष्या प्रेष्या, मूला गाडारमज्जनमोम्या वा, न  
पुत्रिष्या ममनिष्या तां स्वाधीना गृहस्थां वा । आकारोऽप्यति शब्दानिष्यामि इति  
शब्दपतिम् ।



शविलक — कथयिष्यामि ।

(इति सानुरागमभ्योन्य पश्यत)

वसन्तसेना—चिरञ्जिदि मदनिजा । ता कहि णु बलु सा ? (गवाक्षेण दृष्ट्वा)  
कथ । एसा केनापि पुरिसकेण सह मन्तअन्तो चिट्ठदि । षया भदिसिणिञ्जाए विन्व-  
सदिट्ठोए आपिक्खतो विअ एव विज्जाअदि तथा तर्कोमि एसो जथो एव इच्छदि  
अभुजिस्स कालुम् । ता रमदु रमदु । मा कस्सापि पोडिच्छेदो भोदु । ण बलु सहा-  
विस्सम् । [चिरयति मदनिजा । तत्कुत्र नु बलु सा । कथम् । एसा केनापि  
पुरुषवेण सह मन्तयन्ती तिष्ठति । यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्ती-  
वैत निधायति तथा तर्कयामि एष स जन एनामिच्छत्यभुजिष्या कतुम् ।  
सदमता रमताम्, मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु । न सत्वाकारयिष्यामि ।

मदनिका—सश्विलज, कथेहि । [शविलक, कथय ।]

(शविलक सशङ्कं दिशोऽवलोकयति)

मदनिका—सश्विलज, कि णोदस् ? ससङ्को विअ लख्खीअसि । [शविलक,  
कि त्विदम् ? सशङ्क इव लक्ष्यसे ।]

शविलक—वक्ष्ये, त्वा किञ्चिद्रहस्यम् । तद्विबिक्तमिदम् ।

मदनिका—अथइ । [अथ किम् ।]

वसन्तसेना—कथं परमरहस्यम् । ता ण सुणिरस्सम् । [कथं परमरहस्यम् ।  
तन्न श्रोष्यामि ।]

शविलक—मदनिके, कि वसन्तसेना मोक्षयति त्वां निष्कुर्येण ?

वसन्तसेना— कथं मम सवन्धिनी कथा । ता सुणिरस्स इमिणा गवरत्तेण  
ओबारित्तरीरा । [कथं मम सवन्धिनी कथा । तच्छ्रोष्याम्यनेन गवाक्षेणा-  
पवारित्तरीरा ।]

मदनिका—सश्विलज, भणित्ता मए अज्जअ । तरो भणारि—‘जइ मम द्दरो  
तरा विणा मय सखं परिजणं अभुजिस्स करइस्सम्’ । अथ सश्विलज, कुदो हे  
एत्थिमो विहवो, जेण मं अज्जआसआसावो मोआइस्ससि । (शविलक, भणित्ता  
‘मयार्या । तदा भणति—‘अदि मम उन्दस्तदा विनार्यं सर्वं परिजतमभुजिष्य  
करिष्यामि । अथ शविलक, कुतस्त एतावान्विभव, येन मामार्यासकाशा-  
न्मोचयिष्यसि ।]

शविलक—

दाख्खिपेणाभिभूतेन त्वदस्नेहानुगतेन च

अथ रात्रो मया भीरु, त्वदर्थं साहसं कृतम् ॥१॥

शविलक—वताऊंगा ।

(प्रेमपूर्वक एक दूसरे का देखते हैं) .

वसन्तसेना—मदनिका देर कर रही है तो वह कहाँ है ? (झरोखे से देखकर) क्या ? यह किसी पुरुष के साथ बात करती हुई खड़ी है । जैसे अति प्रेमपूर्ण, निरबल दृष्टि से इसको पीती हुई भी देख रही है, उससे अनुमान लगाती हूँ कि यह वह व्यक्ति है जो इस (मदनिका) को बन्धनमुक्त करना चाहता है, तो रमण करे, रमण करे । किसी का भी प्रणय-विच्छेद न हो । बुलाऊँगी नहीं ।

मदनिका—शविलक, कहो ।

[शविलक शङ्खामूर्वक दिशायें (चारों ओर) देखता है।]

मदनिका—शविलक, यह क्या है ? शङ्खित से दिखाई दे रहे हों ।

शविलक—तुम्हें कुछ रहस्य बताऊँगा । यह (स्वान) एकान्त तो है ।

मदनिका—और क्या ?

वसन्तसेना—क्या बड़ा रहस्य है ? तो नहीं मुर्गो ।

शविलक—मदनिके, क्या वसन्तसेना (मुक्तिनिमित्तक) धन देने से तुम्हें मुक्त कर देगी ?

वसन्तसेना—क्या, मुझसे सम्बन्ध रखने वाली बात है ? तो शरीर छिपा कर इस झरोखे में मुर्गो ।

मदनिका—शविलक मैंने आर्षा से कहा था । तब बोली—'यदि मेरा बश (धन=इच्छा) हो तो धन के दिना सब सेवकों को स्वतन्त्र कर दूँ ।' किन्तु शविलक, तुम्हारे पास इनकी सम्भक्ति कहाँ है त्रिनसे मुझको आर्षा के पास से मुक्त करा लीये ?

शविलक—हे भोर, निर्घनता से पीड़ित एवं तुम्हारे प्रेम से मुक्त मैंने आज रात में तुम्हारे लिये साहस (चौर कर्म) किया है ॥५॥

शविलकं निर्वनम् । निष्कपेण मुक्तिनिमित्तकेन धनेन । अप्यर्थात्तं गोपितं भोर दया तपामूता । मम हृदः अमिताय ।

शविलकेनेति । हे भोर, शविलकेन निर्घनतया अमिभूतेन उपर्युतेन पीडितेन अपि त्वदि स्नेहः स्वस्नेहः तेनानुगतः त्वत्स्नेहानुगतः तेन त्वदीपप्रेमसक्तत्वेन मया शविलकेन अथ रात्रौ त्वदर्थे नर मोचनार्थं साहसं चौर्यकर्मकरं कृतम् ।

वसन्तसेना—वसन्ता से आकिरी, साहसकर्मवाए उग उखेभणोआ ।  
[प्रसन्नास्त्राकृति साहसकर्मतया पुनरुद्देजनीया ।]

मदनिका—सखिअस, इरपीकल्लवत्तस्त कारणेण उहम वि ससए विनिक्षि-  
सम् । [शविलक, स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि सशये विनिक्षिप्तम् ।]

शविलक—किं किम् ।

मदनिका—शरीर चारित्त च । [शरीरं चारित्र्यं च ।]

शविलक.—अपण्डिते, साहसे श्री प्रतिवसति ।

मदनिका—सखिअस अखण्डिच्चारित्तो सि । ता ण खु ते मम कारणाशो  
साहस करन्तेण अठवन्तविदुद्ध आचरिदम् । [शविलक, अखण्डितचारित्र्योऽसि ।  
तन्न खनु त्वया मम कारणात्साहस कुवतात्यन्तविरुद्धमाचरितम् ।]

शविलक—

नो मुष्णान्मबला विभूषणवती फुल्लामिवाह लता

विप्रस्व न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्वृत्तम् ।

धात्रुस्तद्गत हरामि न तथा बाल धनार्थो वचि-

त्वाग्निकार्थविचारिणी मम मतिश्चोर्वेऽपि नित्यं स्थिता ॥५॥

तद्विश्राप्यता वरान्तरोना—

‘अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निमित्त ।

अप्रकाशो ह्यलङ्कारो मत्स्तेहाद्वार्यतामिति’ ॥७॥

मदनिका—सखिअस, अप्पकाशो अलकारओ । अअ च जणो सि खुवेवि ञ  
जुअवि । ता उवणेहि बाय वेवत्तामि एअ अलकारअम् । [शविलक, अप्रकाशो-  
ऽलङ्कार । अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते । तदुपनयं तावत् । परयाम्ये-  
नमलङ्कारम् ।

जबूवेजनीया उद्वेजयतीति ‘वृत्त्यत्युदो बहुलम्’ ३/३/११३/ इति कर्त्तरि  
अनीप्त् उद्वेजनिवा इत्यर्थः । विनिक्षिप्तम् पातितम् । साहसे जीवितानपेक्षकर्मणि  
(पृथ्वी ०) श्री सक्ष्मी प्रतिवसति तिष्ठति, य जीवितमपि अनपेक्ष्य कर्म करोति  
सः सम्पत्तिमर्जयितुं शक्नोतीति भावः । अखण्ड चारित्र्यं यस्य सः । अत्यन्तविरुद्ध  
लोकशास्त्रविरुद्धम् ।

मदनिकावचनं निशम्य शविलकः स्वचरितं वर्णयति—नो इति । धनार्थं अहं  
फुल्ला लताम् इव विभूषणवतीम् अमला न मुष्णामि, विप्रस्व न हरामि, अथो यज्ञार्थं  
मभ्युद्वृत्तं काञ्चन (न हरामि) तथा वचिद् धात्रुस्तद्गतं बालं न हरामि ।  
चोर्वे अपि मम मतिं नित्यं कार्यागार्थविचारिणी स्थिता । इत्यन्वयः ।

वसन्तमेना—इसकी आकृति प्रसन्न है किन्तु साहसिक कार्य (करने) में उद्देगजनक है ।

मदनिका—शविलक, कलेबे के जैसी (तुच्छ) स्त्री के कारण (तुमने) दोनों ही मंगल में डाल दिये ।

शविलक—क्या, क्या ?

मदनिका—शरीर और चरित्र ।

शविलक—अज्ञे, माटम में लक्ष्मी वास करती है ।

मदनिका—शविलक, तुम अशुण्डित चरित्र वाले हो, तो मेरे कारण से साहस करने हुए तुमने (अपने चरित्र के) नितान्त विपरीत आचरण नहीं किया ।

शविलक—धन का इच्छुक मैं पुण्डित सता जैसी आभूषण वाली अंबला (स्त्री) को नहीं सूटता हूँ, ब्राह्मण के धन को एव यज्ञ के लिये एकत्र किये गये सुवर्ण को नहीं चुराता हूँ और मैं वही धाय का गोद में स्थित बालक को भी नहीं हरता हूँ । चोरी में भी मर्दव मेरी बुद्धि कार्य अकार्य (उचित अनुचित) का विचार करने वाली रहती है ॥६॥

तो वसन्तमेना से निवेदन करो—

‘यह आभूषण मानो तुम्हारे शरीर की ही नाप से बनाया गया है, यह प्रकट करने योग्य नहीं है, मेरे प्रेम से इसे धारण कीजिये ॥७॥

मदनिका—शविलक प्रकट रूप में न पहिने योग्य अलङ्कार और यह जन (अर्थात् वेश्या वसन्तमेना) दोनों को संगति नहीं बैठती, तो अब मुझे दो । इस आभूषण को देसती हूँ ।

घनार्थो धनं कामगमानोपि अह शविलकः कुल्तां पुण्डिता लताम् इव विभूषण-  
षोम् अलङ्कारयुताम् अवलोक्य नारी न मुष्णामि चोरयामि, विप्रस्य ब्राह्मणस्य स्वं  
धनं न हरामि न चोरयामि । शयो अथवा यज्ञार्थं यज्ञस्य निमित्तम् अम्बुद्वयम्  
पृथक् स्थापितं काञ्चन मुष्णं न हरामि । तथा तथैव वचन् वृथा उल्मङ्गलम्  
अष्टौ ग्यन्त बालं न हरामि । चौर्यं चौर्यमार्गि अपि मम मति बुद्धिः नित्यं मया  
कार्यम् अकार्यं च विचारयन्ति जन्तूना इति उचिता नुचिता विवेकिनी स्थिता निष्ठति ।  
कुल्ता मनामिवेति उपमालङ्कारः । शार्ङ्गसवित्रीदिवं वृत्तम् ॥६॥

अपमिति । तस्य वसन्तमेनायाः शरीरस्य अङ्गस्य प्रमाणाद् इव प्रमाणं  
इत्वा इव निमित्तः रचितः । अयं पुरोवर्ती अलङ्कारः अप्रकाश अनुचितः प्रमाणो  
स्य मोःप्रकाशः । अत्रास्य उचि पाठान्तरं प्रकाशयितुमयोग्यः इत्यर्थः । हि मनु  
सन्नेहात् मयि स्नेहात् नारणात् प्रकथा अयं धार्यताम् । प्रमाणास्थेऽनुप्रेषा ।  
पन्थावयव वृत्तम् ॥७॥

शबिलक—इदमलङ्कारणम् । (इति साशङ्क समपंयति )

मदनिका—(निरूप्य ।) विटठपुरण्यो विअ भअ अलकारओ । ता भणेहि कुबो  
द एसो । दृष्टपूर्वं इवायमलङ्कार । तदभण कुतस्त एय ।

शबिलक—मदनिके, किं तवानेन । गृह्यताम ।

मदनिका—(सरोषम् ।) जइ मे पञ्चअ ण गच्छसि, ता क्खिमिअ म

णिविक्कासि । [यदि मे प्रत्यय न गच्छसि तत्किमिअ मा निष्क्रीणासि ।]

शबिलक—अयि, प्रभाते मया श्रुत श्रष्टिचत्वरे, यथा—सायवाहस्य  
चाहदत्तस्य इति ।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयत )

शबिलक—मदनिके समाश्वसिहि । किमिदानी त्वं

विषादसस्तसर्वाङ्गी सभ्रमभ्रान्तलोचना ।

नीयमानाऽभुजिष्यात्व वम्पसे नानुकम्पसे ॥८॥

मदनिका—(समाश्वस्य) साहसिअ ण खु तुए मम वारणाओ इअ अरुज्ज  
करत्तेण तसिं गेहे कोवि वावाविओ परिसखओ वा । [साहसिक, न खलु त्वया मम  
वारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन्गेहे कोऽपि व्यापादित परिक्षतो वा ।]

शबिलक—मदनिके, भीते सुप्ते न शबिलक प्रहरति । तन्मया न  
कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षत ।

मदनिका—सञ्चम् । [सत्यम् ।]

शबिलक—सत्यम् ।

वसन्तसेना—(सशां लब्ध्वा) अम्महे, पञ्चुज्जीविरग्धि । [आश्चर्यम, प्रत्यु-  
पजीवितास्मि ।

मदनिका—पिअम् । [प्रियम् ।]

शबिलक—(सेष्यम्) मदनिके किं नाम प्रियमिति—

त्वत्स्नेहवद्बहूदयो हि परोम्यकार्यं

सद्वृत्तपूर्वपुरपऽपि कुसे प्रसूत ।

अयं जन वसन्तसेनारूपं वेश्या हि अप्रयाश्यमनङ्कारं न धारयितुं शक्नोतीति  
भावः । पूर्वं दृष्ट इति दृष्टपूर्वम् । कुतः परमात् स्थानात् एष अनङ्कारः ते तव  
(हस्तगतो जातः) । मम प्रत्यय विश्वास न गच्छसि न प्राप्नोषि मयि न विश्वसिषि  
इति भावः । अयि इति सम्प्रोषनेऽवयवम् ।

मूर्च्छितां मदनिकां दृष्ट्वा शबिलकस्तां वचयति—विषादिति । इदानीं त्वम् अभु-  
जिष्यात्वं भुजिष्या दासी तस्यां भावः भुजिष्यात्वं न भुजिष्यात्वं अभुजिष्यात्वं

शबिलक—यह रहा आभूषण । (शङ्कापूर्वक दे देता है)

मदनिका—(दिन कर) यह आभूषण पहले देखा हुआ सा है, तो बताओ यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

शबिलक—मदनिके, तुम्हें इसमें क्या ? प्रहृण करो ।

मदनिका—(क्रोधपूर्वक) यदि मेरे विश्वास को प्राप्त नहीं होते तो किस लिए घन देकर मुझे मुक्त कराते हो ?

शबिलक—अरे, प्रातःकाल मैंने सेठों के चौक में यह मुना पा कि—‘सार्पवाह चारदत्त का है ।’

(बसन्तसेना और मदनिका मूर्छा का अभिनय करती हैं)

शबिलक—मदनिके, धैर्य धरो । इस समय तुम क्यों—

दुःख से शिथिल सम्पूर्ण अंगो वाली, घबराहट से भ्रान्त (चञ्चल) नेत्रो वाली (क्यों) काप रही हो ? बन्धनमुक्त कराई जाती हईं तुम अनुग्रह (क्यों) नहीं करती हो ॥८॥

मदनिका (धैर्य धरकर) हे माहसी, मेरे निमित्त मैं यह अनुचित कार्य करते हुए तुम्हें उम घर में कोई मारा (तो नहीं ?) अथवा घायल तो नहीं किया ?

शबिलक—मदनिके उरें दूए और मांसे दूए पर शबिलक प्रहार नहीं करता है । तो मैंने न कोई मारा, न ही घायल किया ।

मदनिका—सच ?

शबिलक—सच ।

बसन्तसेना—(चितना पाकर) आश्चर्य ! पुनः जीवित हो गई हैं !

मदनिका—प्रिय है ।

शबिलक—मदनिके, क्या है ‘प्रिय’ ?

मदाचारी थे पूर्व पुरप जिममें ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ भी (मैं) तुम्हारे प्रेम के बगीभूत हृदय वाला होकर अनुचित कार्य करता हूँ । काम के द्वारा नष्ट हो गया है

अदात्मभावं मीयमाना प्राप्यमाणा विधादेन निदेन खस्तानि गनितानि—सर्वाणि  
अङ्गानि यस्याः तपाभूना सम्प्रमेण मयेन खान्ते चञ्चने लोचने नेत्रे मया. तादृशी  
थ भूत्वा कि कथ कम्पमेव श्विना जाता न अनुकम्प्ये मरि अनुग्रह न करोषि ।  
विभावना विज्ञेयोक्तिरवानुशूरी । पप्यावक्त्र वृत्तम् ॥२॥

व्यापारितः हतः । परिभत आहूत ।

मदनिकावचनं निगम्य शबिलकश्चिन्तयति यद् चारदत्तः एतस्याः प्रियः तत्रच  
मदनिका प्रति कथयति—स्वर्दिनि । मद्रुत येन ते मद्रुतः सदाचारिणः  
सद्रुता पूर्वपुरुषा पर नमिन्नु हुये प्रभूत उगमनः अवि अह शबिलकः स्वस्तेहेन

रक्षामि मन्थमविपन्नगुणोऽपि मान

मित्रं च मा व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥६॥

(साकृतम्)

इह सर्वस्वफलिनं कुलपुत्रमहादमा ।

निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥१०॥५

अथ च सुरतज्वालं कामाग्निं प्रणयेन्धनं ।

नराणां यत्र हूयन्ते य वनानि धनानि च ॥११॥५

यत्नतस्तेना--(अस्मितम्) अहो, ते अस्थाने आवेषो । [अहो, अस्थाने आवेग ।]

शबिलम् —सवषा—

अपण्डितान्स्ते पुरुषा मता मे य स्त्रीषु च क्षत्रे च विश्वाम्नि ।

धियो हि कुर्वन्ति तर्पयन्तार्यो भुजङ्गान्यापरिस्त्रपणानि ॥१२॥

स्त्रीषु न रागं वार्यो रक्तं पुरयस्त्रियं परिभवन्ति ।

रक्तं हि रक्तं वा विरक्तभावा तु हातव्या ॥१३॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

तवानुरागेण यद्बद्धं वशीकृतं हृदयं यस्य तादृशं सन् हि— अवायम् अनुचितं धर्मं करोमि । तथा च मन्मथेन वामेन विपन्ना नष्टा गुणा यस्य तादृशोऽपि मान आत्मसम्मानं रक्षामि । किन्तु त्वं मा शबिलम् मित्रं व्यपदिशसि वाचा दर्शयसि अपरं चारदत्तं च यासि तेन सह मनसा प्रीतिं करोषीति भावः । वगन्नतिलया वृत्तम् ॥६॥

पुनश्च शबिलम्: (साभिप्राय = साकृत) वेश्याजनं निदर्शितं— इहेति । इह अस्मिन् लोके सर्वस्वं सर्वधामस्य पत्रमेवामन्ति इति सर्वस्वफलिनं (दि०) कुलपुत्रा एव महादमा महावृषा वेश्या एव विहगा पक्षिणं तं भक्षिता अत्र पर्याप्तम् अत्यर्थं वा निष्फलत्वं पत्नराहित्यम् अमपत्नता वा यान्ति प्राप्नुवन्ति । साङ्गपरम् खल्विदमुच्यते । पश्यावयव वृत्तम् ॥१०॥

अपमिति । सुरत रतिश्रीटा एव उद्याता अग्निगिरा यस्य म, प्रणयः अनुराग एव इन्धनं यस्य स अथ कामाग्निं वाम एव अग्निं अग्निः । यत यस्मिन् नराणां धीवन्तानि धनानि च हूयन्ते अग्निमान् शिथिलः । साङ्गपरम् पत्रश्रीटाः । पत्रश्रीटा वृत्तम् ॥११॥

गुण जिनका ऐसा होकर भी (अपने) सम्मान की रक्षा करता है। तुम मुझको (मिथ्या ही) मित्र कहती हो, दूसरे (प्रेमी) के पीछे जाती हो अर्थात् किसी दूसरे से प्रेम करती हो)

(अभिप्रायपूर्वक)

यहाँ (इस सत्कार में) अपनी समस्त सम्पत्ति ही जिनका फल है, ऐसे कुलीन पुत्र रूपी महान् वृक्ष वेश्या रूपी पक्षियों द्वारा खाये जाकर पूर्णतः निष्कलता (गुणक पक्ष में—प्रसफलता, वृक्ष पक्ष में—फलरहितता) को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥

रति-क्रीड़ा जिसकी ज्वाला है (एव) प्रेम जिसका ईशान है, ऐसी यह काम-वासना रूपी अग्नि है, जहाँ (जिस कामाग्नि में) मनुष्यों के यौवन और धन होम (भस्म नष्ट) किये जाते हैं ॥११॥

वसन्तसेना—(मुक्कराकर) अहो! इनका आवेग (रोप) बिना अवसर (कारण) के ही है।

शबिलक—हर प्रकार से—

वे मनुष्य मुझे मूर्ख लगने हैं जो स्त्रियों और सम्पत्ति पर विश्वास करते हैं। सम्पत्ति तथा स्त्रिया संप्रबन्धाओं के समान कुटिल गमन करती हैं ॥१२॥

स्त्रियों पर प्रेम नहीं करना चाहिए, स्त्रियाँ प्रेमी (अनुरक्त) पुरुष को (भी) तिरस्कृत कर देती हैं। प्रेम करने वाली (स्त्री) के साथ ही रमण करना चाहिए, उदासीन (प्रेमहीन स्त्री) तो त्याग देनी चाहिए ॥१२॥

यह वास्तव में ठीक बड़ा जाता है—

अस्याने—अनुक्ति स्थाने, अनवमरे । आवेगः रोपः ।

कुट्ट. शबिलकः वेश्याजनं निर्भर्त्स्यं द्वाभ्याः श्लोकाभ्याः स्त्रीमात्रं निन्दति—  
अपगिरता इति । ये पुरुषा स्त्रीषु शीघ्रं सम्पत्तिषु च विरगमन्ति विश्वासं कुर्वन्ति  
ते अपगिरिता. अज्ञानिनः मे मनाः मम अभिमतः हि पतः धियः सम्पदः तपेव नार्यः  
पुत्रद्वङ्गन्यानां संप्रबान्तानां परिमपंचानि तासामिव वरुणमनानि कुर्वन्ति । अतस्ताः  
न विश्वासयोग्याः इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥१२॥

स्त्रीषु इति । स्त्रीषु नारीषु रागः प्रीतिः न कार्यः कुर्वन्धः । स्वियः रक्तम्  
अनुरागपुत्रं पृथ्वं परिमवन्ति निरम्कुर्वन्ति । पतः हि रक्ता अनुरागपुत्रा एव नारी  
रक्तभ्या रमणयोग्या भवन्ति विरक्तभावा विरक्तः अनुरागपुत्रः बाधो यस्ताः गार्हो तु  
नारी हानभ्या परिन्दकभ्या । आर्षा वृत्तम् ॥१२॥



एता हसन्ति च रुदन्ति च वितहेतो-

विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।

तस्मान्दरेण कुलशीलसमन्वितेन

वेश्याः शमशानसुमना इव वर्जनीया ॥१४॥

अपि च—

समुद्रवीचीव चलस्वभावा संध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियो हृतार्था पुरुष निरर्थं निष्पीडितानक्तकवत्यजन्ति ॥१५॥

स्त्रियो नाम चपला —

अन्य मनुष्य हृदयेन कृत्वा अन्य ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।

अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्य शरीरेण च कामयन्ते ॥१६॥

सूक्तं खलु कस्यापि—

न पर्यताग्ने नत्तिनो प्रराहति न गदभा वाजिधुर वर्तन्ति ।

यवा प्रवीर्णा न भवन्ति शालयो न वेगजाना शुचयस्तथाङ्गना ॥१७॥

आ ! दुरात्मन् चारदत्ताहतक ! अयं न भवसि । (इति कतिचित् पदानि गच्छति)

भवन्तिका—(अञ्चले गृहीत्वा) अइ असवद्वभासअ, असभावणीए कुप्पसि ।

[अयि असवद्वभापक, असभावनीये कुप्पसि ।]

शक्तिसकः—कथमसभावनीय नाम ।

स्त्रीमात्रं निन्दन् पुन वेश्याजनं निन्दति—एता इति । एता स्त्रियः वेश्याः वा वितहेतो धनस्य वारणात् हसन्ति च दातुं विनोदार्थं रुदन्ति च जनानां हृदयद्रवीकरणार्थम् इत्यर्थः । पुरुषं विश्वासयन्ति तस्य विश्वागम् उत्पादयन्ति तु विन्दुस्वयं न विश्वसन्ति । तस्मात् वारणात् पुन च शीलं च ताभ्यां समन्वितेन मुक्तेन मरेण शमशानस्य सुमनाः पुण्याणि भासतोयता वा (टि०) इव वेश्याः गणिताः वर्जनीयाः परित्यक्तव्याः । त्रियादीपञ्चोपमयो संगृष्टिः (जाते) । तस्मात्तिसका वृत्तम् ॥१४॥

पुनः स्त्रीणां स्वार्थपरतां वर्णयति समुदेति । समुद्रस्य वीची तरङ्गः इव क्षतः चञ्चलः स्वभावे यथा तथाभूता सन्त्याया शायकान्य अन्त्येत्वा मेघपद्विः इव मुहूर्तं अर्णं यावत् रागः अनुराग [मेघ एते—सासिमा] यतां तथाभूताः स्त्रियः हृतार्था हतः अपहृतः अर्थः वाभिस्ता पुराणां धनमपहरत्येति भावः अत एव निरर्थं धनहीनं पुरुषं निष्पीडितं निःनारितस्यम् अस्तकत्वात्वा तदयं रगजति । उपमा-लक्षणा । उपजातिः वृत्तम् ॥१५॥

ये धन के कारण हेमजो हैं, और रोती है, पुरुष को विश्वास दिताती है किन्तु (स्वयं पुरुष वा) विनवाह नहीं करती है, इस कारण कुन एवं शीतयुक्त पुरुष को समान-वेग्याएँ त्याग देनी चाहिए ॥१४॥  
बीर भी—

मनुष्य को लहर की भाँति चञ्चल स्वभाव वाली, साध्य भेषो की पक्ति के समान धार्मिक राग (मेष पत्र में—नानिमा, स्त्रीपत्र में—प्रेम) वाली स्त्रियाँ धन-हरण करके निधन मनुष्य को निर्धन (सार अथवा रम निकाने हए) प्रेम अलक्तक की भाँति छोड़ देनी है ॥१५॥

चञ्चल स्त्रियाँ—

हृदय में दूसरे पुण्य को रखकर सत्यवाद् दृष्टि (सनेतो) से अन्य को बुलाती है, मदमत्तता की वही अन्यत्र प्रवाहित करती है (छोड़ती है) और शरीर से दूसरे को चाहती है ॥१६॥

बन्धुनः किमी का कहा हुआ ठीक ही है—

पतंत की चोटी पर कमगिनी नहीं उषती है घोड़े के (द्वारा बहन करने योग्य) भार को गधे नहीं ले जा सकते हैं । (मैत्र में) विषरागे हुये (बोये हुये) धन धान नहीं हो पाते हैं, इसी प्रकार वेद्यातप में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं ॥१७॥

अरे दुरात्मा चाखत यह तुम न रह सकोगे (कुछ हग बना जाता है)

मदनियता—(अञ्चल से उगे पकड़ कर) है कमजून बोलने वाले, असम्भावित (विस्तकी सम्भावना भी न की जा सके) पर क्रोध करते हो ।

शक्तिरु—असम्भावनीय कैसे है ?

अन्यस्मिन् । चरनाः स्त्रियः हृदयेन अन्यं मनुष्यं कृत्वा स्वहृदये भारं जर्न पारयित्वा ततः तस्माद् अन्यं स्मिन् दृष्टिभिः कटाक्षं आह्वयन्ति अन्यत्र अन्यस्मिन् जने परम्य आनन्दस्य प्रमेकं निश्चयं प्रवाह वा मूञ्चन्ति तदजनि शरीरेण च अन्यं जर्न कामयन्ते । दीनशालद्वारः । इत्यवया वृत्तम् ॥१६॥

मेति । पर्वनापे विरिष्टुद्गे नतिनी कमगिनी न प्ररोहति नोत्सदने । पर्वनाः रामभाः धार्मिनां शोचकानाम्, अन्ववाह्या इति भावः धुरं भारं न वहन्ति वेदुं न प्रभवन्ति । प्रकीर्णाः क्षेत्रेषु प्रक्षिप्त्वा पत्रा शालयः धाना न भवन्ति तथा वेगवाता, वेगे वेगवान्ते जाताः उन्मत्ता अज्ञाना नार्यः मुचयः पवित्राः न भवन्ति । इत्यान्तानद्वारः । द्वितीयचरणे उनेन्द्रवया वृत्तम् । त्रेतेषु च पंचमपम् । चपमचरणे च पादान्तर्यं दुर वेत्तम् ॥१७॥

मदनिका—एसो बहु असकारओ अज्जभाकेरओ । [एय सत्त्वलङ्कार आर्या-सम्बन्धी ।]

शविलक — तत किम् ।

मदनिका— स च तरस अज्जस हत्थे विणिबिलसो । [स च तस्पायस्य हस्ते विनिसिप्त ।]

शविलक — किमर्थम् ।

मदनिका— (वर्ण) एय विअ । [एवमिव ।]

शविलक— (सर्वलक्ष्यम्) भो कष्टम् ।

छायार्थं ग्रीष्मसतप्तो यामेवाह समाश्रितः ।

अजानता मया सैव पत्रं शाखा वियोजिता ॥१॥

वसन्तसेना— कथ एसो थि सतप्पदि ज्जेय । ता अजानन्तेण एदिणा एयं अणुविट्ठवम् । [वचमेधोऽपि सतप्यत एव । तदजानतैर्नैवमनुष्ठितम् ।]

शविलक— मदनिके किमिदानी मुक्तम् ।

मदनिका— इय तुम ज्जेव पण्डितो । [अत्र त्वमेव पण्डित ।]

शविलक— नैवम् । पश्य ।

स्त्रियो हि नाम सत्वेता निसर्माविय पण्डिता ।

पुटपाणा तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपविश्यन्ते ॥१६॥

मदनिका— सध्विलअ, जइ मम वचन सुणीअदि, ता तरस उच्च महानुभावस्त पदिणिज्जावेहि । शविलक, यदि मम वचन श्रूयते, तदा तस्सैव महानुभावस्य प्रतिनिर्याय ।]

शविलक— मदनिके, यद्यसौ राजकुले मां कथयति ।

मदनिका— ए चन्द्रावो आरवो होदि । [न चन्द्रादातपो भवति ।]

वसन्तसेना— साहु मरणिण, साहु, [साधु मदनिके, साधु ।]

शविलक— मदनिके,

असम्बन्धम् असङ्गत भावते इति असम्बन्धभाषक तरसमुञ्जी । असम्बन्धगीये सम्भावयितुमपि अशक्ये । आर्याया वसन्तसेनाया सम्बन्धी । विनिसिप्त, म्यासीइव ।

मदनिका—यह आरूपण वास्तव में आर्या (वसन्तसेना) का है ।

शबिलक—उसमें क्या ?

मदनिका—वह उन आर्यों (चारदत्त) के हाथ में धरोहर रक्सा गया था ।

शबिलक—किम लिये ?

मदनिका—(कान में) इसलिये ।

शबिलक—(सज्जःपूबंक) अरे, कष्ट है !

धीमे में सन्तप्त हुए मेने जिसका छामा के लिये आश्रय लिपा, मुझ बनजान के द्वारा वही शाखा पत्ते से रहित कर दी गई ॥१८॥

वसन्तसेना—क्या यह भी सन्ताप कर रहा है ? तो यह इसने न जानते हुए किया ।

शबिलक—मदनिक, अब क्या (करना) उचित है ।

मदनिका—यहाँ (यह निर्णय करने में) तुम ही कुशल हो ।

शबिलक—ऐसा नहीं, देखो—

स्त्रियाँ तो वस्तुतः स्वभाव से ही कुशल होती हैं, पुरुषों की कुशलता तो शास्त्रों के द्वारा ही मिथ्याई गई होती है ॥१९॥

मदनिका—शबिलक यदि मेरी बात सुनते हो, तब (तो) उसी 'महानुभाव (आर्य चारदत्त) को लौटा दो ।

शबिलक—मदनिके, यदि वह राजकुल में मेरे विरुद्ध (मुझे) कह देता है ।

मदनिका—चन्द्रमा से गर्मी नहीं होती ।

वसन्तसेना—बहुन अच्छी मदनिके, बहुत अच्छी ।

शबिलक—मदनिके, !

छापेति । एतेषामन्त्य धीमेण संतप्तः अहं शबिलकः छाम्यां छाम्याः प्राप्ते येषां शासाम् एव समाश्रित आश्रितवान् अज्ञानता ज्ञानाभाववता मेधा सा एष शाखा पत्रः विद्योजिता पत्रहीना कृता । अग्रन्तुप्रगंसात्पट्टाटः । पष्पादन्नं दत्तम् ॥१८॥

स्त्रिय इति । एतां स्त्रियः निसर्गाद् एव स्वभावतः एव पश्चिताः त्रिपुगाः एतु नाम इति निश्चितम् । तु किन्तु पुरुषाणां पाण्डित्यं चातुर्यं साहस्रं एव अपश्चित्ये गिद्यते न तु स्वभावात्तेषां पाण्डित्यं भवतीति भावः ॥१९॥

प्रतिनिर्णय निश्चय । यथा चन्द्रार् आनपः न भवति तर्था चान्द्रस्तद् अपि द्यौर्विन् जनस्य जनेषां न संभवति इति भावः ।

न खलु मम विषाद साहसोऽस्मिन्भय वा  
वचयसि हि किमर्थं तस्य साधोगुणास्त्वम् ।

जनयति मम वद कुत्सितं यमं लज्जा

नृपतिरिह शठाना माहशा वि न कुर्यात् । १२०।

तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चित्यताम् ।

मदनिका—तो अथ अचरो उवाचो । [सोऽयमपर उपाय ।]

यस तमेना—को बलु अचरो उवाचो हृदयस्तवि । [व खल्वपर उपायो भविष्यति ।]

मदनिका—तस्त उजेय अज्जस्त केरओ भविभ एव अलकारअ अज्जआए उवणेहि । [तस्यैवायस्य सम्बन्धी भत्वममलङ्कारवमार्याया उपनय ।]

शबिलक—एवं कृते वि भवति ।

मदनिका—सुम दाय अचोरो सो वि अज्जो अरिणो अज्जआए सक अलकारअ उवणद भोदि । [त्वं तावदचौर सोऽप्यार्याऽनृण आवया स्वकोऽलङ्कार उपगतो भवति ।]

शबिलक—नन्वतिसाहसमेतत् ।

मदनिका—अइ उवणहि । अण्णया अदिसाहसम् । [अयि उपनय । अन्य यातिसाहसम् ।]

वसन्तसेना—साह मदनिए साह । अमुजिस्तए विअ मन्तिवध् । [साधु मदनिके साधु । अमुजिव्ययव मन्त्रितम् ।]

शबिलक—

मयाप्ता महती युद्धिभरतीमनुगच्छता ।

निशाया नष्टचन्द्राया दुर्लभो मार्गदशव ॥२१॥

मदनिका—तेण हि सुम इमस्सि कामदेवगेहे मुहुत्तअ घिट्ट जाव अज्जआए बुह अणमण णिवेदेमि । [तेन हि त्वमस्मिन्कामदेवगेहे मुहूर्तक तिष्ठ यावदार्यायै तवागमन निवेदयामि ।]

मदनिकाय एव निश्चय शबिलक वचयति—नेति । अस्मिन् साहसे अपहृतद्रव्यस्य समर्पणस्य साहसकार्ये मम शबिलकस्य विषाद भेद मय वा न खलु यस्तुत नास्ति पुनरपि स्व मदनिका तस्य साधो सत्पुरुषस्य गुणात् औदार्यादीन् हि किमर्थं वि निमित्तं वचयति । वा अपवा इह शौर्यरूप कुशिल निदितं यम कार्यं मम लज्जा जनयति उपादयति अपवा इह अस्मिन् विषये नृपति राजा माहसानां शठानां

इस साहस (चाहदत्त को आभूषण लौटाने के कार्य) में बभ्रुवर्षः मुझे कुछ अथवा भय नहीं है। उस सज्जन (आर्य चाहदत्त) के गुणों को तुम किस लिये कहती हो? अथवा यह कुत्सित कर्म मुझ में लज्जा उत्पन्न करता है। राजा मेरे जैसे धूर्तों का यहाँ क्या कर सकता है? ॥२१॥

फिर भी यह नीतिविच्छेद है। दूसरा उपाय सोचो।

मदनिका—वह दूसरा उपाय यह है।

वसन्तसेना—दूसरा उपाय क्या होगा?

मदनिका—उम आर्य (चाहदत्त) का ही सम्बन्धी होकर-इस आभूषण को आर्या (वसन्तसेना) को दे दो।

शक्तिरु—ऐसा करने पर क्या होगा?

मदनिका—तुम चोर नहीं (सिद्ध) होते, वह आर्य (चाहदत्त) भी उच्छेद हो जाते हैं, आर्या (वसन्तसेना) के द्वारा अपना आभूषण प्राप्त कर लिया जाता है।

शक्तिरु—किन्तु यह अति साहस (का कार्य) है।

मदनिका—अरे ने जाओ, अन्यथा (यदि नहीं लौटाते हो तो) अति माहम (का कार्य) हो जायेगा।

वसन्तसेना—माधु? मदनिके, माधु! वासीत्य बन्धन से मुक्त (स्त्री) की भाँति ही (तुमने) कहा।

शक्तिरु—अज्ञान का अनुसरण करते हुए मैंने बिभ्रद बुद्धि प्राप्त की। पिछे रात्रि में चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उसमें पप-प्रदर्शन करने वाला दुष्प्राप्य होगा है (विभ्रद-प्रष्ट मुझको अपने उचित मार्ग प्रदर्शित किया है) ॥२१॥

मदनिका—अनः इस कामदेव-ग्रह में तुम क्षयभर बैठो, अब तक आर्या (वसन्तसेना) को तुम्हारे आने की सूचना दिये देती है।

धूर्तानां किं नु कुर्यान्नु सः न किमपि कर्तुं शक्यतीति भावः। काम्यतिङ्गुम् अतद्भाष्यः। मानिमी इत्तम् ॥२०॥

अनुविध्या इव दासीत्वबन्धनाम् मुक्ता इव। यदा कर्मणं मन्वयति तथेति भावः।

मदनिकायाः वचनं निवृत्त्य हृष्टः शक्तिरुः कथयति—यथा। अर्थात् मदनिकाम् अनुवर्षदत्ता अनुसरता यथा शक्तिरुकेन महती बुद्धिः यथा प्राप्ता। नष्टः न हृष्टः अतः यस्यां तथाभूतया नितायाम् अन्वकाराद्यन्त्यां रात्रिं-अन्वयसक्तः परस्परः पुनः पश्यति ॥२१॥

कामदेवगोहे कामदेवग्रहनामके भवने।

शबितक—एवं भवतु ।

मदनिका—(उपमृत्य) अज्जए, एसो वधु चारुदत्तस्य सअसादो वधुहपो  
माअसो । [आर्ये, एष खलु चारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगत ।]

वसन्तसेना—हज्जे, तस्स केरअ त्ति कथं तुम जाणासि । [हज्जे तस्स  
सम्बन्धीति कथं त्वं जाणासि ?]

मदनिका—अज्जए, अत्तकेरअं पि न जाणामि । [आर्ये, आत्मसम्बन्धिनामपि  
न जानामि ।]

वसन्तसेना—(स्वगतं सशिरः कम्पं विहस्य) जुज्जदि । (प्रवाशम्) पविसदु ।  
[युज्यते । प्रशिशतु ।]

मदनिका—अं अज्जमा आणवेदि । (उपगम्य) पविसदु सखित्तजो । [यदा-  
र्याज्ञापयति । प्रविशतु शबिलकः ।]

शबिलकः—(उपमृत्य सर्वलक्ष्मम्) स्वस्ति भवत्यै ।

वसन्तसेना—अज्ज, यन्दासि । उवविसदु अज्जो । [आर्यं, वन्दे उपवि-  
शुत्वार्थः ।]

शबिलकः—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—‘ज्जंरत्त्वाद् गृहस्य दूरस्थमिदं  
भाण्डम् । तद्गृह्यताम्’ । [इति मदनिकायाः समर्थं प्रस्थितं]

वसन्तसेना—अज्ज, ममावि दाव पविसदेस तहि अज्जो जेतु । [आर्यं, ममापि  
सम्पत्प्रतिसन्देशं तत्रार्यो नयतु ।]

शबिलकः—(स्वगतम् ।) कस्तत्र मास्यति । (प्रकाशम् ।) कः प्रतिसन्देशः ।

वसन्तसेना—पडिबध्दु अज्जो मदणिअम् । [प्रतीच्छत्वार्थो मदनिकाम् ।]

शबिलकः—भवति, न सत्ववगच्छामि ।

वसन्तसेना—अहं अपगच्छामि । [अहमपगच्छामि ।]

शबिलकः—कथमिव ।

वसन्तसेना—अहं अज्जचारुदत्तेण मणिदा—‘जो इमं अलंकारअं समप्पइत्सदि  
तस्स तुए मदिगमा शारब्बा’ । ता तो षजेव एवं वे वेदित्ति एव्वं अज्जेण अवगच्छि-  
वन्वप । [अहमार्यचारुदत्तेन भणितम्—‘य इममलङ्कारकं समुपयिष्यति तस्य  
त्वया मदनिका दातव्या । तत् स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम् ।]

शबिलकः—(स्वगतम्) अये विज्ञातोऽहमनया (प्रकाशम्) साधु आर्य-  
चारुदत्त, साधु ।

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरधैः सदा ।

गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः सम ॥२१॥

शविलक—ऐसा ही हो ।

मदनिका—(समीप जाकर) आर्य, यह (आर्य) चारदत्त के पास से ब्राह्मण आया है ।

वसन्तसेना—बेटा, तुम कैसे जानती हो कि उन (चारदत्त) का सम्बन्धी है ?

मदनिका—आर्य, (बच्चा मैं) अपने सम्बन्धी (जन) को भी नहीं जानती ?

वसन्तसेना—(अपने आप सिर हिलाकर, हँस कर) ठीक है । (प्रकट रूप में)

प्रवेग करे ।

मदनिका—जो आर्या आता देती हैं । (समीप जाकर) शविलक प्रविष्ट हों ।

शविलक—(समीप जाकर व्याकुलतापूर्वक) आपका कल्याण ही ।

वसन्तसेना—आर्य बन्दना करती हैं । आर्य, बँठिये ।

शविलक—आर्यवाह (चारदत्त) आर्य कहते हैं—'धर के जर्जर होने से इस स्वर्ण-भाग को सुरक्षित रखना कठिन है । इसलिए इसे ले लीजिये (मदनिका को देकर चले जाता है) ।

वसन्तसेना—आर्य, मेरा भी प्रतिसन्देश वहाँ आप ले जायें ।

शविलक—(अपने आँसू) कौन जायेगा वहाँ ? (प्रकट रूप में) क्या प्रतिसन्देश है ।

वसन्तसेना—आर्य मदनिका को स्वीकार करें ।

शविलक—आर्य, मैं समझा नहीं ।

वसन्तसेना—मैं समझती हूँ ।

शविलक—किन प्रकार ?

वसन्तसेना—मुझे आर्य चारदत्त ने कहा था, जो इस आभूषण को समर्पित करे तुम्हें उसको मदनिका दे दी जाती चाहिये । तो वह (आर्य चारदत्त) ही तुम्हें इस (मदनिका) को दे रहे हैं, ऐसा आर्य- (आप) को समझना चाहिये ।

शविलक—(अपने आप) धरे ! इधने मुझे पहिचान लिया (प्रकट रूप में) धन्य ! आर्य चारदत्त, धन्य ।

मनुष्यों को मदा गुणों (के अर्जत) में ही प्रयत्न करना चाहिये । गुणवान् दक्षिण भी गुणहीन धनिकों के समान नहीं हैं (अपितु उनसे बड़कर हैं) ॥२२॥

सदंतर्था व्याकुलतापूर्वक, लज्जापूर्वकम् । दूरस्थं दक्षिणं सुकृत्यम् अवाञ्छानि जानामि ।

वसन्तसेनायाः उदारा वाचं निराम्य शविलकः चारदत्तं प्रशंसति—गुणेऽपि ।  
 पुर्यः जने. सदा गुणेषु ओदार्यादिषु एव प्रयत्नं कर्तव्यः यतः गुणयुक्तः दक्षिणः निधनः  
 अपि अगुणैः. गुणरहितैः ईश्वरैः धनिकैः समं न अपितु उन्मोर्षिक इति भावः ।  
 अस्तुनश्नसा । मनुष्युन् वृत्तम् ॥२२॥



[अपि च—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किञ्चिदप्राप्यतम गुणानाम् ।  
गुणप्रकर्षादुद्धृतेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥२३॥  
वसन्तसेना—की एष्य पवहणिको । [कोऽत्र प्रवहणिकः ।]

(प्रविश्य सप्रवहणः)

वेदः—अञ्जए, सञ्ज प्रवहणम् । [आर्ये, सञ्जं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे मअणिए, सुद्विट् म करेहि । दिष्वासि । आरह पवहणम् ।  
सुमरेसि मम् । [चेटि मदनिके, सुदृष्टा मा कुरु । दत्तासि । आरोह प्रवहणम् ।  
स्मरसि माम् ।

मदनिका—(रुदती) परिच्छतहि अञ्जए । [परित्यक्तास्मार्याया ।]  
(इति पादयोः पठति) ।

वसन्तसेना—संपरं तुम ज्जेव वन्दनीया सवृता । ता गच्छ । आरह पवहणम् ।  
सुमरेसि मम् । [साप्रतं त्वमेव वन्दनीया सवृता । तद्गच्छ । आरोह प्रवहणम् ।  
स्मरसि माम् ।]

शबितकः—स्वस्ति भवत्यै । मदनिके,

सुदृष्टः क्रियतामेव शिरसा वन्द्यतां जनः ।

यव ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुप्शनम् ॥२४॥

(इति मदनिकया सह प्रवहणमाश्रय गन्तुं प्रवृत्तः)

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः । राष्ट्रियः समाज्ञापयति एष खल्वार्यको गोपालदा-  
रको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादा-  
नीय घोरे बन्धनागारे बद्धः । तत स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्तैर्भवद्भिर्भावित-  
ष्यम् ।

गुणेष्विति । पुरुषेण जनेन गुणेषु औदार्यादिषु यत्नः कार्यैः वर्तव्यः यतो  
हि गुणार्ता किञ्चित् किमपि अप्राप्यतमम् अत्यन्तम् श्रेष्ठम् न भवति गुणवद्भिः  
सर्वं सुखेन सख्यं लभ्यते इति भावः । एतदेव विशेषेण समर्पयति गुणप्रकर्षाद्  
गुणाधिक्याद् उद्धृतेन उद्धृपतिना चन्द्रेण अलङ्घ्यं सङ्गृह्यितुम् अशक्यमपि शम्भो  
शिवस्य उत्तमाङ्गं मस्तकं सङ्घृतम् अधिगतम् । अर्पन्तिरम्यासः । उपेन्द्रव्या  
वृत्तम् ॥२३॥

त्वमेव वन्दनीया—वधूत्वात् त्वमेव पूज्या जाता ।

मदनिकया सह स्वग्रहं गन्तुकामः शबितकः मदनिकां निदिशति—सुदृष्ट इति ।  
एवं चकः वसन्तसेना सुदृष्टः शोभनमवसोकिता क्रियताम् शिरसा नतमल्लनेन च  
वन्दता प्रणम्यताम् । यत्र यस्मिन् जने यस्याः कारणद् वा दुर्लभं दुखेन

बीर भी—

गुणों (के अर्बन) में मदा मनुष्य को यत्न करना चाहिये, गुणों के द्वारा कुछ भी अलम्ब नहीं है। (अपने) गुणों के उत्कर्ष के कारण नखत्रपति चन्द्रमा ने शिवजी के दुःप्रिय (दुर्लभ) मस्तक को आक्रान्त कर लिया (अथवा-मस्तक पर आसीन हो गया) ॥२३॥

वसन्तसेना—कोई गाड़ीवान् (बहलवान्) है यहाँ ?

(प्रवहण सहित प्रवेश करके)

चेट—आयं प्रवहण (बहली) तैयार है।

वसन्तसेना—चेटि मदनिके, मुझे भती प्रकार देख लो। तुम दे दी गई हो। गाड़ी पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

मदनिका—(रोती हुई) आर्या के द्वारा त्याग दी गई है। (पंरों पर गिरती है)।

वसन्तसेना—अब तो तुम ही वन्दनीय हो गई हो। दो आओ। प्रवहण पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

शवितकः—आपका कल्याण हो। मदनिके,

इस जन्म (वसन्तसेना) को भती प्रकार देख लो, (मुझे हुए) सिर से बन्दा करो, जिससे तुम्हें बधू शब्द का दुर्लभ आवरण प्राप्त हुआ है (अर्थात् अब विवाहित हो जाने पर तुम्हारा वेश्या नाम न रह कर 'बधू' यह पवित्र नाम हो गया है। 'वेश्या' नाम को पवित्र बधू, नाम ने ढक लिया है) ॥२४॥

(मदनिका के साथ प्रवहण पर चढ़कर जाने को प्रवृत्त होता है।)

(नेपथ्य में)

अरे, यहाँ कौन-कौन है ? राष्ट्रिय (दे० गट्पणी) आमां देते हैं—

'यहाँ गोपान का पुत्र आर्यक राजा हो जायेगा, इस सिद्धवचन (भविष्यवाणी) में विश्वास (करने) से भयभीत हुए राजा पालक ने (वह गोपालदारक) अहीरों की बस्ती से लाकर कारागार (बन्धनागार) में बन्द कर दिया है इसलिए अपने-अपने स्थानों पर आर्य सबको सावधान हो जाना चाहिये।'

सम्यं बधुशब्द एव अवगुण्डनम् आवरणं ते तव प्राप्तम्. यस्याः रूपया एवं बधुशब्दस्य धारणं जातेति भावः। अत्र च—“हेतानाधारविवक्षया 'यत्र' इति सप्तमी कर्तुः शक्यविवक्षया 'ते' इति षष्ठी" इति पृथ्वीधरः। काव्यसिद्धयुक्तस्य चन्द्रिकायाः १५३३३३ २३

राष्ट्रियः राष्ट्रं अधिष्ठतः। 'राष्ट्रावारसाराद् षष्ठी ४/२/६३ इति षः। अथवा राज्ञः श्वातः—'राजसंघातान्मु राष्ट्रियः' इत्यमरः।

सिद्धयुक्त आदेशो वचने प्रत्ययान्तु विश्व, सान् परिश्रुतः शीघ्रः तेन शीघ्रम् योग्यतामात्रं। अग्रवर्तः नावधानः।

शबिलक —(आकष्य) कथं राज्ञः पालकेन प्रियसुहृदायको मे वद । वत्-  
प्रवाशचास्मि सवृत्त । आ , कष्टम् । अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रिय नराणां सुहृच्च वनिता च ।

संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतम ॥२५॥

भवतु अवतरामि (इत्यदतरति)

मदनिका—(सासमञ्जलि बद्ध्वा) एष्व षेडम् । सा पर ण्डु म अज्जउत्तो  
समीव गुहअणाणम् । [एव न्विदम् । तत्पर नयतु मामायपुत्र समीव गुहजना-  
नाम् ।]

शबिलक —साधु प्रिये, साधु । अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम् । (चेष्टमुद्दिश्य)  
भद्र, जानीये रेभिलस्य सार्यवाहस्योदवसितम् ।

षेट —अथ इ । [अथ किम् ।]

शबिलक —तत्र प्रापय प्रियाम् ।

षेट —अ अज्जो आणवेदि । [यदाय आज्ञापयति ।]

मदनिका— जया अज्जउत्तो भणावि, अप्पमत्तेण ढाव अज्जउत्तेण होरुवम् ।  
[यथायंपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदाथपुत्रेण भवितव्यम् । (इति निष्क्रान्ता)]

शबिलक—अहमिदानी—

जातीन्निटान्स्वभुजविव्रमलन्धवर्णान्

राजापमानकुपिताश्च नरेन्द्रभृत्यान्

उत्तेजयामि सुहृद परिमोक्षणान्

योगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञ ॥२६॥

अञ्च—

मम सुहृद् आर्यं राज्ञा पालकेन वधनागारे बद्ध, तस्य साहाय्यकरणे च  
नवपरिणीता मदनिका विष्मरूपेति विचार्यं शबिलकं वचयति—इयमिति । सुहृद्  
मित्र वनिता स्वपत्नी च इह द्वयं लोके अरिमन् जगति नरार्णाम् अतीव प्रियम् धाम्नि ।  
संप्रति ददानीं मित्रस्य विपत्तिवान् तु सुन्दरीणां शताद् अपि सुहृद् मम मित्र आर्यं  
विशिष्टतम अतिशयेन विशिष्ट तस्य रक्षाया अत्यावश्यवत्वात् । तस्य रक्षार्थं मदनिका  
शतादपि उपशणीयेति भावः । आर्यां वृत्तम् ॥२५॥

एष नन्दमिति पाठात्तरम् । गुहजनानां शबिलकस्य सम्प्रधिजनानाम् । अस्म-  
च्चित्तस्य मम मनसः सदृशम् अनुकूलम् । उदवसितं गृहम् । अप्रमत्तेन गावधानेन ।

शबिलक आर्यवस्य रक्षणे हरतस्य वचयति जातीन् इति । ददानीम् अहम्

शक्तिरु—(मुनिकर) क्या, राजा भोजन ने मेरा प्रिय मित्र आर्यक पकड़  
निदा ? (मैं) पत्नी बाना हो गया है । हाय ! कष्ट है !

अथवा —

इस सत्कार में मित्र और स्त्री दोनों ही मनुष्यों के अर्पण प्रिय हैं, समय (मित्र  
पर संकट आने पर) तो नौ मुन्दरियों में भी (अकेला) मित्र अधिक मुख्य है ॥ ५॥

अच्छा उत्तरता है । (उतर जाता है)

मदनिका—(शंभुओं सहित, हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही हो । आर्यपुत्र मुझे  
श्रीमंत्रों में मुन्दरियों के समीप पहुँचा दें ।

शक्तिरु—धन्य ! प्रिये, धन्य ! हमारे मन के अनुकूल ही कहा । (घंट को  
लभ्य करके) भद्र (सज्जन), नार्यवाह रेभिल का घर जानते हो ?

चेट—ओर क्या ?

शक्तिरु—वहाँ प्रिय (मदनिका) को पहुँचा दो ।

चेट—जो आर्य आज्ञा देने हैं ।

मदनिका—जैसा आर्यपुत्र कहते हैं । तब आर्यपुत्र को भी सम्बन्धान रहना  
चाहिये ।

(निकल जाते हैं)

शक्तिरु—मैं इस समय—

(अपने एवं आर्यक के) सम्बन्धियों, विटों, अपनी भुजाओं के पराक्रम से यत्  
श्रात करने वालों, राजा के (द्वारा किये गये) अपमान से क्रोधित हुए लोगों एवं राज-  
सेवकों को मित्र (आर्यक) की मुक्ति कराने के लिये ठीक उसी प्रकार उत्तेजित करता  
हूँ जैसे योगेश्वररायण (मन्त्री ने राजा उदयन की मुक्ति के लिये किया था ॥२६॥

ओर भी

योगेश्वररायणः एतेनानामकं प्रधानामात्म्यं उदयनस्य रातः (रक्षणाय) इव नुतुदः  
स्वमित्रस्य आर्यकस्य परिमोक्षणाय वन्द्यतापारायत् मोक्षनाय आतीन् अन्यवान् प्रियात्  
स्वमुत्रविहमेन स्वमुत्रपराक्रमेण सेव्यं वचनं कीर्तिः ये तान् रातः अपमानेन कुर्वन्तात्  
प्रियात् नरेन्द्रभृत्यान् राजसेवकान् च उत्तेजयामि रातः पातकस्य विनाशार्थं प्रोत्साह-  
यामि । अत्र हि कथामरितुनागरस्येयं कथा स्मरन्त्या—एकदा उज्जयिनीनृपेण कन्ध-  
केनेन कमराज उदयनः कागमारे बद्धः तत्र उदयनस्य प्रधानामात्मेन योगेश्वररायणेन  
जातयादीन् प्रोत्साह्य वनगजः कारागारात् मोक्षितः । उपनातद्वारः । सम्प्रतिपत्तिका  
वृत्तम् ॥२६॥

प्रियेति । अहितान्मजद्वेः अनायुभिः सिन्धुभिः अकारणं दृष्टीत् छद्ममुये विमर्तं  
दृष्टानुविम्बितं प्रियमुद्दं माधमम् अभिव्य मोक्षयामि, इत्यन्वयः ।

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं

रिपुभिरसाधुभिराहितात्मजम् ।

सरसमभिपत्य मोचयामि

स्वितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम् ॥२७॥

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

शेटः—अजय, रिट्टिआ बड्डसि । अजजवावत्तसस सजातादो बह्मणो भाअहो । [आर्ये, दिष्टपा वधसे । आर्यचारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः । पतन्ततेना—अहो रमणीयता अज्ज दिवसत्त ! ता हज्जे, सादर बन्धुमेन समं पवेसेहि णम् । [अहो, रमणीयताद्य दियसस्य । तच्चेटि, सादर बन्धुत्वेन समं प्रवेसयैनम् ।]

शेटो—अ अजजा आणवेदि । [यदायथापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

(विदूषको बन्धुत्वेन सह प्रविशति)

विदूषकः—ही ही भो, तव चरणकिलेसविनिज्जिदेण रक्खसराभा रावणो पुक्कलेण विमाणेण गच्छदि । अहं जण बह्मणो अकिरतवचरणकिलेतो वि णरणा-रोजमेण गच्छामि । [आश्चर्यं भो, तव चरणेन लेशविनिजितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति । अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणवलेणोऽपि नरनारीजमेन गच्छामि ।]

शेटो—वेक्कहु अज्जो अह्मकेरक गेहुआरम् । [प्रेक्षतामार्योऽस्मदीयं येह्वारम् ।]

विदूषकः—(अवलोक्य सविस्मयम्) अहो ससितसितमग्गिअकिरहुरिदोवत्तेव-णसस, विविहमुअग्गिअकुमुभोवहारविअतिहिअभूमिभाअसस, गभणतसासोअणकोरूहल-दुअण्णामिअसोससस, बोसाअमाणवसम्विदेरावणहत्थअभमाइअमत्तिआवाणगुणासकिवसस, समुच्छिअरन्तिअन्ततोरणावभासिअसस, महारअणोवराअोवसोहिणा पंषणवसन्दोलणास-धन्तअन्तअणहत्थेण 'इदो एहि' ति वाहरन्तेण विअ म सोहणपडाअणिवहेणोवसोहि-असस, तोरणअरणअणवेदिआणिविलत्ततमुत्सअन्तहुरिअधूअपससवससामफटिअमअसकक-णाभिरामोअपाससस, महामुरवअणत्तदुअभेज्जणिरन्तरपडिअअकवाअसस, कुण-

। आहिता कृता आत्मनि शत्रु आर्यवाद स्वमिनाशशत्रु ये. सं: असाधुभिः शत्रुभिः शत्रुभिः अकारणे असत्यपि कारणे गृहीत कारणारे बड्ड राहुमुखे स्वितं शशाङ्कस्य बिम्बं चन्द्राबिम्बम् इव प्रियसुहृद प्रियमित्रम् आर्यं सरसं सचेरं

त्रिन्होंने स्वयं ही (अपने नाश की) शंका को है ऐसे अज्ञान शत्रुओं के द्वारा अकारण ही पकड़े हुए एवं राहु के मुख में चन्द्रविम्ब के समान स्थित पिय मित्र आर्यक को (गन्तुओं पर) अवातरु आक्रमण कर छुड़ाता है ॥२८॥

(बाहर निकल जाता है)

(प्रवेश करके)

चेटी—आर्य, सौभाग्य से बड़ रही हो। आर्य चारुदत्त के पास मे दाहण भाषा है।

वसन्तसेना—आह, आज का दिन कितना रमणीय है ? तो चेटी, बन्धुल के साथ इन्हें सादर प्रवेश कराओ।

चेटी—ओ आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

(विदूषक बन्धुल के साथ प्रवेश करता है)

विदूषक—अरे, आश्चर्य है ! तपस्या के कष्ट से जीते हुए पुष्पक विमान से राजसराय रावण जाया करता था, किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या का कष्ट किये बिना ही पुण्य एवं स्त्रीजन से (सेवित होता हुआ) जा रहा हूँ।

चेटी—आर्य, हमारे गृह-द्वार को देखिए।

विदूषक—(देखकर आश्चर्यपूर्वक) पानो छिड़कर—साड़ू लगाकर (तपश्चात्) जहाँ हरे रंग (के गोबर) में सोया गया है, जहाँ का भूमि-भाग विभिन्न प्रकार के मुग्धित पुष्पों के उपहारों से चित्रित-सा लग रहा है, आकाश को देखने के कौतूहल के कारण जिसने अपना सिर (ऊपरी भाग) ऊपर उठा रक्खा है, जो नीचे सटककर हिलते हुए ऐरावत हाथी के सूट का भ्रम उत्पन्न करने वाली मल्लिका पुष्प की माला से शोभित है, अत्युन्नत हाथी दात के तोरण से ओं मुग्धोभित है, महान् रत्नों की माला (आभा) से विभूषित तथा वायुवेग से हिलने के कारण चलायमान एवं पञ्चवन हुए अग्रभाग रूपी हाथ से 'यहाँ आइये' इस प्रकार मुझे पुकारते हुए से सौभाग्य-

समामिष्यन् शत्रुमभि गत्वा भोचयामि । पुष्पिताया वृत्तम् ॥२७॥

बन्धुल — परगृहललिताः (४।२८) इत्यादिना बन्धुलगतं वरिष्यते [बन्धुलस्त्व-मरीमुतः इत्यमरः ।]

तपश्चरणस्य तपस्यायाः क्नेसेन कष्टेन विनिमित्तं कुर्वेत् पराक्रिय प्राप्तं तेन । न वृत्त. तपश्चरणस्य क्नेसाः येन ताहणः ।

विदूषकः वसन्तसेनायाः भवनद्वारं वर्णयति—मनितेति । अत्र षष्ठ्यन्तानि पदानि वसन्तसेनाद्वारस्य विशेषणानि । पूर्वं सतिनेन जनेन सिक्तं ततः भावितं भावंत्या मोक्षितं तपश्चरात् न वृत्तं हरितवर्णेन शोभयतिना उपलेपनं यस्य ताहणस्य (भवनद्वारस्य), विविधानां मुग्धितुमुमानां मुरभितुमुमानाम् उन्हाः चित्रं यथा

दणमणोरहासासकरस्त वनन्तसेनाभवणदुआरस्त सत्सरोअदा । जं सच्चं मज्जेतपस्त  
 वि जणस्य बलाहिंदि आआरेदि । [अहो, सलिनसित्तमाजितकृतहरितोपलेपनस्य,  
 विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखित भूमिभागस्य, गगनलावलीकनकौनु-  
 हलदूरोन्नमिनशीर्षस्य, दोलायमानावलम्बितैराक्षमहस्तध्रमागतमल्लिकादे-  
 र्गुणालङ्कृतस्य, समाच्छन्दैर्दन्तनोरुषावसितैस्स्य, महारत्नपद्मगोप-  
 शोभिना पवनबलान्दोलनाललच्चनलाग्रहस्तेन इत् एहि' इतिव्याहरतेव मां  
 सोभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणैस्तम्भवैदिकानिसिप्तसमुत्स-  
 सद्भरितचूतपल्लवलीमिस्फोटिकमङ्गलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य, महासुर-  
 वक्षः स्थलदुर्भेद्यवच्छतिरत्नरप्रतिबुद्धवनककपाटस्य द्रुगतजनमनोरथायासक-  
 रस्य, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सशोकता । यत्तस्य नध्यस्थस्याप जनस्य बला-  
 द्दृष्टिमाकारयति ।]

चेटी-एदु । इम पढम पओट्ट पवित्तदु अज्जो । [एत्वेनु । इम प्रथमं  
 प्रकोष्ठं प्रदिशत्वार्यः ।]

विदूषकः-- (प्रविन्यावलोक्य च) ही ही भो, इधो वि पढमे पओट्टे सत्सह-  
 मुणालसच्छाहाओ, विणिहिदनुणमुट्ठिठपाण्डुराओ, विविहरअणपडिबद्धकञ्जणसोदाणमो  
 हिदाओ, पासादपन्तिओ, ओतम्बिदमुत्तादामेहि फटिअवादाअणमुहचन्देहि पिग्गसाअन्तो  
 विअ उज्जइणम् । सोत्तिओ विअ सुहोवविट्ठो णिदाअदि दोवारिओ । सदिहणा वस-  
 मोदणेण पलोहिदा ण भवन्नन्ति धाअसा वत्ति सुधातवण्णदाए । अविंसदु भोरि ।  
 [आश्चर्यं भो, अत्रापि प्रथमं प्रकोष्ठं शशिशङ्खमणालसच्छाया, विनिहित-

स्यात् तथा लिखित भूमिभागे यस्य तस्य गगनस्य अवलोकनाय दर्शनाय यद्  
 कीदृहलम् ओलुक्यं तेन दूरम् उन्नामितम् उत्थापित शीर्षं येन तस्य अतिसमुन्नतस्य,  
 दोलायमान, इतस्तत्, परिवलेन् अवलम्बित' अधोऽवलम्बितः च यः ऐरावतस्य  
 इन्द्रगजस्य हस्ता नृपडादण्ड, तस्य ध्रमागत, ध्रान्ति प्राप्त, त्रयोपादकः इति भावद्  
 [ध्रमापित, इति पाठान्तरम्] य, मल्लिकादामगुण मल्लिकापुष्पाणा हार, तेन  
 अलङ्कृतस्य [दारदेशेऽत्रनमितता मल्लिकाकुमुममाला ऐरावतस्य शुण्डावत्' प्रतिभा-  
 सोत्ति, भाव'] समुच्छ्रितेन समुन्नतेन दन्तिदन्ततोरणेन यद्दन्ततोरणेन अवमासितस्य  
 राजिनस्य, सोभाग्यपताकानां मङ्गलध्वजानां निवहेन समुत्तेन उपशोभितस्य । कीदृशेन  
 सोभाग्यपताकानिवहेन ? इत्याह—महारत्नानाम् उपराणेण वर्णाभासेन उपशोभने  
 इति तेन स्याभूतेन पवनबलेन वायुवेगेन या आन्दोलना इतस्तत्, चलन तथा  
 सतत् चन्द अतएव चञ्चलम् अप्रमेव हस्तः तेन 'इत् एहि' इतः आगच्छ इति  
 मां विदूषक स्याहरता वदता इव [सोभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य द्वारस्य],  
 क्रिञ्च तोरणस्य यत्किञ्चिदस्य धरणाय अपनम्बनाय ये हस्तम्बः तेषां वैदिकानु निशि-  
 प्ता प्रविप्ता समुत्सङ्गत शोभमाना हरिता ये नूतपल्लवाः प्राङ्पत्राणि तैः सत्तामी

मूत्रक पत्राका-मूत्र से जो मुगोभित हो रहा है, तोरु के अबलमन के विदे बनाने गये स्तम्भों की वेदिकाओं (चौकियों) पर रखे हुए मुन्दर हरे आम के (कोमल) पत्तों से मुगोभित स्फटिक (निमित्त) पद्मनक्तजों से जिनके दोनों पार्श्व मनोहर (सप्त रहे) हैं जिनके स्वर्ण निमित्त विवाड महान् राक्षस के यक्षस्थल के सहस्र कुम्भ एवं सप्तन रूप में मणिजटित है तथा जो निर्धन जनों के मनोरथ के लिए पीडा वाचक है (क्योंकि धनहीनता के कारण इतने भव्य-भवन में प्रवेश करने का मनोरथ धन ही जाता है ।) जहो-सम्पत्तेना भवन के ऐसे द्वार की शोभासम्पन्ना (भी दर्शनीय है) जो सचमुच उद मीन जल की दृष्टि को भी बलात् आकर्षित करती है ।

धेटी—आइये, आइये । इस प्रथम प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिये ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ प्रथम प्रकोष्ठ में भी चन्द्रना, शंख और कमलनास के तुल्य कान्ति वाली; भली प्रकार विखराये हुए (सजाये हुए) मुट्ठी-भर चूर्ण के कारण श्वल, विविध रत्नजटित स्वर्णमयी सीढ़ियों में शोभित प्रमादों की वक्तिरा, स्फटिक-निमित्त वातापन रूपी मुलचन्द्रों से, जिन (वातापनों) में घृत्कार लटक हुए हैं, उज्रपिनी को मानो देख रही हैं । मुखपूर्वक बंटा हुआ द्वारपाल वेदपाठी ब्राह्मण के समान नौद ले रहा है ।

दहीमुक्त कलम (घान विकोप) के भात में प्रलोभित हुए भी कोई बलि को कूने (मुघा) के सद्ग वर्णवाली होने के कारण नहीं सा रहे हैं आप निर्देह कीजिए ।

रत्नपीठी यो स्फटिकस्य स्फटिकनिमित्तो मङ्गलकतशो ताभ्याम् अभिरामं मनोरमम् उभयनाभं यस्य तादृशस्य (द्वारस्य), महापुराणं हिरण्माभादीना यक्षस्थलवद् कुम्भे वर्यः हीरकैः निरन्तरं सप्त प्रतिबद्ध जटित च कनककपाटं स्वर्णकपाटं यस्य तादृशस्य, दुर्गमजनानां ददित्जनानां मनोरथानाम् कंभिलापाणाम् श्रापसकृत्स्य श्रमोत्पादस्य [धनाभावात् तेषामवस्यत्वात्] एतादृशस्य वपन्तेनायाः भवनद्वारस्य बहो सौकर्या शोभासम्पन्ना आश्चर्यकरो—इत्यर्थः ।

प्रथमप्रकोष्ठभवनम्—शक्तिरहस्यमूर्ति, सजाना द्वाया कानिर्घाणा ताः (दायादन्तर्गत) ता एव च विनिर्दिष्ट, निश्चिते चूर्णरूप मुघाचूर्णस्य मुष्टिमिद पाम्पुरा मुघाः, विविधरत्न, प्रतिबद्धानि सविनानि यानि वाञ्छनस्य शोभानानि नैः शोभिताः प्रमादन्तर्गत, (कश्यपः) अबलम्बितानि मुक्ताशामाणि मौक्तिकद्वाराः येन तादृश, स्फटिकस्य वातापनानि यथाभाः एव मुखचन्द्राः तैः उज्रपिनी निर्धर्षयन्ति इव परमर्षीन् अनुचरंशा । शोभित्य वेदपाठी । मुनेन उपविष्टः । सदृशा दक्षिणहिनेन । कवनस्य द्वायनिर्देश्य भोदनेन भवोन (दि०) । मुघायाः सरण्येतेन तादृशनेन ।



चूर्णमुष्टिर्पाण्डुरा, विविधरत्नप्रतिबद्धकाञ्चनसौपम्तशोभिता प्रासादपङ्क्त  
 योज्वलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुसचन्द्र<sup>रूपी</sup> निध्यायन्तीवोज्जयिनीम् ।  
 श्रोत्रिय इव सुसोपविष्टो निद्राति दौवारिक । सदध्ना वलमोदनेन प्रलो  
 भिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुघासवर्णतया । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जो । इमं दुविअ पओठठ पविसदु अञ्जो [एत्वेत्वाय ।  
 इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यं ।]

विद्रुपर्क—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इदो वि दुविए पओठठे पञ्जन्तो  
 वणोदजवसबुसकवलसुपुट्ट तेल्लरमद्दिदविताणा घट्टा पवहणपइत्ता । अअ अण्णदरो  
 अवमानिदो विअ कुत्तीणो रोह णोससरि सेरिहो । इदो अ अण्णोदजुअत्त मत्तत्त  
 विअ महीअदि गोवा मेसत्त । इदो इदो अवराण अत्ताणं केसवप्पणा करीअदि । अअ  
 अवरो पाटच्चरो विअ दिट्ठवट्ठो मन्दुराए साहामिओ । (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ  
 वूरुचुअतेल्लमिम्स पिण्ड हत्तो पडिच्छाओअदि मेत्थपुरिसेहि । आदिसदु भोदो ।  
 (आश्चर्यं भो इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनोतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तै  
 लाम्पस्तविपाणा बद्धा प्रवहणवलीवर्दा । अयमन्यतरोऽवमानित इव कुन्तीतो  
 दीपं निश्चसिति सैरिभ । इतश्चापनीतयुद्धस्य मत्तस्येव मद्येते प्रोवा  
 मेपस्य । इत इतोऽपरेषामश्वाना केशकल्पना क्रियते । अयमपर पाटच्चर  
 इव हट्ठवट्ठो मन्दुराया शाखामूय । इतश्च वूरुच्युततैलमिथ पिण्ड हस्ती  
 प्रतिप्राप्तते मात्रपुर्णं । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जो । इमं तइअ पओठठ पविसदु अञ्जो । एत्वेत्वाय ।  
 इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यं ।

विद्रुपर्क—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो इदो वि तइए पओठठे इमाइ बाव  
 कूलउत्तजणोववेत्तणनिमित्तं विरचिवाइ आत्ताणइ अट्ठवाचिदो पासअपीठ चिट्ठइ  
 पोत्थओ । एत्तो अ साहीणमणिमभत्तारिआत्तहिदो पासअपीठो । इमे अ अवरो मअण  
 सधिधिगाहड्डुरा विविहवण्णआविलिप्तचित्तफलअगहत्था इदो नदोए रिअमन्ति  
 णिआ बुड्ढविड्ढा अ । आदिसदु भोदो । (आश्चर्यं भो इहापि तृतीये प्रकोष्ठे  
 इमानि तावत्तुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यासनानि । अर्धवाचितं  
 पाशवपीठं तिष्ठति पुस्तकम् । एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिकासहिस पाश  
 कपीठम् । इमे चापरे मदनसन्धिप्रवहत्तुरा विविधवर्णवाविलिप्तचित्रफल-  
 काग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गर्णका वृद्धविट्ठश्च । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जा । इमं चउठठ पओठठं पविसदु अञ्जो । [एत्वेत्वार्यं ।  
 इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशत्वाय ।]

छेटी—आर्य, आइये । आप इस द्वितीय प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिये ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में भी समीप (स्पन्त) लाम्पी हुई घास और भूसे के घास से परिपुष्ट तथा तेल से बिकने सीधों वाले रथ के बँत बंधे हैं । यह एक भँसा अपमानित कुलीन (व्यक्ति) की भाँति लम्बे साँस ले रहा है और इधर तड़ने से हटे हुए बहलवान की भाँति मँडे की गर्दन मली जा रही है ।

इधर अन्य घोड़ों की केशसज्जा (केशमंस्कार) की जा रही है । यहाँ घुड़साल में यह बन्दर चोरों की भाँति हड़तापूर्वक बघा हुआ है (दसरी और भी देखकर) और इधर महावतों के द्वारा भात से मिरे हुए तेल (लक्षणा से-घी) से मिश्रित पिण्ड हाथी को खिलाया जा रहा है । आप जाना कीजिए ।

छेटी—आर्य, आइये, आइये । आप इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में भी कुलीन पुत्रों के धँडने के लिए ये आसन लगाये गये हैं । जुआ खेलने की चौकी पर बाधी पडी हुई पुस्तक रखी है और यह जुआ खेलने की चौकी अकृत्रिम (असली) मणि से बनी हुई मँनाश्रों (मँना के आकार की गोटी) से युक्त है और ये अन्य काम के सन्धि-विग्रह (प्रेम कराने और प्रेम भग कराने) में निपुण वेश्याएँ एवं वृद्ध विट विभिन्न रंगों से विव्रित विनयकर्मों को हाथों में लिये इधर-उधर घूम रहे हैं । आर्य निर्देश कीजिए ।

छेटी—आर्य आइये, आइये । आर्य इस चतुर्थ प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

द्वितीयप्रकोष्ठवर्णनम्—पर्यन्ते सम्मुखे उपनीतानि मक्षणाय उपहृतानि पानि यवसानि तृणानि बुसानि च तेषा कवचैः प्रासैः सुपरिपुष्टाः परिपुष्टाः तैलेन अभ्यक्तानि चिकरुणानि विपाणानि येषा ताट्टाः प्रबहणस्य बलोवर्षा बद्धाः । यथा अपमानितः कुलीनो जनः दीर्घं निःश्वसति तथैव संरिभः महिषः निश्चसति । अपनीतं उमाप्तं युद्धं मल्लयुद्धं येन तद्वर । केन कञ्चन केतानां कल्पना संस्कारः, कर्तनादिना रचना । पाटञ्चरः चौरः ।

हृद् यद्दः । मन्दुरायां वाजिमालायाम् । शास्त्रामृगः वानरः । कूरं हाटाविक्रमः, मत्तं (मात) वा, कुरात् व्युत्तेन निःसृतेन तैलेन मिथं पिण्डम् अन्वविष्यं, मान्युषैः हस्तिपकैः ।

तृतीयप्रकोष्ठवर्णनम्—कुलपुत्रजनानां कुलीनपुत्रपानाम् उपवेशननिमित्तं उपवेशनार्थम् अर्घं वाचितम्, अर्घं पठितम् । पाणकपीठे रञ्जुजालनिमित्ते आसने अपवा पाणकस्य (पाणकपीठान्यं) पीठं पाणकपीठं तत्र स्वाधीनमभिमानिभिः अकृत्रिममणि-रचित्ताभिः सारिकाभिः मुटिकाभिः (सार, गोट इति प्रसिद्धाभिः) संहितं युक्तम् । गणिकाः विटाश्च कीटताः मयमस्य कामस्य तत्सम्बन्धी यः सङ्घिः प्रेमिञ्जयोः मिलनं विप्रहरणं प्रणयकतद्दुः तयोः चतुरा तथा च विविधानिः

विदूषक — (प्रविश्यावनीष्य च) ही ही भो, इदो वि चउटठे पओटठे जुवदि करेताडिवा जलधरा इव गम्भीर नदन्ति मृदङ्गा, होणपुण्याओ विअ गअणादो तार-  
 आओ णियइन्ति कसतालथा महुररविअ विअ महुर पज्जवि सतो । इअ अचरा ईसा-  
 प्पणअकुविदकामिणी विअ अङ्गारोविदा कररुहपरामरितेण सरिउजदि वीणा । इमाओ  
 अवराओ कुमुमरसमत्ताओ विअ महुररिओ अदिमहुर पगीदाओ गणिआदारिआओ  
 णच्चिअन्ति, णट्टअ पठिअन्ति, ससिङ्गारओ । ओघग्गिदा गवससेमु वाद गेवहुंति सलिल-  
 गगरीओ । आसिअडु भोवी । [आश्चय भी इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकग्ता-  
 टिता जलधरा इव गम्भीर नदन्ति मृदङ्गा क्षीणपुण्या इव गगनात्तरका  
 निपतन्ति कास्यताला मधुररविस्तमिव मधुर वाद्यत वश । इयमपरेष्याप्रिण-  
 यदुपितवामिनोवाङ्गारापिता कररुहपरामर्शेन सायते वीणा । इमा अपरा  
 कुमुमरसमत्ता इव मधुरयोजितिमधुर पगीता गणिवादारिका नयन्ते, नाट्य  
 पाठयन्ते सशृङ्गारम् । अपवत्तिना गवाक्षु वात गृह्णन्ति सलिलगगयं. आदि-  
 शतु भवती ।]

चेटी—एदु एदु अज्जो । इम पञ्चम पओट्ट पविसडु अज्जो । [एत्वेत्वार्यं ।  
 इर्म पञ्चम प्रकोष्ठे प्रविशत्वाय ।]

विदूषक — (प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो, इदो वि पञ्चमे पओट्टे अम  
 दलिहजणलोहृप्पादणओ आहरइ उवचिदो हिडगुतेत्सगगो । विविहसुरहिप्पुमगारेहि  
 णिच्च सताविज्जमाण णोससदि विअ महाणस दुवारमुदेहि । अधिअ उमुसावेदि म  
 साहिज्जमाणचट्टुविहमवससोअणणघो । अअ अयरो पइच्चर विअ पोट्टि घोअदि वपि-  
 चारओ । बहुविहाहारविआर उवसादेदि सूवआरो । वज्जन्ति मोदजा, पञ्चन्ति  
 अ पूवआ । (आत्मगतम्) अवि दाणि इह वडिअ म्मुज्जमु ति पावोदअ सहित्तसम् ।  
 (अन्यतोऽपनीष्य च) इदो गधव्यच्छरगणेहि विअ विपरलङ्कारभोट्टिदेहि गणिआज-  
 रोहि वण्णुतेहि अ ज राच्च सगोअदि एव गेहम् । भो, के तुम्हे वण्णुता  
 णाम । [आश्चयं भो, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर

दलिकामि नीलपीतादिवर्णे बिलिप्पानि चित्रितानि विप्रकृतानि अपहस्ते हस्ताप्र-  
 भागे येष तादृशा ।

चतुर्थप्रकोष्ठवर्णनम्—युवतिकर्- ताडिता यादिता । नदन्ति नाद पुर्वित ।  
 क्षीण पुण्य येषां ते कास्यताला कास्यरचिता करताला निपतन्ति । श्वेदग्यवादनादेव  
 निपात (पृथ्वी०) । मधुररविस्तम् अमरमुञ्जितम् । वश वशी । अपरस्या हतर-  
 नार्या ईष्यया कारणान् प्रणयदुपिता या कामिनो या इव अङ्गे आग्नेयिता कररुहाणां  
 नसाना परामर्शेन स्पर्शेन आपातेन वा सायते मञ्चयन्ते ।

नयन्ते नय कारयन्ते । गणिवादारिका वेषप्रविशेया, वेषवावातिवा, वा ।

द्विदूषक—अरे ! आश्चर्य ! यहाँ चतुर्थ प्रकोष्ठ में भी पुस्तकियों के हाथ से बचाये गये मृदङ्ग वादकों के समान गम्भीर शब्द कर रहे हैं । पुष्प क्षीण होने पर आकाश में गिरने वाले तारों के समान मँजीरे (करताल) गिर रहे हैं, प्रमत्तगुण्यन की भाँति बामुरी मधुरता से बजाई जा रही है । अग्य (स्त्री) की ईर्ष्या के कारण प्रत्यक्षुभित कामिनी के समान गौद में खची हुई बीजा नख के स्वर्ण से मिलाई (बजाई) जा रही है ।

दूसरे, ये पुष्प रत्न (के पान करने) में मन प्रमत्तियों के समान जति मधुर गाती हुई बेरगदाभाये बजाई जा रही है, (उगड़े) शृङ्गारयुक्त अभिनय मिमाये (पटाये) जा रहे हैं । मिङ्गिपों में लटकते हुए भागी के घडे वामु प्रहण कर रहे हैं । काप निर्देश कीर्तिये ।

चैतो—अरे आटये, आटये । आयं इस पाँचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए ।

त्रिदूषक—अरे ! आश्चर्य ! यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ में भी यह निर्धन मनुष्यों की मोम उत्पन्न करने (मलबाने) वाली हींग और तेल की तौत्र (बड़ी हुई) गन्ध मुझे आकर्षित कर रही है । नित्य सन्तप्त की जाती हुई पाकप्राना नाना प्रकार के सुगन्धित धुँएँ को प्रकट करने वाले श्वारूपी मुँहों से निश्चय से ले रही है । बनाये जाते हुए अनेक प्रकार के साद्य-वदार्थों एवं व्यञ्जनों की गन्ध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है । दूसरा, यह कमाई (रूपिन्) का लड़का मारे हुए पशु के पेट की पेंगो की पुराने वस्त्र की भाँति छो रहा है । रसोद्भवा भाँति-भाँति के आहार के अनेक प्रकार (Kinds) बना रहा है । लड्डू बाँधे जा रहे हैं । पूएँ पकाये जा रहे हैं । (स्वगत) तो बना अब यहाँ पर "विविध व्यञ्जनादि से समृद्ध भोजन को यदेष्ट सादये ।" इस प्राणना के पाप मुझे पर छोटे के लिए जल मिलेगा ? (दूसरी ओर देखकर) यहाँ गन्धर्व एवं बन्धरा मनुष्यों की भाँति विविध आभूषणों से शोभित बेरगदाजनों तथा अग्नियों के कारण मन्नुव यह घर स्वर्ग हो रहा है । अरे तुम सद्गुल नाम वाले कौन हो ?

अवस्थितानाः अवलम्बिताः । सनितगतयः जनानां जलपानार्थं पात्रविधेयाः ।

पञ्चमप्रकोष्ठवर्जितम्—उपचितः कृत्वि मत् आहरति आरुपति । विविधसुर-  
पोषां नावानुपलब्धुकानां पूषानाम् उद्गाराः केभ्यः तैः शारानि एव मुखानि तैः नित्यं  
मनोपपानं मन्वं तप्यमानं महानमं पारुणात्वा निरवगतौब—इति उत्तरेषा ।

माशयमानस्य पच्यमानस्य प्रस्यस्य साद्यपशयंभ्य मोक्षणस्य व्यञ्जनस्य च ।  
स्त्री सट्टिः तस्य दारकः पुनः (पृथ्वी०) । एवं पशुः [ एवं इवभावे सौन्दर्ये नामने  
पशुस्यस्योः ]—इति मेदिनी । तद्योगात् स्त्री मामविश्रिता सट्टिकः । आहारार्थकारणात्  
बाहारत्वेनात् । व्यञ्जनादिमामस्योत्तचितं वधिपकम् इति पूर्वशीला (पृथ्वी०), प्रचुरं  
संकेतं देना । स्वर्गाग्ने स्वर्गवद् भाववति, स्वर्गवद् प्रतीपते ।

आहरत्युपचितो हिङ्गुतैलगन्धः । विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं सताम्पमानं  
नि प्रवसितोत्र महानगं द्वारमुखं । अधिकमुत्सुवायते मा साध्यमानवहुविधभक्ष-  
भोजनगन्धः । अयमपरं पटञ्चरमित्रं हृतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः । दह-  
विघाहारविकारमुपसाधयति सूषकारः । बध्नन्ते मोदकाः । पच्यन्तेऽपूपकाः ।  
अपीदानीमिह बध्ति भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये । इह गन्धर्वाभिरोगणीति  
विविधालङ्कारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत्स्वयं स्वर्गायते इदं नेहम् । पो-  
के यूयं बन्धुला नामः ।

बन्धुला — वयं खलु ।

परगृह्यलिता परान्नपुष्टा परपुरुषैर्जनिता पराङ्गनासु ।

परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजवलभा इव बन्धुला ललाम् ॥३५॥

विब्रूयक — आविसतु भोषी । [आदिशतु भवती ।]

घेटो — एषु एषु अञ्जो, इमं दृष्टं पभोटं पविस्व अञ्जो । [एत्वेत्वायैः ।  
इयं पठं प्रकोष्ठं प्रविशन्त्यायं ।]

विब्रूयक — (प्रविश्यावलोक्य च) ह्री ह्री भो, इवो वि दृष्टं पभोटं अमु  
दाय सुवर्णरमणाणं चर्मतोरणाद् नीलरअणविनिविसत्ताई इन्द्राजहृत्ठाण विअ ररित-  
धन्ति । वेदुरिअमोत्तिअपवासाअपुष्कराअइन्दणोसकककेतरअपधाराअमरगअपट्टवि वाइ  
एवणविसेसाइ अण्णोष्ण विचारेन्ति सिप्पिणो । यइअन्ति जादरुवेहिं माणिककाई ।  
घडिअन्ति सुवण्णसत्तूरा । रत्तसुत्तेण गत्थीअन्ति मोत्तिआसरणाइ घत्तीअन्ति धीर  
नेहुरिआइ । धेवीअन्ति सत्तूमा । तण्णिअन्ति पचालमा । सक्खविअन्ति ओत्सविइहुइ-  
क्खमपत्थरा । सालीअदि वत्तूरिआ । विसेसेण पित्तसदि चन्दणरसो । सजोईअन्ति गण्य-  
सुत्तीओ । वीअदि मणिआकामुक्काणां सक्खपूरं ताम्भोलम् । अयलोईअदि सक्खवल्लअम् ।  
पयट्टवि हासो । पिपीअदि अ अणवरअ सत्तिक्कार मट्टरा । इमे चेवा, इमा चेविआओ  
इमे अचरे अकधीरिइसुसत्तारविता मणुरता आसक्करअपीअमदिरेहिं गणिआज्जोहिं के  
मुक्का ते पिअञ्जो । आविसतु भोषी । [आशययं भो, इहापि पठे प्रकोष्ठेऽमुनि  
साधत्सुवर्णरत्नानां चर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तैर्निर्मिद्रायुष्मस्थानमिव दर्श-  
यन्ति । वेदुषमोक्तिः सपवालकप्य रागेन्द्रनीलवर्कैतरकपदारागमरकतत्रभृतीन्रत्न-  
विशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः । बध्यन्ते जावरूपमणिवयानि । पठयन्ते  
सुवर्णालङ्काराः ।

स्वकीय परिषदं दत्वाता बन्धुलाः कथयन्ति—परेति । परपुरुषैः पराङ्गनासु  
अन्यतरीषु जनिता समुत्पादिता परेगृहे अन्यस्य गृहे सतिता पारिताः परानीष  
पुष्टाः परधनेषु निरता उपभोगादिना तत्परा, पुणेषु अवाच्या अवलब्धा  
विशेषगुणशून्या इति यावद् अनभिष्टानीषगुणा इत्यर्थं इति पृथ्वीधर ] बन्धुलाः

बन्धुन तोष—हम वास्तव में —

पराये घर में पालन किये गये, पराये अन्न से पुष्ट, परपुरुषों के द्वारा पर-  
त्रिषों में बतल किये दूने, पराये धन का उपभोग करने वाले, दुगों (के प्रसङ्ग) में  
न रहे जाने योग्य (हम) बन्धुन हैं, जो हाथियों के बच्चों के समान शान्त विहार  
करते हैं ॥२८॥

विदूषक—आप (आगे) निर्देश कीजिये ।

चेटी—आयं, आइये, आइये । इस पद्य प्रसङ्ग में आयं प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे, आयचयं ! यहाँ पद्य प्रसङ्ग में भी  
दे नीनरल-बटिन स्वर्ण रत्नों की विशिष्ट रचना से पुस्तकालय इन्द्रधनुष की समानता  
भी प्रदर्शित कर रहे हैं । गिल्लीजन बंदूकें, मोती मूंगा, पुष्कराय, इन्द्रनीच, कर्कोटरक,  
पद्मराग, मरकत आदि रत्नविशेषों का परस्पर विचार कर रहे हैं । सोने के साथ रत्न  
जड़े जा रहे हैं । स्वर्णभूषण गड़े जा रहे हैं, मुक्ताभूषण लाल धागे से दूदे जा रहे हैं ।  
बंदूकें छिपेबंदूकें (छोरे-छोरे) धिमे जा रहे हैं । शंख काटे जा रहे हैं । मूंगे शान से धिमे  
जा रहे हैं । मोती केसर की तरह मुवाई जा रही है । बम्बूरी शीमी की जा रही है ।  
चन्दन का रस विशेष रूप से घिना जा रहा है । (विभिन्न) गन्धों के मिश्रण किये जा  
रहे हैं । वेम्बा और बामुक्कों को कठोर सहित पान दिया जा रहा है । कटाश सहित  
देवा जा रहा है । हेंसी हो रही है । निरन्तर भीष्कार सहित मदिरा पी जा रही है ।  
दे चेट, दे चेटियाँ तथा दूधरे में मनुष्य मदिरा पी रहे हैं—जिन्होंने पुत्र, पत्नी और  
धन का तिरस्कार कर दिया है और जो (मनुष्य) मह-भयनों से मदिरा पान कर  
लेने वाली वेगमाओं के द्वारा त्याग किये गये हैं (अर्थात् मद्यपान करके वेगमाएँ उन्हें  
करोना छोड़कर चली गई हैं) । आर आगे निर्देश कीजिये ।

एतन्नामकाः पत्रकृतमाः पत्रगावका इव तन्नाम विनयानः । उपमानकृताः । पुष्पिष्टया  
इति ॥२८॥

पद्यप्रसङ्गवर्गं कम्—सुवर्णरत्नानां सुवर्णरत्नरत्नानां कर्मणा रत्नविशेषय  
निर्मितानि तोरणानि कटिहारानि, आदि नीनरलः त्रिशित्तानि शक्तिरानि सन्ति  
तानि इन्द्रानुष्ठाय इन्द्रधनुषः स्थानमिव प्रदेयन्तिव उच्यन्ति । रत्नरत्निसुवर्ण-  
निर्मिते बटिनरि मध्ये मध्ये नीनरत्नानि शक्तिरानि सन्ति तत्र य इन्द्रधनुषः शोभा  
रुपते इति भावः । बंदूकैरेन्दु रत्नविशेषान् गिल्लिन- अन्योन्य परस्परं विचार-  
न्ति । प्रथमकर्कोटरो-मणिविशेषो (पृष्ठी०) । आयचयंः सुवर्णः कुङ्कुमस्य  
प्रभताः मृताः (तद्, Layers) । 'प्रन्तर कुङ्कुमाजरावनेन्दु- इत्याहुः' इति  
पृष्ठीयतः । सारुणे एकत्रोक्तिने, आश्रीक्तिने इति पृष्ठीयतः । मनुष्यस्यः कर्मनिः-  
पयानि । अत्रोक्तिरानि उपेक्षितानि पुत्रराशितानि यैः तैः । भावपरकर्मः

रक्तमूत्रण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि । घृष्यन्ते धीर वंद्याणि । छिद्यन्ते शङ्खा । शार्ङ्गघृष्यन्ते प्रवालका । शीप्यन् आर्द्रकृडकुमभ्रस्तरा । सायते वस्तूरिका । विशेषेण घृष्यते चन्दनरस । सपोज्यन्ते गन्धमुक्तय । दीयते गणिकावामुवयो सकपूर ताम्बूलम् । [अवलोकयते सवटाक्षम् । प्रवर्तते हासः । पीयते चानरवत ससीत्कार मदिरा । इमे चेटा, इमाश्चेटिका इमे लपर-  
ऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवनरकापीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मृत्नास्ते पिबन्ति । आदिशतु भवति ।]

चेटो—एव एव अजो । इम सत्तम पओट्ठ पविसदु अजो । [एत्वेत्वार्य । इम सप्तमं प्रकोष् प्रविशत्वाय ।]

विदूषक —(प्रविश्यावलोकय च) ही ही मा इधो धि सत्तमे पओट्ठे मुसि-  
त्तिट्ठविहङ्गवाडीसुहृगिसण्णाइ अण्णोण्णचुम्बणपराइ म्हु अणुभवन्ति पारावदमिह-  
णाइ । इहिसत्तपूरिदोदरो बहाणो विअ सूत्त पडदि पञ्जरमुओ । इअ अवरा समाणणा-  
सद्धपसरा विअ परदासी अधिअ कुरकुरादि मदनसारिआ । अणेअफलरसास्वाद-  
दृष्टकण्ठा कुम्भदासो विअ क्रूअदि परपुट्टा । आलम्बिता नागदन्तेस् पञ्जरपरम्पराओ ।  
जोघोअन्ति तावभा । आत्तवोअन्ति कविञ्जला । पेत्तोअन्ति पञ्जरववोदा । इदो तरो  
विधिहमणिसिचित्तो विअ अअ सहृसि णच्चन्तो रविकिरणसत्त परपुत्तेवेहि  
विधुवेहि विअ पासाद घरमोरो । (अन्यतोऽवलोकय च) इदो पिण्डीकूना विअ चन्दपादा  
पदगति सिषरन्ता विअ कामिणीण पच्चादो परिग्ममन्ति राजहसमिट्ठणा । एदे अवरे  
वृद्धमहल्लवा विअ इवो तरो सचरन्ति परसारसा । ही ही मो पसारणअ किअ गणिआए  
णाणपरिससमूहेहि । अ सत्तव वसु णन्दणवण विअ मे गणिआघर पट्टिमासदि ।  
आदिसदु भोदि । [आश्चर्यं भो, इहाणि सप्तमे प्रकोष्ठे मुश्लिङ्गविहङ्गवाटी-  
मुखनिषण्णान्यन्योन्यचुम्बनपरणि मुखमनुभवन्ति पारावतामधुनानि ।  
दधिभक्तपूरितोदरो शाह्यण इव सूक्त पडति पञ्जरणुम् । इयमपरा समान ।  
नालव्यप्रसवेव गृहदासी अधिक कुरकुरायते मदनसारिआ । अनेअफलरसास्वाद-  
प्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासोव वज्रति परपुट्टा । आलम्बिता नागदन्तप् पञ्जर-  
परम्पराः । योष्यन्ते तावका । आलाप्यन्ते कविञ्जला । प्रेष्यन्ते पञ्जरवपोना ।  
इतस्ततो विविधमणिचिवित द्रवाय सहर्ष नृत्यनरविकिरणसत्त पक्षोत्थोपविधुव-  
तीव प्रासाद गृहमयूर । इत पिण्डीकूना इव चन्दपादा पदगति शिक्षमाणानीव  
कामिनीना पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहसमिधुनानि । एतेऽपरे वृद्धमहल्लवा इव  
इतस्तन सचरन्ति गृहसारसा । आश्चर्यं भो, प्रगारणं कृत गणिकया नाना-  
पसिसमूहै । यत्सत्यं एतु नन्दनयनमिव मे गणिकागृह प्रतिभासते । आदिशतु  
भवति ।]

मुराभवनं आनीता ईयद्वीणा मदिरा यं ताहं गणिकाजनैः न मनुष्याः मृत्ता  
निसारिताः स्युः वा ते णिबन्ति ।

चेटी—आर्य, आर्य, आर्ये । इस मातृवें प्रकोष्ठ में आर्य प्रवेश करे ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ मातृवें प्रकोष्ठ में भी मुनिनिद्रा कपोतपातिका पर मुस्त से बंटे हुए एक दूसरे के चुम्बन में सतान चतुरों के जोड़े मुख का अनुभव कर रहे हैं । दही-भात से भरे हुए पेट वाले ब्राह्मण के समान (दही-भात से भरे हुए पेट वाला) पित्ररे में स्थित तोता सूक्त (वैदिक-शुचार्थ) पड रहा है । दूसरी यह सम्मान (होने) के कारण प्रभाव प्राप्त करने वाली गृहपरिचारिका के समान मीना अधिक कुर-कुर शब्द कर रही है । अनेक फलों के रसाम्बाद से मधुर (प्रमत्त) कण्ठ वाली कोयल कुट्टिनी (कुम्भदामी) के समान बूब रही है । मूँटियों (नागदन्त) पर पित्ररों की पत्तियाँ (पत्तिवद्ध-पित्ररे) नटकी हुई हैं । लावर (बटेर) तड़ापों जा रही हैं । तीतरों से बात कराई जा रही है । पित्ररे के बसूतर भेजे जा रहे हैं (पित्ररे खोलकर आकाश में उड़ान भरने की छोड़े जा रहे हैं) ।

प्रमत्ततापूर्वक इधर-उधर नाचता हुआ, विभिन्न मणियों से विभित-सा यह पालतू मोर (गृहमयूर) पंखों के फड़फड़ाने के द्वारा सूर्य की किरणों में सन्तप्त हुई नटानिका को मानो हवा कर रहा है । (दूसरी ओर देखकर) इधर इन्कट्टी की गई चन्द्रमा कि किरणों जैसे (उज्ज्वल) राजहंसों के जोड़े कामिनियों के पीछे (मुन्दर) पन्न की किशा नेत्रे हुए से घूम रहे हैं ।

दूसरे, ये पालतू सारस (गृहमारस) वृद्धश्रेष्ठो (महल्लक) के समान इधर-उधर घूम रहे हैं । अरे आश्चर्य है । बेग्या ने विभिन्न पशियों के समूह के द्वारा विस्तार कर दिया है (विस्तृत दृश्य उपस्थित कर दिया है) । मचमुब मुझे बेग्या का घर नन्दन-वन-सा लग रहा है । आप (आर्य) निर्देश कौजिये ।

सत्तमप्रकोष्ठपर्यन्तम्—मुनिनिद्रायां मुनिनिद्रायां बह्वङ्गवाटपं विहृत्पातिकायां मुनेन निरग्नाति उपविष्टानि । पारावतमिषुनानि कपोतमुगतानि । सूक्तं मूर्तिम्, श्वेतनुदायः सूक्तम् इति पुरवीधरः संभारनया आदरेण तस्यः प्राप्तः प्रमत्त प्रतरणं प्रभावो वा यया सा गृहदासी । मदनसारिका मदनस्य सारिका (टि०) । अनेकफलानां रसाम्बादेन प्रहृष्टः प्रसन्नः कण्ठो यस्याः सा परपुष्टा कोयला कुम्भदामी कुट्टिनी इव वृषति । परम्परा पङ्कजः । क्विञ्चलाः नितिराः । रविकिरणमत्तत्वं प्रासादं दूरमयूरः पसाभाम् उन्धैः चालनं विष्टुवति इव वीजयति इव इन्दुश्रेणा । विष्ठीहिताः पशुश्रेणाः कण्ठपाशाः चन्द्रकिरणः इव राजहंसमिषुनानि पश्यति शिशुमत्तानि इव कामिनौनां परचापं घ्नन्ति । वृद्धमहल्लकाः वृद्धश्रेष्ठाः वृद्धनत्तिकाः इति वाद्यन्तरम् । प्रमत्तं विस्तारः ।



चेटी—एतु एतु अज्जो । इम अट्टम पओट्ठ पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यं । इममष्टम प्रकोष्ठ प्रविशत्वार्यं ।]

विदूषक—(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि, को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिमदर अष्थमुवपुणरत्तासङ्कारालकिदो अङ्गमङ्गोहि परिवलन्तो इदो तदो परिभ्रमति । [भवति क एष पट्टपावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालङ्कारालङ्कृतोऽङ्गमङ्ग परिस्खलन्नितस्तत परिभ्रमति ।]

चेटी—अज्ज, एसो अज्जआए मादा भोदि । [आर्यं, एष आर्याया भ्राता भवति ।]

विदूषक—केसिअ तवचरण क्खुअ धसन्तसेणाए मादा भोदि । अपया ।

मा दाव जइ वि एसो उज्जलो

सिणिद्धो अ सुअन्धो अ ।

तव वि मसाणवीघीए जादो विअ

चम्पअरुखो अणहिगगणीओ लोअस्स ॥२६॥

(अन्यतोऽवलोक्य) भोदि, एसो उण का कुल्लपावारअपाउदा उवणहज्जुअल्लणिसिल्ल-  
सेल्लचिक्कणोहे पादेहे उच्छासणे उवविट्ठा चिट्ठदि । [विश्वचपश्वरण वृत्वा वसन्त-  
सेनाया भ्राता भवति । अर्धवा—

मा तावद्यथ्येष उज्जवल सिग्घश्च सुगन्धश्च ।

तथापि श्मशानवीप्या जात इव चम्पकवृक्षोज्जभिगमनीयो लोकस्य ॥२६॥

भवति, एषा पुन का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानद्युगलनिक्षिप्ततलचिक्कणाभ्या  
पादाभ्यामुच्चासन उपविष्टा तिष्ठति ।]

चेटी—अज्ज, एषा ब्बु अम्हाण' अज्जआए अत्तिआ । [आर्यं, एषा खल्व-  
स्माकमार्याया माता ।]

विदूषक—अहो से कवट्ठडाइणोए पोट्टिविपारो । ता कि एतु पवेसिअ महारेण  
विअ बुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा ? [अहो अस्या कपेदेनेडाकिन्या उदर-  
विस्तार । तत्किमेता प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्गता ? ।

चेटी—हदास, मा एष्व उवहस अह्याण अत्तिअम् । एसा ब्बु चाउत्तिएण  
पोडोअदि । [हताश, नैवमुपहसास्माक मातरम् । एषा एतु चातुर्घिकेन  
पीडयते ।]

विदूषक—(सपरिहासम्) भअब चाउत्तिअ, एदिणा उवआरेण म वि बग्घणं  
आलोएहि । [भगवश्चातुर्घिक, एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोकय ।]

चेटी—हदास, मरिस्सति । [हताश, मरिष्यति ।]

शेटी—आइये, आर्य ! इन आठवें प्रकोष्ठ में आप प्रवेग कीजिये ।

विदूषक—(प्रवेग करते और देखकर) पूज्ये, यह कौन है जो रेगमी वस्त्र से आवृत विशेषतया अन्त अद्भुत दोहरे आभूषणों से शोभित अङ्ग लचका कर झूमता हुआ (उपगतता हुआ) इधर-उधर घूम रहा है ।

शेटी—आर्य यह आर्या (वसन्तसेना) का भाई है ।

विदूषक—कितना तप करके यह वसन्तसेना का भाई हुआ है । अथवा, ऐसा नहीं है ।

पटनि यह (रंग का) वज्रना, चिकना-चुपड़ा और सुगन्धयुक्त है, फिर भी शमगान की मन्त्री में उत्पन्न चम्पक वृक्ष के समान यह लीपों के लिये त्प्राज्य है ॥२६॥

(दूठरी ओर देखकर) (धार्मिक से वस्त्र पर बनाये पये कृत्रिम) पुष्पो से युक्त उत्तरीय में आवृत हुई, शोभा जूती में तब से विकने पंरों को डाले हुए, ऊँचे आसन पर यह कौन बंठी है ?

शेटी—आर्य, यह हमारी आर्या की माता जी हैं ।

विदूषक—हाय इम भड़ी डायन के पेट का विस्तार ! तो क्या महादेव (की विनाल मूर्ति) के समान इसको यहाँ घर में प्रविष्ट कराकर (बाद में) द्वार की शोभा को बनाया गया था ? (इम द्वार से तो वह मोटी बुद्धिया अन्दर आ ही नहीं सकती थी) ।

शेटी—सुन, हमारी माता जी का इस प्रकार उपहास मत करो । यह तो "शोभिया ज्वर" में पीड़ित हैं ।

विदूषक—(परिहासपूर्वक) भगवान् चातुषिक (चौपिया ज्वर) इम उपहार (दृष्टि) से कुछ प्राज्ञान को भी देख लो ।

शेटी—सुन, मर जायेगा ।

अष्टमहोच्छ्वसनम्—मृदुप्रसारकेन शोभयदुपुलेन प्रावृत्तः मान्दासितः अन्तर्दुर्गः विचित्रैः पुनरुत्कालङ्कारैः द्विगुणितैः आभूषणैः अद्भुतमङ्गः अङ्गानां धारणः । परित्यक्तान् इत्येतान् पठन् ।

वसन्तसेनायाः छातरं दृष्ट्वा विदूषकः अथयति—मेति । मा सावत् किन्-सिपयवत्तं कृत्वा वसन्तसेनायाः प्राया अयति इति प्रशंसावचनं न युक्तं यतः यद्यपि एतः उक्तवत्-दुष्प्रवर्तः स्निग्धः तैसादिनईनात् चिकन्धः सुगन्धः शोभनदन्धपुनराव-नवादि शमगानकीर्यां जातः उत्पन्नः चम्पकवृक्षः इव सोरस्य जनस्य अनभिपन्ननीयः पन्तुन् अजोष्यः स्वान्य इति भावन् । आर्या वृत्तन् ॥२६॥

पुष्पप्रभावात्केन पुष्पसदृशेन प्रावृत्ता [सूक्ष्मसूत्रतुल्यानि कृत्रिमाणि यत्र भवन्ति च पुष्पसदृ इति प्रसिद्धः इति ल० दी०] । उपरान्तपुष्पते निक्षिप्तौ तंमविचरणां च शरीरं ताप्यां वृत्ताभ्यां लक्षिता । अन्तर्दुर्गादिभ्याः अन्तर्दुर्गादिभ्याः (दि०) ।

विदूषकः—(परिहृन्त) दानं दौ दौ इत रीतिनो सुपरीषदरो कुरो  
चक्रे ।

श्रीशुभ्रसामन्विका एकादश गदा हि अतिता ।

जइ नरइ एय अतिता भोदि निजालसुन्मदम्बलिका ॥३२॥

भोदि हि तुम्ह वामन्मा वहन्ति ।

[दान्या पुत्रि, वरनीदृशः सुतनीतवदरो सुत एव ।

श्रीशुभ्रसामन्विका एकादश गदा हि नाग ।

पदि जियनेय नाग मवति सुगालसुहृत्तयन लिका ॥३३॥

मवति हि पुन्नाक पातवात्राणि वहन्ति ।]

बेटी—अजइ पहि पहि । [आर्षं नहे नहि ।]

विदूषक—किं वा एतत् परयोर्जरे । तुम्हय रसु देम्बलिम्बतन्ते  
नरपतनुदेत्पमिम्बकहृपा उदेइ जामन्ता मन्हरपा । एय अतन्तेनाए  
वहदुत्तान् बहुमकोठं मरण पेखिअ अ तत्त्वं जामामि एहय विअ विविदुप  
विदुम् । पत्तितु मति मे वाजाविहो हि नय मणिजामरो, अर्वा कुवेर-  
मवपनरिच्छेरो ति कहि तुम्हय अज्जजा । [किं माव पुत्रुन्ने । पुन्नाकं रातु  
प्रेमनिर्मलजले मदनसमुत्ताननिम्बकमगामेव याम्पाशामि मतोत्तानि ।  
एव वसन्तेनायां बहुवृत्तान्तमष्टप्रकीष्ट भयन पेक्ष मत्तल जामामि एव-  
स्पमिव त्रिविष्टप दृष्टम् । प्रगसितुं नाम्नि मे वागिभय । किं तादृगपि-  
कागूम्, अथवा कुवेरभवतपरिच्छेद इति । ३५ पुष्पाशमार्शः ।]

बेटी—अजइ, एमा रसववादिभाए विदुदि । ता पवित्तु अज्जो । [आर्षं  
एपा वृक्षवाटिकाया लिच्छति । तत्प्रविणत्वान् ।]

विदूषक—(प्रविश्य दृष्ट्वा) हो हो भो, अहो रसववादिभाए तरित्तरो-  
अवा । अच्युरीदिकुमुमपापारा रोविदाअणेअपादपा, गिरन्तरपाइइततनिम्मिदा  
जुवदिजहणपमाणा पट्टरोला, सुवण्णसूणिभातेहाविआमागईमत्तित्तभापोमाति-

तत्किम् (पूर्वं) महादेवमिव एतां गृहे प्रवेश्य (पश्चात्) इह शारतोभा विमिता [अन्वया  
अनेन द्वारेणास्याः गृहे न प्रवेशं स्यादित्यामय अति वृक्षोपर ] आनुविष्टम उपरविशोपेत ।  
चतुर्षु अहनि भव. चातुधिन ।

शूनम् उच्छ्रित पुन्ल वा पीत स्पून ष जठरम् चरं मय्य तादात् । शीघ्रवति  
श्रीशुभ्रसामन्वः एतन्नामकं. मदिराविशोपं —मत्ता उगमता हि पाया एपाइइवधाम्

विदूषक—(परिहासपूर्वक) दासी की पुत्रि ! ऐसा पूजे हुए मोटे पेट वाला (तो) मरा हुआ ही अच्छा है ।

सौदर्य, मृग एवं आसय' से मरता (वसन्तमेना की) माता इस अवस्था (अतिशय सुन्दरता) को प्राप्त हो गई है । यदि (यह) माता यहाँ मर जाती है तो ह्यारो भूयानो की (नृपत उरने के लिए) पर्याप्त होगी ॥३०॥

अजी, क्या आपके पास (ध्यापार के लिए पीठ आदि) चलते हैं ?

चेटी—हाँ, नहीं, नहीं ।

विदूषक—या, इसमें पूछना ही क्या है ?

वान्धव में प्रेमहपी स्वच्छ जल से युक्त कामहपी सागर में तुम्हारे स्तन तितम्ब तथा जघाएँ ही भरींहर धानपात्र हैं ?

इस प्रकार वसन्तमेना के बहुत प्रकार के ममाचारों से युक्त प्रकीर्ण वाले भवन को देखकर मैं जानता हूँ (मुझे लगता है) कि सचमुच ही मैंने एकत्र स्थित यँलोक्य देव लिखा है । प्रणामा करने के लिए मेरी धापी में सामर्थ्य नहीं है । तो क्या (यह) वेना का घर है अथवा कुबेर के भवन का (एक) खण्ड है ? तुम्हारी आर्पा (वसन्तमेना) कहाँ है ?

चेटी—आर्य, यह वृक्ष-वाटिका में बँठी है । तो आर्य प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य ! अहा, वृक्षवाटिका की शोभा-सम्पन्नता । जिन पर भनी भाँति पुष्पों का विस्तार होता है, ऐसे अनेक वृक्ष मगाने गये हैं । युषतियों के जघनस्पर्श की नाप वाले पटरियों के (याँ रेखनी) झूले

एताद्गोन् शवस्था यना । अत्र अस्यां दशाया यदि माना भ्रियते भूपातमहृष्यस्य  
पर्याप्तिका तृप्तिः भवति । उपजातिविशेषः इति पृथ्वीधरः ॥३०॥

प्रेम एव निर्मलं जलं यस्मिन् तादृगे मदनः कामः एव शुभ्रः तस्मिन् ।  
बह्वो वृत्तान्ताः यत्र । त्रिविष्टप निमुचनम् ।

वाचः वाग्वाः विभवः सम्पत् । कुबेरमवनस्य परिच्छेदः एवदेशः खण्ड ।  
वृक्षवाटिकावर्णनम्—सद्योभना शोभासम्पन्नता अच्यरीतयः सम्भ्रपरिपाटीमुभाः  
पुमुमप्रस्ताराः पुष्पविस्ताराः देपा तपापूनाः अनेकधादपाः रोपिपाः सन्ति । युषतिवनस्य  
जघनं मृत्पुरोभान प्रमाणं दस्याः तादृगी पट्टनिर्मिता कोमेययमसपटिना  
पाण्डाट्टमुक्ता वा दोना (मूला) निरन्तरपादपानां फनवृशाना तले निर्मिता अस्ति ।  
इय वाटिका नन्दनवनस्य सञ्जीवता यपूकरोति इव-इत्युत्प्रेषा ।

आकुरवप्रारमोत्तअपहृदिकुगुमेहि सअ णिचडिदेहि अ मच्च लहू करेदि विअ णन्दण-  
वणस्स सत्तिरीअइम् । (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअन्तसूरसमत्पहेत्ति कमलरक्तोत्प-  
सेहि सप्ताअरि विअ बोहिआ । अवि अ ।

एतो असोअवुच्छो णवणिग्गमकुमुमपल्लवा भादि ।

सुभडो व्व समरमज्जे घणलोहिदपङ्कचच्चिको ॥३१॥

भोडु । ता कहि तुम्हाण अज्जमा । [आरचयं भो, अहो वृक्षवाटिकाया सश्री-  
कता । अच्छरीतिकसुमप्रस्तारा रापता अनेकपादपाः, निरन्तरपादपतल-  
निर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला, सुवर्गयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लि-  
तानवमल्लिकाकुरवकादिमुक्तकप्रभृतिकुमुर्म स्वय निपतितयंतस्य सधूकरोतीव  
नन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतश्च उदयत्सूयंसमप्रभे कमलरक्तोत्पले सन्ध्यायते  
इव दीपिका । अवि च ।

एयोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुमुमपल्लवो भाति ।

सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचविक ॥३१॥

भवतु । तत्कृत्त युष्माकामायां ।]

षेटी—अज्ज, ओणामेहि विट्ठिम् । पेस्स अज्जभम् । [आर्यं, अवतमय  
दृष्टिम् । पश्यामिम् ।]

विदूषक — (दृष्ट्वा उपमृत्य) तोत्थि भोवोए । [स्वस्ति भवत्ये ।]

वतन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये मंत्रेय । (उत्थाम) स्वागतम् ।

इदमासनम् । अश्रीपविश्यताम् ।

विदूषक — उपविशतु भोवि । [उपविशतु भवति ।]

(उभायुपविशत)

वतन्तसेना—अपि कुशलं सार्यंवाहपुत्रस्य ?

विदूषक — भोदि कुशलम् । [भवति, कुशलम् ।]

वतन्तसेना—आर्यं मंत्रेय, अपीदानी ।

गुणप्रवाल विनयप्रशास्त्र विश्रम्भामूल महनीयपुष्पम् ।

तं साधुवृक्ष स्वगुणी फलाढ्यं सुहृद्बिहङ्गा सुखमाश्रयन्ति ॥३२॥

उदयत् उदय गच्छत् य सूर्यं तस्य समा तुल्या प्रभा वातिः येषां तं कमलं  
सामायकमलं रक्तोत्पलेद्य बोधिका यापी सन्ध्यायते इव सन्ध्या इव आचरति,  
सन्ध्याय प्रतिभातीति भाव ।

तस्या वाटिकायां स्थितम् अशोकवृक्ष वर्णयति—एष इति । नवनिर्गतानि  
कुसुमानि पत्स्याश्च यत्र तपाभूत एष पुरोवर्ती अशोकवृक्ष सपरमये घनाय

सपन वृष्टों के नीचे बनाये गये हैं । चम्पक जूही शोफालिका, मासती, मोतिया (अथवा देवा), चमेनी कुरबक तथा अतिमुक्तक (मोगरा) आदि स्वयं गिरे हुए पुष्पों से (यह बल्लभनेता की वादिका) सबनुच ही नन्दनवन की शोभा-सम्पन्नता को कम कर रही है ।

(दूधरी और देवकर) और इधर उदय होते हुए सूर्य के समान बाभा वाले मायारण कमलों तथा लाल कमलों से (यह) बावड़ी सम्पन्न जैसी (लाल), लगी रही है । और भी—

जिन पर नये पत्तों और पुष्प आये हैं, ऐसा यह अगोक ज्ञा वृक्ष मुझ के बीच में गारे रक्त की कीचड़ से लपपम हुए श्रेष्ठ थोड़ा के समान शोभित हो रहा है ॥३१॥

अस्तु । तो तुम्हारी आर्षा कहाँ है ?

चेटी—आर्ष, हृष्टि को झुकाइये । आर्षा को देखिये ।

विदूषक—(देखकर समीप आकर) आपका कल्याण हो ।

बल्लभनेता—(संस्कृत का आशय लेकर) अरे मंत्रेय है ! (उठकर) स्वागत है : यह आज्ञा है । यहाँ बैठिये ।

विदूषक—आप बैठिये (दोनों बैठ जाते हैं)

बल्लभनेता—मार्यवाह के पुत्र आर्षं चारदत्त की कुशल तो है ।

विदूषक—जी कुशल है ।

बल्लभनेता—आर्षं मंत्रेय, क्या इस समय भी—

पुत्र ही जिनके किमलय हैं, नरुता ही शाखा है, विश्रान ही जड़ है, महला रूपी पुत्र हैं, ऐसे अपने गुणों के द्वारा फल-सम्पन्न उन सञ्जन (चारदत्त) रूपी वृक्ष पर निरर रूपी पक्षी-गण सुस्रुवक आशय सेते हैं ॥३२॥

राज्य तोहितपदस्य रक्तजडमस्य चर्वा सेपनं यत्न ताह्यः सुमद्यः योयः इव भाति मदीये वापावृत्तम् ॥३१॥

आरतं मंत्रेयं चारदत्तस्य कुशलं पृष्ट्वा बल्लभनेता चारदत्तविषयक प्रश्नान्तरम् पृच्छति—कुनेति । गुणाः योशान्दियः एव प्रबालाः निमगनाः यस्य तं, विनयः एव प्रबालाः सुन्दराणाः यस्य तं, विश्रामः विश्रामः एव मूलं यस्य तं महतीषं पूम्पता ईतिरिति भावः एव पुत्रं यस्य तं, स्वपुत्रः स्वकीयैः दयाशाशियादिपुत्रैः एव पुत्रैः कर्तुं युक्तं सम्पन्नं वा मायुः सञ्जनः एव वृक्षाः तं चारदत्तं मुदूकः एव विदूषाः पक्षिणः सुप्र यथा स्यात् तथा आशयान्ति अत्रलम्बन्ते हिन् ? कनकान्द्राट । अन्वयः वृत्तम् ॥३२॥

विदूषक—(स्वगतम्) मुदुट्ट उयलकिलर दुदुट्टविलासिणीए । (प्रकाशम्  
अथ ३ । [मुदुट्टपलक्षित दुदुट्टविलासिन्या । अथ किम् । ]

वसन्तसेना—अये विमागमनप्रयोजनम् ।

विदूषक—सुगादु भोवि । तत्तभव चादत्तो सीते अञ्जलि वदुम भोवि  
विष्णवेवि । [शृणोतु भवति । तत्रभवाश्चारुदत्त शीर्षेऽञ्जलि कृत्वा भवती  
विज्ञापयति । ]

वसन्तसेना—(अञ्जलि वदुवा) विमाजापयति ।

विदूषक—मए त सुयणमण्डम विस्तम्भादो अराणकेरपेति वदुम जुवे  
हारिवम । सो अ सहिओ राभवास्पटारो न गाणिअवि कहि गरो ति । [मया  
स सुयणभाण्ड विभ्रम्भादात्तमीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम् । स च सभितो  
राजवार्ताहारि न ज्ञायत कुत्र गत इति ।

चेटी—अग्जए विद्विभा घट्टहसि । अञ्जो जुदिअरो सभुत्तो । [आर्यो  
दिष्टय वधस । आर्यो द्यतकर संवृत् । ]

वसन्तसेना—(स्वगतम्) वधम् । चोरेण अवहिव पि सोण्डीरवाए जुवे हारिव  
ति भगावि । अदो ज्जेव कापीअवि । [नयम् चोरेणापहृतमपि शोण्डीरवाया  
द्यूते हारितमिति भणति । अतएव कान्यते । ]

विदूषक—ता तस्स वारणावो गेण्हदु भोवी इम रअणावत्तिम् । [तत्तस्य  
वारणाद् गृह्णातु भवतीमा रत्नावलीम् । ]

वसन्तसेना—(जात्मगतम्) किं वसेमि त भलवारअम् । (विचिन्त्य) अथवा न  
थाय । [किं दशयामि तमलदुआरम् । अथवा न तावत् । ]

विदूषक—किं थाय न गेण्हवि भोवी एव रअणावत्तिम् । [किं तावन्  
गृह्णाति भवतीमा रत्नावलीम् । ]

वसन्तसेना—(विहस्य सखीमुखं पश्यन्ती) मिस्रोअ वध न गेण्हस्स रअणाव  
त्तिम् । (अति शृतीत्वा पार्श्वे स्थापयति । स्वगतम्) वध इतोण्हत्तुमारो वि सहाअरपाव  
पादो मअरदकिदओ गिदवत्ति । (प्रकाशम्) । अग्ज विष्णवेहि त जुविअर मम वअ-  
णेण अग्जचादत्तम्—अह पि वदोसे अग्ज वेविलदु आअच्छामि' ति । [मिंश्रेय  
कय न ग्रीह्यामि रत्नावलीम् । वय हीउणुमुमादपि सहवारपादपान्मवरत्त  
विन्दवो निपत्तसि । आर्यं विज्ञापय त द्यतकर मम वचनेनायचारुदत्तम्—  
'अहमपि प्रदोष आर्यं प्रक्षिनुमाणञ्जामि इति ।

बिदूयकः—(अपने आप) दुष्ट वेरग ते ठीक जान लिया है । (प्रकट रूप में) और क्या ?

यसन्तसेना—जी, आपके आने का प्रयोजन क्या है ?

बिदूयक—श्रीमती जी, मुनिये । प्रिय चारुदत्त तिर पर अञ्जलि (शोध) करके आपने यह कहते हैं ।

यसन्तसेना—(हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा करते हैं ?

बिदूयक—‘‘‘मैंने वह स्वर्णपात्र विश्वास से अपना (जान) करके जुए में हरा दिया और वह राज्य के सम्देश से जाने वाला छूनाध्यक्ष पता नहीं कहाँ चला गया ?

चेटी—आप, भाग्य से बड रही हो । (आपका सोभाग्य है) आप चारुदत्त जुआरी हो गये हैं ।

यसन्तसेना—(अपने आप) क्या चोर से चुराये हुए (स्वर्णपात्र) को भी उदारता के कारण ‘जुए में हरा दिया’ यह कहते हैं इमीतिये (उनको) चाहती हूँ ।

बिदूयक—तो उसके कारण आप इस रत्नावली का प्रहण करें ।

यसन्तसेना—(अपने आप) क्या उस आभूषण को दिखा दूँ ? (सोचकर) या तब तक नहीं ।

बिदूयक—तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं लेती ?

यसन्तसेना—(हँसकर सखी के मुख को देखती हुई) मैंनेय, रत्नावली को कैसे न लूँगी ? (लेकर पाम में रखती हुई अपने आप) मञ्जरी रहित आम के वृक्ष में भी पुष्परम की बूँदे कैसे गिर रही हैं ?

(प्रकट रूप में) आप, उन जुआरी आप चारुदत्त से मेरी और मैं यह कह देना—‘मैं भी आज प्रदोष (रात्रि के प्रथम पहर) में आप से मिलने आऊँगी ।’

दुष्टः विलासोऽस्य इति दुष्टविनासिनी तथा । अथ किम् अनुमती । रातः शार्वा सन्देशं हस्तोति राजवातिहारी शोण्डीरत्तया उदारतया ।

हीनानि कसुमानि यस्म तयाभूतात् मञ्जरीहीनात् सहकारपादपाद् आङ्ग-  
 वृथात् मकरन्दकिन्दुपतनं यया आश्रयकरं तथैव दरिद्रात् चारुदत्तात् रत्नावलीरूप-  
 स्थानद्वारस्य प्राप्तिरिति भावः । गणिकायाः प्रसङ्गात् संसर्गात् । भ्रष्टाने अममये  
 दुदिने घनाग्राहारं मेघमण्डलं वा । मेघमण्डलं दिनं दुदिनमुच्यते नशानया तु मेघ-  
 मण्डलम् इत्यर्थः । अन्नमति उच्यते आयच्छति ।



विबूषक—(स्वगतम्) किं अण्ण ग्रहिं गदुअ गण्हत्सवि । (प्रवाणम्)  
 मोदि भणामि (स्वगतम्) गिअत्तोअदु इभावो गणिआपत्तङ्गावो, ति । [किम-  
 न्यत्तत्र गत्वा ग्रहीष्यति । भवति भणामि—'नियर्ततामस्माद् गणिकाप्रसङ्गात्'  
 इति । (इति निष्प्रान्त )

पत्तन्तेना—हञ्जे गेण्ह एव अत्तङ्कारम् । चारुदत्तम् अहिरगिबु गच्छम् ।  
 [चेटी, गृह्णन्तमलङ्कारम् । चारुदत्तमभिरन्तु गच्छाम ।]

चेटी—अण्णए वेरल्ल वेरल्ल । उण्णमदि अकालदुदिनम् । [आय, पश्य पश्य ।  
 उन्नमत्यवात्तदुदिनम् ।]

पत्तन्तेना—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्यमविरतं पततु ।

गणदामि नैव सर्यं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥

हञ्जे, हार गेण्हम सहुं आ अच्छ । चेटी, हार गृहीत्वा शीघ्रमागच्छ ।'

(इति निष्प्रान्ता सर्वे)

मदनिकाशविलसो नाम चतुर्थोऽङ्कः

आयं, उण्णमदि अकालदुदिनम्' इति चेटीवचन निशाम्य पत्तन्तेना वचयति—  
 उदयन्तु इति । मेघा उदयन्तु आविर्भवन्तु नाम, निशा भवतु, अविरतं सततं वर्यं  
 धुत्ति पततु अहं दयिताभिमुखेन प्रियं प्रति उत्सुकेन हृदयेन सर्वं नैव गणदामि न  
 भाषस मये । आर्या वृत्तम् ॥३३॥

इति मदनिकाशविलसो नाम चतुर्थाङ्कः ।

विदूषक—(अपने आप) वहाँ जाकर और क्या लेगी ? (प्रकट रूप में) अच्छा; यह वह दूंगा (अपने आप) 'कि इस बेरया के संसर्ग से अलग हो जाओ ।' (चला जाता है ।)

वसन्तसेना—चेटी, इस आभूषण को ले लो । चारदत्त से रमण करने चलेंगे ।

चेटी—आयें ! देखिये । असमय में दुदिन उमड़ रहा है ।

वसन्तसेना—बादल भले ही घिर आयें, रात हो जाये, निरन्तर वर्षा होती रहे,

श्रिमदमोग्मुस हृदय से इन सबको (में कुछ) नहीं गिनती ॥३३॥

चेटी, हार को लेकर शीघ्र जाओ ।

(सब निकल जाते हैं)

मदनिका और शवितक नामक चतुर्यं अङ्क (समाप्त) ।

---

## पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्य सोत्कण्ठश्चारदत्त

चारदत्त — (ऊर्ध्वं भवन्नोक्थ) उन्नमत्यकालदुदिनम् । यदेतत्  
आलोकितं गृहशिक्षणिकभिरुत्कलापै—

हंसैरियामुभिरपावृतमुग्मनस्कैः ।

आकालिक सपदि दुदिनमन्तरोक्षम्

उत्कण्ठिनस्य हृदयं च समं रुणद्धि ॥१४॥

अपि च ।

मेघो जलाद्रमहिषोदरभृङ्गनीलो,

विद्युत्प्रभारचिन्पीतपटोत्तरीयम् ।

आभाति सहतवलाकगृहीतशङ्खम् ।

स केशवोऽग्निर इवाक्रमितुः प्रवृत्तः ॥१५॥

अपि च ।

केशवगान्ध्याम वृटिलवलाकावलीरचितशङ्खम् ।

विद्युद्गुणवीशेषवद्भ्रमर इवोन्नतो मेघः ॥१६॥

[अस्मिन्नुक्ते समाप्तिपरततं यपुंशुषणनं त्रियने तच्च सयोगशृङ्गारस्यादीपन-  
विभावत्वेनावतरतीति ध्येयम्]

चारदत्त पदिभिरश्लोकं अकालदुदिनं वर्णयति—आलोकितमित्यादि । उत्क-  
लापै उदगता कलापा यथा तै उर्यापितपुच्छै गृहशिक्षणिकभिः गृहमयूरं आलोकितं  
(दुदिनम्) तथा उग्मनस्कै उर्यापितै यियामुभिः (मानसरोवरं) गन्तुकामं हंसं अपा-  
कृतं निरस्तम् उपशितं वा आकालिक अकाले समुत्पन्नं दुदिनं मेघावरणं सपदि क्षटिति  
अन्तरोक्षम् आकाशम् उत्कण्ठिनस्य विरहोत्सुकस्य जनस्य हृदयं च समं सहैव रुणद्धि  
आच्छादयति । सहोत्तरलङ्कारः । वसन्ततिलकावृतम् ॥१॥

मेघ इति । अत्र मेघं विष्णुरूपेणोत्प्रेक्ष्यते विशेषणानि षोडशपक्षे योजनीयानि ।  
जलेन आद्रस्य महिस्य उदरं भृङ्गरश्च तद्रूपं नीलं (मघं विष्णुरूपं)—विद्युत्प्रभया  
रचिनं पीतपटं इव पीताम्बरमिव उत्तरीयं यस्य (विष्णुपक्षं—विद्युत्प्रभा

## पाँचवाँ अङ्क

(तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ उत्कण्ठित चावदत्त प्रवेश करता है)

चावदत्त—(ऊपर देखकर) असमय ही दुर्दिन उमड़ रहा है। जो यह ऊपर पंख बाने पावनू मोरों के द्वारा (प्रसन्नतापूर्वक) देखा गया तथा (मानमरोवर को) जाने के इच्छुक खिन्न-मन हंसों के द्वारा उपेक्षित (अनभिन्नन्दिन) असमय का दुर्दिन (पना बन्धकार और बर्षा) शीघ्रता से आकाश तथा उत्कण्ठित (विरही) के हृदय को साय-साय आच्छन्न कर रहा है ॥१॥

और भी—

जल से पीने भँसे के उदर एवं अमर के समान नीला, बिजली की प्रभा से निर्मित पीताम्बर तुल्य उत्तरीय धारण करने वाला [विष्णु पञ्च मे-विद्युत् प्रभा के समान निर्मित पीताम्बर ही है उत्तरीय जिसका] एकत्रीभूत बगुने भी शस्त्र को ग्रहण करने वाला [विष्णु पञ्च मे-एकत्रिन बगुनों के समान ग्रहण किया है पाञ्चवज्रम् नामक गुरु जिमने] दूसरे विष्णु के समान आकाश को व्याप्त करने को उद्यत भंग शोभायमान है ॥२॥

जो विष्णु के शरीर के समान श्याम है, जिसने बगुनों की टेढ़ी पक्ति से शस्त्र बनाया है बिजली कपी धामे का (बना हुआ) जिसका पीताम्बर है ऐसा बादल विष्णु के समान उमड़ रहा है ॥३॥

इव रविर्न पीनपट एव उत्तरीयं मेन सः सहता एकत्रीभूताः बलाका बवा एव पृहीतः शङ्को मेन [विष्णुपञ्च महत्त्वनाकावद् पृहीतः शङ्कः पाञ्चवज्रयो मेन] स अपरः केतावः विष्णुः इव ताम् आकाशम् आश्रितुं व्याप्तुं प्रवृत्तः उद्यतः मेघः आभाति शोभते । अत्रम् उत्तरेया च । वसन्तदिलसा वृत्तम् ॥२॥

• उनमुंरुमेवार्थ प्रकाशान्तरेण वर्षदति केसवेति । केसवनात्रवद् श्याम कुटिमा चामी बवाकावनी बरपडिन् च तथा रविनः शङ्कः मेन ताहताः, विद्युत्पुनः विद्यन्नेया एव शोभेय मय्य ताहताः मेघः चरुधरः विष्णुः इव उल्लन आकाशे समुत्पन । उपमान-नद्वारः । आर्ग वृत्तम् ॥३॥

एता निपित्तरजतद्रवस निकाशा

धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्य

विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणहृष्टनष्टा-

शिखन्ता इवाम्बरपटस्य दशा पतन्ति ॥४॥

मसपत्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव

व्याविर्द्वैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।

तेस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मणैः समभ्युन्नतै

पत्रच्छ्रेयमिवेह भाति गगन विषलेपितैर्वायुना ॥५॥

एतत्तद्धतराष्ट्रववत्रसदृश मेघान्धकार नभो

हृष्टो गर्जति चातिदपितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।

अक्षयूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वान गत कोकिलो

हसा सप्रति पाण्डवा इव यनादज्ञातचर्या गता ॥६॥

(विधिन्य) चिर एतु कासो मंत्रेयस्य वसन्तसेनाया सवास गतस्य । नाद्यापि आगच्छति ।

(प्रविश्य)

विदूषक —अहो गणिआए सोभो अदविल्लणदा भ, जडो ण कथा वि विदा अण्णा । अणेकहा सिणेहाणुसार भणिअ वि पि, एवमेअ गहिवा रज-

एता इति । निपित्तरजतद्रवस तत्सन्निकाशा तुभ्या रजतद्रवसत् शुभ्रा इति यावत्, जलदस्य उदरेभ्य जवेन वेगेन पतिता विद्युद् एव प्रदीपशिखा तथा क्षण हृष्टा तत मष्टा अदृश्या जाता एता जलस्य धारा अम्बरमेव पट वस्त्र तस्य दिनाः नृदिता दशाः प्रान्तभागा इव पतन्ति । रूपम् उत्प्रेक्षा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४॥

वायुना हतस्तत परिभिप्ता मेघा विविधवस्तूनाम् आकृति धारयन्ति तेष्य गगनतलम् आलेख्यमिष शोभते, इत्याह—हससप्तैरिति । (भवचित्) सप्तसप्तैः परस्पर-मिसितं चक्रवाकमिथुनं चक्रवाकयुगलं इव, (भवचित्) प्रडीनैः उड्डीनैः हंसैः इव, (भवचित्) व्याविर्द्वै इतस्ततः विविधैः मीनचक्रैः मत्स्यसमूहैः मकरैश्च इव, अन्यत्र च प्रोच्छ्रितं अत्युन्नतं हर्म्यं प्रासादं इव—एतादृशं तं तं नामाविधं आकृति-विस्तरं स्वरूपभेदं अनुगतं प्राप्तं समभ्युन्नतं उन्नतैः वायुना विरलेपितं

विपले हुए चाँदी के द्रव जंसी, मेघ के उदर से वेगपूर्ण गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ के द्वारा क्षण-भर दिखाई देकर सहेय्य हो जाने वाली, ये धारायें आकाश रूपी वस्त्र के टूटे हुए छोर (दशा.) के समान गिर रही हैं ॥४॥

एक दूसरे से मिले हुए चक्रवाक के जोड़ों के समान, उड़ते हुए हंसों जैसे, (समुद्र की लहरों से इधर-उधर) फंके हुए मत्स्य-समुदाय और मगरों के सदृश, उन्नत अट्टालिकाओं जैसे (ऊँचे) विभिन्न विस्तृत आकारों को प्राप्त करने वाले, वायु द्वारा छिन्न-भिन्न, उमड़ते हुए बादलों के द्वारा यहाँ आकाश (पत्र-वेद विधि द्वारा) चित्रित-सा गोभित हो रहा है ॥५॥

बादलों से जिसमें अघेरा हो गया है, ऐसा यह आकाश उस (प्रसिद्ध) घृतराष्ट्र के मुख के समान है (क्योंकि घृतराष्ट्र का मुख भी आँसू न होने से अन्धकारपूर्ण था और आकाश की भी सूर्य चन्द्ररूपी दोनों आँसू बादलों से नष्ट हो गई थी), प्रसन्न एवं अति शक्ति बल (मयूर पक्ष-में शक्ति, दुर्गोधन पक्ष में-सेना) वाले दुर्गोधन के समान मोर गरज रहा है ।

पक्षि के द्वारा जुए में हारे हुए युधिष्ठिर के समान कोयल मौन (युधिष्ठिर पक्ष में 'अध्वानं' का अर्थ वनमार्ग) को प्राप्त हो गई है । इस समय हंस पाण्डवों के समान वन से (जन के कारण या वनवास से) अज्ञातवाम की (अर्थात् मानसरोवर को) चले गये हैं ॥६॥

(सोचकर) 'मंत्रेय को वसन्तसेना के पास गये देर हो गई, अब भी नहीं आ रहा है ।

(प्रवेग करके)

विदूषक—अहो ! वेण्या का लोभ और अनुदारता ? क्योंकि (अलङ्कार सेने के सिवाय) दूसरी बात भी नहीं की ? प्रेम के अनुकूल अनेक प्रकार से कुछ भी कहकर

पृथक्कृतः च श्रेयः गगनम् इह अत्र पत्रघ्नेष्टम् इव पत्रय्य श्रेयः सम्भवं तत्र घटितं चित्रम् इव भाति घोभते । उपमातन्मूढः । शाङ्गसविहीरितं वृत्तम् ॥५॥

एतदिति । श्रेयः अन्वकारः यत्र एतद् नमः तस्य प्रसिद्धस्य घृतराष्ट्रस्य वरप्रसहसं मुखसहसं चक्रसहसं सेनासहसं वा । घृतराष्ट्रमुखे दृष्टिशून्यत्वाद् अन्वकारः गगने च सूर्यचन्द्रयोः अनांताद् 'आतिशयितम् आतिशययुक्तं' इति शक्तिरस्य सः शिला मयूरः अतिशयितं इति संन्यं यस्य सः दुर्गोधनः इव गर्भति । कोचित् । पिकः अर्से. शूते त्रितः युधिष्ठिरः अध्वानं वनमार्गम् इव अध्वानं ध्वनिशून्यतां मौनं गतः । सम्प्रति हुंसा — पाण्डवाः वनात् वनवासाद् वनवासं परित्यज्य वा अज्ञातवामम् अज्ञातवामम् इव — वनान् वनान् हेतोः अज्ञातवामानं पत्राः, अदायाः जाताः इति भावः । उपमातन्मूढः शाङ्गसविहीरितं वृत्तम् ॥६॥

जायते । एतिभ्राए श्रुद्धीए ष तए अहं भणिदो—'अञ्जमित्तंअ, वीतमोअदु । मत्त-  
 केण पाणीअं पि पिदिअ गच्छोअदु'ति । ता मा दाव दासीए धोभ्राए गणिभ्राए मुहं  
 वि वेक्खिस्सम् । (सतिर्वेदम्) मुष्णु षणु बुच्चवि—'अकन्दसमुत्पिता वडमिणी, अबञ्चओ  
 धानिओ, अघोरो सुवण्णआरो, अकलहो गामसमागमो, अतुद्धा गणिआ ति दुस्सर  
 एदे सघावीअन्ति' । ता पिअवअस्सं गदुअ इमारो गणिआपतद्धानो पिअतावेमि ।  
 (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कथ पिअवअस्सो दकलवाडिआए उपविट्ठो चिट्ठवि; ता ज्ञाव ज्ञ-  
 सप्पामि । (उपसृत्य) सोरिप भवदे । षड्ददु भवम् । [अहो गणिकाया लोभोऽदक्षि-  
 णता च । यतो न कयापि कृतान्या । अनकथा स्नेहानुसारं भणित्वा किमपि,  
 एवमेव गृहीता रत्नावली । एतावत्या श्रद्धधान तयाह भणित.—'आर्यमंत्रेय,  
 विश्रम्यताम् । मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इति । तन्मा ताव-  
 द्दास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि । मुष्णु खलूच्यते—'अकन्दसमु-  
 त्पिता पप्पिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौर सुवर्णकार, अकलहो भ्रानसमां-  
 गम, अनुन्धा गणिकेति दुष्करमेते सभाव्यन्ते' । तत्रियवयस्य गत्वास्माद्  
 गणिकाप्रसङ्गान्निवर्तयामि । कथं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति ।  
 तद्यावदुपसर्पामि । स्वस्ति भवते । वर्धता भवान् ।]

आश्रित—(विनीक्ष्य) अये, मुहुर्न्मै मंत्रेयः प्राप्तः । वयस्य, स्वागतम् ।  
 वास्यताम् ।

विदूषक—उपेविट्ठो हि । [उपविष्टोऽस्मि ।]

आश्रित—वयस्य, कथय तत्कार्यम् ।

विदूषक—त षणु कञ्ज विणट्टम् । [तत्सलु कार्यं विनष्टम् ।]

आश्रित—किं तया न गृहीता रत्नावली ?

विदूषक—कुडो अग्हाए एत्तिअ भाअधेअम् । णवणत्तिणओमतं अञ्जति  
 भरएए कदुअ पडिअिअमा । [कुतोऽस्माकमेतावद्भागधेयम् । नवनलिनकीमल-  
 यञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा ।]

आश्रित—एत्तिकं श्रुत्वा विनष्टमिति ?

विदूषक—ओ कथ ष विणट्टम्, अ समुत्तपीदस्स घोरेई,अवहिदस्स अप्प-  
 कुस्सअय मुष्णुअअअअस्स कारआदो वतुस्सामुत्तारमूआ रअणमात्ता हारिवा । [ओ,  
 कथ न विनष्टम्, यदधुत्तपीतस्य घोरेरपहतस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य  
 कारणान्चतुसमुदकारभूता रत्नमाला हारिता ।]

आश्रित—वयस्य, मा मेवम् ।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृत ।

तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥७॥

ऐसे ही रत्नावली ले ली । इतनी सम्पत्तियुक्त होकर भी उसने मुझसे यह नहीं कहा  
 बाप्य मंत्रय आराम कीजिये । मत्स्यक (पात्र विरोध) से पानी तो पीकर जाये । तो  
 इस दासी की पुत्री वेण्या का मुँह भी नहीं देखूँगा । (खेदपूर्वक) ठीक ही कहा जाता  
 है—'बिना जड़ के उत्पन्न हुई कमलिनो, न ठगने वाला बनिमा, न चुराने वाला  
 मुनार, जिसमें झगडा न हो ऐसा श्याम-मम्मेलन, न लोभ करने वाली वेण्या, इनकी  
 सम्भावना करना कठिन है । तो जाकर प्रिय मित्र की इस वेण्या के संग से पृथक्  
 करता हूँ । (घूमकर देखकर) क्या प्रिय मित्र वृष-वाटिका में बैठे हुए हैं ? तो अब  
 तक समीप चलाता हूँ । (समीप जाकर) आपका कल्याण हो, आपकी वृद्धि हो ।

छाददत्त—(देखकर) अरे मेरे मित्र मैत्रेय जा गये । मित्र स्वागत है, बैठिये ।

विदूषक—बैठ गया है ।

छाददत्त—मित्र, उस कायं की बात कहो ।

विदूषक—वह काम तो बिगड गया ।

छाददत्त—क्या उसने रत्नावली नहीं ली ?

विदूषक—हमारा ऐसा भाग्य कहा ? अभिनव कमल-नी कोमल अञ्जलि  
 मस्तक पर करके (वह रत्नावली उसने) ले ली ।

छाददत्त तो यह क्यों कहते हो कि बिगड़ गया ।

विदूषक—जी, कैसे नहीं बिगड़ गया, जो बिना साये-पीये, चौरों द्वारा चुराये  
 गये स्वल्प मूल्य वाले स्वयं-भाग के कारण चारों समुद्रों की छारमूठ रत्नावली  
 ली दी ?

छाददत्त—मित्र, ऐसा नहीं । जिस विश्वाम का आधार लेकर उसने हनु  
 घरोहर रखी उस मदान् विश्वाम का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥३॥

मत्स्यकः पात्रविरोधः । न क्वान् मृगात् समुत्थिता उत्पन्ना मूलं विनोत्पन्ना ।  
 छददत्तः कनकमूल्यः । श्यामस्य ममामः मम्मेलनं । अमुक्या लोभशून्या ।  
 नवनभिनवन् नूतनकनकवद् कोमलम् अञ्जलिम् । प्रनोय्या शहीता ।

ममिति । म्यास्यात् पुरस्तात् (३-२६) ।

पदान्तेन वस्त्राञ्चनेन अपहारितम् आवृतम् । बहवः प्रत्यवायाः दायाः यस्मिन्  
 तस्मात् पात्रवायाः धन्वरे मध्ये । सेन्द्रुका नपुमृतिरुत्पत्तः । चाटः वृषकः [चाटाः  
 प्रतारकाः विवास्त्य ये परधननाह्वन्ति—मितासरा (काटे) ] न चायस्ते वृद्धि म  
 मम्यन्ति । परिवारं निन्नाम् उक्त्वा कनन् (दि०) । प्रवश्यया दरिद्रावस्थया ।  
 विचारितः पृथग्दृष्टः ।



विभूषक—भो वभस्स, एव पि मे दुविअ सतावकारण ज सहीअणदिण्ण-  
 सण्णाए पइत्तोवारिअ मुह क्खुअ अह उवहसिओ । । ता अह म्भणो भविअ वाणि  
 भवन्त सीसेण पइअ विण्णवेमि ~ 'गिअत्तोअहु अप्पा इमाओ घट्टपच्चवाआओ गणि-  
 मापसङ्गाओ' । गणिआ नाम पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ सेट्टुआ दुबसेण उण गिराकरो-  
 अवि । अवि अ भो वभस्स, गणिआ हत्थी काअत्थओ भिवसु घाटो रासहो अ जहि  
 एवे गिअसन्ति तहि बुट्ठा वि ण जाअन्ति । [भो वयस्य, एतदपि मे द्वितीय संताप-  
 कारण यत्सखीजनदत्तसज्ञया पदान्नापवारितं मुखं कृत्वाहमुपहसितं । तदह  
 प्राह्याणो भूत्वेदानी भवन्त शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि—'निवत्यतामात्मा  
 स्माद्बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसङ्गात्' । गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेप्टुका-  
 ङ्कुलेन पुननिराक्रियते । अपि च भो वयस्य, गणिका हस्ती कायस्यो भिक्षुश्चाटो  
 रासभएच यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते ।]

चारुदत्त—वयस्य, अलामदानी सर्वं परिवादमुक्त्वा । अवस्थयैवास्मि  
 निवारितं । पश्य—

वेग करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातु

प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।

सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चला स्वभावा ।

खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥८॥

अपि च वयस्य,

यस्यार्यास्तस्य सा कान्ता घनहार्यो ह्यसौ जन ।

(स्वगतम्) न गुणहार्यो ह्यसौ जन । (प्रकाशम्)

वयमर्थे परित्यक्ता नन् त्यक्तेव सा मया ॥९॥

विभूषक—(अष्टोऽवलोक्य स्वगतम्) जधा एसो उड्ढ वेविसअ ढीह गिअससवि  
 तथा तएकेमि मए विणिवारिअन्तस्स अदिअअर वड्ढिवा से उवकष्ठा । ता सुट्टु षणु  
 एव्व पुच्चदि—'कामो कामो' ति । (प्रकाशम्) भो वभस्स, भणिअ अ ताए-भणेहि

चारुदत्त स्वकीयाम् अवस्थामेव घर्णयति—वेगमिति । तुरग अथ स्वरितु शीघ्र  
 प्रयातु गन्तु वेग करोति विन्दु तु प्राणव्ययात् चलसयात् तस्य चरणा तथा वेगेन न  
 वहन्ति चसन्ति । पुरुषस्य जनस्य चला घञ्चला स्वभावा मनोवृत्तय सर्वत्र सर्वेषु  
 प्राप्याप्राप्यविषयेषु यान्ति गच्छन्ति तत सिन्ता असफलत्वात् शेषे प्राप्ता पुन हृदयमेव  
 विशन्ति स्वोत्पत्तिस्थाने हृदये एव विधीयन्ते इति भाव । इष्टान्तात्तद्गार । वसन्त-  
 तिलना प्लुतम् ॥९॥

विदूषक—हे मित्र, मेरे सन्तान का दूसरा कारण यह भी है कि सखीजनों को संकेत देकर मुझे ढककर मेरा उपहास किया। तो मैं ब्राह्मण होकर (भी) इस समय सिर में (आपके चरणों पर) गिर कर निवेदन करता हूँ—इस बहुत विध्वंस वाले वेश्या के संग में पृथक् हो जाइये। वेश्या तो जूते के अन्दर प्रविष्ट हुई ककड़ के समान फिर दुस से निकाली जाती है।

और भी, हे मित्र,

वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिलारी, घूम और गधा जहाँ ये रहते हैं वहाँ दुष्ट भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होने (सज्जनों का कहना ही क्या ?)

चारदत्त—मित्र, इस सब निन्दा को कहने से बस करो। (मैं तो) अवस्था ने ही रोक दिया हूँ। देवों—

६।६। श्रेष्ठ शीघ्र जाने के लिए तीव्र गति करता है, किन्तु शक्ति का क्षय होने के कारण (उमके) पैर उस प्रकार (वेग में) नहीं चलते हैं। पुरुष की चञ्चल मनोवृत्तियाँ सब म्यानों पर जाती हैं, वहाँ से (असफलता के कारण) झिन्न होकर फिर से हृदय में ही प्रविष्ट हो जाती हैं। (उसी प्रकार सामर्थ्याभाव से वसन्तसेना को प्राप्त करने की मेरी इच्छायें मन की मन में रह जाती हैं) ॥६॥

और भी, मित्र—

त्रिमूर्ती सम्पत्ति है उसी की वह कामिनी है। क्योंकि यह जन (गणिका) धन से वश में करने योग्य है।

(अपने आप) नहीं, यह जन (वसन्तसेना) गुण द्वारा वश में करने योग्य है। (प्रवट स्व में) सम्पत्ति ने हमें त्याग दिया है (इसलिए) मेरे द्वारा तो वह (वसन्तसेना) त्याग ही दी गई है ॥६॥

विदूषक—(नीचे देखकर अपने आन) क्योंकि यह ऊपर देखकर लम्बे निश्वास से रहा है, उमने अनुमान करता हूँ कि मेरे द्वारा निवारण किये गये इसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ गई है। तो वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है, काम उमटा होता है। (प्रवट स्व में) हे मित्र, और उमने कहा है, चारदत्त से कहना—'आज प्ररोप (राजि के

सम्पत्ति । अस्य जनस्य अर्थाः धनानि सन्ति तस्य सा गणिका कान्ता कामिनी; हि यतः अमो जनः गणिका धनेन हार्यः वने वनुं शक्यः । वसन्तसेना तु मुष्मुन्धेति अत्रानि निपाशह वसन्तसेनाविषये एतन्न मुक्तम्, कुतः अमो जनः वसन्तसेना तु दुष्महार्थः श्रीशार्ङ्गशिभिः गुणैः स्ववसे वनुं योग्यः । यत च अर्थे परित्यक्ता अस्माकं सम्पत्तिर्गप्या जनः स्या चारदनेन सा वसन्तसेना त्यागा एव स्वतः एव परित्यक्ता ननु इति त्रिषटम् । सम्पत्तिञ्च अन्वृत्तः । अनुन्नु इतम् ॥६॥

चारुदत्तम्—'अञ्ज यञोसे मद् एतं आभन्तम्' इति । ता तस्केमि, रत्नावली, अपरितुष्टा अवरं मगिर्दुं आभमिरसदि इति । [यथैव ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निश्वसिति, तथा तर्कयामि मया विनिवार्यमाणस्याधिकतरं वृद्धास्मोत्कण्ठा । तत्सुष्ठु खल्वेव मुच्यते—'कामो वामः' इति । भो वयस्य, भणितं च तथा—भ्रमण चारुदत्तम्—'अद्य प्रदोषे मयाप्रागन्तव्यम्' इति । तत्तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टापरायाचितुमागमिष्यतीति ।]

चारुदत्तः—वयस्य, आगच्छतु । परितुष्टा यास्यति ।

चेटः—(प्रविश्य) अवेध माणहे ।

जघा जघा वशशदि अन्भसण्डे तथा तथा तिममदि पुट्टिचम्मे ।

जघा जघा लग्गदि शोदवादे तथा तथा वेवदि मे हलक्के ॥१०॥

(ग्रहरण)

वंशं वाए शतच्छिद्दं शुशद्दं वीणं वाए शततन्ति पदन्तिम् ।

गोअ गाए गद्दहृषणाणूलूअ के मे गाणे तुम्बुलू गालदे वा ॥११॥

आपत्तहि अञ्जआए वशन्तरोणाए—कुम्भीशला, गच्छ तुमम् । मम आगमनं अञ्ज-  
चारुदत्तरा गिबेदेहि' इति । ता नाम अञ्जचारुदत्तरा गेहं गच्छामि । (परिम्य  
प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एषो धालुवत्तं वसन्तवादिआए चिट्ठदि । एते वि शे दृष्टवडुके । ता  
जाय उवशाप्पेमि । कथं ठक्कवे बुधासे वसन्तवादिआए । भोदु । एवशा बुद्धवडुकरा  
शण देमि । [अवेत मानवाः,

यथा यथा वर्षत्यभ्रखण्ड तथा तथा तिम्यति गृष्टचमं ।

यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥

वश वादयामि सप्तच्छिद्रं शुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्री नदन्तीम् ।

गीत गायामि गर्दभस्यानुरूप को मे गाने तुम्बुलरिदो वा ॥

आज्ञप्तीऽस्म्यार्यया वसन्तसेनया—'कुम्भीलक, गच्छ त्वम् । ममागमनमार्य-  
चारुदत्तस्य निवेदय' इति । तथावदार्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष चरुदत्तो  
वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । एषोऽपि स दुष्टबटुकः । तथावदुपसर्पामि । कयमाच्छा-  
दितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः । भवतु । एतस्य दुष्टबटुकस्य सशा ददामि ।]  
(इति लोष्टगुटिकाः शिगति)

विदूषकः—अए, का वाणि एसो पाआरवेट्टिबं विम कइएत्तं मं लोष्टकेहि तावेदि ?  
[अये, क इदानीमेव प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति ।]

चारुदत्तः—आरामप्रासादवंदिनायां श्रीऽङ्घ्रिः पारावतः पातितं भवेत् ।

विदूषकः—रासोए पुत्त बुद्धपारावम सिद्ध चिट्ठ । जाव एदिणा वञ्जकट्टेण  
मुपवरं विम चूमकत्तं इमावो पासावावो भूमोए पाइइत्तम् [दास्याः पुत्र दुष्टपा-

प्रथम गृह) में मुझे यहाँ जाना है। तो अनुमान करता हूँ कि रत्नावली से असन्तुष्ट हुई (बह) बुद्ध और माँपने आयेगी।

चारदत्त—मित्र, आने दो सन्तुष्ट होकर आयेगी।

छेटी—(प्रवेश करके) मनुष्यो समझो, जैसे-जैसे मेघ खण्ड बरत रहा है, वैसे-वैसे पीठ की खूबा भीग रही है। जैसे-जैसे ठण्डी धातु लग रही है वैसे-वैसे मेरा हृदय काँप रहा है ॥१०॥

(हंसकर) मान छेद वाली तथा मुन्दर मन्द वाली बाँसुरी को बजाता हूँ। भद्रकृत होती हुई सात तारों वाली वीणा को बजाता हूँ। गधे के समान नीत गाता हूँ। मेरे गाने पर तुम्बरु (एक गन्धर्व) और नारद कौन है? (अर्थात् मेरे गाने के समग्र वे भी तुच्छ हैं) ॥११॥

आर्या वसन्तसेना के द्वारा (मुझे) आना ही गई, हे कुम्भीलक तुम जाओ मेरा आना आर्य चारदत्त से निवेदन करो। तो जब तक आर्य चारदत्त के घर जाता हूँ। (धूमकर प्रवेश द्वार में देखकर) यह चारदत्त वृक्ष-वाटिका में बंटे हैं। यह यह दुष्ट बटुक भी है। तो जब तक समीप चलता हूँ। क्या वृक्ष-वाटिका का द्वार बन्द है? अच्छा इस दुष्ट बटुक को संगत देता हूँ। (कंकड़ियाँ फेंकता है)।

विदूषक—अरे, कौन यह चारदीवारी से चिरे हुए कंधे के समान मुझे मार रहा है?

चारदत्त—(सम्भवतः) वाटिका-भवन की चौकियों पर खेतते हुए बहुरतों ने गिरा दी हों।

विदूषक—दासी के पुत्र दुष्ट कवूतर, ठहर-ठहर, जब तक इस काठ के छप्पे से भली प्रकार पके हुए आम के फल की भाँति इस भवन से धूमि पर गिरा हूँ। (काठ के छप्पे को उठाकर दौड़ता है)।

कामो कामः इति काम- विपरीतो भवति, यावत् कामः प्रतिबध्यते तावद् अधिकं वर्धते इति भावः। अथैत अवगच्छत।

यथेति यथा यथा अक्षरतश्च मेघतण्डं मेघमण्डलं वा वर्धति तथा तथा मम पृष्ठधमं तिष्ठति आर्शोभवति। यथा यथा शीतपातः सति तथा तथा मे मम शेटस्य हृदयं वेपते कम्पने। उपेन्द्रव्या वृत्तम् ॥१०॥

वंशेति। अहं सत्यं दिशामि यत्र तं मुसम्बं, सोभनसम्बमुत्तं वंशं वाहयामि सत्यतन्मः यत्र तां नवन्तीं मद्रुता लीलां वाहयामि। गर्दभस्य बालुरूपं समानं गीतं गायामि मे मम माने तुम्बुव। देवमभाषाः वायकविर्षेयः नारद वा कः न कोऽपि श्रवणः। अतिरेकालङ्कारः उपजाति वृत्तम् ॥११॥

प्रविष्टेन रङ्गमञ्चस्य ज्येष्ठतरेण। ततो तद्द्वेषम्। लोच्युदित्याः अपूर्वोत्तमा-

रावत, तिष्ठ यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव घृतफलमस्मात्प्रासादाद् भूमौ पातयिष्यामि ।] (इतिदण्डकाष्ठमुत्तम्य घावति)

षाब्बस - (यज्ञोपवीतम् आहृष्य ।) वयस्य, उपविश । किमनेन । तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।

षेट—कथं पारावद पेशसदि । म ण पेशसदि । भोडु । अबराए सोट्टुगुडिकाए पुणो वि ताडइस्सम् । [कथं पारावत पश्यति । मा न पश्यति । भवतु । अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि ।] (तथा करोति)

विदूषक—(दिशाज्वलीवय) कथं कुम्भीसओ । ता माव उपसप्पामि । (उपमृत्य । द्वारमुदधावप) अरे कुम्भीसअ, पविश । सामव वे । [कथं कुम्भीलक । तद्यावदुपसर्पामि । अरे कुम्भीलक, प्रविश । स्वागत ते ।]

षेट—(प्रविश्य) अज्ज, वन्वामि । [आर्यं वन्दे]

विदूषक—अरे, कहिं तुम ईदित्ते बुद्धिणे अण्णमारे माओ । [अरे, कुत्र त्वमीदृशो दुदिनेऽन्धकार आगत ।]

षेट—अले, एसा शा । [अरे, एषा सा ।]

विदूषक—का एसा का । [किया का ।]

षेट—एसा शा । [एषा सा]

विदूषक—किं वाणि दासीए पुत्ता, दुमिक्काले बुद्धरज्जो विअ उदकं सासाअसि—'एसा सा से त्ति । [किमिदानी दास्याः पुत्र, दुमिक्षकाले वृद्धरज्जु इवोर्ध्वकं श्वासायसे—'एषा सा सा' इति ।]

षेट—अले, तुम वि वाणि इन्वमहकामुको विअ सुट्टु किं काकाअसि—'का के' त्ति । [अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्टु किं काकायसे—'का का' इति ।]

विदूषक—ता कहेहि । [तत्कथय ।]

षेट—(स्वगतम्) भोडु । एव्व भणिसा । (प्रकाशम्) अले, पण्ह वे बहराम् । [भवतु । एव भणिय्यामि । अरे, प्रश्नं ते दास्यामि ।]

विदूषक—अहं वे मुण्डे गोइड दराम् । [अहं ते मत्तके पाद दास्यामि ।]

षेट—अले, आणाहिं वाव, तेण हि करिसा काले चूआ मोलेत्ति । [अरे, जानीहिं तावत् तेन हि कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति ।]

विदूषक—अरे दासीए पुत्ता, गिह्से । अरे दास्याः पुत्र, प्रीण्ये ।]

षेट—(महासम्) अले, पाहिं णहि । [अरे नहिं नहिं ।]

विदूषक—(स्वगतम्) किं वाणि एरय बहिससम् । ( विबिन्द्य ।) भोडु । आरदसं गदुअ पुच्छिरसम् ( प्रकाशम् ।) अरे, मुक्कत्तअ चिट्ठ । (पादतमुपमृत्य ।)

षारदत्त—(मञ्जोपवांत को खींचकर) मित्र, बैठो। इससे क्या ? पत्नी (प्रेमिका) सहित बेचारा कबूतर बैठा रहे।

चेट - क्या कबूतर को देख रहे हो ? मुझे नहीं देख रहे हो ? अच्छा। दूसरी ककड़ से फिर माऊंगा (बैसा करता है)

विदूषक—(सब दिशाओं में देखकर) क्या कुम्भोलक ? तो जब तक समीप चलता हूँ। (समीप जाकर द्वार खोल कर) अरे, कुम्भोलक प्रवेश करो। तुम्हारा स्वागत है।

चेट - (प्रवेश करते) आये, बन्दना करता हूँ।

विदूषक—अरे, ऐसे दुर्दिन अग्निकार में तुम कहीं आ गये ?

चेट—अरे यह वह।

विदूषक—कौन, 'यह' कौन ?

चेट—यह, वह ?

विदूषक—दासी के पुत्र, इस समय बयो, अकाल के समय वृद्ध निर्धन (रद्ध) के समान लम्बी साँस ले रहा है—'एपा सा सा'

चेट—इस समय इन्द्रोत्सव के इच्छुक काक के समान यह अच्छी का, का (कौन, कौन)। या काँद, काँव, क्यों कर रहे हो ?

विदूषक—तो कहो।

चेट—(अपने आँस) अच्छा इस प्रकार कहूँगा। (प्रकट रूप में) अरे, तुम्हें प्रश्न दूँगा।

विदूषक—मैं तेरे मस्तर पर लात दूँगा।

चेट—अरे जानते हो ? किस समय मैं आम मञ्जरीमुक्त होते है ?

विदूषक - अरे दामी के पुत्र, धोप्य में।

चेट—(हँसकर) अरे नहीं, नहीं।

विदूषक—(अपने आप) यही अब क्या कहूँ ? (सोचकर) अच्छा। जाकर षारदत्त से पूछूँ। (प्रकट रूप में) अरे दास भर ठहर। (षारदत्त के पास आकर) हे मित्र, तनिक पूछ मुँ। आम किस समय में मुकुलित होते हैं ?

सम्प्रति। प्राकृत्ये प्राचीरेण वेष्टितं परिवृतम्। क्वचित् पत्निकोपे कृतविकेपं वा। आरामस्य उदानस्य प्रामादः तस्य वेदिशायाम्। दधिनासहितः त्रियायुक्तः। संपस्वी वराकः। इन्द्रमहाय इन्द्रोन्मदस्य वामुकः इच्छुः वाकः। काकायमे काक इव आचरति। रम्या रमाना ममूरः रम्या (टि०)।

भो यमस्त, पुच्छिस्त दाय, वरिस काले चूआ मोलेति । [विमिदानीमत्र वधयि-  
ष्यामि । भवतु । चारदत्त गत्वा प्रक्ष्यामि । अरे, मूहूत्तंक तिष्ठ । भो वयस्य,  
प्रक्ष्यामि तावत्, करिमन्वाले चूता मुकुलिता भवन्ति ।]

चारदत्त — मूर्ख, वसन्त ।

विदूषक — (चेटमुपगम्य) मुरल यसन्ते । [मूर्ख, वसन्ते ।]

चेट — बुद्धिभ वे प०ह वदरगम् । शुशमिद्धाण गामाण वा लवलभ कलेदि  
[[द्वितीय ते प्रश्न दास्यामि । मुसमृद्धाना ग्रामाणा का रक्षा करोति ।]

विदूषकः—अरे, रच्छा [अरे, रथ्या ।]

चेट — (सहासम् ।) अले णहि णहि । [अरे, नहि नहि ।]

विदूषकः—भोदु । ससए पडिदोहि । (विचिन्त्य) भोदु चारदत्तं पुणो वि  
पुच्छिस्तम् । [भवतु । सशये पतितोऽस्मि । भवतु चारदत्त पुनरपि प्रक्ष्यामि ।] ।  
(पुननिवृत्त्य चारदत्त तथैवोदाहरति)

चारवरा — वयस्य, सेना ।

विदूषक — (चेटमुपगम्य ।) अरे वासीए पुता, सेना । [अरे दास्या. पुत्र,  
सेना ।]

चेट — अले, बुधे वि एवकरिअ कदुअ शिग्य मणाहि । [अरे, द्वे अप्येव-  
स्मिन्कृत्वा शीघ्र भण ।]

विदूषक — (सेनावसन्ते) [सेनावसन्ते ।]

चेट — णं पलिवत्तिअ मणाहि । [ननु परिवर्त्य भण]

विदूषक — (बायेन परिवृत्य ।) सेनायसन्ते । [सेनावसन्ते ।]

चेट — अले मुरल, बड्का, पवाइ पलिवत्तावेहि । [अरे मूर्ख बटुव, पदे  
परिवर्तय ।]

विदूषक — (पादो परिवर्त्य) सेनायसन्ते । [सेनावसन्ते ।]

चेटः—अले, मुरल, अलसपवाइ पलिवत्तावेहि । [अरे मूर्ख, अक्षरपदे  
परिवर्तय ।]

विदूषक — (विचिन्त्य ।) यसन्तोणा [वसन्तोणा ।]

चेटः—एशा शा आअश । [एषा सागता ।]

विदूषक — ता जाव चारदत्तस निवेदेमि । (उपगृत्य) भो चारदत्त, धनिओ वे  
आअशो । [तद्यावच्चारदत्तस्य निवेदयामि । भो चारदत्त, धनिवस्त आगत ।]

चारवरा — युतोऽस्मत्कुले धनिक ।

विदूषक — अइ कुले णरिय, ता पुवारे अरिय । एसा वसन्तोणा

बाहरत - मूर्ख, बमल में ।

बिदूषक—(चेट के पास जाकर) मूर्ख, बमल में ।

चेट—तुम्हें हमारा प्रश्न दूंगा । सम्प्रतिशाली ग्रामों को कौन रक्षा करता है ?

बिदूषक—अरे, ग्राम ।

चेट—(हँसते पूर्वक) अरे नहीं नहीं ।

बिदूषक—अच्छा । मन्देह में पड गया है'। (सोचकर) अच्छा फिर भी बाहरत से पूछें (फिर सौटकर बाहरत से कहना है) ।

बाहरत—मित्र, मेना ।

बिदूषक—(चेट के समीप जाकर) अरे, दासी के पुत्र, सेना ।

चेट—अरे दोनों को एक करके (मित्राकर) बोल ।

बिदूषक—मेना बमल ।

चेट—अरे उनट कर कहो ।

बिदूषक—(शरीर में उनट कर) सेनावसन्त ।

चेट—अरे मूर्ख बटुफ, पद (शब्द) में परिवर्तन करो ।

बिदूषक—(पैरों को बदन कर) सेनावसन्त ।

चेट—अरे मूर्ख, अक्षरों वाले पद (शब्द में) परिवर्तन करो (पैरों में नहीं) ।

बिदूषक—(सोच कर) वसन्तसेना ।

चेट—यह वह आ गई है ।

बिदूषक—तो जब तर बाहरत से निवेदन कर रहा है (समीप जाकर) हे बाहरत तुम्हारा धनिक (साहूकार) आया है ।

बाहरत—हमारे कुच में धनिक कहीं से आया ?

बिदूषक—धनिक कुच में नहीं है तो द्वार पर है यह वसन्तसेना आई है ।



आभवा । [यदि कुले नास्ति तदद्वारेऽस्ति एषा वसन्तसेनागता ।]

घाटवत् — वयस्य, किं मा प्रतारयसि ।

विदूषक — जट मे वअणे ण वत्तिआअसि, ता एद कुम्भीलअपुच्छ । अरे वासीए पुसा कुम्भीलअ, उवसप्प । [यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तदिम कुम्भीलक पृच्छ । अरे दास्या पुत्र कुम्भील, उपसर्पं ।]

घट — (उपसृत्य ।) अअ वन्दामि । आर्यं वन्दे ]

घाटवत् — भद्र, स्वागतम् । अथय सत्य प्राप्ता वसन्तसेना ।

घट — एषा सा आभवा वसन्तसेना । [एषा सागता वसन्तसेना ।]

घाटवत् — (सहर्षम्) भद्र न कदाचित्प्रियवचन निष्फलीकृत मया । तद्गृह्यता पारितोषिकम् । (इत्युत्तरीय प्रयच्छति)

घट — (गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम्) जाव अज्जआए निवेदेमि । [यावदा-  
र्याया निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्त )

विदूषक — भो अथि जाणासि, किनिमित्तं ईदिसे वृद्धे आभवेत्ति । [भो,  
अपि जानासि, किनिमित्तमीदृशे दुदिन आगतेति ।]

घाटवत् — वयस्य न सम्यगवधारयामि ।

विदूषक — मए, जाणिदम् अप्पमुत्ता रअणावली, बहुमुत्त सुअण्णमण्डअ ति ण परितुट्ठा अवर मग्गिदु आभवा । [मया ज्ञातम् । अल्पमूल्या रत्नावली, बहु-  
मूल्यं सुवर्णभाण्डमिति न परितुष्टापरे याचितुमागता ।]

घाटवत् — (स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति ।

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलाभिसारिवावेशेन वसन्तसेना, सोत्कण्ठा  
क्षयधारिणी, विदूषक)

घट — (वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अपत्या श्रोत्रेपा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं

कुलस्त्रीणां शोका मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।

सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी

रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्धैरनुगता ॥१२॥ ✓

प्रत्ययतो विश्वास करोषि ।

अभिसारिका वान्तमभिसरतीति । उक्तं च—“अभिसारयते वान्तं मा  
मन्मथवशवदा । स्वयं वाभिसरत्यया धीरैदत्ताभिसारिणा ।” येष्यात्वाद् उज्ज्वलवेशेन  
अभिसरणम्, यथोक्तम्—‘त्रिभिन्नोज्ज्वलवेशा तु चलन्पूरनि स्वना । प्रमोदमेरवदना  
स्याद् वेष्याभिसरद् यदि ।’

चारदत्त—मित्र क्या सुझें छन रहे हो ?

विदूषक—यदि मेरे वचन में विश्वास नहीं करते हो तो इस कुम्भीलक से पूछ लो । अरे दासी के पुत्र कुम्भीलक पाम आओ ।

चेट—(समीप आकर) आर्य वन्दना करता है ।

चारदत्त—भद्र, स्वागत है, कही सचमुच वसन्तसेना आई है ?

चेट—यह वह वसन्तसेना आ गई है ।

चारदत्त—(प्रसन्नतापूर्वक) भद्र, मैंने प्रिय वचन कभी निष्फल नहीं किया । लो पुरस्कार ग्रहण करो । (उत्तरीय देता है)

चेट—(लंकर तथा प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करके) जब तक आर्या से निवेदन करता हूँ । (निवृत्त जाता है)

विदूषक—अरे, यह जानने भी हो कि ऐसे दुर्दिन में किम तिये आई है ?

चारदत्त—मित्र ठीर नहीं जान पा रहा हूँ ।

विदूषक—मैंने ठीक जान लिया । रत्नावली कम मूल्य की है, स्वर्ण पात्र बहुमूल्य था, इस कारण सन्तुष्ट नहीं हुई, कुछ और माग्ने आई है ।

चारदत्त—(अपने आप) सन्तुष्ट होकर जायेगी ।

(तत्पश्चात् उग्गवल अभितारिका के वेश में उत्कण्ठित वसन्तसेना छत्रधारिणी और विट प्रवेश करते हैं)

विट—(वसन्तसेना को लक्ष्य करके) यह—कमलरहित लक्ष्मी है, कामदेव का सुन्दर अम्ब है, कुलीन मित्रियों का (साक्षात्) शोक है (क्योंकि उनके पति, बेवयागामी हो जाते हैं, फलस्वरूप उनकी पत्नियाँ शोकाकुल हो जाती हैं), कामदेव रूपी श्रेष्ठ वृक्ष का पुत्र है, रति के समय लज्जा से प्रेम करने वाली काम-क्षेत्र रूपी रंगभूमि में विनामपूर्वक गमन करती हुई (यह वसन्तसेना) प्रिय पण्डितों के समूहों से अनुगत होती है ॥१२॥

अभिनवराजसमये वसन्तसेनायाः तावन्मन्त्रं वन्दयति विटः—अपहृतेति । एषा वसन्तसेना योः साक्षात् लक्ष्मीः अस्ति, किन्तु अपहृता नास्ति यथा कमलं यस्याः न पद्ममन्त्रवा इत्यर्थः । एषा च अनङ्गस्य कामदेवस्य सन्निहितं सुन्दरं प्रहरणम् अस्ति । कुम्भलोणी कुम्भलोणीनां शोकः शोकम्प्रेष एषा हि तामां पतीनां विसृष्टं मोहयति तावत् शोकाकुला भवति । मदनः कामः एव वरवृक्षः श्रेष्ठवृक्षः तस्य कुतुम्बं पुष्पस्वरूपा । रतिममये सुरतस्थाने लज्जायां प्रणयिनी प्रीतिमती कुलबधूवद् लज्जापुष्पा भवति न तु बेवयागद् लज्जाः शोकाकुला भवति । रतिक्षेत्रे सुरतस्थाने एव रङ्गे रङ्गभूमौ लक्ष्मी विनामपूर्वकं गमयन्ती इति प्रियैः पण्डितैर्मात्रं पण्डितमनुते । अनुगतता भवति । अनेके निद्रिकायुता एतामनुमन्तीति भावः । साक्षात्पश्यन् अवद्वार । मित्रारिणी वृत्तम् ॥ २॥

वसन्तसेने, पश्य पश्य :

गर्जन्ति शैलशिक्षरेषु विसम्भ्रविम्वा

मघा विमुक्तवनिताहृदयानुकारा ।

येषा रवेण सहस्रोत्पतितैमयूरै

ख बीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥१३॥

अपि च—

पङ्कविलन्नमुखा पिवन्ति रामिल धाराह्ला ददुंरा

कण्ठमुञ्चति बहिण समदनो नोप प्रदीपायते ।

सन्ध्यास कुलद्रूपणैरिव जनेर्मेघैर्वृत्तशचन्द्रमा

विद्युन्नीचकुलोदगतव युवतिर्नैवन्न सतिष्ठते ॥१४॥

वसन्तसेना—भाय सुठठु दे भणिदम् । भाय, सुष्ठु ते भणितम् ।]

एषा हि

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव

वान्त सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।

मा गर्जितैरपि मूढैर्विनिवारयन्ती

मार्गं रुणद्धि कृपितेव निशा सपत्नी ॥१५॥

विट मघानामुचति वर्णयन्ति—गर्जन्तीति । शैलशिक्षरेषु विसम्भ्रविम्वा विलम्बितम्बमान बिम्ब मण्डलम् आकृतिषा येषा त दृशा विपुस्तानां विरहपीडितानां वनितायां नारीणां हृदयम् अनुकुर्वन्ति अनुमरिन्त इति तथाभूता । मरा हृदयं मेषा गर्जन्ति एषा मेरुना रवेण गर्जनन सहसा उत्पतितं उड्डीने मयूरं मणिमयै मणि-प्रचितं सासकृन्तं व्यजनं इव तत्र आकाशं बीज्यते । उत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका इत्यम् ॥१३॥

पुनः स्पर्शम् वर्णयति विट—पञ्चुति । पञ्चुने विसन्तानि वादीहतानि मुखाणि येषां ते धाराभि जलधाराभि आह्लाता ताडिता सन्त ददुंरा मण्डुका ससिल विद्वन्ति । समदन मदनेन सहित कामातुर बहिण मयूर कण्ठ मुञ्चति कण्ठ-ध्वनिं रेवाख करोति [कण्ठो गले गलद्वाने] इति शेष —मृष्वीधर ] । नोप कश्चि-दस्य प्रदीपायते पुण्ययुक्तत्वात् प्रदीपवद् आपरति । कुलद्रूपणं कुन द्रूपयन्तीति तं कृतकलङ्कं जने सन्ध्यास इव मेघं चन्द्रमा वृत्त आकाशादित द्रूपित वा । मोक्षकुलोद्-गता मोक्षशोत्पन्ना मुचति इव विद्युत् एकर एवस्मिन् स्थाने (पुण्ये वा) न सतिष्ठते न स्विप्रा भवति ।

वसन्तसेना, देखो देखो—

पर्वत की चोटियों पर लटके हुए (विलम्बित) आकार वाले, वियोगिनी स्त्रियों के हृदयों की समानता करने वाले (धूमिल, क्योंकि वियोगिनी का हृदय भी प्रसन्नता के अभाव में अन्धकारपूर्ण रहता है) मेघ गरज रहे हैं, इनके शब्द से अचानक उठे हुए मोरों के द्वारा (अपने पक्ष रूपी) मणिमय तानवृन्तों (ताड़ के बने पंखों) से मानों आकाश को पसा किया जा रहा है ॥१३।

और भी—

कीचड़ से लक्ष्मण मुँह वाले, (पानी की) धारा में ताड़ित मेंदरु पानी पी रहे हैं, कामयुक्त मोर मुक्तकण्ठ से शब्द कर रहा है। कदम्ब (उज्ज्वल पुष्पों के कारण) दीपक-सा प्रतीत हो रहा है। बादलों के द्वारा चन्द्रमा उसी प्रकार आच्छादित कर लिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास (आच्छादित अथवा कलङ्कित कर दिया जाता है)। नीच कुल में उत्पन्न युवती के समान विजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है ॥१४॥

वसन्तसेना—भाव, तुम्हारा कहना ठीक है—यह—

मपत्नी के सदृश बुधित हुई रात्रि—“सूर्य, यदि मघन पयोधर (रात्रिपक्ष में—बादल, सपत्नीपक्ष में—रतन) बानी मेरे ही माघ त्रिपक्ष (रात्रिपक्ष में—चन्द्रमा, सपत्नीपक्ष में—चारदल) रमण करता है तो इसमें तुम्हारा क्या ? इन प्रकार की गर्जनाओं से भी बार-बार मुस मना करनी हुई (मेरा) रात्रि रोक रही है ॥१५॥

उपमावद्भारः । शार्ङ्गविज्रीडित वृत्तम् ॥१५॥

मघिन वदन भावे क्त, 'ते' इत्यत्र वनेरि पठ्ये

(वृत्तकर्मिणी, कृति पा० २।३।६५)

वितङ्ग उच्यते निशब्द र पि मघनीमिव वसन्तसेना वक्ष्यति—  
 मूढे इति । 'एषा हि' इति गठेनाग्नयः । एषा हि निशा मपत्नी इव कुविज्ञा “मूढे निरन्तरपयोधरया मया सह एव कालः यदि अभिरमते तव अत्र किम् ?” (इति) शक्तिः अवि मुहुः मां विनिवारयन्ती मार्गं रक्षति—इत्यन्वयः ।

एषा हि निशा रात्रि मपत्नी इव कुविज्ञा मनी (निशासपत्नी इति पाठान्तरं निशा एव मपत्नी इत्यर्थः — 'हे मूढे अनभिज्ञे वसन्तसेने, निरन्तराः पयोधरा मयाः यस्या सा तादृश्या मया निशा [मपत्नीपक्षे च निरन्तरा मघिनपत्नी पयोधरो मत्नी यस्याः तथा] सह एव कालः त्रिषु निशापक्षे निशासायकः चन्द्र) यदि अभिरमते रमणं करोति तदा अत्र तव वसन्तसेनायाः किम् वा हानि ? ईदृशं, गर्जने, गर्जने, अवि मुहुः मार्गं वारं मां वसन्तसेना विहारयन्ती विदेयन्ती मम मार्गं त्रिषणमनमार्गं रक्षति प्रतिद्वन्द्वति । श्वेप. उरना पावद्भारो । वसन्तनिवृत्ता वृत्तम् ॥१५॥

बिट — भवतु । एव तावत् । उपालभ्यता तावदियम् ।

वसन्तसेना—भाय, किमनया म्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया । पश्यतु

भाव ।

मेघा वषन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा ।

गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुखाः स्थिय ॥१६॥

बिट—वसन्तसेने, पश्य पश्य । अयमपरः,

पवनचपलवेगः स्यूलधाराशरीध

स्तनितपटहनाद स्पष्टविद्युत्पताक ।

हरति करसमूहं से शशाङ्कस्य मेघो

नूप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रो ॥१७॥

वसन्तसेना—एष्व णेदम् । ता क्व एतो अवरो । [एवं न्विदम् । तत्कप-  
मेघोऽपर ।]

एतरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराऽमातलम्बोदरं-

गर्जन्निः सतडिडबलाकशवलैर्मेषैः सशत्यं मन ।

तत्किं प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो वकः

प्रावद् प्रावडिति प्रवीति शठधी. धारं क्षते प्रक्षिपन् ॥१८॥

स्त्रीस्वभावेन दुर्विदग्धया दुराग्रहया अनया निशया उपालब्धया किम् ? न  
किमपि फलमित्यर्थः । मेघा इति । मेघा वषन्तु गर्जन्तु अशानिम् वक्ष्यम् एव वा मुञ्चन्तु  
मयोपरि पातयन्तु किं ममानेन ? यत रमणाभिमुखा रमण प्रति गन्तुमुद्यता. तत्रपः  
शीतोष्णं शीतं च उष्णं च न गणयन्ति । अपस्तुतप्रशालाङ्कारः । अनुपुप् वृत्तम् ॥१६॥

पश्येति । पवनचपलवेगः स्यूलधाराशरीध. स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः  
(अयमपरः) मेघः पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः नूप इव से शशाङ्कस्य करसमूहं हरति—  
इत्यन्वयः । अत्र मेघस्य राजस्य विलम्बवर्णनम् ।

अर्पितवेद्यं बोध्य.—अयम् अपरो मेघः । से आकाशे शशाङ्कस्य वन्दस्य करसमूहं  
रश्मिजालं तथा हरति आच्छादयति यथा (इव = यथा + तथा) वषिद् नूपः पुरमध्ये  
वगरमध्ये राजधानीमध्ये वा प्रविश्य मन्दवीर्यस्य क्षीणशक्ते शत्रो करसमूहं राजदेयं  
घ्नन् हरति बलाद् एह्लाति । (मेघानि विशेषणानि दूष्यपक्षे एव योजनीयानि) कीदृशा  
शेषः ? पवनेन वपस. वेग यस्य स, स्फुला. धाराः जलधाराः एव शरीध बाणसमूहः  
यस्य स, स्तनितं वज्रितम् एव [पटहनादः उरुदानादः यस्य स. स्पष्टा विद्युदेव

विट—अच्छा । ऐसा है । तो उसे ज्यातम्म दो ।

वसन्तसेना—भाव, स्त्री स्वभाव के अनुरूप हठी इसको उताहना देने से क्या ?

भाव देखें—

बादल बरसें, गरजें या वज्र ही गिरा दें, (किन्तु) रमणोन्मुख कामिनियों ठण्ड-भरों को (बुद्ध भी) नहीं गिनती हैं ॥१६॥

विट—वसन्तसेना, देखो, देखो । यह दूसरा—

[मेष और विजयी राजा का विलम्ब वर्णन]

वायु से जिसका चञ्चल वेग है, (पानी को) मोटी धाराएँ ही जिसके बाण-समुदाय हैं, जिसका गर्जन ही नगाड़े का शब्द है, स्पष्टतया विजयी ही जिसकी पताका है—ऐसा बादल आकाश में चन्द्रमा के किरण-समुदाय को उसी प्रकार धीन (आच्छादित कर) रहा है, जिस प्रकार मन्ड-पराक्रम शत्रु के कर (टैंक) को (विजयी) राजा नगर के बीच में ही हर लेता है ।

(राजा के पक्ष में)—वायु के सद्ग चञ्चल वेग वाला (जल को) मोटी धाराओं के समान (तीक्ष्ण) बाण-समुदाय वाला (मेष के) गर्जन के सदृश नगाड़ों के शब्द वाला स्पष्टतया विजयी जैसी (चमकने वाली) पताकाओं वाला ॥१७॥

वसन्तसेना—ऐसा ही है । तो फिर क्यों, यह दूसरा ?—

जब कि गरजराजों के सदृश मूलिन (श्यामवर्ण), फूले हुए तथा लटकते हुए उदर (मध्यभाग) वाले, विजली एवं बगुलियों (बलाकाओं) से युक्त (इसी कारण) चित्रित तथा गरजते हुए इन्हें बादलों के द्वारा (विजयीगिनियों का) मन वेदनापूर्ण है (हृदय में तीर से चुभ रहे हैं) तो परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विजयीगिनियों के लिए वध के समय बजने वाले नगाड़े के समान यह हताश घूर्त बुद्धि वाला बगुना पाव पर नमूक दिङ्कता हुआ सा हाव ! क्यों 'वर्षा, वर्षा'—यह बोल रहा है ॥१८॥

पताका यस्य सः । कीदृशः नृप इव ? पवन इव चपसः वेगः यस्य सः, स्पृशाः धाराः इव शरीरः यस्य सः स्तनितम् इव पटहनादः यस्य सः, स्पष्टा विद्युद् इव पताका यस्य सः । श्लेषरूपश्याम्ना पुष्टः उपमानद्वारः । मालिनी वृत्तम् ॥१७॥

विटवचनं निगम्य, वसन्तसेना रूपयति—एतस्मिन् । परा गजेन्द्रमतिनः गजेन्द्रवद् मतिनः श्यामवर्णः आश्रयात्तानि उच्छ्रानानि सत एव अश्यानि भस्विताश्च परराशि देवां तैः, गर्भङ्गि गर्जनं बुर्भङ्गिः तर्हिङ्गिः विद्युङ्गिः अश्यानि च चित्रितः अश्व शबलैः चित्रवर्णैः एतैः पुरोदुश्यमानैः केवै एव वधः क्वीपिनोना हृदयं अश्यानि शल्याबन्धमिव वेदनायुक्तम् अस्ति । तन्नु तदा श्लेषिकाः परदेशं गताः स्तः वाचं कञ्चो इते वाचपटहः वधवति वाचमानः पटहः इव हताशः हता वाचा यस्य सः श्लेषीः घूर्तबुद्धिः बकः सने तार प्रजिपद् हा हा इति सेदे कि कचं प्राण्ट् प्राण्ट् इति वर्षा वर्षा इति वधीति ? शार्ङ्गमविहीरितं वृत्तम् ॥१८॥

विट — वसन्तसेने, एवमेतत् । इदमपर पश्य ।

बलावापाण्डुरोष्णीष विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।

मत्तवारणसारूप्य कर्तुकाममिवाम्बरम् ॥१६॥

वसन्तसेना—भाष, वेक्ष्ण वेक्ष्ण । [भाव पश्य, पश्य ।]

एतंराद्रं तमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभो

वल्मीका शरताडिता इव गजा सीदन्ति धाराहता ।

विद्युत्लाञ्छनदीपिकेव रचिता प्रासादराचारिणी

ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रात्सार्यं मेघैर्हृता ॥२७॥

विट — वसन्तसेने, पश्य पश्य ।

एते हि विद्युद्गुणवद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्त ।

शम्राजया वारिधरा सधारा गा रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥२८॥

अपि च पश्य—

महावाताध्मातैर्महिपकुलनीलजलधरै-

श्चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्त प्रचलितै ।

इय गन्धोद्दामा नवहृरितशष्पाडकुरवतो

धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥२९॥

मताफेति । बलाका यकपदित्तरेव पाण्डुर घवलम् उष्णीष शिरोवेद्यन यस्य तद्, विद्युरेव उत्क्षिप्त ऊर्ध्वं धृत चामरं यस्य तथाभूतं च अम्बरं गगनं मत्तवारणं पाण्डुर उष्णीष यस्य तथा विद्युत् इव उत्क्षिप्तम् चामरं यस्य तादृशस्य मत्तवारणस्य मत्तगजस्य सारूप्यं सादृश्यं कर्तुकामम् इव प्रतिभाति । उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा चालङ्कारः । अतुष्टुप वृत्तम् ॥१६॥

एतंरिति । आर्द्राणि यानि क्षमात्पद्मानि तद्वत् मलिनैर् नीलवर्णै एतैर् मेघैर् नभ गगनैर् आपीतसूर्यं आपीत-समाच्छन्नं सूर्यं यस्मिन् तादृशं जातम् । मेघैश्च धाराहता जलधाराभि राहता वल्मीका पीडितमृत्तिसासपाता शरैर् वाणैर् ताडिता गजा इव सीदन्ति विनश्यन्ति । विद्युत् च प्रासादसञ्चारिणी प्रासादेषु भवनेषु सञ्चरणशीला काञ्चनदीपिका स्वर्णस्य दीपिका इव रचिता । किञ्च एतैर् मेघैर् दुर्बलैर् मता यस्या तथाभूता वनिता स्त्री इव ज्योत्स्ना चन्द्रिका प्रोत्सार्यं बलादुत्पाप्य हृता दूरं नीता । उपमात्तुष्टुप । शार्दूलनिबिडी इत वृत्तम् ॥२०॥

एते इति । विद्युद् एव गुण रज्जु विद्युद्गुण [गजपक्षे विद्युद् इव गुणं तेन]

विट—वसन्तसेना, ऐसा ही है। इस दूसरे (दृश्य) को देखो—

बागुनियाँ हो त्रिमयी घबल पगड़ी है, (हाथी के पक्ष में—बागुनियाँ के समान घबल त्रिमयी पगड़ी है), बिजली ही त्रिमयी हुलासा जाता हुआ चामर है (हाथी के पक्ष में—बिजली के जैसा चामर त्रिम पर हुलासा जा रहा है) ऐसा आकाश मानों मन हाथी को समानता करना चाह रहा है ॥१६॥

वसन्तसेना—भाव, देखो, देखो—

इन गीने तनाल के पत्तों के सदा मलिन (नील-बग) बादलों के द्वारा-आकाश में मूषं टक दिया गया है, (पानी का) धाराओं से ताहित बस्तीक (बमी) बाग से मारे गये हाथियों के समान नष्ट हो रही हैं, बिजली अट्टालिकाओं पर सञ्चरण करने वाली स्वर्णमयी-दीविका बना नी मई है (आकाश स्त्री उच्च अट्टालिका पर विद्युत् स्त्री स्वर्णमयी दीविका जन रही है) निर्बल है पति त्रिमयी ऐसी स्त्री के समान चाँदी का मेषों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है ॥२०॥

विट—वसन्तसेना, देखो ! देखो !

बिजली स्त्री रस्मों में बद्ध कटि वाले, एक दूसरे की पकड़ा देते हुए हाथियों के समान ये (जन-धारायुक्त) बादल मानों इन्द्र की आज्ञा से पृथ्वी को (जनधाराम्बी) चाँदी की रस्मियों के द्वारा ऊपर उठा रहे हैं ॥२१॥

बीर भी देखो—

प्रचण्ड वायु से गरजते वाले, भँवों के समुदाय जैसे गोले, चञ्चल बिजली स्त्री पत्तों के द्वारा आकाश में घूमने वाले (समुद्र पक्ष में—अन्दर से विशुद्ध) समुद्र जैसे बादलों के द्वारा अभिनव हरी घाम के अङ्कुर वाली तथा तीर (मीनी) पन्थ से दुक्त पट्ट धारणी (जा) धाराजाल स्त्री मन्दिन बाणों से भेदी-मी जा रही है ॥२३॥

बद्धा वशा मध्यभाषः देवाः ते अन्धोऽप्य परस्परम् अभिप्रच्युतः अभिप्रच्युतः पञ्चाः इव एते सधाराः जनधाराम्भि सुकः कारिधराः देवाः शकारण्या इन्द्रस्य आज्ञया सां पृथ्वीं स्फ्यारण्वा एवमप्य रज्ज्वा इव समुद्धरन्ति उर्ध्वं नयन्ति यदा हस्तिन निष्पद् भारयुक्त बन्धु रज्ज्वादिना निवध्य ऊर्ध्वं कर्णन्ति तथैव इमे देवाः पृथ्वीं ऊर्ध्वं मज्जन्तीति भावः । उतसा उन्नेशा चानद्भारो । उन्नेशिनः वृत्तम् ॥२१॥

आकाशे प्रचलन्तो देवाः जनधाराम्भैः मन्दिमैः बाणैः पृथ्वीं भिन्दन्ति— इत्याह विटः महाभवेति । महावाताः प्रार्थः महिषकुसुमनीनः चर्नः विद्युत्पक्षैः अन्तः प्रचलितैः जपधिमिः इव जपधरैः मन्दिमैः नवहृत्पिण्डात्तुल्यवती इयं धरा धारा-पारैः मन्दिमैः मन्दिमैः भिन्दते इव— इत्यन्वयः ।

महावातेन इच्छतावाउन आधमानैः महिनैः महिषकुसुमवृक्षैः चर्नैः पक्षैः विद्युत् एव पञ्चाः वै (करतलूनैः) अन्तः अन्तरिक्षे प्रचलितैः जपधिमिः इव मातर-भद्रां वमपरं नैर्ष (कृत्वि) मन्दिने नवहृत्पिण्डात्तुल्यवती इत्यन्वयेन उन्नेशा उन्नेशा मन्दिः हृत्पिण्डैः मायाद्भारैः सुता इव धरा पृथ्वीं जनधाराम्भैः इव मन्दिमैः मन्दिमैः मन्दिमैः भिन्दते इव । उतसा, स्वरम् उन्नेशा चानद्भारा । निवर्तयिणी इत्यम् ॥२३॥



वसन्तसेना—भाब एतो ब्रवरो । [भाव, एयोऽपरः ।]

एहोहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिरान्दितः

प्रोङ्गोयेव बलाक्या सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः ।

हसेरुज्जितपङ्कजैरतितरा सोद्वेगमुद्वीक्षित-

कुर्वन्लज्जनमेचका इव दिशो मेघ-समुत्तिष्ठति ॥२३॥

बिट—एवमेतत् । तथा हि पश्य ।

निष्पन्दीकृतपक्षपण्डनयनं नष्टक्षपावासर

विद्युद्भिः क्षणनष्टदृष्टतिमिरं प्रच्छादिताशामुल्लम् ।

निश्नेष्ट स्वपितीव सप्रति पयोधारागृहान्तगतं

स्फीताम्भोधरधामनकजलदच्छत्राभिधान जगत् ॥२४॥

वसन्तसेना—भाब, एध्वं णेदम् । ता वेत्सु देवस्य । [भाव, एवं न्विदम् ।

तत्पश्य पश्य ।

गता नाश तारा उपकृतमसाधाविव जने

वियुक्ता. कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।

प्रकामान्तस्तर्पा त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिनां

द्वीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥२५॥

अपि च पश्य—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।

आशासे मेघाः कथं समुन्नमन्ति—इति वसन्तसेना कथयति—एहोहीति । शिखण्डिनां मयूराणां केकाभिः केकारवैः पटुतरं तीक्ष्णतरं यया स्यात् तथा एहि एहि इति आगच्छ, आगच्छ इति आह्वयितः आहृतः, बलाक्या बवानां पङ्क्त्या सरभसं सवेगम् प्रोङ्गोयेव समुत्पत्य सोद्वेगम् उत्सुकतापूर्वकम् आलिङ्गितः इव उज्जितानि त्यक्तानि पङ्कजानि कमलानि यैः तैः हसैः अतितराम् अत्यन्तं सोद्वेगम् उद्वेगसहितं यथा स्यात् तथा उद्वीक्षितः अवलोकितः एयः अपरः मेघः, दिशः अञ्जनम् मेघकाः बवानवर्णाः कुर्वन् कुर्वन्तिष्ठति समुन्नमति । उत्प्रेक्षासङ्कारः । शार्दूलविगीकृतं वृत्तम् ॥२३॥

मेघान्दन्तेस्मिन् काले मकल जगत् स्वपितीव-इत्याह बिट—निष्पन्दीति । अत्र तर्षणि प्रथमान्तानि पदानि 'जगत्' इत्यस्य विशेषणानि । निष्पन्दीकृतानि निष्पन्-भीकृतानि मुद्रितानि वा कथञ्चिद्धानि कमलसमूहाः एव नयनानि येन तद्याभूतं जगत् । अत्रत. कमलरूपाणि नयनानि मुद्रितानि जायन्तीति भावः । नष्टो महट्टो जातो लक्ष्मणसरो

वसन्तसेना—भाव, यह दूसरा—

बादल दिशाओं को काजल के समान काली करता हुआ उमड़ रहा है जो कि—  
'आओ, आओ' ऐसी मोर की ध्वनियों से भरी प्रकार बुनाया गया है बगुलियों की  
पंक्तियों द्वारा बैंगपूर्वक उड़कर मानो उत्कण्ठापूर्वक आलिङ्गन किया गया है तथा  
कमलों को त्याग देने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त उद्विग्नता से देखा गया है ॥२३॥

विट—ऐसा ही है । और देखो—

कमल-समुदाय रूपी नेत्र जिमने बन्द कर लिये हैं, रात और दिन जिसमें नष्ट  
हो गये हैं (पता नहीं चल रहा है), जिसमें विजली के द्वारा क्षण में अन्धकार नष्ट हो  
जाता है क्षण में दिखाई देने लगता है, जिमका दिशा रूपी मुख ढक गया है, बादलों के  
विस्तीर्ण निवासस्थान (आकाश) में अनेक बादल ही जिसके आच्छादक छत्र हैं ऐसा  
मसार इस समय जलधारा रूपी घर के अन्दर मानों निश्चल होकर सो रहा  
है ॥२४॥

वसन्तसेना—भाव ऐसा ही है । तो देखो, देखो—

अपञ्जन पुरुष पर किये गये उपकार की भाँति तारे नाग को प्राप्त हो गये  
हैं, प्रिय में विमुक्त हुई स्त्रियों के समान दिशायें (सूर्य अथवा चन्द्रमा से विमुक्त होने  
के कारण) नहीं मोहित हो रही है । देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शासन (वच्य) की  
अग्नि में अन्धल दल हुआ आकाश मानो पिघलकर जल रूप में गिर रहा है ॥२५॥  
और भी देखो—

बादल उमड़ रहा है, झुक रहा है, बरस रहा है, गरज रहा है तथा अन्धकार

रात्रिदिवसो (मैपराहृतत्वाद्) यस्मिन् तद् । विद्युद्भिः समं नष्टं परवान्च हृष्टं तिमिरम्  
समं यस्मिन् तद् । प्रच्छादितानि भागानां भुग्वानि (मैपाहृतत्वाद्) मत्र तद्, स्त्रीते  
विन्दोर्णं सम्मोघराणां घामनि मैपानां निशामान्याने आकारो नैके बृहदः अस्तघररुपाणि  
छत्रानि एव अविधानम् आच्छादकं दम्य तथाभूत च । पयोधाराः जलधाराः एव बृह  
तस्य अन्तर्गतम् इदं जगत् मन्त्रति निश्चेष्ट निश्चलं यथा स्वान् तथा स्वविनि इव मैने  
इव । रूपकम् उन्नेशां चान्दुारो । शार्दूलविहोडिन वृत्तम् ॥२४॥

वर्षा वर्षावति वसन्तसेना—गतेति । अगाधो जने दुर्जने उपकृतम् इव वृत्  
पररात इव ताराः नारां यताः अह्वराः जाताः । कान्तेन प्रियेण विमुक्ता स्त्रियः इव  
चक्रुमः दिशः कान्तेन विमुक्ताः च द्वेष विरहिताः न रात्रिनि न रात्रिने । त्रिहताः देवाः  
सेनां यतिः इन्द्र तस्य दम्भस्य वच्यस्य तिथिना अग्निना प्रकामम् अत्यन्तम् अगततप्तम्  
अप्यन्तरे मन्तपानम् अत एव इतोभूतं इविर्णं मत् कर्तं जलरुषेष यति इति मन्थे ।  
पुर्वापि उरना, उररापि चोन्नेशा । घिनरिपो वृत्तम् ॥२५॥

उन्तमैत्रीति । मैत्र. उन्वपति नमति वर्षति गर्वति तिमिरीयन् अन्धकारसमूहं च

प्रथमधीरिव पुरुष करोति रूप्याप्यनेकानि ॥२६॥

वित्—एवमेतत् ।

विद्युद्भिर्ज्वलतीव सविहसतीवोन्मूर्ध्वं चाकाशतै-

माहेन्द्रेण विवल्गनीव धनुषा धाराहारोद्गारिणा ।

वित्पत्तारानिनि स्वने रसनीवाधूर्णतोवानिसै-

चोले सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरंघ्न पायतीवान्धरम् ॥२७॥

वसन्ततेना—

जनधर निलज्जस्त्व यन्मा दमितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।

स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तै परामृशसि ॥२८॥

भो शक्र,

किं ते ह्यह पूर्वरेतिप्रसक्ता यत्स्वं नदस्यम्बुदसिहनारै ।

न युक्तमेतत्प्रियकाटिशताया मार्गं निरोदधु भ्रम वर्षपातै ॥२९॥

अपि च—

यद्वदहल्याहेतोमृंषा यदसि शक्र गीतमोऽम्भोति ।

तद्वन्मसापि दुःखं निरपेक्ष निवायता जसद ॥३०॥

अपि च—

करोति एव च प्रथमधी प्रथमा प्रथम प्राप्ता धी सप्तमी येन तादृशं पुरुष इव भेष अनेकानि रूपाणि करोति । उपमावीपकयो सत्पृष्टि अतद्धारः । भयां वृत्तम् ॥३६॥

विद्युद्भिरिति । नन्धर गगनं विद्युद्भिः उवसति इव । बलाकारतै उर्यै विहसति इव (कविसभये हासस्य शुक्लत्वाद् साम्भम्) । धारा एव धरा बाणा हाव अर्गिरिति वर्षति इति तेन जलधारास्वरूपवाधवपिणा माहेन्द्रेण महेन्द्रेण माहेन्द्रं तेन धनुषा विवल्गति इव प्रस्फुरति पादपरिवहनं वा करोति इव । वित्पत्तः य मत्तनित्वन पञ्चराभ्र विद्युन्निर्घोष इति वाक्यं तेन रसति इव कञ्चति इव । भनितं पवनं माधुणति इव भ्रमति इव । इव च गगनम् अहिभि तानै इव भीले भ्रतधरं तादृ मया स्यात् तथा पुरायति इव धूमनिगिव भवति । उपमा मालोत्पन्ना च । माहेन्ध्रिन्द्रोदितं वृत्तम् ॥२७॥

वसन्ततेना मेधमुपासभो—जलधरिति । हे जलधर, त्व निलज्जं यन् यत् स्वं दमितस्य प्रियस्य वेश्म गृह गच्छतीं मां स्तनितेन गञ्जितेन भीषयित्वा नासयित्वा धाराहस्तै हस्तै परामृशसि रमृशसि । धाराहस्तै इति रूपकम् । समं विदेषमं प्रस्तुते

समूह को (उत्पन्न) कर रहे है। (इस प्रकार) जिसने प्रथम ही सम्पत्ति प्राप्त की है, ऐसी पुरुष के समाज (बहु वादन) अनेक रूप (धारण) कर रहा है ॥२६॥

विद—ऐस ही है।

भाकाब विदलियो से जप-सा रहा है, मिकडो वगुलियो के द्वारा जोर से हँस-मा रहा है, धारा रुनी बागो को बरमाने वाले इन्द्रधनुष से विशेष गति (पैतरे बदलना) सी कर रहा है। वज्र के स्पष्ट घोष से गर्जित-मा कर रहा है, वायु के द्वारा घूम-सा रहा है तथा नीचे सगों जैसे बादलों से घना घुपित-सा हो रहा है ॥२७॥

वसन्तमेना—हे बादन तुम निर्जन्म हो, जो प्रियतम के घर जाती हुई मुझको गर्जन से बरा कर धारारूपी हाथों से छु रहे हो ॥२८॥

हे इन्द्र,

क्या मैं पहले मे तेरे प्रेम मे आसक्त थी जो तुम बादलों के सिहनादो से गरज रहे हो ? मिय के द्वारा चाही गई मेरा बर्षा पिराने के द्वारा यह रास्ता रोकना उचित नहीं है ॥२९॥

धीर भी—

हे इन्द्र, मिय प्रकार अहल्या के निमित्त (तुमने) यह मूठ कहा था कि मैं शीघ्रम हूँ। उसी प्रकार हे परार्थ पीड़ा को न जानने वाले (निरपेक्ष) मेरा भी दुःख जानो धीर बादन को रोक लो ॥३०॥

धीर भी—

निषेधस्तुतन्व कानुकान् व्यापारिणमापोरात् प समासोक्तिरपि । आर्षा वृत्तम् ॥३०॥

इन्द्रमुद्रिय मोरात्म्यं कथननि-कमिनि । मोः शक इन्द्र (इति गर्जनात्म्यं) एवं वसन्तमेना कि ते तव इन्द्रस्य पूर्वनिप्रमत्ता पूर्व रत्ना मन्तरागेभ प्रमत्ता मासत्ता धामन् । एवं वसन्तम् त्वम् अम्बुदानां जनदानां सिहनादोः सिहवद् गर्जतोः नरसि गर्जति । प्रियेण वाग्दलेन काङ्क्षिताया मम वसन्तमेनायाः बर्षावर्षः धारावाटोः मासं निरोद्धुम् धारनिरोधनम् एतन् न युक्तम् । काम्पनिङ्गन् अनङ्कारः । उपजाति वृत्तम् ॥२९॥

परिनि । हे मूठ इन्द्र सर्व्व वषा अहल्याहेतोः अहल्यायाः प्रापवयम् अहं शीघ्रम, अस्मि इति मुया मिथ्या वरमि अवरः । हे निरपेक्ष परशीरानमिह 'निरपेक्ष' इति पाठान्तरं 'दुःख निरपेक्ष' विचार्य इत्यर्थः सुगमः । सर्व्व तथा मम वसन्तमेनायाः अवि दुःखं जातीहि इति शेषः अतः प्रियदह्यमन प्रति बाधकः अयं अतरः निवारणाम् हृदीविद्ययाम् । पुरा हि स्तानु भो बीजने तस्य वजीरहत्यां धामपमानः शकः "अहं शीघ्रम" इत्युक्त्या अनेन वाचानिङ्गनशान् इति शीरानमिही कथा । आर्षा वृत्तम् ॥३०॥

गर्ज वा वय वा शक्र मुञ्च वा शतशोऽशिनम् ।

न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयित प्रति ॥३१॥

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्पुराः पुरुषाः ।

अपि विद्युत्प्रमदाना त्वमपि च दुरा न जानासि ॥३२॥

बिट्—भवति, अलमलमुपालम्भेन । उपकारिणी तवेयम् ।

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः

शैलस्य मूर्ध्नि निहितैव सिता पताका ।

आसण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-

माख्याति ते प्रियतमस्य हि सनिवेशम् ॥३३॥

वसन्तसेना—भाष, एष्व त ज्ञेय एव गेहम् । [ भाव, एवं तदेवैतद् गेहम् । ]

बिट्—सकलकलाभिज्ञाया न किञ्चिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि रगेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्तव्यः ।

यदि कृप्यसि नास्ति रति-कोपेन विनायवा कृत-मतमः ।

कृप्य च कोपय च त्वं प्रसौद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥

गर्जति । हे-शक्र, गर्ज वर्ष वा शतशः अनेकशः अशनि दय्यं वा मुञ्च । किन्तु बयितं त्रियं प्रति प्रस्थिता गन्तुमुद्यताः स्त्रियः हि न रोद्धुं शक्या । भद्रुष्टुप् कृतम् ॥३१॥

पुनः विद्युत्तमुद्दिश्योपालभते—यदीति । पाव वारिधर जलदः गर्जति तर्हि गर्जेतु नाम यतो हि पुरुषाः निष्पुराः भवन्ति अपि विद्युत् स्वमपि नारी भूत्वापि प्रमत्तानां नारीणां दुःख न जानाति । इति मर्त्य पृष्टम् विद्युदपि दृष्टिग्रहणमोहाभ्या गमनविधेयं करोतीति उपासम्भो । समासोक्तिः । आर्या कृतम् ॥३२॥

विद्युतः उपासम्भ, न मुक्तः । इयं तु तवोपकारिणीति कथयति बिट्—ऐरावतो-

हे इन्द्र चाहे गरजो-या बरसो अथवा सँकड़ों 'बदल छोड़ो (फिर भी) प्रियतम के प्रति प्रस्थान करती हुई स्त्रिया नहीं रोकी जा सकती ॥३१॥

यदि बादल गरजता है तो वह भले गरजे (क्योंकि) पुरुष निपटुर होते हैं । हे विजली कामनियों के दुःख को क्या तुम प्री नहीं जानती हो ? ॥३२॥

बिट—श्रीमती, उपासक से बस करो । यह तुम्हारी उपकारिणी है ।

ऐरावत के वक्ष पर चञ्चल सुवर्ण-रज्जु के समान, पर्वत की चोटी पर स्थापित घबल पताका के सदृश, इन्द्र के घर के अन्दर की दीपिका यह (विद्युत्) तुम्हारे प्रियतम का निवासस्थान बता रही है ॥३३॥

वसन्तसेवा—भाव, ऐसा ही है । यह वही घर है ।

बिट—समस्त कलाओं से परिचित तुम्हें यहाँ कुछ उपदेश देना नहीं है । फिर भी स्नेह बोलने को प्रेरित कर रहा है । यहाँ प्रवेग करके (तुम्हें) तनिक भी कोप नहीं करना चाहिए ।

यदि कोप करती हो तो (ममता) प्रेम नहीं है, अथवा कोप के बिना रतिमुल कहाँ ? (स्वयं) कुपित होकर (प्रिय को) कुपित करो, (स्वयं) प्रसन्न हो और प्रिय को प्रसन्न करो ॥३४॥

रतीति । यतः हि ऐरावतस्य इन्द्रगजस्य उरसि वशास्पते घना चञ्चला सुवर्गस्य रज्जुः इव, शंसस्य पर्वतस्य मूर्ध्नि गिलखरे निहिता स्थापिता सिता श्वेता पताका इव क्षातच्छतस्य इन्द्रस्य भवनोदरस्य प्रासादमम्बुपागस्य बोधिषा इव इयं विद्युत् ते तव प्रियतमस्य चारदत्तस्य सन्निवेशं दृष्टुम् भाष्यति प्रकथयति दर्शयति च । उत्प्रेक्षान-  
शुचः । वसन्तविनका वृत्तम् ॥३३॥

परीति । यदि त्वं स्वप्रियस्य समीपे कुप्यसि कुपिता एव स्यास्यसि तर्हि रतिः अनुरागः नास्ति अथवा कोपेन रोदेण विना कामः रतिमुल्लं कुतः ? न अथदेव इति भावः 'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिश्चतुडे' —इति बिन्दुकोटः । अतः त्वं कुप्य स्वयं कुपिता भव स्वप्रियं च कोपय त्वं स्वयं प्रसीद प्रसन्ना भव कान्तं च स्वप्रियं च क्षातदय प्रसन्नं दृष्टुम् । भाषा वृत्तम् ॥३४॥

भवतु । एवं तावत् । भो भो, निवेद्यताभायचारुदत्ताय ।

एषा फुल्लकदम्बनीपगुरंभो काले घनोद्भासिते

कान्तस्थालयमागता समदना हृष्टा जलाद्भालका ।

विद्युद्धारिदगर्जितै सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी

पादो नूपुरलग्नकदंमधरो प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥

आश्चर्यम्—(आकर्ष्यं) ययस्य, ज्ञायता मिमेतदिति ।

विदूषक—अ भाव शाण्वेदि । (दसन्तसेनामुपगम्य । सादरम्) शोचिष भो

भोए [यदभयानाशापयति । स्वस्ति भयत्यै ।]

कान्तसेना—अञ्ज, अञ्जामि । ताभव अञ्जस्त । ( विट प्रति) भाव, एषा

घतरथारिभा भावस्त ङ्जेव, भोवु । [आय यन्दे । स्वागतमायंस्य । भाव एषा  
छत्रधारिका भावस्यैव भवतु ।]

विट—(स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुण श्रेयितोऽस्मि । (प्रकाशम्) एवं  
भवतु । भवति वसन्तसेने,

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमे

साठ्यात्मकस्य रतिकेलिवृत्तालयस्य

वैश्यापणस्य सुरतोत्सवसग्रहस्य

दाक्षिण्यपयसुलनिष्प्रयसिद्धिरस्तु ॥३६॥

(इति निष्प्राप्तो विट )

वसन्तसेना—अञ्ज मिसोभ, इहि सुहाणं जूविअरी । [आयं मंश्रेय धुमं  
पुष्पाङ्कं द्यूतकर ।

विदूषक—(स्वगतम्) ह्रीं ह्रीं भो, जूदिअरी ति भणन्तीए अलविदो विअव-  
दस्तो । (प्रकाशम्) भोरि, एसो वणु शुक्कदणतवाविभाए । [आश्चर्यं भो द्यूतकर  
इति भणन्त्यालङ्कृत प्रियवयस्य । भवति, एष सत्तु शुभ्वृक्षावाटिकायाम् ।]

वाटदत्ता वसन्तसेनायाः आशमनं गूषयितुं विट वचयति—एवेति । फुल्लानि  
त्रिकसितानि कदम्बानि कदम्बनामकपुष्पाणि यपु तं भोयं कदम्बनूरीं गुरभो गुण-  
न्यते घनं मेयं उद्भासिते शोभिते च काले तामदना वामयुता हृष्टा प्रसन्ना ।  
घनेन भार्वा अलका वेणा यस्या सा विद्युद्भि कारिदाभां गर्जितं, च सचकिता  
भीता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी तव आश्चर्यस्य दर्शान् भावाद्वाति इति सा कान्तस्य

बक्या । ऐसा ही । अरे, अरे आर्यं धारदत्त ने निवेदन करो—

प्रदुल्लिख्य कदम्ब-मुच्युक्त नीप वृक्ष से सुसुमित तथा बादलों से शोभित सम्य में कामयुक्त तथा प्रमत्त जन से गीले केशों वाली, विद्युत् एवं अतरज्वल से भयभीत सुन्दारे वसन की कामता करने वाली प्रिय के घर आयी यह (वसन्तसेना) नूपुर में लगी हुई बीचड की धारण करने वाले पैरों को घोंटी हुई (द्वार पर) स्थित है ॥२५॥

धारदत्त—(सुनकर) मित्र, मासूम करो यह क्या है ?

विद्युत्—जो आर्य वाक्ता करते हैं । (वसन्तसेना के पास जाकर, आदर-पूर्वक) आपका क्याण हो ।

वसन्तसेना—आर्यं वन्दना करती हूँ । आर्यं का स्वागत है । (विट के प्रति) धाव, यह लगभगारिणी आपकी (आर्यके साथ) ही होवे ।

विट—(अपने आर्य) इन वचन से निपुणतापूर्वक भेज दिया गया है (प्रकट रूप में) ऐसा ही ही । सुश्री वसन्तसेने—

जो दम्भमद्विज माना; ऋषट तथा अस्त्य का जन्म स्थान है, घूर्णता ही विमका मार (आर्य) है, रतिश्रीडा ने विमकी वाधन बताया है, जहाँ रमण के मुख का संकट है, ऐसे वेत्याहनी बाजार (या वेत्या ध्वजार) की उदारतारुनी विज्ञेय वस्तु (पद्म) के द्वारा ही मूच्य निदि होवे ॥२६॥

(विट निकल जाता है)

वसन्तसेना—आर्यं मंथेय, आर्यके पुजारी (धारदत्त) वहाँ हैं ?

विद्युत्—(अपने आर्य) अरे ! आर्यवं ! 'पुजारी यह कहती हुई (वेत्या) ने प्रिय मित्र को आह्वयित कर दिया (प्रकट रूप में) जो, यह मूने वृक्षों वाली घाटिका में है ।

विद्युत् आर्यत्वं गृह्य मातवा एषा वसन्तसेना नूपुरयोः सानः कर्मनः नूपुरसमकर्मनः सं धारिण इति नूपुरसमकर्मनश्च तौ पारी वरनी प्रजासम्पत्नी स्थिता—इति आर्य-धारदत्ताय निवेद्यताम् । सादृशविद्योतिनं वृत्तम् ॥२३॥

इहं प्रति निवेदनतः-विद्युत् वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—आर्योनेति । आर्योः राज्ञः तेष सहितं आर्योर् वृष्ट माना कर्मनं सानम् मनुष्य विद्यासम्पत्तं (निल्लवदास्य-धेनाम् वृष्टास्यवोर्भेदः इति सूचीकरः) एषां वसन्तसेने, सादृश्यं घूर्णता आर्यानां श्राट् सान्य सान्य रतिनेविमि. सुल्लोरीशमि. इत्यासन्त्य इत्यासन्त्य, सरदमेव उत्तमः सुर-लोचकः सान्य सान्यः सान्यः सान्य तथासूत्रस्य वेत्यासन्त्य वेत्यासन्त्यद्वारस्य, सासिन्त्य-मेव सान्य विद्युत्सम्पत्तं तन्मूनेय दासिन्त्यासन्त्युमेव मोक्षमेवविद्युत्सद्वारेण विद्युत्-निदि विद्युत्कः मूच्य (दासिन्त्यासन्त्युमेव विद्युत्सो मूच्य इति सूचीकरः) सान्य विदिः प्रकतिः सारस्य वा अस्तु । दासिन्त्यासन्त्युमेव वेत्यासन्त्यद्वारो मय्यु इति भागः 'वसन्त-सेनाया वृत्तम् ।



वसन्तसेना—अज्ज, का सुग्हाण पुत्तवत्तसल्लःडिआ वुच्चदि । आयं, का युष्माकं शुष्कं वृक्षवाटिकोच्यते । ]

विदूषकः—भोदि, जहि ण खाईअदि । ण पोईअदि । 'भवान्त, यत्र न खाद्यते । न पीयते ।]

(वसन्तसेना स्मित करोति ।)

विदूषकः—सा पविसतु भोदी । [तस्मात्प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ कि मए भणितव्वम् । [अत्र प्रविश्य कि मया भणितव्यम् ।]

चेटी—जूदिअर, अदि सुहो दे पदोसो ति । [छूतकर, अपि सुरास्ते प्रदोष इति ।]

वसन्तसेना—भाव पारइस्सम् ? [अपि पारयिप्पामि ।]

चेटी—अयत्तरो ज्जेव पारइस्सदि । अवसर एव पारपिप्पि ।]

विदूषक—पविसतु भोदी । [प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(प्रविश्योपसृत्य च । पुष्पंस्तारयन्ति) अइ जूदिअर, अदि सुहो दे पदोसो । [अयि छूतकर, अपि सुखस्ते प्रदोष ।]

आवसत्—(अवलोक्य च) अये, वसन्तसेना प्राप्ता । (सहसंमुत्पद्यते) अयि प्रिये,

सदा प्रदोषो मम याति जाप्रतः

सदा च मे निःश्वसतो गता निशा।

त्वया समेतस्य विशाललोचने

ममाद्य शोकान्ताकरः प्रदोषकः ॥३७॥

तस्त्वागत भवत्यै । इदमासनम् । अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषक—इहं आसनम् । उपविसतु भोदी । [इदमासनम् । उपविशतु भवती ।]

(वसन्तसेनासीमा । ततः सर्वं उपविशन्ति)

आवसत्—आसत्, पश्य, पश्य ।

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तयिलम्बिना फदम्बेन ।

एक. स्तनोर्भ्रमिपित्तो नृपमुत्त इव यौवराज्यस्य ॥३८॥

अपि प्रश्ने । 'पारयिप्पामि संमर्षा भविप्पामि ।

'अपि सुखस्ते प्रदोष.' इति वसन्तसेनया पृष्ट. पारइस्स इति पद्यति—सरेति

बसन्तमेना—बासं, ज्ञान सोपों के मूत्रे हुए दृष्टों वापी बटिका कौनसों कहुनाती है ।

विदूषक—जी, जहाँ न माया जाता है, न पीया जाता है ।

(बसन्तमेना मुन्करानी है)

विदूषक—तो आप प्रवेग कौजिने ।

बसन्तमेना—(अवग से) यहाँ प्रवेग करके मुझे क्या कहना चाहिये ?

चेटी—(यह कि) दूनकर आपका प्रदोपकान तो मुलकर है ?

बसन्तमेना—(कहने में) समर्प भी हो सकू यो ?

चेटी—अवनर ही समर्प कर देना ।

विदूषक—आप प्रवेग कौजिने ।

बसन्तमेना—(प्रवेग करके और समीन जाकर । पुण्या से ठारना कस्ती हुई) हे दूनकर, आपका प्रदोपकान तो मुलकर है ?

चारदत्त—(दिनकर) अरे बसन्तमेना आ गई । (प्रमलतापूर्वक सटकर) हे निन, मेरा प्रदोप (राशि का धन पत्र) मया जायते हुए बीटना है तथा मेरी राशि निगमान मेते हुए बीटती है । हे विगानमेने, तुम्हारे साथ निचन प्रान्त करने वाला मेरा प्रदोप आज दुःख का बन्ध करने वाला है ॥३॥

तो आपका स्वागत है । यह कामन है । यहाँ बँठिये ।

विदूषक—यह कामन है । थोनती जो बँठिये ।

(बसन्तमेना बँठ जाती है । तलखार् मय बँठ जाते हैं)

चारदत्त—निन, देवो, देवो—

वर्षों के जब को निराते हुए जान के छोर पर लटकते हुए, कस्म ने मुखार पद पर बैठे हुए राजकुमार के समान एक स्तन अभिविद्ध कर दिया ॥३॥

जिने, मया जायतः अन्तरमं कुर्वतः एव मय चारदत्तस्य प्रदोपः निगानः प्रथम भागः कति । मया च निगानकः तत्र विरहाद् दीर्घं इत्यतः एव मे मयं निता राशिः मया कस्तेकः मयति । हे विगानमेने मेते दीर्घमेने, अहं तेना बसन्तमेना समेतस्य निविदस्य मय प्रदोपकः प्रान्तः प्रदोपः मोक्षस्य बन्धकः नायकः जातः । अर्धं निता मुखारी जयति अहः । बंधस्यं हृत् ॥३॥

बसन्तमेने विद्वि बसन्तमेना विनोचन चारदत्तः कयति—बसन्तमेनि बसन्तमेनि इति विद्विना पाठना यवमाने विनोचते इति बसन्तमेनिमयी (निन) तेन कस्मेने कस्महुमेने बसन्तमेनाः एकः स्तनः मोक्षारथकः मुखारपदे निनः मुखः राजकुः इव अभिविद्धः कृतः इति भाः । उरमानसुः । बासं हृत् ॥३॥

तद्वयस्य, विलम्बो वाससी वसन्तसेनाया । अन्ये प्रधानवारसो समुप-  
नीयेतामिति ।

विदूषक — जं भव आणवेदि । [यद्भवानाज्ञापयति ।]

चेटी—अज्ज मित्तेअ चिट्ठ तुमम् । अह ज्जेव अज्जअ सुसुत्तइस्सम् । आर्यं  
मैत्रेय, तिष्ठ त्वम् । अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि ।] (तथा करोति ।)

विदूषक — (अपवारितवेन ।) भो अस्स, पुच्छामि दाव तस्य भोदि किं पि  
[भो वयस्य, पृच्छामि तावत्तत्र भवती किमपि ।]

आश्वत्थ — एवं क्रियताम् ।

विदूषक — (प्रकाशम् ।) अद्य किनिमित्त उण ईदित्ते पणट्टघन्वालोए बुद्धिण-  
अण्णआरे आअवा भोदि । [अथ किनिमित्त पुनरीहणे प्रनष्टचन्द्रलोके दुर्दिना-  
न्धकार आगता भवती ।]

चेटी—अज्जए, उजओ बग्गहणो । [आर्यं, ऋजुवो ब्राह्मण ।]

वसन्तसेना—ण णिउणेति मणाहि । [ननु निपुण इति भण ।]

चेटी—एता वत्तु अज्जआ एव्व पुच्छिदु आअदा—केत्तिअ ताए रअणावतीए  
मुल्ल' ति । [एषा खल्वार्या एव प्रष्टमागता—'कियत्तम्या रत्तावल्या मूल्यम्'  
इति ।]

विदूषक — (जनान्तिकम् ।) भो, मणिद मए, जघा अप्पमुल्लारअणावली  
बहुमुल्ल सुवण्णमण्डअम् । ण परित्तुट्ठा । अवर मणिदु' आअदा । [भो, भणित  
मया, यथाल्पमूल्या रत्तावली, बहुमूल्य सुवर्णभाण्डकम् । न परित्तुष्टा । अपर  
याचितुमागता ।]

चेटी—एता वत्तु अज्जआए अत्तण्णकेरकेत्ति मणिअ जडे हारिदा । सो अ रह्हिओ  
राअवात्तपहाड्डी ण जाणीअदि कट्ठि गढो ति । [सा खल्वार्याया आत्मोयेति भणित्वा  
युते हारिता । स च सभिवो राजवार्ताहारी न ज्ञायते युत्र गत इति ।]

विदूषक — भोदि मन्तिव ज्जेव मन्तीअदि । [भवति, मन्त्रितमेव मन्त्रयते ।]

चेटी—जाव सो अण्णेत्तीअदि ताव एव ज्जेव गेण्ह सुवण्णमण्डअम् । [याव-  
त्सोऽन्विष्यते तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डकम् ।] (इति दशयति)

(विदूषको विचारयति)

चेटी—अदिचेत्त अज्जओ णिज्जादि । ता किं विट्ठिपुएव्व वे । [अतिमात्र-  
मार्यो निष्वायति । तत्किं हृष्टपूर्वं ते ।]

विदूषक — भोदि, तिप्पकुत्तसवाए ओवन्धेदि विट्ठम् । [भवति, शिल्प-  
कुशलतयावबध्नाति दृष्टिम् ।]

चेटी—अज्ज, वच्चिओत्ति विट्ठोए । त ज्जेव एव सुवण्णमण्डअम् । [आर्यं,  
वच्चितोऽसि दृष्टया । तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम् ।]

तो नित्र, वसन्तमेना के वस्त्र मँग गये हैं । अन्य थोड़े दो वस्त्र ले जाओ ।

विदूषक—जो आप जाता करते हैं ।

बेटी—आपें मंत्रेय, तुम टहरो । मैं ही आपों की सेवा करूँगी (बैठा करती है)

विदूषक—(अलग हटकर) हे नित्र, तब श्रीमती जी से कुछ पूछता हूँ ।

चान्दल—ऐसा ही करो ।

विदूषक—(प्रकट रूप में) चन्द्रमा के प्रकाश से हीन ऐसे दुर्दिन में भला आप क्यों आई हैं ?

बेटी—आपें ब्राह्मण सीधा है ।

वसन्तमेना—नहीं 'निपुन' यह कहो ।

बेटी—यह आपों बाम्बव में यह पूछने आई हैं—उस रत्नावती का कितना मूल्य है ?

विदूषक—(अलग से) वरे, मैंने बहूँ दिना कि रत्नावती अल्प मूल्य की है, स्वर्ग-भात्र बहुमूल्य है, सन्मुख नहीं हुई, अत्रः और माँगने आई हैं ।

बेटी—वह आपों ने अपनी बहका (समझकर) पुण में हण दी । राजा का मन्देश मे जाने वाला वह दूताभ्यक्ष पता नहीं, कर्तुं क्या ?

विदूषक—श्रीमती जी, (मेरे द्वारा) कहा हुआ ही कहा जा रहा है ।

बेटी—यह तब वह बूँडा जाता है तब तक इस स्वर्ग-भात्र को ही इक्षण सीबिदे ।

(रिस्तानी है ।)

(विदूषक विचार करता है)

बेटी—आपें बहुत अधिक (ध्यान से) देण रहे हैं । तो क्या तुम्हारा पहने देगा हुआ है ।

विदूषक—जरी, गिन्न को कुणालता के कारण (यह पात्र) दृष्टि को आकर्षित कर रहा है ।

बेटी—आपें, (आपकी) अगियों ने योग्य दिया है । यह वही स्वर्ग-भात्र है ।

विन्ने आने जाने । प्रजापतिवत्समी मुने उन्मुख्ये वा द्वे वस्त्रे । प्रत्यः चन्द्रम्य आनीरः रन्दिन् ताहणे दुर्दिनस्य मेघाद्यन्तदिकमस्य अन्धकारे । ऋषुकः सरतः ।

निजानन्ति पश्यति । गिन्नपुत्रात्तया रत्नावतीनेन । अथवप्राति आकर्षति

विदूषक—(सहर्षम् ।) भो वयस्स, त ज्जेव एदसुवण्णमण्डमम्, ज् वग्गहोण  
गेहे चोरेह भयहिवम् । [भो वयस्य, तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम्, यदस्माकं गृहे  
चोरैरपहृतम् ।]

चावत्त—वयस्य ।

योऽस्माग्निचिन्तितो व्याज कतुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।

स एव प्रस्तुतोऽस्माकं कितु सत्यं विडम्बना ॥३६॥

विदूषक.—भो वयस्स, सच्च सय्यमि वग्गहणेण । [भो वयस्य, सत्यं मापे  
ग्राह्यप्येन ।]

चावत्त—प्रिय नः प्रियम् ।

विदूषक—(जनान्तिकम् ।) भो, पुच्छामि णं कुदो एद समासादिदं ति ।

[भोः, पृच्छामि ननु कुत इदं समासादितमिति ।]

चावत्त—को दोष ।

विदूषकः—(चेट्ठा कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

चेट्ठी—(विदूषकस्य कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

चावत्त—किमिदं कथ्यते । किं वयं बाह्यः ।

विदूषक—(चावत्तस्य कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

चावत्तः—भद्रे, सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ।

चेट्ठी—अज्ज अय इ । [आर्यं अयं किम् ।]

चावत्त—भद्रे, न कदाचित्प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया तद्गृह्यतां  
पारितोषिकमिदमङ्गुलीयकम् । (इत्यनङ्गुलीयकं हस्तमवलोक्य सज्जा नाटयति ।)

वसन्तसेना—(आत्मगतम् ।) अदो ज्जेव कामोअसि । [अतएव काम्यसे ।]

चावत्त—(जनान्तिकम् ।) भो कष्टम् ।

घनैर्विमुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत् ।

यस्य प्रतीकारनिरयं कत्वात्कोपप्रसादा विफलो भवन्ति ॥ ३७ ॥

तदेव चोरेणापहृतं सुवर्णपात्रं वसन्तसेनायाः नीतं दृष्ट्वा चावत्तः वयस्यति—  
य इति । न्यासस्य न्यासीकृतस्य सुवर्णभाण्डस्य प्रतिक्रियां कर्तुं अस्माभिः यं व्याजः  
अपदेशः अत्र प्रयोगः चिन्तितं विचारितं स एव व्याजः अस्माकम् अस्मान् प्रति अस्तुतः  
आरुण्यः । किन्तु इदं सत्यम् तदेव सुवर्णभाण्डम् इदम् अपवा विडम्बना प्रतारणा ?  
इति न निश्चयीयते ॥ ३६ ॥

ग्राह्यप्येन ग्राह्यत्वेन, ग्राह्यणस्य भावः वयं वा, इत्यर्थे व्याजः प्रत्ययः ।

विद्वान्—(अनलताज्ज्वलक) हे मित्र, यह वही स्वर्गनाथ है, जो हमारे घर में लोगों ने बुला लिया था ।

बादलत—मित्र,

छोहर को सोचने के लिए जो बहाना हमने सोचा वही हम पर प्रयोग किया जा रहा है । किन्तु क्या है अपना विद्वान्ता ? ॥२६॥

विद्वान्—हे मित्र, शास्त्रात्मक की धर्म सजाता है 'सत्य है ।

बादलत—मित्र ? हमारा मित्र !

विद्वान्—(अपने से) क्यों जो लौकिक धर्म पछाड़ा है, यह कहाँ से मित्र ?

बादलत—क्या बुराई है ?

विद्वान्—(बेटी के कान में) ऐसा ही है ?

बेटी—(विद्वान् के कान में) ऐसा ही है ।

बादलत—यह क्या कहा जा रहा है ? हम क्या बाहरी (शक्ति) है ।

विद्वान्—(बादलत के कान में) ऐसा ही है ।

बादलत—भद्रे, सचमुच यह वही स्वर्गनाथ है ?

बेटी—बाने, और क्या ?

बादलत—भद्रे, मैंने मित्र-निवेदन (मित्र समाचार कथन) की कभी किन्तु नहीं किया तो यह अजूजी पुरस्कार में लो । (बिना अजूजी वाले हाथ को देखकर सच्चा का अभिनय करता है ।)

बनलदेता—(अपने भाव) इसी लिए (आपकी) कामना की जाती है ।

बादलत—(अपने भाव) जरे कष्ट है ।

संसार में अनहीन पुण्य के जीवन से यदि के ही क्या लाभ है ? इसके प्रति-दिना करने में अनमन्य होने के कारण जोष और प्रसन्नता (दोनों) पहले से ही निन्द्य होते हैं ॥४०॥

समाचारिणं प्रान्तम् । मित्रनिवेदनं निरुपपन्नं न निन्द्यतीहृतं यः प्रियं निवेदयति तस्मै  
कारिणोर्विकल्पकान्धेयं दद्यातीति भावः । अत्रैव अस्मात् समाप्तोपादेयम् ।

अनुपनीतकृत्यं स्वहस्तनयनेन कारिणोर्विकं शास्त्रात्मकं बादलतः विद्वान्  
कथयति—अतीति । लोके संसारे धर्मः विद्वान्मय प्रेतेन हीनस्य ब्रह्मण्य भाग्यमयः  
एव ज्ञानिनेन कि ? न कोऽपि भावः कृत्यः । कुत्र इत्याह—अपीकारे इति किनाकारणे  
निवेदकस्मात् अमनस्यत्वात् सत्य कोऽप्यपारा बोधाः प्रकाशय विद्वान्मयनि निन्द्यताः  
कथयते । यथा सा कुपयति तदा न इति कृत्यं असतीति, यथा च कतिपयति न तथा  
पुरस्कारं असतीति अत्रः तस्य कोऽप्यपारा बोधाः संदर्भमिति भावः । कारिणोर्विकल्पं अस्तु-  
प्रदं वा च । उदयातिः इत्यम् ॥४०॥

अपि च ।

पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरु सरश्च जलहीनम् ।

संपश्चोद्धृतदष्टस्तुत्यं लोके दरिद्रश्च ॥४१॥

अपि च—

शून्यं गृहं है सलु समाः पुरुषा दारद्रा

रूपैश्च तोयरहितैस्तर्हभिरश्च शीर्षैः ।

यद्दृष्टपूर्वजनसगभविस्मृताना-

मेवं भवन्ति विफला परितोषकालाः ॥४२॥

विदूषक — भो अस्त अदि मेत्त सतल्पिदेण । (प्रकाश सपरिहासम्) मोदि, समप्योभ्रु ममकेरिआ ष्टाण्णम्मिण्ण । [भो, अलमतिमात्र संतापितेन । भवति, समर्पिता मम स्नानशाटिका ।

वसन्तसेना—अञ्ज वारवत्त, जुत्त षेद इमाए रअणावतीए इम जन तुल-  
शुम् । [आर्यं चारुदत्त, मुक्तं नेदमनया रत्नावल्या इम जन तुलयितुम् ।]

वारवत्तः—(सवितशस्मितम्) वसन्तसेने, पर्य पश्य ।

कः श्रद्धास्यति भूतार्यं सर्वो मां तूलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि त्रीकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥४३॥

विदूषकः—हञ्जे, कि मोदीए इय ज्जेइ सुविदेष्वम् । [चेटि, कि भवत्या इहैव स्वप्तव्यम् ।]

षेटो—(विहस्य) अञ्ज मत्तअ अदिमेत्तं दाणि ज्जुअ अत्ताणअ इसेति । [आर्यं मंत्रेय, अतिमात्रमिदानीमृजुमात्मान दशयसि ।]

विदूषक — भो वमस्य एसो श्लु ओसारअन्तो विअ सुहोवविठ जनं पुणोवि  
विस्वारिवारिघाराहि पविटठो पञ्जणो । [भो वयस्य, एष सत्वपसारयन्निय  
सुप्तोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारिघाराभि प्रविष्टं पञ्चन्य ।]

पक्षेति । पक्षाम्यां विकलः पक्षविहीनः पक्षी शुष्कः च तरु वृक्षः जलेन हीनः  
दून्यः च तरु सरोवरः उद्धृता वृष्ट्या यस्य तपामृतं, संपः च बटिका निर्धनरथापि एतद्  
सदं लोके तुल्यं समानमेव । मासोपमा । आर्यां दत्तम् ॥४१॥

शून्यरिति । बटिका पुरुषाः सलु नान्यथेन शून्यः निर्जनः गृहं, तोयरहितं  
असविहीनं रूपं एवं शीर्षं शून्यं तर्हभिर, वृक्षं च समा तुल्याः भवन्ति यद् यत्  
दृष्टपूर्वज्ञ पूर्वपरिविदस्य जनस्य ज्ञानेन मिलनेन विस्मृतानां विस्मृतस्वदेन्यानां

बौर मां—

पंजरहित पत्नी और सूत्रा वृष, जलरहित तालाब तथा दाड़ उखाड़ा हुआ सपं एवं दंष्ट्र (ये सब) समार में समान हैं ॥४१॥

बौर श्री—

वस्तुतः दंष्ट्र मनुष्य मूत्रे शरीरं, जलरहित कुत्रो तथा शुष्क वृषा कं समानुं हैं शरीरक पहने देखे हुए जत्रों के निमत से (अपनी दंष्ट्रावस्था को) झूल जाने वाले (निर्धन) लोगों के मन्दीर के अवसर इस प्रकार निष्फल हो जाते हैं ॥४२॥

विद्वयक—अरे अधिक संतान के बन्ध करो । (प्रकट रूप में परिहासपूर्वक) शीतलो जी, मंत्री नहाने की छोटों के दोबारे ।

बमलसेना—आपें चाइइत इस जन को (मन्त्री) इस रत्नावली के शीतला उचित नहीं है ।

चाइइत—(सज्जापूर्वक मुकुराकर) बमलसेना, देखो देखो, वास्तविकता पर कौन विचारन करेता ? सब मुझे हन्का (तुल्य) अपराधी) समझने । इस मुहार में शीतल-विहीन निर्धनता निमित्त रूप के शब्दों के योग्य होती है ॥४३॥

विद्वयक—चेटि, क्या आरती यहीं सीमा है ?

चेटी—(हंसकर) आपें मंत्रेण, इस समय अपने को अत्यन्त सीधा प्रदर्शित कर रहे हो ।

विद्वयक—हे निम, तुम के जिं हूँ जत्रों को ज्ञाना वृषान ... एतं जनन को देखि करतें वाला यह भारत मंत्री जनशरारतों के (मुक्त हास्य) निम का परा है ।

निर्धनाना परिशोबहाताः शारितोविह्वलनयाः एवम् अनेन प्रहारेण विह्वलाः निष्कलाः भवन्ति । उच्यते, अस्मन्नुच्यते च । बमलसेना वृत्तम् ... ४२॥

तुनचित्तं परीक्षितुं 'तुल्यचित्तुम्' इति वाङ्मे तपुहृत्तम् । च इति । पूर्वं व्याख्यातः (कट्ट ३-२४) ॥४३॥

अन्यथाप्यन्तु दुरोहवन्तु आन्तःप्रविष्टान् प्रेषन्तु इति मद्धंतः । कुचेन जन-विह्वलम् । विशारिताभिः विद्वयकः शारितोराभिः जनशरारतिः प्रविष्टः समागतः ।



घारुदत्त.—सम्यगाह भवान् ।

अंमूहि भित्वा जलदान्तराणिव पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।

पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥४५॥

अपि च—

धाराभिरायंजनचित्तमुनिर्मलाभि-

श्चण्डाभिरजुंनशरप्रतिकर्कशाभिः ।

मेघा स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशा-

शक्रस्य मौक्तिकनिघानमिवोद्गिरन्तः ॥४६॥

प्रिये, पश्य पश्य—

एतैः पिष्टतमासवर्णकनिर्भैरालिप्तमम्भोधरैः

ससवतैरुपवेजित सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।

एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता

रक्ता कान्त्रभिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिङ्गति ॥४६॥

(वसन्तसेना मृङ्गारभावं नाटयन्ती घारुदत्तमालिङ्गति ।)

घारुदत्तः—(स्पर्शं नाटयन्प्रत्यालिङ्ग्य ।)

घारुदत्तः वृष्टिधारा वर्णदानाह—अमूर्होति । हिनिश्चयेन अमूः पुरो दृश्यमानां वारिधारां मृणालस्य कमलनालस्य सूच्य अङ्कुरा पङ्कान्तराणि पङ्कस्य अन्तर्भागान् इव बलदेवस्य अन्तराणि भित्वा विहाय (प्रियस्य) चन्द्रस्य व्यसनात् जलदावरणरूपात् सङ्घटात् मरणाद्वा विमुक्ता पतिता दिवः क्षुप्तोकस्य (नायिकारूपस्य) अश्रुधारा इव पतन्ति इत्युत्प्रेक्षा समासोक्तिवच चन्द्रे नायकम्पापारस्य दिवि च नायिकाम्पापारस्य सवारोपात् । उपजातिः वृत्तम् ॥ ४॥

धाराभिरिति । बलदेवस्य पटवन् प्रकारान्ते इति ते बलरामवस्त्रवत् नीताः मेघा भार्यजनस्य श्वेदजनस्य चित्तवत् मुनिपंलाभिः अजुंनस्य शरवत् बाणवत् मौक्तिकंशाभिः कुटोरभिः चण्डभिः शीघाभिः धाराभिः शक्रस्य इन्द्रस्य

चाशदत्त—आपने ठीक कहा—

कोचड़ को भेद कर निकले हुए मृगाल के बड़कुर के समान बादलो के उदर को चीर कर ये जल धाराएँ (प्रिय) चन्द्रमा के (आच्छादन रूप) सङ्कट के कारण निकली हुईं जो (रूपी नायिका) की अश्रुधाराओं के समान गिर रही हैं ॥४५॥  
और भी—

बलराम के वस्त्रों के तुल्य (नील) आभा वाले बादल आयं जन के अन्तःकरण के तुल्य स्वच्छ, अर्जुन के तीर के सदृश कठोर एवं तीव्र धाराओं के द्वारा मानों इन्द्र के मुक्ता कोप को विखराते हुए झर रहे हैं ॥४५॥

प्रिये, देखो देखो—

बादल के ममागम को अभिलाषिणी (पक्ष में, बादल के उमड़ने के कारण से अभिलाषिणी) स्वच्छन्दता से आई हुई, रक्त (अनुरक्त एवं रक्तवर्ण वाली) यह प्रियतमा के समान विद्युत् पिते हुए तमाज के रंग जैसे बादलों से अनुनिप्त (आच्छन्न), निरन्तर बहने वाली (ससक्त), सुगन्धित एवं शीतल प्रदोष की वायु से पंखा किये जाते हुए प्रियतम सदृश आकाश का आलिङ्गन कर रही है ॥४६॥

(वसन्तसेना शृङ्गारभाव का अभिनय करती हुई चाशदत्त का आलिङ्गन करती है)

चाशदत्त—(स्पर्श का अभिनय करते हुए प्रत्यालिङ्गन करके)—

भौक्तिकनिघानं मुक्तानां निधिम् उद्दिगरन्तः विकिरन्तः इव क्षवन्ति क्वन्ति ।  
उपमा, उत्प्रेक्षा च । वनन्ततिनका वृत्तम् ॥४५॥

चाशदत्तो विद्युता मंगुक्तमम्बरं विलोचय वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—एतंरिति ।  
अम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दम् अभ्यागता रक्ता प्रियतमा इव एषा विद्युत् एतं  
निष्ठतमातवर्णकनिभैः अम्भोधरैः आलिप्तम्, संसक्तैः सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानितैः  
उपवीजितं च कान्तम् इव अम्बरं समालिङ्गति—इत्यन्वयः ।

अम्भोदस्य समागमे (टि०) प्रणयिनी (नायिकापक्षे तु—अम्भोदस्य समागमात्  
प्रणयिनी अभिलाषिणी) स्वच्छन्दम् स्वेच्छया अभ्यागता रक्ता रक्तवर्णा  
(अनुरक्ता च) प्रियतमा नायिका इव एषा विद्युत् एतैः दृश्यमानैः पिष्टं यत् तमाज-  
वर्णं तमाजपेनविशेषतः तन्निभैः तत्सदृशैः नीलैः अम्भोधरैः केषैः आलिप्तं (पक्षे—  
अङ्गरागैः अनुनिप्तम्) संसक्तैः निरन्तरैः सुरभिभिः सुगन्धिभिः शीतैः प्रदोषानितैः  
प्रदोषवानिपपवनैः (पक्षे—शीतसमुत्पन्नैः पवनैः) उपवीजितं वृत्तभ्यवनम् इव  
कान्तं प्रियतमम् इव अम्बरम् आकाश समालिङ्गति । उपमा समासोक्तिश्च आशुतो  
नायकव्यापारस्य विद्युति च नायिकाव्यापारस्य समारोपात् । चादूर्सविहीर्य  
एतम् ॥४६॥

भो मेघ गम्भीरतर नद त्व तव प्रसादात्स्मरपीडितं मे ।

सस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥१७॥

विदूषक—बासीए पुल दुदिन अणज्जे घाणि ति तुमम् जं, अत्तेमोरि, विग्गु वाए भाअवेति । {दास्या पुल दुदिन, अनाय इदानीमसि त्वम् यदनमद्वीतो विद्युता भीषयसि ।}

शास्त्र—वयस्य, नार्हस्युपालब्धुम् ।

वर्षशतमस्तु दुदिनमविरतधार शतह्रदा स्फुरत्तु ।

अस्मद्विघदुलभया यदहं प्रियया परिष्वक्त ॥४८॥

अपि च । वयस्य

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनोना गृहमागतानाम् ।

मात्राणि मेघोदकसीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥४९॥

प्रिय वसन्तसेने

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसचगान्त

शीणत्वात्कथमपि धार्यते वितानम् ।

एषा च स्फुटितसुध्राद्रवानुलेपात्

मकिलन्ना सलिलभरेण चित्रभित्ति ॥५०॥

भो इति । भो मेघ, त्व गम्भीरतरम् नद गत्र । तव मेघस्य प्रसाराद् अनुपहाव स्मरपीडित-कामपीडित मे मम गात्र शरीर (वसन्तसेनाया ) सस्पर्शरोमाञ्चित जात उत्पन्न राग अभिलाष-मस्मिन् शापुष च सत् कदम्बपुष्पत्व कदम्बपुष्पसादृश्यम् उपैति प्राप्नोति । बाष्पातिङ्गं निदशनां चालङ्कारो । उपजाति वृत्तम् ॥४७॥

वसन्तसेनासमागम स्वसोभाशयमिव मयमान चादरत वयसति-वयसतमिति । अविरता अविच्छिन्ना पारु मस्मिन् तथाभूत बुद्धिनि मेघाच्छन्नदिनं वर्षाणां शत वर्षशतम् अस्तु भवतु शतह्रदा विद्युत् च स्फुरत्तु यत् यस्मात् कारणात् अहं चादरत अस्मद्विघातां मादृशानां दरिद्राणां दुःसम्भया लज्जाम अतश्च यदा प्रियया वसन्तसेनया परिष्वक्त आतिङ्गित । आर्था वृत्तम् ॥४८॥

अभ्यापीति । तेषां जन्तानां जीवितानि जीवनानि धन्यानि तस्य निरुपयन

हे बादल, तुम और अधिक गम्भीर गर्जन करो, तुम्हारी कृपा से काम से पीड़ित मेरा शरीर (वसन्तसेना के) स्पर्श से रोमाञ्चित एवं रागयुक्त होकर कदम्ब पुष्प के सदृश हो रहा है ॥४७॥

विदूषक—राज्ञी के पुत्र दुर्दिन तुम बड़े अशिष्ट हो जो इस समय इन श्रीमती जी को विजली से डरा रहे हो ।

चारदत्त—मित्र, (दुर्दिन को) उपाजम्भ देना उचित नहीं । सतत (वृष्टि) धारावाला दुर्दिन सौ वर्ष तक रहे, विजली (शतहृदा) चमकती रहे, क्योंकि (गरजते हुए मेष और चमकती हुई विजली के कारण ही) हमारे जैसों के लिये दुर्लभ प्रिया के द्वारा मेरा आलिङ्गन किया गया है ॥४८॥

और भी; मित्र,

वास्तव में उनके जीवन घन्य है जो घर में आई हुई कामिनियों के बादल के जल से शीतल हुए शरीरो का (अपने) शरीरो पर आलिङ्गन करते हैं ॥४९॥

प्रिये वसन्तसेने—

जिसके (स्तम्भों के आधार के लिये बनाये गये) वेदी समूह नीचे तक हिल रहे हैं ऐसा बितान जर्जरित होने के कारण स्तम्भों पर किसी प्रकार ठहरा हुआ है, और यह विचित्र दीवार मुष्ण-द्रव के सेपन (सफेदी) के फट जाने के कारण बहुत से जल से भीग (सील) गई है ॥५०॥

प्रगंसनीयानि ये जनाः गृहम् स्वगृहम् आगतानां कामिनोनां मेघोवरेण शीतलानि  
यात्रानि शरीरानि यात्रेण स्वशरीरेषु परिप्लवजन्ति आलिङ्गन्ति । अप्रस्तुतप्रससा ।  
इन्द्रव्या वृत्तम् ॥४९॥

स्वगृहस्य जीर्णता दशयन् वसन्तसेनां प्रति कथयति चारदत्तः—स्तम्भेषु  
इति । प्रचलितः क्षिप्तः मेघिसञ्चयानां वेदिसमूहानाम् अनाः पर्यन्तभागो यस्य  
व्याप्तं विनाशं शीघ्रत्वात् जीर्णत्वात् कथमपि कष्टेन काठिन्येन वा स्तम्भेषु  
पापते । एषा च क्षिप्रमिति । विप्रयुक्ता भित्तिः स्फुटितः विदीर्णः यः मुष्णद्रवस्य  
अनुलेपे तस्मात्-मुष्णद्रवानुलेपस्य स्फुटितत्वाद् इत्यर्थः, स्फुटितमरुतेन वृष्टिजला-  
प्रियेण सञ्चित्वा आर्द्रं जाता । अतीवनावस्थानं न युक्तमिति ह्यस्य । प्रहृदिनी  
इति ॥५०॥

(ऊर्ध्वम् लोचय) अये इन्द्रधनुः । प्रिये, पश्य पश्य ।

विद्युज्जिह्वं नेदं महेन्द्रतापोच्छ्रितायतभुजेन ।

बसधरविवृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥५१॥

तदेहि । अन्त्यतरमेव प्रविशावः (इत्युत्पाय परिक्रामति)

तासीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं चलितेषु चण्डम् ।

संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥५२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

दुहितो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।



विद्युदिति । विद्युदेष जिह्वा यस्य नेन, महेन्द्रचापम् इन्द्रधनु एव उच्छ्रितो  
उन्नतो प्रापतो विधातो च युजो यस्य तैज, जसधरः मेघः एष विवृद्धा हनुः विबुध  
पञ्चमोऽङ्कः अन्तरीक्षेण आवासेन विजृम्भितम् इव । रूपम् उपमेयाच्च ।

(ऊंग देखकर) अरे ! इन्द्र धनुष ! जिये, देखो ! देखो

विजयी रूपी जिह्वा वाले, इन्द्र धनुष रूपी उन्नत एवं विघात (व्यापक) गुजा वाले मेघ रूपी घड़ी हुई ठोड़ी (हनु) वाले आकाश ने मानो जम्भाई भी है ॥११॥ वो आओ, भीतर ही प्रवेग करें (उठकर घूमता है ।)

अडकृत (ताडयमाना) सङ्गीत वीणा के समान (बर्षा की) धाराएँ तातदृशों पर उच्च स्वर से वृक्ष की शाखाओं पर गम्भीर, शिलाओं पर रुसो (कर्कश) एवं जन में तुमुलध्वनि से ताल के अनुमार गिर रही हैं ॥१२॥

(सब निकल जाते हैं)

इद्विज नामक पाँचवाँ अङ्क (समाप्त)

तापीषु इति । ताडयमाना वाद्यमाना सङ्गीतवीणा इव धाराः वृष्टिधाराः  
तापीषु तावदनेषु तारम् उच्चैः विष्टयेषु वृक्षशानामु मग्नं गम्भीरं शिलाषु रुसं समितेषु  
जनेषु वाङ्मनुष्ये च तात्रानुमारेण धननि । उदया । उदयानिः वृत्तम् ॥१२॥

इति इद्विती त्राम पञ्चमोऽङ्कः

## षष्ठः

(तत् प्रविशति चेटो)

चेटी—कथं अज्ज वि अज्जआ ण विबुज्जादि । मोदु । पविस्सअ पविबोध-  
इत्तम् । [कथमद्याप्यार्या न विबुध्यते । भवतु । प्रविश्य प्रनिबोधयिष्यामि ।]  
(इति नाटकेन परिक्रामति)

(तत् प्रविशत्याद्यादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—(निरूप्य) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ । पभाद सवुत्तम् । [उत्तिष्ठतूत्ति-  
ष्ठत्वार्या । प्रभातं सवृत्तम् ।]

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कथं रत्ति ज्जेय पभाद सवुत्तम् । [कथं रात्रिरेव  
प्रभातं सवृत्तम् ?]

चेटी—अह्हाण एत्तो पभादो । अज्जआए उण रत्ति ज्जेव । [अस्माकमेत-  
त्प्रभातम् । आर्यायाः पुना रात्रिरेव ।]

वसन्तसेना—हज्जे क्कहि उण तुम्हाण जूटिअरो ? [चेटि, कृतं पुनयं ध्माकं  
धूतकरं ?]

चेटी—अज्जए, वट्टमाणअ समादिसीअ पुप्फे एण्डअ जिण्णुज्जाणं गदो अज्ज  
वाएदत्तो । [आर्ये, वधमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्य-  
चारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—किं समावित्तिअ । [किं समादिश्यः ।]

चेटी—जोएहि रात्तीए पयहणम्, वसन्तसेना गच्छति । योजय रात्री  
प्रवहणम्, वसन्तसेना गच्छति ।]

वसन्तसेना—हज्जे, क्कहि मए गन्तव्वम् ? [चेटि, कुत्र मया गन्तव्यम् ?]

चेटी—अज्जए, ज्जहि वाएदत्तो । [आर्ये, यत्र चारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—(चेटी परित्पश्य) हज्जे, सुदु ण गिग्गाइत्तो रात्तीए । ता  
अज्ज एण्ववत्त पेवित्तम् । हज्जे, किं पविट्ठा अहं इह अन्नन्तरघटुत्तात्तम् ?  
[चेटि, सुष्ठु न निर्घातो रात्री । तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । चेटि, किं प्रविष्ट-  
हृद्भिर्हाम्यन्तरचतु शालकम् ?]

चेटी—ण बेषत्त अन्नन्तरघटुत्तात्तम् । राखणत्तस्स त्ति त्तिअ पविट्ठा ।  
[न केवलमभ्यन्तरचतु शालकम् । सर्पजनस्मापि हृदयं प्रविष्टम् ।]

## छठा अङ्क

(तत्पश्चात् चेटो प्रवेश करती है)

चेटो—क्या आर्या अब भी नहीं जाग रही हैं ? अच्छा, प्रवेश करके जगाऊँ ।  
(कमिन्ध से घूमती है) ।

(तत्पश्चात् ढके हुए गरीर वाली सोई हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है)

चेटो—देखकर आर्य, उठिये, उठिये । सवेरा हो गया ।

वसन्तसेना—(जागकर) क्या रात्रि ही—सवेरा हो गई

चेटो—हमारा तो यह सवेरा है । किन्तु आर्या की तो रात्रि ही है ।

वसन्तसेना—चेटी, तुम लोगों के जुआरी (आर्य चाण्डल) कहाँ है ?

चेटो—आर्य, वर्धमानक का आदेश देकर आर्य चाण्डल पुष्पकरण्डक (नामक) जोगोदान में चले गये हैं ।

वसन्तसेना—क्या आदेश देकर ?

चेटो—रान में ही बहली जोड़ लेना (जिससे) वसन्तसेना चली जाये ।

वसन्तसेना—चेटी, मुझे कहाँ जाना है ?

चेटो—आर्य, जहाँ चाण्डल है

वसन्तसेना—(चेटी का आतिशयन करके) चेटो, रात्रि में (आर्य चाण्डल) मनी-प्रकार नहीं देते थे । इसलिये आज प्रत्यक्ष देखूँगी । चेटो, क्या मैं यहाँ भीतरी चतुःपाता में प्रविष्ट हो गई हूँ ?

चेटो—केवल भीतरी चतुःपाता में ही नहीं । सब जनों के हृदय में भी प्रविष्ट हो गई हूँ ।

चेटो चाण्डल्य सेविका । पुष्पाणां कण्डकं पात्रविधेयः पुष्पकरण्डकम्, उदानस्य नाम ।

निष्पत्तिः दृष्टः । परिश्रमः अनुपासिवर्गः, सेविकायतो वा अत्र तु 'दली' इत्यर्थः सम्यक् प्रतिभाति । सत्यवने ममाप्रागमनात् मंडापं प्राप्स्यति ।



वसन्तसेना—अयि संतप्सवि घाह्वरास्स परिभणो । [अपि हन्तायते चारु-  
दत्तस्य परिजन ।]

घेटी—सतप्ससदि । 'सतप्सति ।]

वसन्तसेना—कदा । [कदा ।]

घेटी—जबो अज्जभा गमिस्सदि । [यदार्या गमिष्यति ।]

वसन्तसेना—तवो मए पठम सतप्सिष्वधम् । (सानुनयम्) हठजे, गेण्ह एदं  
रजणावत्तिम् । मम भहिणोभाए अज्जापूदाए गदुअ समप्पेहि । भणिदव्व घ—'अहं  
सिरिधारदत्तस्य गुणणिज्जिवा दासी, तदा मुम्हाण पि । ता एसा तुह ज्जेव कण्ठहण  
होदु रजणावत्तो । [तदा मया प्रथमं सन्तप्ताव्यम् । चेदि, गृहाणमां रत्तावलीम् ।  
मम भगित्वा आर्यापूतायं गत्वा समर्पम् । वपत्तव्य च—'अहं' श्रीचारदत्तस्य  
गुणनिजिता दासी, तदा युष्माकमपि । तदेवा तवैव कण्ठाभरणं भवति  
रत्तावली' ।]

घेटी—अज्जए, कुपिस्सदि घाह्वरतो अज्जाए वाव । [आर्ये, कुपिष्यति  
घाह्वरत्त आर्यायं तावत् ।]

वसन्तसेना—गच्छ ण कुपिस्सेदि । [गच्छ । न कुपिष्यति ।]

घेटी—(गृहीत्वा) ण आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति) .अज्जए,  
भणादि अज्जा पूवा 'अज्जउत्तेण मुम्हाण पसादी किदा । ण युक्तं मम एव गेण्हितुम् ।  
अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणविसेतो ति जाणावु भोदी' । [यदाज्ञापयंति । आर्ये,  
भणार्यायां सूता—'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता । न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम् ।  
आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानावु भवती ।] .

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रदनिका—एहि वच्छ, सज्जिभाए कीत्तह । [एहि वत्स, शकटिकया  
क्रीडावः ।]

दारकः—(सकन्दरम्) रवणिए णं मम एवाए मट्टिआत्तअडिआए । त ज्जेव  
सोवण्णसअडिअ देहि । [रदनिके किं ममेतया मृत्तिकाशकटिकया । तामेव  
सौवर्णशकटिकया देहि ।]

रदनिका—(सनिर्वेद निःस्वस्व) जाव, कुवो अम्हाणं सुवण्णवसहारा ? तावत्स  
पुणोवि रिद्धिए सुवण्णसअडिआए कीत्तिरससि । ता जाव विणोदेमि णम् । अज्जभाए  
वसन्तसेनाए समीव उवत्तिवत्तम् । (उवगृह्य) अज्जए, पणमामि । [जात, कुतो-  
ऽस्माकं सुवर्णशकटिकया । तातस्य पुनरपि शकटिका सुवर्णशकटिकया क्रीडि-  
ष्यति । तद्यावद्विनादयाम्येनम् । आर्याया वसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि ।  
आर्ये, प्रणमामि ।]

वसन्तसेना—क्या चारुदत्त का परिवार (हमारे जाने से) दुःखी है ?

चेटी—दुःखी होगा ।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आर्या चली जायेंगी ।

वसन्तसेना—तब (चारुदत्त के परिवार से पृथक् होने पर) पहले मुझे सन्ताप करना होगा । (अनुनय सहित) चेटी, इस रत्नावली को ले लो, जाकर मेरी बहिन आर्या घूना को समर्पित कर दो और कह देना—'मैं थी चारुदत्त के गुणों से वशीभूत दामो है, तब आपकी भी (दामो है) । तो यह रत्नावली आपके ही कण्ठ का आम्रपण भेजे ।

चेटी—आर्ये, तब चारुदत्त आर्या पर क्रुद्ध होंगे ।

वसन्तसेना—जा । क्रुद्ध नहीं होंगे ।

चेटी—(लेकर) जो आज्ञा करती हैं । (बाहर निकल कर पुनः प्रवेश करती) आर्ये, आर्या घूना कहती हैं—आर्यपुत्र ने आपको (यह रत्नावली) प्रसन्न होकर शान की है । मेरा इसको लेना उचित नहीं है । आप यह समय लें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं ।

(तत्पश्चात् बच्चे को लेकर रदनिका प्रवेश करती है)

रदनिका—बेटे, आओ (हम दोनों) गाड़ी से खेलते हैं ।

बच्चा—(करुणा सहित) रदनिके, हम मिट्टी की गाड़ी से मुझे क्या ? उस स्वर्ण की गाड़ी को दो ।

रदनिका—(दुःखपूर्वक लम्बी सांस लेकर) बेटे, उपागे यहाँ सोने का भ्रवहार कहाँ ? (अरुने) पिताजी की पुनः ममृष्टि से फिर सोने की गाड़ी से भेचना । तो जब तक हमको बहनाती हैं । आर्या वसन्तसेना के पान चूर्ण (समीप जाकर) आर्ये प्रणाम करती हैं ।

मुग्धं दाशिन्यादिभिः निजिता वशीकृता । आर्यपुत्रः एव मम पतिः एव मम पूजायाः आभरणविशेषः विनिष्टम् आभूयन्म् । अत्र हि भारतीयनायिकाः आर्यो-र्मिभ्यस्त्वे, उक्तं हि—'भर्ता हि परम नार्याः भूयानं भूयैविना ।'

अन्वयः—अन्वयः इव मुग्धं पश्य सः ।

यसन्तसेना—रदणिए साअव वे । कस्स उण दारओ ? अणत्तकिदसरोतो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअभम् । [रदनिके स्वागत ते । कस्स पुनरय दारकः ? अनलङ्कृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम् ।]

रदनिका—एसो बलु अज्जचाण्डत्तरत्त पुत्तो रोहसेणो णाम । [एष सत्वार्य-चाण्डत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम ।]

यसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्रअ, भासिङ्ग । (इत्यङ्क उपवेश्य) अनुकिद अणेण पिटुणो हयम् । [एहि मे पुत्रक, आलिङ्ग । अनुकृतमनेन पितृ रूपम् ।]

रदनिका—ण वेवल हवम् सोल पि तवकेमि । एदिणा अज्जचाण्डत्तो भत्ताणअ पिणोदेदि । [न वेवल रूप, शीलमपि तर्कयामि । एतेनार्यंचारदत्तं आत्मानं विनोदयति ।]

यसन्तसेना—अथ किणिमित्त एसो रोअदि ? [अथ किनिमित्तमेव रोदिति ?]

रदनिका—एदिणा पडियेसिअणहवइदारअकेरिआए सुवण्णसअडिआए कीत्ति-वम् । तेण अ सा णोदा । तदो उण त मग्गन्तरस मण् इअ मट्टिअन्सअडिआए बलुअ विण्णा । ततो भणादि—‘रदणिए कि मम एदाए मट्टिआसअडिआए । त उजेव सोव-णसअडिअ वेहि’ त्ति । [एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम् । तेन च सा नीता । ततः पूनस्ता याचतो मयेय मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता । ततो भणति—‘रदनिके, किं ममेतया मृत्तिकाशकटिकया । तामेव सोवर्णशकटिका देहि’ इति ।]

यसन्तसेना—हइओ हइओ । अअ पि णाम परसवत्तोए सत्तप्पइ । अअव वअन्त, पोस्करपत्तपडिअत्तसिन्नुसरित्तेहि कीत्तसि तुम पुत्तिसमाअरेएत् । (रति सारा) जा मा रोड । सुवण्णसअडिआए कीत्तिस्सत्ति । [हा धिक् हा धिय । अयमपि नाम परसंपत्त्या संतप्यते । भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजलविन्दुसदृशं क्रीडति त्वं पुरुषभागधेयैः । जात मा रुदिहि । सोवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि ।]

दारक —रदणिए, वा एसो [रदनिके, नैया ।]

यसन्तसेना—पिटुणो वे गुणणिअज्जरा दासी । [पितुस्ते गुणनिजिता दासी ।]

रदनिका—जाव अज्जमा वे जणणो भोदि । [जात, आर्या ते जननी भवति ।]

दारक —रदणिए, अत्तिअ तुम भणासि । अज्जहाण अज्जमा जणणो ता कीत्त अत्तिअ ? [रदनिके, अतीकं त्वं भणसि । यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलङ्कृता ?]

वसन्तसेना—रदनिके, तुम्हारा स्वागत है। यह बच्चा किसका है? आभूषणहीन शरीर वाला भी चन्द्रमा जैसे मुख वाला यह मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है।

रदनिका—यह रोहसेन नाम का आर्य चाण्डाल का पुत्र है।

वसन्तसेना—(शोनों भुजायें फैलाकर) आओ मेरे बेटे, गले लगे।

(गोदी में बैठकर) इमने पिता के ही रूप का अनुकरण किया है।

रदनिका—केवल रूप ही नहीं, अनुमान करती हूँ स्वभाव भी (अपने पिता के ही अनुकूल पाया है), इसमें आर्य चाण्डाल अपने को बहलाते हैं।

वसन्तसेना—फिर यह किस लिये रो रहा है ?

रदनिका—यह पड़ोसी गृहस्वामी के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेल रहा था और वह उसने ले ली। तब फिर उस (सोने की गाड़ी) को माँगने पर मैंने यह मिट्टी की गाड़ी बनाकर दे दी। तभी से यह कह रहा है—‘रदनिके, मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या ? उसी सोने की गाड़ी को दो।’

वसन्तसेना—हाय ! हाय ! यह भी पराई सम्पत्ति में दुःखी होता है। मगवान् देव, कमल के पत्र पर गिरे हुये पानी की बून्दों जैसे मनुष्यों के भाग्यों से तुम विनवाह कर रहे हो ! (अधु सहित) बेटे, मत रो। सोने की गाड़ी से खेलना।

बच्चा—रदनिक, यह क्यों है !

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गृहों में यमीभूत दार्या।

रदनिका—बेटे, आर्या तुम्हारी माता हीनो है।

बच्चा—रदनिके, तुम झूठ बोलती हो। यदि आर्या हमारी माता है तो आभूषणयुक्त क्यों है ?

प्रतिवेनिकरचातो गृहपतिः गृहस्वामी तस्य चारुस्य वानस्य पुत्रस्य वा ।

वृत्तान्तः विधिः तत्सम्बुद्धौ । पुत्ररूपेण कमलपत्रे पतिताः ये जडबिन्दवः  
ःःः। अपरं इति भावः । अत एव वत्स । अतीतम् अवसम् । मुग्धेन मनोदरेण

वसन्तसेना—जाद, मुद्रेण मुहेण अदिकरुण मन्तेसि । (नाटभेनाभरणान्य-  
यतायं रुदति) एसा शणि दे जणणी सवुता । ता गेण्ह एर अलङ्कारअम् । सोवण्ण-  
समड्डिअ घडावेहि । [जात, मुग्धेन मुयेनातिकरुण मन्त्रयसि । एपेदानी ते  
जननी सवुत्ता । तद्गृहाणैनमलङ्कारम् सीवर्णशकटिका घटय ।]

हारक—अवेहि । ण गेण्हिस्सम् । रोदसि तुमम् । [अपेहि । न ग्रहीप्यामि ।  
रोदियि त्वम् ।]

वसन्तसेना—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद, ण रोदिस्सम् । गच्छ । कील । (अल-  
ङ्कारं चकटिकं पूरयित्वा) जाद कारेहि सोवण्णसमड्डिअम् । [जात, न रोदि-  
प्यामि । गच्छ । क्रीड । जात, कारय सीवर्णशकटिकाम् ।]

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढ)

चेट—सडणिए सडणिए, निवेदेहि अज्जआए वसन्तसेनाए—'ओहासिअ  
परत्तदुआलए सज्ज पवहण चिट्ठदि' । [रदनिके रदनिके, निवेदयार्यायि वसन्त-  
सेनायि—'अपवारितं पधद्वारेके सज्ज प्रवहणं तिष्ठति' ।]

(प्रविश्य)

रदनिका—अज्जए, एतो वड्ढमाणओ विण्णवेदि परत्तदुआरए सज्ज पवहण  
सि । [आर्ये एप वर्धमानको विज्ञापयति—'पधद्वारे सज्जं प्रवहण इति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, चिट्ठदु मुहुत्ताअम् । जाव अह अत्ताणअ पसापेमि । [चेटि,  
तिष्ठन्तु मूहूतंकम् । यावदहमात्मानं प्रसाधयामि ।]

रदनिका—वड्ढमाणअ, चिट्ठ मुहुत्ताअम् । जाव अज्जआ अत्ताणअ पसापेदि ।  
[वर्धमानक, तिष्ठन्तु मूहूतंकम् । यावदार्यात्मानं प्रसाधयति ।]

चेट—ही ही भो, मए वि जानत्थके विगुत्तिदे । ता जाव गेण्हिअ  
आअच्छामि । एदे णारासज्जुकड्डुआ बड्ढस्सा । भोदु । पवहणेण अजेव गतागि  
कलिरसम् । [ही ही भो, मयापि यानाम्तरण विस्मृत । तद् यावद् पृहीत्वाअ-  
गच्छामि । एते नासिकारज्जुकटुका बलीवर्दाः । भवतु । प्रवहणेनैव गतागति  
करिष्यामि । (इति निष्क्रान्तरचेट)

वसन्तसेना—हञ्जे, उवणेहि पे पसाहणम् । अत्ताणअ पसाधस्सम्, चेटि  
उपनय मे प्रसाधनम् । आत्मानं प्रसाधयिष्यामि ।] (इति प्रसाधयन्ती स्थिता)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढ)

रपावरकरचेटः—आणत्तोग्हि साभरासमसाठणेण—'यावत्तअ, पवहण  
गेण्हिअ पुष्ककलण्डअ जिण्णुज्जाण तुसिअ आअच्छेहि' ति- । भोदु । तेहि अजेव गच्छामि ।  
बड्ढ वह्य बड्ढस्सा, वह्य । (परिअभ्यावतोसय च) वय णामराससेहि सुट्ठे मणे । कि  
शणि एत्थ वत्तइरसम् । (साटोपम्) असे से, भोगत्तय ओरत्तय । (माकर्ष्य) वि

वसन्तसेना—बेटे, मोते मुँह से अत्यन्त करुणापूर्वक बोल रहे हो । (अभिनय में आभूषणों को उतार कर रोती हुई) यह अब (मैं) तुम्हारी माता हो गई हूँ । तो इस आभूषण को लो । सोने की गाड़ी बनवा लेना ।

बच्चा—जाओ । नहीं लूँगा । तुम रो रही हो ।

वसन्तसेना—(आभूषणों को पोंछकर) बेटे नहीं रोऊँगी । जाओ । खेलो । (आभूषणों में मिट्टी की गाड़ी को भरकर) बेटे, मोने की गाड़ी बनवा लो ।

(बच्चे को लेकर रदनिका निकल जाती है)

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

चेट—रदनिके, रदनिके, आयाँ वसन्तसेना से निवेदन करो—'बगल के द्वार पर बन्द (ढकी हुई) मुमग्जित गाड़ी खड़ी है ।

(प्रवेश करके)

रदनिका—आपें, यह वर्धमानक कहते हैं—'बगल के द्वार पर गाड़ी तैयार है ।

वसन्तसेना—चेटि, अग भर ठहरो । जब तक मैं अपने को सज्जित कर नूँ ।

रदनिका—(बाहर निकलकर) वर्धमानक, अग-मर ठहरो । जब तक आयाँ बनने की मुमग्जित करती है ।

चेट—अरे, आरचय ! मैं गाड़ी का बिछावन (गाड़ी) भूल आया । तो जब तक लेकर आऊ हूँ । ये बेल नाद (= नासिकारज्जु) के बडवे (नाक की रस्मी को न सहन करने वाले, तेज) हैं । अच्छा, रथ से ही लौट-फेर करूँगा । (चेट बाहर निकल जाता है) ।

वसन्तसेना—बेटो, मेरी प्रमाधन-सामग्री लाओ । अपने को मुमग्जित कर लूँ ।

(शृङ्गार करती है)

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ प्रवेश करके)

स्वाधरक चेट—राजा के माने संस्थानक के द्वारा—मुझे यह आज्ञा दी गई है—'स्वाधरक, गाड़ी लेकर पुष्करणक (नामक) जीर्णोद्यान में शीघ्र आओ । अच्छा क्यों जाता है । चलो ! चलो ! (पूजकर और देखकर) क्या गाँव की गाड़ियों से समझा एक गया ? अब यहाँ क्या करूँ ? (गर्वपूर्वक) अरे, हटो ! हटो ! (मुनकर) क्या यह कहते हो कि—'यह किसकी गाड़ी है ?' यह राजा के माने संस्थानक की

सत्त्वेन वा । अनिकरुणम् अत्यन्तं करुणावनकम् । मन्त्रयमि वदसि ।

अनकारितम् आह्वयम् । प्रबहमम् आरुहः चेदः । हो ही इति प्रकम्नात्प्रमरणो-  
प्यदम् । मानस्य आन्तर्यं वन्त्रविशेषः ददास्तीये जनाः पानम् उपविशन्ति । नामिका-  
रन्वा कटुवाः कुमहाः अतिवयदा । इत्यर्थः । गतावति कम्पायनम् ।

प्रमाधनम् अतद्द्वारः, प्रमाधनसेनेनेति, प्रमाधनसामग्री इत्यर्थः । स्वाधरकः

मगाद्य—'एषो कश्शकेसके पवहणे' ति । एषो साभगात्तभगाठानकेलके पवहणे ति । ता शिग्य भोगसद्य । (अवलोचय) कथम्, एषो अवले शहिभ विभ भ पेविल्लअ शहस ग्जेव जूइपसाइवे विभ जूदिप्रले ओहसिअ अत्ताणअ अण्णदो अवक्कन्ते । ता को उण एषो । अपया कि मम एदिणा । तुलिद पमिरसाम् । अले ले गामलुआ, भोगसद्य । कि मगाद्य—'मुहुत्तअ चिट्ठ । चक्कपलिवट्टि देहि' ति । अले ले, साभगात्तभगाठानकेलके हणे हूले चक्कपलिवट्टि दइशाम् । अथवा एषो एआई तवशशी । ता एव्व कलेमि । एद पवहण अग्गच्चालुदत्तरा चक्कवाटिआए पक्कदुआलए पावेमि (इति प्रवहण सस्याप्य) एषो हि आअदे । [आजप्तोऽस्मि राजश्यालकसस्थानेन—'स्थावरक, प्रवहण मृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोऽयान त्वरितमागच्छ' इति । भवतु । तत्रैव गच्छामि । दहत बलोवदो वहतम् । कथं ग्रामशकटं रुद्धो मार्गः । किमिदानीमत्र करिष्यामि । अरे रे, अपसरत अपसरत । कि भणथ 'एतत्कस्य प्रवहणम्' इति । एतद्राजश्यालकसस्थानस्य प्रवहणमिति । तच्छीघ्रमपसरत । कथम्, एषोअर सभिकगिव मा प्रेथय सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरोऽपवायात्मानमन्यतोऽपक्रान्त । तत्क पुनरेव । अथवा कि ममेतेन त्वरितं गमिष्यामि । अरे रे ग्राम्या, अपसरत अपसरत । कि भणथ—'मुहूर्तं क तिष्ठ । चक्रपरिवृत्तिं देहि इति । अरे रे राजश्यालकसस्थानस्याह शूरप्रवक्रपरिवृत्तिं दास्यामि । अथवा एष एकावी तपस्यी । तदेव करोमि । एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृशवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि । एषोऽस्म्यागत ।] (इति निष्क्रान्त )

घंटो—अग्गए, जेमिसदो विभ मुणोअदि । ता आअदो पवहणो । [आय, नेमिशब्द इव ध्रुयते । तदागतं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे गच्छ । तुषरदि मे हिअभम् । ता आदेसेहि चक्कदुआलसम् । [चेटि, गच्छ । त्वरयति मे हृदयम् तदादिश पक्षद्वारम् ।]

घंटो—एदु एदु अग्गआ । [एत्वेत्वार्या ।]

वसन्तसेना—(परिब्रम्य) हञ्जे, बीसम् तुमम् । [चेटि, विश्राम्य त्वम् ।]

घंटो—अ अग्गआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

वसन्तसेना—(दक्षिणाशिस्यन्द पूर्वयित्वा प्रवहणमधिरह्य च) कि ञ्जेद कुरदि दाहिणं सोअणम् । अथवा चारदत्तरस ग्जेव दत्तण अणिमित्तं पमअइरसदि । [कि न्विद स्फुरति दक्षिणं लोचनम् । अथवा चारदत्तस्यैव दशनमनिमित्तं प्रमाजं-पिप्यति ।]

सीधें है। इसलिए शीघ्र हटो। (दिक्कर) जुए से भागे जुआरी के जंसा यह कोई (अनर) छूटाप्यस (ममिक) के समान मुझे देखकर, अपने को दिखाकर—यवस्मात् दूनरों ओर भाग गया है ? तो फिर यह है कौन ? अथवा मुझे इनने क्या ? तुरन्त चबूं। अरे भामीजी, हटो ! हटो ! क्या यह कहते हो—सम-भर टहरो। पहिये को फेर दो। अरे, राजा के सारे सन्धानक का शूर (सिक्कर) मैं पहिया फेहंगा ? अथवा यह बेचार अकेला है। तो ऐसा करता हूं। इस (अपनी) गाड़ी को आभं चाहदत की वृषवाटिका के पम्दार पर सड़ा किये देता हूं। (रथ को सड़ा करके) मैं यह आया। (निकल जाता है)

चेटी—आपे. चक्रपरिधि का शब्द-भा सुनाई दे रहा है, इसलिए (प्रतीत होता है कि) गाड़ी आ गई है।

वसन्तसेना—चेटी, बली। मेरा हृदय उनाचना हो रहा है। इसलिए पम्-दार (का मार्ग) बनाओ।

चेटी—आपे, (इधर से) आइये, आइये।

वसन्तसेना—(धूमकर) चेटी, तुम विग्राम करो।

चेटी—जो आना जाना करती हूं। (निकल जाती है)

वसन्तसेना—(दाहिनी जंजल ग पदकना मुनिन करके और रथ पर चउकर) यह क्या ? यह दाहिनी जंजल पदक नहीं है अथवा पाकरत का इमंन श्री अविष्ट को दूर कर देना।

ककरस्य मानकहकः। अववावं आच्छाद। अपभ्रान्तः पनादिनाः। एतेन अर्थाङ्ग्य  
पनापनन् उरशिस्यम् (पूर्वी०)। चरस्य मानकहस्य परिवृत्ति परिवर्तनम्।

चक्रपरिवृत्ति शक्त्यामि—इत्यत्र कातुः न दात्यांनोरथः। नेमिः प्रथिः,  
षांन्यथापः। इतिशं सोचनं स्त्रीमां इतिनात्प्रमृष्टान् मयुरान्पदं म्पत्ते। अतिमितम्  
यनिष्टम्।



स्यावरकरघट—ओशासिदा मए रामडा । ता जाव गच्छामि । (इति नाट्ये-  
नाधिकार्य चालयित्वा) । (स्वगतम्) भातिके एवहणे । अथवा चक्रचतुर्विधाए प्रति-  
शान्तराश भातिके एवहणे प्रतिभाशोरि । भोदु ! गमिश्याम् । जाय गोषा, जाय ।  
[अपसारिता मया शकटाः । तद्यवाद्गच्छामि । भारत्प्रवहणम् । अथवा चक्र-  
परिवर्तनेन परिश्रान्तस्य भारत्प्रवहण प्रतिभासते । भवतु । गमिष्यामि यात  
गावो, यातम ।]

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिका, अप्रमत्ता सएषु सएषु गुम्मट्ठाणेषु होध । एतो अण्य  
गोपालदारओ गुप्तिअ भञ्जिअ गुप्तिवालअ वावादिअ बन्धण भेदिअ परिग्मट्टो अवरक-  
भरि । ता गेण्हय गेण्हय । [अरे रे दोवारिका, अप्रमत्ता स्वेषु स्वेषु गुल्मस्थानेषु  
भवत । एषोश्च गोपालदारको गुप्ति भङ्गत्वा गुप्तिपालक व्यापाद्य बन्धन  
भित्वा परिभ्रष्टोऽपक्रामति । तद्गृह्णीत गृह्णीत ।]

(प्रविश्यापटीक्षेपेन सध्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित

आयंक परित्रामति)

घट—(स्वगतम्) महन्ते षअस्तीए राममे उप्पण्णे । ता तुत्तिद तुत्तिद गमि  
ष्याम् । [महान्तगयाँ सँभ्रम उत्पन्न । तत्स्वरित स्वरित गमिष्यामि ।]  
(इति निष्क्रान्त )

आयंक—

हित्वाह नरपतिबन्धनापदेश-

व्यापत्तिव्यसनमहान्तं महान्तम् ।

पादाग्रस्थितनिगडं कपाशकर्षि-

प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि ॥१॥

भो, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरिप्रासेन राजा पातनेन घोषादानीय  
विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्ध । तस्माच्च प्रियमुहुच्छविलकप्रसादेन बन्ध-  
नात्परिभ्रष्टोऽस्मि । (अधूनि विसृज्य)

भारवत् भारयुक्तम् । दोवारिका द्वारपाता, द्वारे नियुक्ता इत्यर्थे 'तत्र नियुक्त'  
पा० ४ ४ ९६' इति ठर् । अप्रमत्ता सावधाना । गुल्मस्थानेषु रक्षणप्रदेशेषु । गोपा-  
लस्य द्वारक पुत्र । गुप्ति वाराहम् । व्यापाद्य इत्या । भित्ता त्रोटयित्वा । परिभ्रष्टो  
मुक्त, निर्गत । अपक्रामति अथतरति । सध्रान्त पठित । एकचरणे लग्न निगडो  
गव्य तयामूर । सध्रान्त सवेग भयादिना स्वरणमिति यावत् ।

(प्रवेश करके)

स्वावरक चेट—मैंने गाड़ी हटा दी। इसलिये अब जाता हूँ (अभिनय से चड कर, चलाकर) गाड़ी बोजिल (प्रतीत होती) है। अपना पहिया 'धुमाने से बके हुए (मुँस) को रम बोजिल प्रतीत हो रहा है। अच्छा। चलूँ। चलो बंलो, चलो।

(निपथ्य मे)

अरे द्वारपालो, अपने अपने रक्षण-स्थानों (चौकियों) पर सावधान हो जाओ। यह गोपाल-पुत्र आज कारागार को लोडकर कारागार के रक्षक (जेलर) को मारकर बगन काटकर छूटा हुआ भागा जा रहा है। अतः पकड़ो! पकड़ो! (बिना पर्दा गिरे धवड़ाया हुआ, एक पैर में पड़ी हुई बेड़ी वाता मुँह छिपाने हुए आसंक प्रमत्ता है)

चेट—(अपने आप) नगरी मे बड़ी पबराहट उत्पन्न हो गई है। इसलिये पुरान्त चरूँ। (निकल जाता है)

'राजा की मंद' के ब्याज (अपदेश) से होने वाले मरणरूप संकट (धमन) के विनाश महासागर को छोडकर (पार करके) पर के अन्नभाय में स्थित एक शूद्रता-पाश को लीचने वाना में बग्न से मुक्त हापी के समान भूम रहा है ॥१॥

अरे, सिद्धदेश अन्य भय के कारण राजा बालक ने द्वारा मुझे बहोरों की बस्ती से मंगाकर गुप्त-वध्यस्थान (विशमन) में शूद्रताओं से जकड़ दिया गया था। त्रिपमित्त शविलक की कृपा से उस बग्न से मुक्त हो गया है। (आँसू बहाकर)

बग्नान् परिभ्रष्टः अपरेणः क्वयति-हित्वेति । भहान्तं नरपतेः राज्ञः पावकस्य बग्नं वन्दीकरणम् अपदेशः ब्याजः यस्याः सा वा ब्यापतिः मृत्युः तामम्बुषी व्यसनम् आरतिः संकटं वा तदेव भहामंयः महासागरः तं हित्वा मुक्त्वा पारागे स्थितं निपडस्य शूद्रतानाः 'एकपाशं एकबग्नं वपति इति सः अहम् आसंकः बग्नान् प्रभ्रष्टः मुक्तः यत्र इव स्रमामि । पूराजिं अपद्भूतिः, उत्तरार्धे षोषमा । प्रर्त्विनी वृत्तम् ॥१॥

सिद्धदेशेन जलितः उत्पन्नः सः परिव्रामः तेन । विनाशने बधस्थाने वधनिमित्तं वा 'निमित्तात् कर्मयोगे' इति सप्तमी । पूरागारे गुप्तरथाने ।

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोष्पराधो  
 यद्वन्यनाग इव सममितोऽस्मि तेन ।  
 देवी न सिद्धिरपि लक्ष्म्यितु न शनया  
 गम्यो नृपो बलवता सह का विरोधः ॥१॥

तन्कुत्र गच्छामि मन्दभाग्य । (बिलोत्थ) इदं वस्यापि साधोऽजावृत्  
 पशुद्वार गेहम् ।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।  
 ध्रुव कृत्स्नी व्यसनाभिभूता दशा प्रपन्नो मम तुल्यभाग्य ॥३॥

तदत्र तावत्प्रविश्य तिष्ठामि ।

(नेपथ्ये)

जाघ गोप्रा, जाघ । [यात् गावो, यात्म् ।]  
 भायंरु—(आरुण्य) अये प्रवहर्णमित एवाभिवतते ।  
 भवेद् गोष्ठोपान न च विपगशीलैरधिगतं  
 वधूसयान वा तदभिगमनोपस्थितमिदम् ।  
 यहिर्नेतव्य वा प्रवरजनयोग्य विधिवशा-  
 द्विवित्त्वाच्छून्य मम खलु भवेद्देवविहितम् ॥५॥

भाग्यनीति । यदि मे भायंरुस्य भाग्यानि राज्यप्राप्ति मम भाग्ये निश्चिता  
 तदा मम कः अपराध दोष न कोष्पोत्पथं । यत् यस्मात् तेन पालनेन वन्यनागः  
 वनगज इव सममितः बद्धः अस्मि । देवी सिद्धि भाग्यात्प्राप्ता सिद्धि अपि न  
 लक्ष्म्यितु निवारयितु न शक्या नावश्यभावनामर्षानां प्रतिवाट शक्यं कर्तुमिति  
 भाव । तथापि नाहं पातकस्य राज्ञः विरोधं करोमि यतो हि नृप गम्य सर्वेषां सेव्यो  
 हि राजा । बलवता सह च मादृशस्य निर्बलस्य कः विरोधः ? उपमा अर्थात्तरयासम् ।  
 वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२॥

मनावृत्तं पशुद्वार यस्य तद् गेहम् ।

इदमिति । इदं गृहं भिन्नसन्धिबधनानो निषिद्धत्वाद् दर्जेरितम् । अत्र च  
 महाकपाट अदत्तदण्ड न दत्त दण्ड अर्गता यस्य तादृशः विशीर्णसन्धि च

यदि मेरे (अच्छे) भाग्य ही हैं तब मेरा क्या अपराध है, जिससे उस (राजा पालक) ने मुझे-जयली हाथों के समान बन्धन में डाल दिया था ? विधि की शक्ति का उल्लंघन नह किया जा सकता, (फिर भी) राजा (सब का) सेव्य है, (क्योंकि) बलशाली के साथ क्या विरोध ?

तो मैं अभाग्य कहाँ जाऊँ ? (देखकर) यह किसी सत्युष्य का खुले हुए पक्षदार वाला घर है—

यह घर फूटा हुआ है; इसके बड़े किवाड़ में अंगूला नहीं लगी है तथा (जीर्ण होने के कारण) जोड़ (सन्धि) टूटे (विशीर्ण) हैं । अवश्य ही (यह) मेरे जैसे (मन्द) भाग्य-वाला कुटुम्बी सञ्जुदाक्रान्त दगा को प्राप्त हो गया है ॥३॥

इसलिये यहाँ घुस कर बैठता हूँ ।

(नेपथ्य में)

(चलो बंलो चलो)

आयंक—(सुनकर) अरे, गाढा इधर हो आ रही है ।

क्या यह किसी गोष्ठी (सामाजिक समारोह) में जाने वाली सचारी है जो कुटिलाचरण करने वालों से अधिष्ठित नहीं है अथवा यह वधू की मचारी है जो उसे ले जाने के लिये उग्रयित हुई है । या सत्युष्य (प्रवर) के बोध्य (यह गाड़ी) भाग्यवशात् बाहर ले जाई जा रही है, ? निर्वन (परिचारक आदि से रहित) होने के कारण खाली (प्रतीत होती हुई) यह गाड़ी क्या मेरे भाग्य द्वारा उपस्थित हुई है ॥४॥

विशीर्णं. भग्नः सन्धिः फलकानां संयोजनं यस्य तादृशस्य । मृच्छं निश्चितमेतद् परं अस्य कुटुम्बी गृहस्वामी घ्यसनेन विपदा अभिभूताम् आक्रान्ता वशां प्रपन्नः प्राप्तः शक्तिवत् सम आयंकस्य तुल्यभाग्यः तुल्यं भाग्यं यस्य तथाभूतः समानभाग्येय. एवास्ति । उपद्रवजा वृत्तम् ॥३॥

वर्षमानकस्य प्रवृत्तस्य घ्ननिभास्यं आयंकः दर्शयति—भवेदिति । इदं प्रवृत्तं विपदागोतः विमृशचरितः न स अधिगतम् अनधिष्ठित गोष्ठीयानं समाजस्य यानं भवेत् अथवा इदं तदभिगमनोपरिपतं तस्याः अभियमनाय उपस्थितं प्रस्तुतम् इदं वपुसंयानं भवेत् । वा अथवा प्रवरजनयोर्म्यं श्रेष्ठप्रनामाम् अधिरोहणयोग्यम् इदं यानं विधिवशात् देववशात् कार्यवशात् वा बहिः नेतव्यं नेतुं योग्यं भवेत् । विविक्तत्वान् निर्वनत्वाद् परिचर्यादिरहितत्वाद् इति यावत् घृण्यं रिक्तं प्रतीयमानं इदं यानं लभुं सम आयंकस्य देववहितं देवपारित भवेत् । मन्देहातद्वारः । गिरिगो घृणम् ॥४॥

{सत प्रवहणेन सह प्रविश्य}

वर्धमानकरनेट — हीमाणहे । श्वाणीवे मए जाणत्पत्तके । सदनिए, निवेवेहि अज्जआए वसन्तरोणाए—'अवत्थिवे राज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुष्पकलसइअं जिण्णु-ज्जाण गच्छु अज्जआ ।' [आश्चर्यम् । आतीत मया यानास्तरणम् । रदनिके, निवेदयार्याथं वसन्तसेनार्य—'अवस्थित सज्ज प्रवहणमधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यान गच्छत्वार्या ।']

भाष्यक.—(आश्चर्य) गणिकाप्रवहणमिदम् । बहिर्यानि च । भवतु । अधिरोहामि । (इति स्वैरमुपसर्गति)

षट् — (श्रुत्वा) कथं वेज्जसाराहे । ता आज्जदा वणु अज्जा । अज्जा, इमे णसकटुआ वदन्ता । ता पिट्ठदो पजेय आसुहुअ अज्जआ । [कथं नूपुरशब्द । तदागता सत्वार्या । आप्ते, इमो नासिकारज्जुवन्दुको बलीवदौ । तत्पृष्ठस एवारोहत्वार्या ।]

{भीषंकरतया करोति}

षट् — पादुफालचालित्वाथं वेज्जलाण वीमानो शट्ठो । पत्तवण्णत्ते अ पवहणे । तथा तव्केमि शपव अज्जआए आसुडाए होरध्वम् । तापव्छामि । जाय गोणा, जाय । [पादोफालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः । भाराक्रान्तं च प्रवहणम् तथा तर्कयामि सायतमार्थं पारुड्या भवितव्यम् । तद्गच्छामि । यात गावो यातम् ।]

{प्रविश्य}

बोरक — अरे रे, अरे जय-जयमाण-चन्दणज-मन्जल फुल्लमदप्पमुहो, कि अच्छय वीसद्धा जो सो गोवालदारओ वट्ठो ।  
भत्तूण सम दच्चइ णरवइहिअअ अ वन्धण अ ॥५॥

अते पुररिपमे वसोर्मातुआने चिट्ठ तुमम् । तुम पि शब्धिमे, तुम पि इत्थिणे, तुम पि उत्तरे । जो वि एतो पाभारराणो, एव अहिलुहिअ चन्दणेण तम वणुअ भवतोएमि । एहि चव्वजअ, एहि । इतो वाय । [अरे रे, अरे जय-जयमाण-चन्दनक-मन्जल गुणभद्रप्रमरा ।]

(तदनन्तर गाड़ी सहित प्रवेश करके)

वर्धमानकचेद—आरव्य ! मैं गाड़ी की बिछावन (रुही) ले आया हूँ । रदनिके, बायाँ वसन्तसेना में निवेदन करो—'मुसज्जित सखी हुई गाड़ी पर चढ़कर बायाँ पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में जायें ।

आर्यक—यह वैश्या की गाड़ी है । और बाहर जाने वाली है । अच्छा । चढ़ता हूँ । (घोरे में पास आ जाता है)

घेद—(मुनकर) क्या नूपुर का शब्द ? तो आर्या आ ही गई हैं । आर्यो ये धन नाय (—भासिकारज्जु—नाक में डालने की रस्मी) के कड़वे (झूठे) होकर झपटने वाले) हैं । इसलिये आर्या पीछे से ही चढ़ें ।

(आर्यक बैसा करता है)

घेद—पैरों के उठाने से हिलते हुए नूपुरों का शब्द शान्त हो गया है । और पाड़ी भारयुक्त है । अतः अनुमान करता हूँ कि अब आर्या (रथ पर) आरूढ़ हो गई होंगी तो जाता हूँ । चलो ! चलो ! (धूमता है)

(प्रवेश करके)

गौरक—अरे ! अरे ! जय, जयमान, चन्दनक, मङ्गल, पुष्पमत्र भासि (अमुस रसको),

विश्रान्त होकर (निश्चिन्त) क्यों (सड़े) हो ? जो गोपातपुत्र बन्धी किया गया था वह राजा के हृदय एवं मृदुलता (दीनों) को एक साथ ही तोड़ कर भागा जा रहा है ॥३१॥

अरे तुम पूर्व दिशा में गती के मुख पर सड़े हो जाओ, और तुम भी पश्चिम में, तुम दक्षिण में, तुम उत्तर में ! यह जो प्राचीर खण्ड है इस पर चढ़ कर मैं चन्दनक के साथ आकर (चारों ओर) देखता हूँ । जाओ, चन्दनक जाओ । इधर तो जाओ ।

अहिर्नि गमनं अत्येति कालेमहोदयः । स्वैरं मन्दम् ।

पादयोः उदकालनेन उत्पापनेन चापितानाम् ।

स्मिन्ति विधग्नाः विधग्नाः किं कथं स्य भवत्य त्रिप्य इत्यर्थः ? कः सः

गोपातशरः आर्यकः बद्धः रथः सः भरपनेः पापस्य नूपस्य हृदयं कण्ठं च अपि कथं मुग्ध एव मित्वा विद्यां चक्रति पनापते । अत्रिगयोक्तिमुना सहोक्तिः अत्रद्वारा । आनं वृत्तम् ॥३॥

किं स्य विश्रब्धा. य स गोपालदारको बद्धः ।

भित्वा झमं व्रजति नरपतिहृदय च बन्धनं चापि ॥

अरे, पुरस्तात्प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वम्, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमप्युत्तरे । योऽप्येव प्राकारखण्ड, एनमधिहृद्य चन्दनेन समं गत्वावलोकयामि । एहि चन्दनक, एहि । इतस्तावत् ।।

(प्रविश्य सध्रान्त.)

चन्दनक—अरे रे वीरअ-विसल्ल-भीमङ्गअ दण्डकालअ-दण्डसूरूपमुहा,  
आअच्छद्य वीसत्या तुरिअ जत्तेह लहु करेज्जाह ।  
लच्छी जेण ण रण्णोपहवइ गोत्तन्तरं गन्तुम् ॥६॥

अवि अ ।

उज्जाणेमु सहामु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।  
त त जोहह तुरिअ अङ्गा वा जाअए जत्थ ॥७॥  
रे रे वीरअ किं किं दर्सितेसि भणाहि दाव वीसदम् ।  
भेत्तूण अ बन्धणअ को सो गोवालदारअ हरइ ॥८॥  
कस्सट्टमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो ।  
छट्टो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पञ्चमो, कस्स ॥९॥  
भण कस्स जम्मछट्टो जीवो णवमो तहेअ सुरसुओरे ।  
जीअन्ते चन्दणए को सो गोवालदारअ हरइ ॥१०॥

[अरे रे वीरक-विशल्य-भीमोङ्गद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः,  
आगच्छत विश्वस्तास्त्वरित यतध्व लघु कुरुत ।  
लक्ष्मोर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥

अपि च ।

उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।  
त तमस्वैपयत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥  
रे रे वीरक किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम् ।  
भित्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥  
कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्धरच वसन्ते चन्द्रः ।  
पञ्चमं भागं वग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥  
भण कस्य जन्मपट्टो जीवो नवमस्तयैव सुरसुतः ।  
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥

(घनहाया हुआ प्रवेश करके)

बन्धनक—अरे, वीरक, विनम्य, भीमाङ्गद, दण्डकाल, दण्डगूर आदि (रक्षकी) विरवन् होकर आओ, तुरन्त (बन्दी को पकड़ने का) प्रयत्न करो, शीघ्रता करो जिससे राजा (पातक) की नदमी दूतरे गोत्र में न जा सके (और कोई राजा न बन सके) ॥२॥  
शोर भी—

उद्यानो में और सभाओं में, मार्ग में नगरी, बाजार और अहीरो की बस्ती, में—वहाँ भी सन्देश उदयन हो तुरन्त उस स्थान को दूँदो ॥७॥

अरे वीरक, क्या दिखना रहे ही, क्या विरवन् होकर वह रहे हो ? बन्धन को तोड़कर वह कौन गोत्रान पुत्र को छुड़ाये लिये जा रहा है ? ॥८॥

मूर्ख किसके आठवें स्थान पर है ? चन्द्रना किसके चतुर्थ स्थान पर, गुरु (भायंवरु) किस के छठे स्थान पर, मगल (भूमिमुत्) किसके पञ्चम स्थान पर है ? ॥१॥

वताशो बृहस्पति (जीव) किसकी जन्मराशि के छठे स्थान पर है तथा शनि (गुरुमुत्) नवम स्थान पर है ? चन्दनके के जीवित रहते हुए कौन है, वह जो गोपाल-पुत्र को छुड़ाये ले जा रहा है ? ॥१०॥

सप्तमम्रम प्रविश्य चन्दनकः कथयति—आगच्छतेति । विरवन्ताः आगच्छत स्वरितं यतश्चम् आयकं ग्रहीतुं यत्नं कुरुत, सधु शीघ्रं कुरुत कार्यं येन रातः पालकस्य सन्धीः राग्यतरमीः गोत्रान्तरम् अन्यद् कुलं गन्तुं न प्रभवति न समर्था भवति । गाथा वृत्तम् ॥६॥

उद्यानेष्विति । उद्यानेषु सभासु मार्गं नगर्याम् आपणे पश्यन्तीष्यां घोषे धामोर-घामे च यत्र प्रवेगे वा शब्दा जायते सन्देशो भवति त तं देवं स्वरितम् अन्विष्यत । गाथा वृत्तम् ॥७॥

रे रे इति । रे रे वीरक, कि कि दशयति ? विधायं विरवन् यथा स्यात् तथा कथमि कथयति तावत् ? बन्धनकं मित्वा यः गोपालशरकम् आयंक-हरति सः कः जनः ? गीतिर्जाति-वृत्तम् ॥८॥

कस्याष्टकः इति । कथ इति (पुत्रम्) । कस्य जनस्य जन्मराशेः अष्टमः अष्ट-मराशिस्यः दिनकरः सूर्यः ? कस्य जनस्य च चन्द्रः चतुर्थः चतुर्थराशिस्यः वर्तते ? कस्य वा भायंवरुः गुरुः षष्ठः भूमिमुत्तः मगलः च पञ्चमः वर्तते ॥१॥

यत्र कथय कस्य जनस्य जीवः बृहस्पतिः जन्मपथः जन्मराशेः षष्ठ्यन्तरे स्थितः सधेव गुरुमुत्तः सूर्यमुत्तः शनिः नवमः नवमराशिस्यः वर्तते ? यथा उत्पन्नेषु स्थिताः एते पन्थाः अनिष्टकराः भवन्ति तथैव गोपालशरकस्य अपरुंरुपि मद्दनिष्टं समु-पनिष्टमिति भावः । उच्यतेः शास्त्रानुमानेन च अष्टमसूर्यस्य पत्रं 'नरवम्', चतुर्थ-चन्द्रस्य च 'दुश्रीरोपः', षष्ठ्यङ्गस्य च 'विनासः', पञ्चममङ्गनास्य च शक्तिः, पञ्चमस्योः फलं 'गोकः' 'गन्धर्वद्वार', नवमस्यैवरास्य फलं च 'भननासः' इति चम्यते ॥१०॥



धोरक — भइ चन्दणआ,

अवहरइ कोवि तुरिअं चन्दणअ सवामि तुज्ज हिअएण ।  
जइ अद्धुइददिणअरे गोवालअदरओ खुडिदो ॥११॥

[भट चन्दनक,

अपहरति कोऽपि स्वरित चन्दनक शपे तव हृदयेन ।

यथाधोदितदिनकरे गोपालदारक खुदितः ॥]

षेट — जायं गोणा, जाय । [यात गावो, यातम् ।]

चन्दनक — (इच्छा) अरे रे, पेवस, पेवस ।

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्जेण राजमग्गस्स ।

एद दाव विआरह कस्स कहि पवसिओ पवहणो त्ति ॥१२॥

[अरे रे, पश्य पश्य ।

अपवारित प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।

एतत्तावादिचारय कस्य कुत्र प्रेषित प्रवहणमिति ॥]

धोरक — (अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ, मा दाय एयं पवहण वाहेहि ।  
वस्तकेरक एव पवहणम् । को वा इय आहठो । कहि वा वज्जइ । [अरे प्रवहण-  
वाहक मा तापदेतप्रवहण वाहय । कस्यैतत्प्रवहणम् । को वा इहाखुडः । कुत्र  
वा व्रजति ।]

षेटः — एषो बधु पवहणे अज्जचालुवत्तस्स । इय अज्जआ वरान्तरोणा आवुअ  
पुष्पकरण्डअं जिणुज्जाणं कोत्तिदु चालुवत्तरा णोअदि । [एतत्तलुप्रवहणमार्य-  
चारुदत्तस्य । इहायां वसन्तसेनाखुडा । पुष्पकरण्डक जोर्णोदानं क्रीडितुं  
चारुदत्तस्य नीयते ।]

धोरक — (चन्दनमुपगृह्य) एतो पवहणवाहओ संणादि — 'अज्जचालुवत्तस्स पवहणं  
परान्तरोणा आलुदा । पुष्पकरण्डअं जिणुज्जाणं णोअदि' त्ति । [एयं प्रवहणवाहको  
भणति — 'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणं वसन्तसेनाखुडा । पुष्पकरण्डक जोर्णोदानं  
नीयते' इति ।]

चन्दनक — ता एवदतु । [तद्गच्छतु ।]

धोरक — भणयतोइवो व्जेय । [अनजोलोकित एव ।]

चन्दनक — अथ इ । [अथ किम् ।]

धोरक — वस्त पच्चएण । [कस्य प्रत्ययेन ।]

चन्दनक — अज्जचालुवत्तस्स । [आर्यचारुदत्तस्य ।]

वीरक—वीर चन्दनक, मैं तुम्हारे हृदय की शपथ उठाता हूँ, हे चन्दनक, कोई शीघ्रता से (गोपालपुत्र आर्यक) को छुड़ायें तो जा रहा है क्योंकि सूर्य के आघात उदित होने के समय वह गोपालपुत्र भाग निकला था ॥११॥

चेट—चलो ! चलो ! चलो !

चन्दनक—(देखकर) अरे देखो, देखो—

बन्द (ढकी हुई) गाड़ी राजमार्ग में जा रही है। ठनिक यह तो विचार करो (पुछताछ करो) कि गाड़ी किसकी है ? कहाँ जा रही है ॥१२॥

वीरक—(देखकर) अरे गाड़ीवान् (बहलवान्) गाड़ी को मत हाँको। किसकी है यह गाड़ी ? कौन इसमें आरूढ़ है ? और कहाँ जा रहा है ?

चेट—यह गाड़ी आर्य चारदत्त की है। इसमें आर्य वसन्तसेना बैठी है। चारदत्त के साथ क्रीडा करने के लिये पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में ले जायी जा रही है।

वीरक—(चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवान् कहता है कि आर्य चारदत्त की गाड़ी है, वसन्तसेना आरूढ़ है। पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान को ले जायी जा रही है।

चन्दनक—तो जाने दो।

वीरक—बिना देखे ही ?

चन्दनक—और क्या ?

वीरक—किसके विश्वास से ?

चन्दनक—आर्य चारदत्त के।

अपहरतीति । हे चन्दनक, तव हृदयेन मया शपथं करोमि । कोऽपि कश्चिन् जनः त्वरितं तम् आर्यकम् अपहरति यथा अर्घोदिते दिनकरे सूर्योदयनाते सः योगतदारकः आर्यकः क्षुद्रितः पलायितः दिग्भ्रम्यो वा जातः । आर्याव्राजिः वृत्तम् ॥११॥

अपवारितमिति । अपवारितम् आच्छादितं प्रवृत्तं राजमार्गस्य मध्येन प्रव्रजति यच्छनि । एतत् तावत् विचारय कस्य जनस्य इदं प्रवृत्तं भूय च प्रोषितं गच्छति ।

प्रेषितमिति पाठान्तरम् ॥१२॥

याहदा स्थिता । प्रत्ययेन विश्वासैव ।

धीरक —को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तसेना ? जेण अणयत्तोइव यञ्जवि ।  
[व आर्यंचारुदत्त ? का वा वसन्तसेना ? येनानवलोपित प्रजति ।]

चन्द्रक —अरे, अज्जचारुदत्त ण जानासि, ण था वसन्तसेणिअम् । अइ  
अज्जचारुदत्त वसन्तसेणिअ वा ण जानासि, ता गग्गे ज्योत्स्नाराहित्थं चन्द्रमपि त्वं ण  
जानासि ।

को त्त गुणारविन्द शीलमिअद्दु जणो ण जानादि ?  
आवण्णदुत्तामोक्खं चउसाअरसारअ रअणम् ॥१३॥

दो ज्जेअ पूअणीया इह णअरीए तिलअभूवा अ ।  
अज्जा वसन्तसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥१४॥

[अरे आर्यंचारुदत्त न जानासि ? न वा वसन्तसेनाम् ? यथागचारु-  
दत्त वसन्तसेना वा न जानासि, तदा गग्गे ज्योत्स्नाराहितं चन्द्रमपि त्वं न  
जानासि ।

कस्त गुणारविन्दं शीलमृगाद्धं जनो न जानाति ?  
आपन्नदुत्तामोक्षं चनु सागरसाग् रत्नम् ॥

द्वावेव पूजनीयाविह नगरी तिलवभूती च ।  
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥]

धीरक —अरे चन्द्रक,

जाजामि चारुदत्त वसन्तसेण अ सुट्ठु जाजामि ।  
पत्तो अ राअवज्जे पिदर पि अह ण जाजामि ॥१५॥

[अरे चन्द्रक,

जानामि चारुदत्त वसन्तसेना च सुष्ठु जानामि ।  
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमप्यह न जानामि ॥]

आपंक —(स्वगतम्) अयं मे पूर्वधरी । अयं मे पूर्ववन्धुः । यतः ।

एककार्यनिशेगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।  
विवाहे च चित्तावा च यथा हृतमुजोदयोः ॥१६॥

बोरक—कौन आयं चारदत्त है और कौन वसन्तमेना है ? जिससे बिना देखे ही (यह गाड़ी) चली जाये ।

चन्दनक—अरे, आयं चारदत्त को नहीं जानते हो और न ही वसन्तमेना को ? यदि आयं चारदत्त और वसन्तमेना को नहीं जानते हो, तो तुम आकाश में चन्द्रिका-सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो ।

गुप्तों के कारण कमल के समान (मनोहर), सच्चरित्र के कारण चन्द्रमा के तुल्य (प्रिय) आपत्तिप्रस्त जनों के दु खों को दूर करने वाले, चारों समुद्रों के सारभूत रत्न उन (आयं चारदत्त) को कौन मनुष्य नहीं जानता ? ॥१३॥

आयों वसन्तमेना और घर्मनिधि चारदत्त में दो ही यहीं (उज्जयिनी) नगरी में दूग्ध एवं अलङ्कारभूत हैं ॥१४॥

बोरक—अरे चन्दनक—

चारदत्त को जानता है और वसन्तमेना को भी भली भाँति जानता है । (किन्तु) राजकीय कार्य पढ़ने पर मैं (अपने) पिता को भी नहीं जानता हूँ । ॥१५॥

आयंक—(अपने आर) यह मेरा पूर्व (जन्म का) शत्रु है । यह मेरा पूर्व (जन्म का) वन्द्यु है । क्योंकि—

एक कार्य में निरुक्त होने पर भी इन दोनों का स्वभाव समान नहीं है । जिन प्रकार विवाह में और बिना पर दो अग्निषो के स्वभाव की समानता नहीं होती ॥१६॥

क इति । गुप्तं मीढुमायोदिभिः अरविन्दं कमलं तन्महामित्यर्थे. (गुप्ता-नाम् कर्तव्यं वा) शीतस्य मृगशु चन्द्रम् आपनानाम् आपत्तिप्रस्ताता दुःखस्य मोक्षं पीडामुक्तिप्रदानं चतुर्णां सागराणां मार रत्नं त चारदत्त कः जनः न जानाति । रुद्रालङ्कारः । आयं वृत्तम् ॥१३॥

द्वैवेति । इह अयो नगरी उज्जयिन्या द्वौ एव पूजनीयो पूजायोम्नी निरकमूनो अलङ्कारभूतो च एता आयो वसन्तमेना (यः देव्यापि सती माधु-शीला) कररथ घर्मस्य निधि चारदत्त । आयोजातिः ॥१४॥

जानामीति । चारदत्त जानामि वसन्तमेनां च मुष्टु मन्दगु रूपेण जानामि विन्दु राजकार्ये प्राप्ते समुपस्थिते मनि अह बोरकः चिनरम् अपि स्वधनरूपमपि न जानामि । आयोजातिः ॥१५॥

एवेति । एरग्निम् रमारणे कार्ये निर्वाणे निरुक्तो अपि अयोः तुल्य-योग्यता समानं शीतं नास्ति यथा विवाहे चिनाया च इषो. दूतमुक्तो ह्वं मुदुक्ते इति दूतमुष्टु अग्निः सयोः एरग्निम् दहनरमणि निरुक्तो. अपि समानं शीतं न परति एषो हि गुफ, अररन्तु भद्रुष. । जमानलङ्कारः । दण्डारवन वृत्तम् ॥१६॥

चन्दनक — तुम तन्त्रिलो सेनावई रण्णो पच्चइदो । एवे धारिदा मए बइत्ता ।  
अवलोएहि । [त्व तन्त्रिल सेनापती राज प्रत्ययित । एतो धारितो मया  
बलोवदो । अवलोवय ।]

वीरक — तुम पि रण्णो पच्चइदो बलवई । ता तुम ज्जेव अवलोएहिं  
[त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपति । तस्मात्त्वमेवावलोवय ।]

चन्दनक — मए अवलोइइ तुए अवलोइइ भोइ । [मयावलोकितं त्वयाव-  
लोकितं भवति ।]

वीरक — ज तुए अवलोइइ त रण्णा पालएण अवलाइवम् । [यत्त्वयावलो-  
कितं तद्भाज्ञा पालकेनावलोकितम् ।]

चन्दनक — रे, उण्णामेहिं धुरम् । [अरे, उन्नामय धुरम् ।]  
(चेष्टस्तथा करोति)

आर्यक — (स्वपत्तम्) अपि रदिणो मामवलोकयन्ति । अण्णस्त्रश्वारिम  
मन्दभारय अयदा ।

भीमस्यानुपरिष्णामि बाहु शस्त्र भविष्यति ।

वरं व्यापच्छतो गृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने ॥१७॥

अथवा साहसस्य तावदनवसर ।

(चन्दनको नाटकेन प्रवहणमारुह्यावलोकयति)

आर्यक — शरणागतोऽस्मि ।

चन्दनकः — (सत्कृतमाधिरय) अभय शरणागतस्य ।

आर्यकः —

त्यजति किल त जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।

भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥१८॥

चन्दनक — इय अण्णओ गोवालदारओ सेणवित्तासिदो विअ पतरहो साउणि-  
अस्त हएये विषइदो । (विबिन्त्य) एतो अण्वरदो सोरणाअदो अण्णचारदत्तस  
पवहण आहओ पाणप्पदस मे अण्णसिबिलअस्त मित्तम् । अण्णदो राअणिओओ । ता  
कि वाणि एस्य सुत्त अपुविट्टिदुम् । अथवा अं भोदु तं भोदु । पटम ज्जेव अमअ  
दिण्णम् ।

तन्त्रिलः चित्तापर (पृथ्वी०) । प्रत्ययित विव्वासपात्रम् । धुर यानमुत्तम् ।  
इष्टु प्रवृत्ते रक्षकजने आर्यक मनसि करोति—

भीमस्येति । मयपि मम पादवै शस्त्र नास्ति तथापि अह भीमस्य अनुपरि-

चन्दनक—तुम राजा की चिन्ता करने वाले विश्वस्त सेनापति हो। ये दोनों बँत मैंने पकड़ लिये हैं। देख लो

बीरक—तुम भी राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो। इसलिये तुम ही देख लो।

चन्दनक—मेरा देखा हुआ तुम्हारा देखा हुआ हो जायेगा।

बीरक—जो तुमने देख लिया सो राजा पावक ने देख लिया।

चन्दनक—अरे जुआ उठाओ (उतारो)।

(चिट बँसा करता है)

आयंक—(अपने आप) क्या रथक मुझे देखते हैं? और मैं अभागा शस्त्रहीन हूँ। अथवा—

मीम का अनुकरण करूँगा, (मेरी) भुजा ही शस्त्र होगी। लड़ते हुए मृत्यु अच्छी है, कारागार में पड़े हुए की नहीं ॥१७॥

अथवा माहस कर (यह) अनसर नहीं है।

आयंक—शरणागत हूँ।

(चन्दनक अभिनय से रथ पर चढ़ कर देखता है)

चन्दनक—(संस्कृत में) शरणागत को अभय है।

आयंक—जो शरणागत का त्याग कर देना है, उसको विजयलक्ष्मी त्याग देती है। मित्र एवं वन्धुगण भी त्याग देते हैं तथा वह सदा उपहास के योग्य होता है ॥१८॥

चन्दनक—गोपाल-पुत्र आयंक बाज से भयभीत पशु (पन्नरथ) के समान मित्रकारी के हाथ में कैसे आ पड़ा? (विचार कर) (एक ओर तो) यह निरपराध एवं शरण में आया हुआ है जो आर्य चारदत्त के रथ पर आरूढ़ है। बीरभर जीवनदाता शक्तिरु का मित्र है। दूमरी ओर राजाज्ञा है। तो अब यहाँ क्या करना उचित है। क्या जो हो, सो हो। (मैंने) पहले ही अभयदान दे दिया है।

एषामि अनुकरणं करिष्यामि तथा मम बाहु शस्त्रं प्रविष्यति एषावचन्दन मुहं दुर्वतः  
(परपरिभवं दुर्वतः इति पृथ्वीधर) शृणु मरण वर ध्येष्ठ चन्दने बाराहमे गृहीतस्य  
बद्धस्य तु मरणं न वारिमिति भावः ॥१७॥

त्यजतीति । यः जनं हन्तु शरणागतं त्यजति न जनं किल निरवयेन अवशीः  
विजयलक्ष्मीः त्यजति मित्राणि मुह्यदः वन्धुवर्गं च जहति त्यजन्ति स च तदा उपहास्यः  
उपहासयोग्यः भवति । आर्या दृतम् ॥१८॥

पन्नरथः पशुः । शत्रुनिरास्य शत्रुनि हन्ति इति शत्रुनि तस्य ।

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्स परोवभाररसिअस्स ।

जइ होइ होउ पातो तहवि हु लोए गुणो ज्जेव ॥१६॥

(सभयमवतीर्यं) दिट्ठी अज्जो—(इत्यर्थात्) न, अज्जआ वसन्तसेणा । तवो एसा भणारि—‘बुत्त नेवम्, सरिस्स नेवम् जं अह अज्जचारवत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमागे परिभूता’ [कथमार्यको, गोपालदारक. इपेनवित्रासित इव पन्नरथ. शाकु-  
निकस्य हस्ते निपतित । एपोऽनपराध शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढ-  
प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम् । अन्यतो राजनियोग । तत्किमिदानी-  
मत्र युक्तमनुष्ठानम् । अथवा यद्भवतु तद्भवतु । प्रथममेवाभयं, दत्तम् ।

भीताभयप्रदान ददतः परोपकाररसिकस्य ।

यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥

दृष्ट आर्यं—न, आर्या वसन्तसेना । तदेषां भणति,—‘युक्तं नेदम्, सहश नेदम्, यदहमार्यं चाग्दत्तमभिसतुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता’ ।]

शोरक—चन्दनआ, एएय मह संसओ तमुप्पणो । [चन्दनक, अत्र मे सशयं समुत्पन्न ।]

चन्दनक—एयं वे ससओ ? [कथ ते सशयं ?]

शोरक—

सभमपग्घरकाण्ठो तुमं पि जादो सि जं तुए भणिदम् ।

दिट्ठो मए मखु अज्जो पुणो वि अज्जा वसन्तसेणेत्ति ॥२०॥

एएय मे अप्पच्चओ ।

[सभ्रमपघंरवण्ठस्त्वममि जातोऽसि यत्त्वया भणितम् ।

दृष्टो मया खत्वायं पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ॥

अन भेऽप्रत्ययः ।]

चन्दनकः—अरे को अप्पच्चओ तुह । एयं दक्खिणत्ता अट्ठत्ताभासिणो । एत-  
ससि-सड-सडठ्ठोबिलअ-कण्णाट-कण्ण-प्पाव-रणभ-इविड-चोत्त-चीण-अवर-सेर-खान-  
मुख-मधुघातपट्टवाणं मिलिच्छजादीणं अणेअवेत्ताभासाभिण्णा जरेट्ठं मन्तभाम, दिट्ठो  
दिट्ठा वा अज्जो अज्जआ वा । [अरे, कोऽप्रत्ययस्तव । वय दाक्षिणात्या अव्यक्त-  
भाषिण । खश-खत्ति-सड-सडठ्ठोबिल-कण्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्रविड चोल-चीन-  
वर-सेर-खान-मुख-मधुघातप्रभृतीना म्लेच्छजातीनामनेकदेशभाषामिणा मयेट्ठं  
मन्त्रयाम, दृष्टो दृष्टा वा, आर्यं आर्या वा ।]

शोरकः—एं अहं पि पत्तोएमि । राअअण्ण एसा । अहं रण्णो पच्चइदो ।  
[नन्वहमपि प्रलोक्यामि । राजाज्ञेया । अह राज्ञः प्रत्ययित ।]

चन्दनक.—ता कि अहं अप्पच्चइदो सवुत्तो । [तत्किमहमप्रत्ययित-  
सवृत्त ।]

डरे हुए को अभयदान देने वाले परीक्षकार के प्रेमी (व्यक्ति) वा यदि बिनास हो जाता है तो होने दी फिर भी समार मे (डरे हुए को अभयदान करना) वस्तुतः गुण ही है।

(भय सहित उत्तरकर) देव लिया आर्ष... (यह आर्षा कहते पर) नहीं, आर्षा वसन्तसेना। और यह कहती है—'यह उचित नहीं है, यह भोग्य नहीं है। जो आर्षा वास्तव के प्रति अभिसरण को जाती हुई मेरा सडक पर अपमान किया गया।'

वीरक—चन्दनक, इसमे मुझे मन्देह उत्पन्न हो गया है।

चन्दनक—तुम्हें किम लिये मन्देह है ?

वीरक—जब तुमने (पहले) मेने आर्षा देव लिया (तथा बाद में) आर्षा वसन्तसेना (देखती) ऐसा कहा तब तुम्हारा वसन्तसेना के कारण धर्म ध्वनि करने लगा ॥२०॥

यही पर मुझे अविश्राम है।

चन्दनक—अरे, तुम्हें अविश्राम क्यों है ? हम दाक्षिणात्य जल्पट बोलने वाले होते हैं। स्वयं, सति, बड, कडट्टोविल, कर्णाटक, कर्णाप्रवरण, द्रविड, चोल, पोन, बर्बर, वेर, खान मुख, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशों की भाषा को जानने वाले (हम) जंसा चाहते हैं बोल देते हैं—देव लिया या देखती, आर्षा या आर्षा।

वीरक—तो मैं भी देखता हूँ। यह राजा की आता है और मैं राजा का विश्रामपात्र हूँ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्रमनीय हो गया ?

श्रीतेति । श्रीतेभ्यः अभयप्रदानं ददतः परीक्षकारसिक्तस्य परीक्षकारे तत्परस्य यदि नारा. शक्ति तयापि खलु लोके पुनः एव ॥१६॥

संघमेति । एवं चन्दनकः धीरोऽपि तम् सम्प्रमेय धर्मः कष्टं यद्य ताहाः शतं अति, यत् स्वया (पूर्व) मणितं रचितं मया खलु आर्षः दृष्टः पुनः अपि य मणितम् आर्षा वसन्तसेना दृष्टा इति ॥२०॥

अप्यक्तम् जल्पटं भाषते सन्दीनः इति अभ्यक्तभागी तन्मं अप्यक्तभाषिणः मन्त्रपात्रः कल्पामः ।



धीरक — नं सामिणिओओ । [ननु स्वामिनियोगः ।]

चन्दनक — (स्वगतम्) अज्जगोपालदारओ अज्जचारदत्तस्स पयहणं अहिरहिय अववमदि ति अइ पहिउज्जदि, तवो अज्जचारदत्तो रणार सासिज्जइ । ता को एत्थ उवाओ ? (विचिरय) कण्णाटपत्तहण्णओअ वल्लेमि । (प्रवाशम्) अरे धीरअ, मए चन्दणकेण पत्तोइव पुणो वि तुम पत्तोएसि । को तुमम् ? [आयंगोपलदारक आयचारदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्यापक्रामतीति यदि वक्ष्यते, तदार्यचारदत्तो राजा आस्यते । तत्कोऽत्रोपाय । कर्णाटकलहप्रयोग करोमि । अरे धीरक, मया चन्दन केन प्रलोवितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि । कस्त्वम् ?]

धीरक — अरे, तुमं वि को ? [अरे, त्वमपि क ?]

चन्दनक — पुद्दज्जन्तो माणिज्जन्तो तुमं भण्णो जादि ण सुमरेसि । [पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमारमतो जातिं न स्मरसि ।]

धीरक — (सत्रोधम्) अरे का मह जादी ? [अरे, वा मम जाति. ?]

चन्दनक — को भणउ ? [को भवतु ?]

धीरक — भणउ । [भणतु ।]

चन्दनक — अहवा ण भणामि ।

जाणन्तो वि हु जादि तुज्ज अ ण भणामि सीलविहणेण ।  
निट्ठउ महच्चिअ मणे कि अ कइत्थेण भग्गेण ॥२१॥

[अथवा न भणामि ।

जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।

तिष्ठतु ममैव मनसि किं च कपित्थेन शग्गेण ॥]

धीरक — नं भणउ भणउ । [ननु भणतु भणतु ।]

(चन्दनक सजा ददाति)

धीरक — अरे वि षेदम् ? [अरे, किं न्विदम् ?]

चन्दनक —

सिष्णासिलाअलहत्थो पुरिष्ठाण कुच्चगान्ठसंठवणो

कत्तरिवावुदहत्थो तुमं पि सेणावदिं जादी ॥२२॥

[शीर्णशिलातलहस्त पुरुषाणा कूर्चग्रन्थिरास्थापनः ।

वर्तरीव्यापृतहस्तस्त्वमपि सैन्यसिंहात् ।]

सपूत सजातः । स्वामिन राज नियोग आज्ञा । आस्यते दण्डयते ।

कर्णाटकसह कर्णाटकप्रदेशस्य बलह (मिष्याबनह इति बाले) तस्य प्रयोगः ।

जानन्नपीति । तथ जातिं खलु जानन् अपि जातमन शीलविभवेन शील-

वीरक—तो भी स्वामी की आज्ञा है।

चन्दनक—(अपने आप) 'आपें' गोरान-मुख आपें चाहदत के रथ पर आरूढ़ होकर भागा जा रहा है' यदि यह कह दिया जाता है तब आपें चाहदत राजा के हाथ दण्डित होते हैं। तो यहाँ क्या उपाय है? (विचार कर) कर्णौटक (के लोगों बंसी) इतह का प्रयोग करता हूँ (प्रकट रूप में) अरे वीरक, मुझ चन्दनक के द्वारा देने हुए (निरीक्षण किए हुए) को तुम दोबारा देख रहे हो? कौन हों तुम, (दोबारा देखने वाले)?

वीरक—अरे, तुम्हीं कौन हों?

चन्दनक—पूजनीय वीर सम्माननीय तुम अपनी जाति की स्मरण नहीं करते।

वीरक—(क्रोधपूर्वक) अरे क्या है मेरी जाति?

चन्दनक—कौन कहे?

वीरक—कह दो।

चन्दनक—अपना, नहीं कहता।

तुम्हारी जाति को ठीक-ठीक जानते हुए भी (अपनी) शील-सम्पन्नता के कारण नहीं कह रहा हूँ। (तुम्हारी जाति का नाम) मेरे ही मन में रहे, वैसे तोड़ने से क्या नाम? (अर्थात् तुम्हारी जाति प्रकट करने से तुम्हारी नीचता ही सिद्ध होगी। जिस प्रकार ऊपर से सुन्दर लगने वाले बैंग के फल को तोड़ने से अन्दर की निस्वार्ता प्रकट हो जाती है) ॥२१॥

वीरक—नहीं, कहो, कहो!

[चन्दनक (ससकी जाति का परिचायक) संकेत देता है]

वीरक—अरे यह क्या है?

चन्दनक—टूटे पत्थर के टुकड़े को (बहुरा पानाने के लिये) हाथ में रखने वाला, पुष्टी की दाढ़ी बनाने वाला तथा कैंची (चनाने) में अस्त हाथ वाला तू (नारी) भी सेनापति हो गया ॥२२॥

चन्दनकः न ज्ञामि कथामि । सा जातिः मय एव मनमि तिष्ठतु । तथा च कथित्येव तन्नामकञ्चनजिगेदो ज्ञानेन कि को नामः ? आपें जातिः ॥२१॥

संतां वराणि जातिदूषकं सकुर्वं करोति ।

शीर्षेण । शीर्षेण शिषान्तं सुखादिपरिणामं पापानाम् । हस्तं यस्य साः पुष्यना कुचंद्रान्यि सम्भक्तु स्थापयति इति सः ताहः । चर्तरोष्णावृत्तः हस्तः यस्य तथापुत्रः त्वं वीरकः अरि सेनापतिः जात । एभिः सप्तमैः शक्तिज्जातिः शक्तिः ॥२२॥

वीरक —अरे, चन्दनभा तुम पि माण्डजन्तो अप्पणो केरिक् जाति ष मुमरेसि । [अरे चन्दनक, त्वमपि मान्द्रमान आत्मनो जाति न स्मरसि ।]

चन्दनक —अरे, का मह चन्दनभस्स चन्दविशुद्धस्स जादो ? [अरे, का मम चन्दनस्य चन्द्रविशुद्धस्य जाति ? ]

वीरक —को भणउ ? [को भणतु ?]

चन्दनक —भणउ, भणउ । [ भणतु, भणतु ]

(वीरको नाट्येन सज्ञा ददाति)

चन्दनक —अरे, कि णेदम । [अरे किं न्विदम् ।]

वीरक —अरे, सुणाहि सुणाहि । [अरे शृणु शृणु ।]

जादो तुज्झ विसुद्धा माता भरी पिदा वि दे पडहो ।

दुम्मुह करडअभादा तुम पि सेणावई जादो ॥२३॥

[जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटह ।

दुमुंए, करटकभाता त्वमपि सेनापतिर्जाति ॥]

चन्दनक —(सत्रोधम्) अह चन्दनभो चम्मारभो, ता पलोएहि पवहणम् ।

[अह चन्दनकरचमकार., तत्प्रलोचय प्रबहणम् ]

वीरक —अरे, पवहणवाहा पडिवनाधेहि पवहणम् पलोइहसम् । [ अरे प्रवहणवाहा, परिवर्तय प्रवहणम् । प्रलावायणामि । ]

(वेटरावा करोति । वीरक प्रवहणमारोडुमिच्छति । चन्दनक सहसा वेशेषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च ।

वीरक —(सक्रोधमुच्चार्य) अरे, अह तुए वीसत्थो राआण्णति करेन्तो सहसा केत्तेषु नेण्णिअ पावेण हाडिवो । ता सुणु रे, अट्टिअरणमज्जे जइ वे घउरङ्ग ण वण्णावेमि, तवो ण होमि वीरओ । [अरे अह त्वया विश्वस्तो राजाज्ञप्ति कुवं-  
न्सहसा वेशेषु गृहीत्वा पादेन ताडित. । तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते वतुरङ्गं न वल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः ।]

चन्दनक —अरे राअज्जस अट्टिअरण वा यच्छ । कि तुए सुणअत्तरितेष ।

[अरे, राजकुलमधिकरण वा व्रज । तिं त्वया शुनकसदृशेन ।]

वीरक —तथा । (इति निष्क्रान्त ।)

चन्दनक —(दिनोन्नलोचय) गच्छ रे पवहणवाहा गच्छ । जइ मे वि पुच्छेदि तवो म्पेसि—चन्दनवीरएहि अवतोइव पवहण यच्छइ । अज्जे वसतत्तेणे दमं च अट्टिअरणं वे देमी । [गच्छ रे प्रवहणवाहा, गच्छ । यदि कोऽपि पृच्छति तदा भण—चन्दनकवीरगाम्यामवलोकित प्रवहण व्रजति' आर्ये वसन्ततने, इदं चाभिज्ञानं ते ददामि ।] (इति सङ्ग प्रवच्छति)

बीरक—अरे चन्दनक, सम्मान पाकर तू भी अपनी जाति को स्मरण नहीं करता है।

चन्दनक—अरे, चन्द्रमा के समान विमुक्त मुझ चन्दनक को क्या याद ?

बीरक—कौन कहे ?

चन्दनक—कहाँ, कहीं।

[बीरक अभिनय से (असली जाति का परिचायक) मन्देरा देता है]

चन्दनक—अरे, यह क्या ?

बीरक—अरे, सुनो, सुन।—

तुम्हारी जाति (सचमुच) बड़ी पवित्र है। भेरी माता है, पट्टा पिता है, करक (एक प्रकार का वाद्य-यन्त्र) भाई है। तुम (धर्मकार होकर) भी सेनापति हो गये ॥२२॥

चन्दनक—(ओग्रभूषक) (यदि) मैं चन्दनक बमार हूँ तो देख ले माही को।

बीरक—अरे, माहीवान्, माही की पुत्राओ। निरीक्षण नरूँगा।

(बैठ बैठा करता है। बीरक माही पर चढ़ना चाहता है। चन्दनक अचानक बान पकड़कर उसे गिरा देता है, और बाँध से पीटा है।)

बीरक—(ओग्रभूषक उठकर) राजा के आदेश (का पालन) करने हुए मुझ विपन्न (धर्मकारी) को तुमने बान पकड़ कर लात से पीटा है। तो मुन दे, न्याय-लय के बीच में यदि तेरे चारों अङ्गों को न कटवा हूँ तो बीरक नहीं रहूँगा (तो मेरा नाम बीरक नहीं)।

चन्दनक—अरे, राजकुन के बा। मा न्यायलय में हूँ तो तुम से क्या ?

बीरक—जवला। (बाहर निकल जाता है)

चन्दनक—(चारों ओर देगाकर) जा, दे माहीवान् जा। यदि कोई पूछता है

तो बन्देना—'चन्दनक और बीरक द्वारा' देसी गई (निरीक्षण) माही का रही है।

और आज बन्देनामेने यह पत्रवान दुम्ने देता हूँ।

(इत्तार बैठा है)

चन्द्र २३ विमुक्तः चन्द्रविमुक्तः यत्नः।

जातिविशेषः। तप्य जातिः विमुक्तः चन्द्रविमुक्तः। माता भेरी वाद्यविशेषः विद्या-  
भरि से तप्य चन्द्रः। हे कुमुत्त चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः  
सेवादेवः जातिः एतद् चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः ॥३॥

चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः चन्द्रविमुक्तः

आर्षे.— (सद्य इत्येवा नृत्तंमात्मनम् ) ।

अये सन्त्र मया प्राप्य स्वन्दने दक्षिणो पुङ्गः ।

अनुकूलं च सकलं हन्त सरक्षितो सृष्टम् ॥२५॥

चन्दनक—अज्जए,

एत्य मए विष्णुविदा पत्तञ्जशा चन्दनं पि चुमरेसि ।

प भणामि एस लुद्धो पेहस्स रतेण बोम्भानो ॥२५॥

[आयं,

अत्र मया वित्तप्राप्त्या प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरति ।

न भणाम्येष लुब्धः स्नेहस्य रतेन ब्रू मः । ]

आर्षक—

चन्दनश्चन्द्रशीलादयो देवादयः सुहृन्मम ।

चन्दन भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेवस्तथा यदि ॥२६॥

चन्दनरः—

अमञ्ज तह देउ हरो विण्हू वम्हा रवो अ चन्दो अ ।

हत्तूप सत्तुववस मुम्भणिसुम्भे जघ्ना देवी २७

[अभय तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविरच ।

हवा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भी यथा देवी ]

(चैत प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्दनक—(नेपथ्याभिमृगमवतीवप) अरे, निष्कमन्तस्त मे विश्वप्रसक्तो रश्मिजले पिडितो ज्जेव मधुतगो गदो । मोदु । पद्यावदण्डधारजो वीरजो राप्रत्य-  
अत्रारो शिरोहिदो । ता जाव र्हपि पुत्तभानुपडिडुवो एट ज्जेव अणु सत्तपि ।  
[अरे निष्कमतो मम श्रिवधस्यः क्षविलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः । भवतु ।  
प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययवारो विरोधितः । तद्यावदहमपि पुन-  
प्रातृपण्डित एतमेवानुगच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः ।)

इति प्रवहणविषययो नाम पण्ठोऽङ्कः ।

चन्दनप्राप्तं शस्त्रं प्राप्य आर्षकः स्वमनसि चिन्तयति—अये इति । अये मया  
आर्षवेण शस्त्रं प्राप्तम् मम च दक्षिणः भुजः बाहुः स्यादते स्फुरति, अतः सर्वं  
मम अनुकूलं प्रतीयते [पुरपत्य हि दक्षिणभुजस्यान्दनं शृभसूचकं भवति] । हन्तेति  
हयं शहम् आर्षकः हि निरचयेन सरक्षितं सम्यक् रक्षितः ॥२५॥

चन्दनकः बसन्तसेनाभ्याजेन आर्षकः निवेदयति—अत्रेति अत्र मया चन्द्रनेन

आयंके—(तनवार लेकर हयं सहित अपने क. ५) —

अरे ! मैंने शस्त्र प्राप्त कर लिया चाहितो मुझा पढ़क रही है। अतः) मय कुछ बन्दूक है, हयं है, मैं बच गया हूँ ॥२४॥

चन्दनक—आपने,

यहाँ नरें शाय मुक्ति (या मुक्ति परित्यज) (आप) विदग्ध शोक चन्दनक को भी मार रक्ता । मैं यह लोभवश नहीं कहता, अस्तित्व मोह-रस के कारण वह एतद् ॥२५॥

आयंके—चन्द्रमा के समान (मनोहर) स्वभाव वाला (चन्दनक) भाग्य में बाध नेट निवृत्त है । हे (मित्र), यदि मित्र का आदेश मन्त्र (तथा) हुआ तो (तुम) चन्दनक को मार रक्वता ॥२६॥

चन्दनक—गिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा शम्भुज को मार कर तुम्हें इसी प्रकार कल्प प्रदान करें जिन प्रकार शुम्भ और निगुम्भ को मार कर दुर्गादेवी ने (सिंहे को बन्धन प्रदान किया था) ॥२७॥

(नेट माड़ी द्वारा चला जाता है)

चन्दनक—(नेट्य को ओर देखकर) अरे ! (आयंके) के बाहर निकलते ही नेट जिने निवृत्त शक्तिरु (रस के) पीछे ही गया हुआ निरन्त गया । अच्छा । राजा के शिवाय प्रजापत दण्डधारक वोरक को विरोधी बना दिया है जो तब तक मैं भी पुन और बन्धुओं सहित इन्हीं का अनुसरण करता हूँ ।

(बाहर निकल जाता है)

'मान-परिवर्तन' नामक छत्रा अङ्कु मनाप ।

शिव्या मुक्ति परित्यज वा प्रत्यजिना प्रत्यजं शिव्यां प्राप्ता च त्वं चन्दनकम् अपि स्पर्शं स्मरिष्यन्ति । एष अहं सुखः कृतविधोभक्तुः मन् न भयानि वशानि हिन्दु संसृज्य रत्ने भवेन एव द्रुमः वनं कथयानः ॥२४॥

चन्दन इति । चन्दनम् शानं शान्तस्वभाव इत्यर्थः तेन आह्वयः मुक्तः चन्दनः ईश्वर ईशान्याद् अहं मन आयंकेण सुहृद् मित्रं वा इति गौरः । यदि मित्रारोहः शिव्या प्रजापत दण्डधारक वोरक को विरोधी बना दिया है जो तब तक मैं भी पुन और बन्धुओं सहित इन्हीं का अनुसरण करता हूँ ।

चन्दनकः आयंकेण मद्भक्तान्तां करोति—अभयानि । एष मित्रः विष्णुः ब्रह्मा सूर्यः च चन्द्रः च शम्भुजं पातकवर्षं हवा (तर्पणं) तव आयंकेण अभयं शम्भु वना देशे दुर्गे शुम्भनिगुम्भौ तन्नामही देवी हवा देवस्यः अभयं दनवती । शम्भुजम् ॥२७॥

शिव्यान्तः शिव्यान्तः आयंकेण । अनुपमाः अनुपमाः । राजः चन्दनं शिव्यान्तं करोति एतदन्वयः ।

इति प्रवृत्तविरतयो नाम पद्यम् ।

## सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविवक्षति चारुदत्तो विद्रूपवरम्)

विद्रूपकः—भो, पेरल पेरल पुष्करण्डमजिष्णुज्जाणस्त सारसरोजदाम् ।  
[भो पश्य पश्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानस्य सधीकताम् ।]

चारुदत्त — वयस्य, एवमेतत् । तथाहि ।

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि पुमुमानि ।

शुल्कमिव साधयन्ना मधुकरपुरुषा प्रविचरन्ति ॥१॥

विद्रूपक — भो, इमं अस्तवकाररमणीयं सित्ताभलं उपविस्तु ममम् । [भो,  
इदमस्तकाररमणीयं शिलानलमुपविशतु भवान् ।]

चारुदत्त — (उपविश्य) वयस्य, चिरयति बधमानकः ।

विद्रूपक — भण्डो मए वड्डमाणअ—'वसन्तसेणिअं सेण्हिअं सहं सहं  
आअच्छ' ति । [भणितो मया बधमानक—'वसन्तसेना गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ'  
इति ।]

चारुदत्त — तर्कं विन्यासि ।

किं यान्यस्य पुरः शनं प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गं

भग्नेःक्षेपं परिवर्तनं प्रकुरुते छिन्नोऽथ वा प्रग्रहः ।

वर्तमान्तोऽज्ञितद्वारचारितगतमार्गान्तरं यापते

स्वेन प्रेरितगोयुगं विमयवा स्वच्छन्दमागच्छति ॥२॥

(प्रविश्य गुप्तायैव प्रवहणस्थः)

छेद — आप गीणा, जाघ । [यात गावी, यातम् ।]

चारुदत्तः उद्यानस्य शोभां वर्णयति—वणिज इति । तरवः वृक्षाः बन्धि इव  
वस्तुविज्ञेयतार इव भान्ति प्रतीयन्ते पुमुमानि पण्यानि विषयवस्तूनि इव स्थितानि शनं  
मधुकरा एव पुरुषा, राजपुरुषा इति यावत् शुल्कं राजभास्यं इत्यम् इव साधयन्त-  
शुल्कान्तं प्रविचरन्ति इत्यादि भ्रमन्ति । आपां वृत्तम् ॥१॥

अस्तवकारेणैव सत्कारामावेणैव रमणीयं प्रवृत्त्या रमणीयमिति भावः ।

बधमानकः कथं यिलम्बं करोतीत्यस्मिन् विषये चारुदत्तः तर्कयति—दिनिति ।  
किम् अस्य बधमानकस्य पुरः अद्ये प्रवहणं शनं, मन्दं याति स च तस्य अन्तरं गमनाय

## सातवाँ अङ्क -

(तत्पश्चात् चादत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

विदूषक—धीमान् जी, पुण्यकरबडक जीर्णोद्यान की शोभा-सम्पन्नता को देखिये, देखिये।

चादत्त—मित्र ऐसा ही है। क्योंकि—

(इस वाटिका के) वृक्ष वलिक के समान शोभित हो रहे हैं, पुष्प विक्रम्य पक्षियों के तुल्य स्थित हैं। और (राजकीय) पुरुष के समान शुल्क-सा लेते हुए भ्रमण कर रहे हैं ॥१॥

विदूषक—धीमान् जी, आप संस्काररहित होने पर भी सुन्दर (लगने वाले) इन शिला तल पर बैठिए।

चादत्त—(बैठकर) मित्र, वर्धमानक देर लगा रहा है।

विदूषक—मैंने कहा था 'वर्धमानक' वरचसेना को लेकर शीघ्र-शीघ्र जाया।'

चादत्त—तब क्यों देर कर रहा है ?

क्या उनके आगे धीरे-धीरे (कोई) गायी जा रही है और वह उससे निवृत्तने का अवसर ढूँढ रहा है ? चक्र (अश) के टूट जाने पर (रुमको) बदल रहा है या (बैलों के बांधने की) रस्सी टूट गई है, क्या राजकीय आदेश से (किसी विशेष कारण से) पालायाल रोड़ने के हेतु राजमार्ग पर टानी हुई लकड़ियों के कारण अवरोध मति माना (वर्धमानक) अन्य मार्ग ढूँढ रहा है। अथवा दोनों बैलों को धीमे-धीमे हरिता हुआ (वर्धमानक) स्वच्छन्दतापूर्वक आ रहा है ॥२॥

(जग पर आर्षक घुमा हुआ है ऐसे रथ पर स्थित प्रवेश करके)

घेट—चलो ! चलो, चलो।

सकलार्थं मार्गान्ते अन्विष्यति ? कि वा अर्थं चक्रे भ्रमन् मान् परिवर्तनं प्रचुरते ? अथवा प्रवृत्त-वृत्तमाना बन्धनरश्मिः क्षिप्तः मुदितः। अथवा धरमार्गान्ते मार्गस्य मध्ये अस्मिन् स्थाने-बाधमिः काष्ठैः कारितः कदा गतिः परम तादृशम् । अथवा इति पाठान्तरम् 'कर्मणो राजादीनां निन्दोपविशेषः तन्मन्विषिं धर्मं त्यक्तवाञ्छति तैः प्रविश्य चन्तः'—इति पृथगीतर । मार्गान्तरम् अन्यं मार्गं यावन् प्राप्यन्ति ? अथवा स्वैरं प्रेरितं कारितं योयुगं वृत्तमनु येन स. स्वच्छन्दं यथेच्छम् प्रापयन्ति तन् । इति च विलम्ब-धारणम् इति मज्जोक्तः । मन्देहातच्छार । शार्दूलविरहितं वृत्तम् ॥३॥

पुनः आर्षक. अस्मिन् तस्मिन् प्रवृत्ते स्थितः घेट. ।



आयकं (स्वगतम्)

नरपतिपस्थाणा दर्शनाद्भीतभीतः

सन्निगडभरणत्वात्सावशेषापसार ।

अविदितंभ्रिधिरूढं यामि साधोस्तु याने

परभृत इव नीडे रक्षितो वापसीभिः ॥३॥

अहो नगरात्पुद्गरमपक्रान्तोऽस्मि । तत्रिमस्मात्प्रवहणादवतीर्य कृष्ण  
वाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथवा कृष्ण  
वृक्षवाटिकागहनेन । अमुपपन्नवत्सलं खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तं धूमने ।  
तत्प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि ।

स तावदस्मादप्यसनाणंवात्थित निरीक्ष्य साधुः सन्नुपैति निर्वृतिम् ।

शरीरमेतदगतभीदृशी दशा धृतं मया तेस्य महात्मनो गुणैः ॥३॥

षेड—इमं न उज्ज्वलम् । नाव उज्ज्वलामि । (उज्ज्वल्य) अज्जमित्तव ।  
[इदं तदुद्यमानम् । यावदुपसर्पामि । आयमैत्रेय ।]

विदूषक—भो, पित्रं न निवेदयि । वृद्धमात्रं मन्येति । आगवाए बल्ल  
तेणाए होवस्वम । [भो प्रियं तं निवेदयामि । वर्धमानको मन्ययति । जातप  
वसन्तसेनाया भवितव्यम् ।]

चारुदत्त—प्रियं न प्रियम् ।

विदूषक—दासीए पुता, किं विरहणे ति । [दास्या पुत्र, किं चिरानि  
तोऽस्ति ।]

षेड—अज्जमित्तव मा कुप्प । जाणत्थत्तरे विद्युमत्तिदे ति कपुञ्जं गरणं  
कत्तेन्ते चित्तदेहि । [आयमैत्रेय, मा कुप्प । यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा  
गतागतिं कुर्वन्निचरामितोऽस्मि ।]

चारुदत्त—वर्धमानक, परिवर्तय प्रवहणम् । सखे मैत्रेय, अवतारस्य  
वसन्तसेनाम् ।

विदूषक—किं निभडेण बद्धा से गोइडा जेण सभं न ओररेदि ? [उत्पाद-  
प्रवहणमुदाहरणं] भो, न वसन्तसेना, वसन्तसेनो बल्लु एतो । [किं निगडेन बद्धा  
वस्या पादो, येन स्वयं नावनरति । भो, न वसन्तसेना, वसन्तसेनं रात्वेप ।]

आयकं मनसि कल्पयति—नरपतीति । नरपतिपुष्पाणां राष्ट्रपुरवायां  
दर्शनात् भीतभीतं भयान्तं भीतं, निगडेन सहितं सन्निगडं धरणं यम्यं स तन्नि-  
गडधरणं तस्य भावः सन्निगडधरणस्य तस्मात् शृद्धनामुत्तपकरणत्वात् हेतोः सावशेषः  
किञ्चिद् प्रवशिष्टं अपतारं अपतरणं पलायनं यस्य तादृशं अहम् आर्यकं तावो

आपंक—(अपने आप)

राजपुरुषों के देखने में जलजल डरा हुआ, बेड़ीमुक्त पंर होने के कारण पूर्ण-  
तया न भाग सकने वाला (मैं) काक मादाओं के द्वारा रक्षित कोयल के समान (विभी)  
मत्पुरुष की मवारी पर अनजाना ही आरुढ़ होकर जा रहा हूँ ॥३॥

अहो ! नगरी में बड़ों दूर निकल गया हूँ । तो क्या इस रथ से उतर कर  
वृष वाटिकाओं के गहन म्यान में धुम जाऊँ ? या फिर रथ के स्वामी के दर्शन करूँ ।  
अथवा गहन वृष वाटिकाओं को रहने दूँ ? पूज्य आप चाण्डल शरणागत-वल्लभ सुने  
जाते हैं तो (उनके) दर्शन करके आऊँगा ।

यह मत्पुरुष इस आपत्ति रूपी समुद्र से पार उतरे हुए (मुझे) देखकर आनन्द  
को प्राप्त होगा । मैंने इस अवस्था को प्राप्त हुआ यह शरीर उम महात्मा (चारदत्त)  
के गुणों से ही धारण किया है ॥४॥

छेद—यह बह उद्यान है । जब तक समीप चलता हूँ । (समीप जाकर),  
मंत्रेय ।

विदूषक—श्रीमान् जी, आपने प्रिय निवेदन करता हूँ । वर्धमानक पुनार  
रहा है । वनन्तमेना आई होगी ।

चारदत्त—प्रिय है ! हमारे लिये प्रिय है ।

विदूषक—दामी के पुत्र, देर क्यों की ।

छेद—आज मंत्रेय, क्रोध मत्त कीजिये । गाड़ी की बिट्ठवन (गहिया) भूल  
गया था, इनलिये लौट कर आते हुए देर हो गई ।

चारदत्त—वर्धमानक, गाड़ी को फेर लो । मंत्रेय, वनन्तमेना को  
(उतार लो) ।

विदूषक—क्या इसके पंर बेड़ी में बंधे हैं, त्रिमने यह स्वयं नहीं उतरती ?  
(उठकर गाड़ी को उपाड़ कर) श्रीमान् जी, यह वनन्तमेना नगरे, वनन्तमेन है ।

चारदत्तस्य माने अविदितम् अज्ञातस्त्वेन आघट्टः सन् वायसीभिः वाकीभिः कीठे  
हुताये रक्षितः परभृतः कीर्त्तितः इव यामि मच्छामि । उपमातद्धारः । मालिनो  
वृत्तम् ॥३॥

अज्ञानः दूरं गतः वृषवाटिकाया उद्यानस्य गहनं दुर्गमस्थानम् । इतम्  
अपन् । मत्पुरुषस्त्वेण शरणागतेषु घमत्तः म्नेहमीनः ।

स इति । माघः मञ्जनः सः चाण्डलः अस्माद् घमत्तम् आपत्तिः एव अर्थः  
मारुतस्मान् आरतिमारुतान् उत्थितम् उत्तीर्णं मा निरीक्ष्य विचोच्य निवृत्ति  
सुगं ममुपनि प्राप्स्यति तावत् । ईहसां दया गदम् एतत् शरीर मया कस्य  
महात्म्येन चाण्डलस्य मुनेः परोपकारादिभिः धृतम् । चाण्डलस्य प्रवृत्तेः स्थित्यादेव  
अहं पन्दनेन रक्षितः इति भावः । वर्धमानं वृत्तम् ॥४॥

चारदत्त — वयस्य, अल परिहासेन । न कालमपेक्षते स्नेह । अथवा स्वयमेवावतारयानि । (इयुत्तिष्ठति)

आयंक—(दृष्ट्वा) अये अयमेव प्रवहणस्वामी । न केवलं श्रितिरमणीय दृष्टिरमणीयोऽपि । हन्त, रक्षितोऽस्मि ।

चारदत्त — (प्रवहणमधिरह्य दृष्ट्वा च) अये तत्रोप्यम् ।

करिकारसमबाहु सिंहपीनोन्नतास

पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्ष ।

कथमिदमसमान प्राप्त एवविधो यो

वहति निगडमेक पादलग्न महात्मा ॥५॥

तत. क्यो भवान् ।

आयंकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरायंकोऽस्मि ।

चारदत्तः—किं घोपादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन दद ।

आयंक —अयं किम् ।

चारदत्तः—

विघ्नैर्वोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागत ।

अपि प्राणानह जह्या न नु त्वा शरणागतम् ॥६॥

(आयंको हयं नाटयति)

चारदत्त —वर्धमानक; चरणान्निगडमपनय ।

चेट —ज अज्जो आणवेदि । (तथा श्रुत्वा) अज्ज, अवणीदाई निगसाई ।

।यदायं आनाययति । आयं अपरीतान निगडानि ।।

आयंक —स्नेहमयान्यन्यानि दृढराराणि दत्तानि ।

विरूपक —संगच्छेहि निअडाइ । ऐसो पि मुक्को । सपद अह्ने वजिस्सामो ।

[सगच्छस्व निगडानि । एषोऽपि मुक्तः । साप्रत वयं व्रजिष्यामः ।]

चारदत्त —धिवशान्तम ।

आयंकः—सखे चारदत्त, अहमपि प्रणयेनदं प्रवहणमारढः । तत्सन्त-  
व्यम् ।

न कालम् अपेक्षते बालविशेष न सहते, नियं जनमविलम्बेन दाप्तुमभि-  
सापो भवतीति भाव । श्रुतो धवणे रमणीय मनोरम हृष्टो दर्शने रमणीय ।  
हन्त इति हयं ।

स्वप्रवहणारूढम् आयंक दृष्ट्वा चारदत्त वचयति—वरीति । करिण हस्तिनः  
वरेण शुण्डादण्डेन गमी सुल्पो बाहू यस्य, सिंहस्य इव पीनो पुष्टो उन्नतो च अंती

घाददत्त—मित्र, परिहास को रहने दो। प्रेम समय (दिली) को नहीं सहन करता है। अपना मैं स्वयं ही उतारता हूँ। (उठता है)

आर्यक—(दिग कर) अरे ! यही गाड़ी के स्वामी हैं। केवल सुनने में ही रमणीय नहीं हैं अपितु देखने में भी मनोरम हैं। अहा ! मैं सुरक्षित हो गया हूँ।

घाददत्त—(गाड़ी पर चढ़कर तथा देखकर) अरे ! तब यह कौन है ?

हाथी के सूड के समान जिसकी भुजाएँ हैं, मिह के समान पुष्ट एवं उन्नत कंधे हैं, अल्पतं विद्याल तथा समतल वक्षःस्थल है, नास्रवर्ण चञ्चल तथा दीर्घ नेत्र हैं—जो इस प्रकार का यह महानुभाव है, वह इस अनुचित दगा को प्राप्त होकर पैर में बँधी हुई वेड़ी को क्यों धारण कर रहा है ? ॥५॥

आर्यक—आपकी शरण में आया हुआ मैं गोपाल का पुत्र आर्यक हूँ ?

घाददत्त—क्या जिसे घोष से लाकर राजा पालक ने बन्दी बनाया ?

आर्यक—और क्या ?

घाददत्त—सौभाग्य से यहाँ लाये हुए तुम मेरी दृष्टि के विषय हुए हो। चाहे मैं प्राणों को भी त्याग दूँ किन्तु शरण में आये हुए तुमको नहीं त्यागूंगा ॥६॥

(आर्यक हर्ष का अभिनय करता है)

घाददत्त—वर्धमानक पैर में वेड़ी सौन दो।

चेट—जो आर्य आजा दें। (बैसा करके) आर्य वेड़ियाँ दूर कर दीं।

आर्यक—(किन्तु) दूसरी अधिक दृढ प्रेम की वेड़ियाँ पहना दी हैं।

विद्वयक—वेड़ो साथ ले लो। यह भी मुक्त हो गया। अब हम लोग चलेंगे।

घाददत्त—धिक् चुन रहों।

आर्यक—मित्र चारदत्त, मैं भी स्नेह के कारण इस गाड़ी पर चढ़ गया था, तो मुझे क्षमा कर देना।

रुन्धो यस्य, धृषुतर्दं विशालं ममं च यश्चरत्तं यस्य, ताभ्रं ताद्रवणं सोले चञ्चले आपते दीर्घं च अक्षिचो सोचने यन्ता, यः एवविधः महात्मा यः इदं पुरो द्वरचमानम् भगमानम् अनुरूपं प्राप्तः पादतान पादे तानम् एकं निगड रयं वृत्ति धारयति ? उपासतुः । मानिनी वृत्तम् ॥५॥

गोपालः प्रकृतिः कारण जनक इति यावत् यस्य तदाभूतः । विधिनेति । विधिना भाग्येन उपनीतः मय समीपम् जानीतः स्वम् आर्यकः मम चारदत्तस्य चतुर्विधं दृष्टियोरत्तः अयतः प्राप्तः अहं प्राणान् अपि जह्याम् स्वोरम, त किन्तु शरणगतं त्वां न त्यश्यामि इति शेषः ॥६॥

सप्तमस्य संग्रहानि कुरु, मार्थं नय इति भावः (टि०) ।

चारुदत्त—अलङ्कृतोऽस्मि स्वयमग्राहप्रणयेन भवता ।

आयंक—अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारुदत्तः—गम्यताम् ।

आयंक—भवतु अवतरामि ।

चारुदत्त—सखे, नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीन्सयमनस्य भवतोऽलघु-  
सवारा गतिः । सुलभपुरुषसचारेऽस्मिन्प्रदेशे प्रवहण विश्वासमुत्पादयति ।  
तत्प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

आयंक—यथाह भवान् ।

चारुदत्त—

क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आयंक—

ननु मया लब्धो भवान्वान्धवः

चारुदत्त.—

स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आयंक—

स्वात्मापि विस्मयंते ।

चारुदत्त.—

त्वा रक्षन्तु पयि प्रयान्तममराः

आयंक—

सरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्त—

स्वैर्भार्य्यैः परिरक्षितोऽसि

आयंकः—

ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ॥७॥

चारुदत्त—यदुद्यते पालके मूर्खी रक्षा न वर्तते, तच्छीघ्रमपक्रामतु  
भवान् ।

आयंकः—एवं पुनदर्शनाय । (इति निष्प्रान्तः)

स्वयमग्राह० (टि०) अभ्यनुज्ञात अनुमत । प्रत्यग्रं नवीनम् अल्पीत दूरीकृतं  
सयमनं बन्धनं यस्य । अलघु मन्द सञ्चार वेग यस्या सा गतिः । लघुसवारा इति  
पादान्तर लघु अत्र सवार सवरण (द्विपाना) यस्या तदाभूता इत्यर्थः । सुसम पुदपाणा

चारदत्त—स्वयं रह्य में स्नेह रखने वाले आदरों द्वारा मैं अंतर्दूत हो गया हूँ ।

आयंक—आप ने आज्ञा पाकर मैं जाना चाहता हूँ ।

चारदत्त—जाइये ।

आयंक—बन्धा, उतरना हूँ ।

चारदत्त—मित्र, उतरना नहीं चाहिये । अभि (अन्यत्र) हृदाया (मोना) गया है बन्धन विमर्श; ऐसे आपकी चान मन्द वेग वाली है, इस प्रदेश में जहाँ कि बहुत अधिक (राज) पुष्टियों का गमनागमन हो रहा है, माही विरहास उत्पन्न करती है । इन्हींमें माही में ही जाइये ।

आयंक—बैसा आप कहें ।

चारदत्त—कुशलतापूर्वक अपने सम्बन्धियों के पास जाओ ।

आयंक—मैंने तो आपको ही सम्बन्धो पाया है ।

चारदत्त—आप बातचीत में मेरा भी स्मरण कर लेना ।

आयंक—अपनी आत्मा भी भुलाई जाती है ?

चारदत्त—भाग में जाने हुए तुम्हारी देखता रसा करें ।

आयंक—मैं आपके द्वारा ही सरभित हो गया हूँ ।

चारदत्त—अपने भाग्य में रक्षित हुए हो ।

आयंक—किन्तु उसमें भी आप ही कारण हैं ॥३॥

चारदत्त—बसोकि पावक (पकड़ने के लिये) उदट है जिम्मे आपकी भती माँति रमा नहीं हो सकती, इमलिये आप मीघ्र बने जाइये ।

आयंक—अच्छा फिर दर्शन के लिये (आशा करता हुआ जाता हूँ)

(निरुक्त जाता है)

मन्धारो यत्र तस्मिन् । क्षेमैनेति (अयं) चाहदनायंस्पोरनरोत्तरेण अष्टसप्तः  
श्रीः (पूर्वीः)

क्षेमैण मनुजान् वाग्धरावु स्वजनान् प्रति वत्र पच्छ ।

मनु निरिष्वउमिदं म् मया आयंकेण भवान् चारदत्तः वाग्धरः स्वयः  
प्रत्यः । प्रवृत्ता आयंकेण कथान्तरेषु वास्तानां मध्ये अहं चारदत्तः स्मरन्त्यः स्मरन्तीयः  
अस्मि । स्वात्मा स्वकीयः आत्मा त्वि विस्मयंते किम् ? न कश्चि विस्मयंते इति  
भारः । चारदत्तश्च आयंकेण अत्यन्तुः । जान उतः 'न कथं विस्मयं' इत्यने ?  
पुनश्चारदत्तः तस्य गुणं ज्ञान्यते—एषि मायं प्रजान् मच्छन्तं स्वाम् आयंकेण अमराः  
देवाः रक्षन्तु । आयंकः उत्तरयति—अहं त्वया चारदत्तेन संरक्षितः । चारदत्तस्यो-  
दये प्रकृतयति—स्वः । स्वकीयः मायं-परिरक्षितः अस्मि त्वम् न न् मयेति । आयंकः  
इत्यत्रां दगंयति—हे तत्र अयि मायं इत्येव रसाने भवान् चारदत्तः हेतु मनु  
निरवनेन । शार्दून्विशीरितं वनम् ॥३॥

उपने उदमं कुर्वति ।

धारुदत्त—

कृत्वैव मनुजपतेमहदव्यलोकं  
 स्यात् हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन् ।  
 मैत्रेय क्षिप निगड पुराणकूपे  
 पश्येयु क्षितिपतयो हि चारुदृष्टया ॥८॥

(वामाक्षिस्वदन सूचयित्वा) सखे मैत्रेय वसन्तसेनादशनोत्सुकोऽयं जन । पश्य ।

अपश्यतोऽद्य ता कान्ता वाम स्फुरति लोचनम् ।

अकारणपरित्रस्त हृदय व्यथते मम । ६॥

तदेहि । गच्छाव । (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिक श्रमणकदशनम् ।  
 (विषाय) प्रविशत्स्वयमनेन पथा । वयमप्यनेनैव पथा गच्छाम । (इति निष्क्रान्त)

इत्यार्यकापहरण नाम सप्तमोऽङ्कः ।

कृत्वैति । मनुजपते नृपते पालकस्य महद् व्यलीकम् अहितम् अपराधं वा  
 कृत्वा अस्मिन् स्थाने क्षणम् अपि स्यात् न प्रशस्तं युक्तम् । हे मैत्रेय निगडम् आपक्य  
 रणान् अपनीतं नद्यां पुराणकूपे क्षिप पातय हि यत क्षितिपतय भूपतय धरा एव  
 दृष्टिं तया पश्येयुः । चारुदृष्टयो हि राजानः । प्रहृषिषी कृतम् ॥८॥

घारदत्त—इस प्रकार नृपति (पालक) का महान् अउराध करके इस स्थान पर लज भर भी ठहरना अच्छा नहीं । है मंत्रेय, इस बेड़ी को पुराने कुएँ में फेंक दो, क्योंकि राजा (अतिपति) दूत-रूपी दृष्टि से इसे देख लेंगे ॥८॥

(बाईं आँख का फडकना प्रकट करके) मित्र मंत्रेय, यह जन (अपति मैं) वसन्तसेना को देखने के लिये उत्सुक है । देखो—

आज उस प्रियतमा को न देखते हुए मेरी बाईं आँख फटक रही है । तथा बिना कारण के ही भयभीत हुआ मेरा हृदय व्यथित हो रहा है ॥९॥

तो आओ, जाते हैं । (धूमकर) क्या सामने ही अमङ्गलकारी बौद्धभिन्नु का वर्णन हो गया ? (विचार कर) यह इस मार्ग से प्रवेश करें । हम भी इस (दूसरे) ही मार्ग में जाते हैं ।

(निकल जाता है)

आर्यक-अपहरण नामक सप्तम अङ्क समाप्त

अपरपत इति । अथ तां वान्तां प्रियां वसन्तसेनाम् अपरपतः अनप-  
लोक्यतः मम लोचनं वामनेत्रं स्फुरति । मम पारदसस्य च वारणं विना  
एव परित्रस्तं भयभीतं हृदय व्यथते ॥९॥

अभ्युदयः समुदयः प्रयोजनं यस्य नर् आभ्युदयिकम् न आभ्युदयिकम् भनाभ्यु-  
दयिकम् अमङ्गलम् अमङ्गलः बौद्धभिन्नुः ।

इत्यादिवाक्यहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।



## अष्टमोऽङ्कः

(ततः प्रविशन्त्यादं चोवरहस्तो भिज्ज )

भिज्जु - अज्ञा, कलेष घम्मशचअ

शजम्मघ णिअपोटं णिच्च जग्गेध क्षाणाउहेण ।

विशमा इन्द्रिअचोला हलन्नि निलशच्चिदं घम्मम् ॥१॥

अपि अ । अणिच्चराए वेक्खिअ णवल दाव घम्माण शलणम्हि ।

पञ्चजण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लक्खिदे ।

अबले अ चण्डाल मालिदे अवस वि शे णल शग्ग गाह्मदि ॥२॥

शिल मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिदे कोश मुण्डिदे ।

जाह उण अ चित्त मुण्डिदे शाहू शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ॥३॥

निहिदकसाभोवए एते घोषते, जाव एव सट्टिअशासकाहकेतवे उज्जाणे पब्रित्तम  
पोक्खल्लिणोए पक्खल्लिम सहं सहं अवक्कमिरगम् । (अज्ञा ... घम्मसचयम् ।

सयच्छत निजोदरं नित्यं जाभृत ध्यानपटहेन ।

विशमा इन्द्रियचोरा हरन्ति चिरसञ्चित्त घर्मम् ॥

अपि च । अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि ।

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामोदुरक्षितः ।

अवलः क्व चाण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥

शिरो मुण्डितं तुण्ड मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमयं मुण्डितम् ।

यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

गृहीतकषायोदकमेतच्छोवरम्, यावदेतद्राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्या प्रक्षाल्य सधु लघ्वपक्कमिध्यामि । (परिक्रम्य तथा करोति)

(निपथ्ये)

शकारः—चिच्छं ते दुष्टशमणका, चिच्छं । [ तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक, तिष्ठ । ]

भिज्जुकः कथयति सयच्छतः इति । हे अता अज्ञानिनः, निजोदरं स्वकीयम्  
उपर सयच्छत सपरं भुस्त, ध्यानमेव पटह, वाचबिरोध, तेन नित्यं सदा जायत  
सावधाना भवत । भुत इत्याह—यत, इन्द्रियाणि एव चोरा इन्द्रियचोरा विशमा

## आठवाँ अङ्क

(तब गोना वस्त्र हाथ में लिए हुए भिक्षु प्रविष्ट होता है)

भिक्षु—अज्ञानी जनो, धर्म का संवय करो ।

अपने उदर को सयत करो, ध्यान-रूपी पटह (नगाड़े) से सदा जागते रहो;  
(वयोपि) ये इन्द्रिय-रूपी चौर भयङ्कर हैं । ये बहुत समय से सचित धर्म को हर लेते हैं ॥१॥

ओर भी । (संसार को) अनित्यता के भाव से देखकर मैं एकमात्र धर्मकार्यों की शरण में (आ गया) हूँ ।

जिम्ने पाँच जनों (इन्द्रियों) को मार दिया, (अविद्या-रूपी) स्त्री को मारकर (शरीर-रूपी) ग्राम की रक्षा कर ली तथा दुबल चाण्डाल (अहङ्कार) का नाश कर दिया, वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥२॥

गिर मुंडा लिया, मुन मुंडा लिया किन्तु मन नहीं मुंडाया (पवित्र नहीं किया) यह मुंडाना किस काम का है ? और फिर जिसका चित्त भली प्रकार मूढ गया है (पवित्र हो गया है) उसका गिर भली भाँति मूढ गया है ॥३॥

प्रथमतः (यावत्) इस राजा के माने (संस्पन्दक) के उद्यान में प्रवेश करके गेरू रंग में मुक्त इस वस्त्र की पोवर में प्रोकर शीघ्रातिशीघ्र चना जाऊँगा । (धूमकर बंसा हो करता है)

(नेपथ्य में)

शकार—ठहर, अरे, दुष्टजनक ठहर ।

भयङ्करा भवन्ति ते च विरसाञ्चनं बहुदायेन उजातिर्ल धर्मेषुष्यं ह्रन्ति । धार्याशक्तिः  
दृशन् ॥१॥

पञ्चजनना इति । देन वनेन उच्यते । पञ्च इन्द्रियाणि इत्यर्थः मारिताः  
षोडशानि, त्रिवयम् अविद्याम् इति भावः मारयित्वा नाशयित्वा धाम् । शरीरम् आत्मा  
या रक्षितः अक्षतः असहायः दुबलो वा चाण्डालः अहङ्कारः इत्यर्थः मारितः स ततः  
अथर्वं स्वर्गं गच्छति । वैशालीयं वृत्तम् ॥२॥

गिर इति । यस्य जनस्य गिरः मुण्डितम्, तस्य मुण्डितम्, चित्तं न  
मुण्डितं न संपत्नीकृतम् । तदा किमर्थं मुण्डितं तस्य मुग्धनेन न कीर्त्तयिष्यामि इति-  
भावः । ननु, किन्तु यस्य जनस्य चित्तं साम्प्रतम् मुण्डितं तस्य गिरः मुण्डितम्  
मुण्डितम् । वैशालीयं वृत्तम् ॥३॥

भिक्षु—(इष्ट्वा सभयम्) ही अविदमानहे । एषो शी साभरातगंडाये आभवे  
एकेन भिक्षुणा भवसाहे द्विडे अग्न पि जहि जहि द्विषु देवसादे, तहि तहि गोप  
विज चास विन्धिअ भोवाहेदि । ता कर्हि भसलने शसयं गमिरसम् । अथवा भट्टातके  
बजेव बुद्धे मे सतणे । [आश्वर्यम् । एषा स राजत्यालसंत्पानक आगतः । एकेन  
भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र तत्र भिक्षु पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासिको  
विद्धवापवाहयति । तत्कुत्राशरणं शरणं गमिष्यामि । अथवा भट्टारक एव बुद्धो  
मे शरणम् ।]

(प्रविश्य हसद्गनेन विटेन सह)

शकारः—विट्ठ से बुद्ध्यामणका, विट्ठ । भाषाप्यमज्जपविट्ठस दिव  
सत्सुसअरा शीशं वे भोद्धइशम् । [तिष्ठ रे दुष्ट श्रमणक, तिष्ठ । आपानकम-  
ध्यप्रविष्टत्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्ग्यामि । (इति ताडयति)]

विट्—बागेलीमात, न युक्त निवेदयतकपायं भिक्षु ताडयितुम् ।  
तत्किमनेन । इद तावत्सुखीपगन्धनुद्यान पश्यतु भव न् ।

अशरणशरणप्रमोदभूतैर्दन्तरुभिः क्रियमाणत्वारुकम् ।

हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिजितोपभोग्यम् ॥४॥

भिक्षुः—शामयम् । पुगोद्धु उवाशके । [स्वागतम् प्रसीदतूपासकः]

शकार—भाषे, देवस देवस । आशकोधदि मम । [भाव, पश्य पश्य आङ्गो-  
शति माम् ।]

विट्—किं ब्रवीति ।

शकार—उवाशके त्ति मं मणारि । किं ह्यने आदिबे । [उपासक इति नो  
भर्णति किमह नापितः :]

विट्—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तीति ।

शकार—पुत्रु शमणका, पुत्रु । [स्तुहि श्रमणक, स्तुहि ।]

भिक्षु—सुम धम्मे, सुमं पुण्णे । [स्वं धन्यं, स्वं पुण्यः ।]

पूर्वतं कथावोरहं कथावर्णनम् उदकं देन तत् । चीवर वस्त्र बोद्धभिषुवाणं  
इत्येविसेयो वा । एष्वरिष्यां इतिमत्तरोदरे (खातो) । यद्यपि राजभ्यामकः  
एव राट्टियः तथापि—'राट्टियस्यासत्त्वेन च पुनः सयोदः प्रकल्पस्यापनार्पः' इति  
पृथ्वीधरः ।

अपवाहयति अपसारयति, दूरीकरोति । भट्टारक स्वामी, देवः । सादानं  
पानगोष्ठी, मद्यनां समाज इति वाक्यं तस्य भाषे प्रविष्टस्य रक्तमूलकस्य शीर्षं  
इव, 'मद्यनाः हि पन्नकभागमयनीय मूलकमुपवनोर्बुवंति'—इति प्रतिदि- निबंदन  
केशमिणं प्रतं कथाय वेन तम् । 'कथा' इति वाङ्मयम् । सुजेन उच्यम्यम्

मिशु—(देखकर भयपूर्वक) आरचमें, यह वह राजा का साना सैन्याधिकारी आ गया। एक मिशु के आराध करने पर (अब यह) जहाँ-जहाँ दूसरे भी किसी मिशुको छो देखा है, वही उसे बँस के समान नाक बँधकर (नाथ कर) बाहर निकाल देता है। तो आश्रयहीन मैं किसकी तरफ से जाऊँ? अथवा भगवान् बुद्ध ही मेरे आश्रय है।

(सद्व्यतिथे हुए विठ के साथ प्रवेश करते)

शाहर—ठहर, अरे, दुष्ट धमनक, ठहर। मैं महिरालय में आई हुई सान सैन्यों के समान तेरे गिर को तोड़ना है। (मारता है)

विठ—काशेनी के पुत्र, बँसग्य से पेरुआ कात्र आरण करने वाले इस मिशु को मारना ठीक नहीं। तो इससे क्या? आप तनिक इस मुसगम्य उदान को देखिये।

जिनमें आश्रयहीनों को आश्रय तथा आनन्द देने वाले वन-सृष्टों के द्वारा मनोहर करने किया जा रहा है, जो दुष्ट-जनों के हृदय के समान (पदैच्छ विहार आदि के कारण) अनियन्त्रित हैं और नवान राज्य के समान भलो-भाति अधिकृत न किया गया तथा सबके उपभोग के योग्य है ॥३॥

मिशु—स्वापत है उपासक (बुद्ध के पूजक) होयें।

शाहर—भाव, देखो, देखो यह मुझे पाली दे रहा है।

विठ—क्या कहता है?

शाहर—मुझे उपासक' कहता है, क्या मैं तारी हूँ?

विठ—'बुद्ध का उपासक' ऐसा कह कर आपको प्रणसा करता है।

शाहर—प्रणसा करो, धमनक, प्रणसा करो।

मिशु—तुम वन्य हो, तुम पुन्य (पवित्र) हो।

उदानम् (टि०) । अशरत्तेति । अशरत्तानाम् आश्रयहीनानां शरत्तम् आश्रयः, प्रमोदभूताः आनन्दस्वरूपाः अशरत्तशरत्तारव ते प्रमोदभूतानव सं. वनतदभिः वनसूताः विषयगतो धार वनोरत्तं वनं वन तद् । कुरात्तमनां दुष्टानां (बोहगामिति ध्वनिः—बाने) हृदयम् इव अयुतम् अनियन्त्रितम् । नष्टं नूतनं राग्यम् इव अनियन्त्रितं अधिकृतं उतरव सर्वैः उपभोग्यं सर्वेषाम् उपभोगयोग्यम् अत्र पुनः मिशुकम् प्रवेगः इति भावः । उदानवद्वारः । वृत्तिज्ञाना वृत्तम् ॥३॥

माकोतानि यानिप्रदान करोति । उपासते इति उपासकः मासिप्रोत्ति उपासकः उपासते स हि केजसर्ववसने उपासकभोने, मासते = लिप्यति । अथवा 'स हि उपासको रूपः इत्यादि' (इति पृथीषट्) ।

वनासकः = शरत्कः, वनासकः इत्यन्ते । कोपकः इत्यकारिणः उत्तरपदानं

शकार — भावे धेष्णे पुष्णे ति मं भणति । किं ह्यग्रे शकारके कोरटके कोम्भकारो वा । [ भाव, धन्य पुष्य इति मा भणति । किमह् चार्वाक, कोष्ठक कुम्भकारो वा ।

विट — काणोलीमात ननु धन्यस्त्वम् पुष्यस्त्वम् इति भवन्तं स्तीति ।

शकार — भावे, ता कोरा एते इद्य आगदे । [ भाव, तत्किमर्थमेष इहागत ]

भिष्णु — इद चीवल पक्खालिदुम् । [ इद चीवर प्रदालयितुम् । ]

शकार अस्ते दुष्टशमणका, एते मम वेहिणीपदिष्ठा मधुञ्जानाण पद्वे पुष्करलब्धुज्जाणे दिष्णे जहि दाव शुणहका शिआत्ता पाणिअ पिअन्ति । ह्यगे वि पक्खपुत्तिरो मणुराके न ण्हाआमि । तहिं तुम पुक्खलिणीए पुत्ताणकुलुत्पयज्जावण्णाइ उरराणग्घिआइ चीवलाइ पक्खालेसि । ता तुम एकपहात्तिअ क्खत्तेमि । [ अरे दुष्ट-श्रमणक, एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानाना प्रवर पुष्यकरण्डोद्यानं उत्तम्, यत्र तावच्छुनका शृगाला पानीय पिबन्ति । अहमपि प्रवरमुखो मनुष्यको न स्नामि । तत्र त्व पुष्करिण्या पुराणकुलित्ययूपसवर्णाग्घुग्रन्धीनि चीवराणि प्रदालयसि । तत्रानेकप्रहारिक करोमि । ]

विट — काणलीमात, तथा तर्क्याभि यथानेनाचिरप्रव्रजितेन भवित-  
व्यम्

शकार — कथं भावे जणारि ? [ कथं भावो जानाति ? ]

विट — किमत्र ज्ञेयम् । पश्य—

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छवि-

कानस्याल्पतया च चीवरकृत स्कन्धे न जातं किञ्च ।

नाभ्यस्ता च कशयवस्त्ररचना दूर निगूढान्तर

वरप्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिल स्वन्धे न सतिष्ठते ॥५॥

भिष्णु — उयाशके, एवम् । अचिलपक्खजिडे ह्यगे [ उपासक, एवम्, । अचिर-  
प्रव्रजितोऽहम् । ]

शकार — ता कोरा तुम जातमेत्तक ज्जेव ण पक्खजिडे । [ तत्किमर्थं त्वं  
जातमात्र एव न प्रव्रजितः । ] ( इति ताडयति )

(निपानम्) एत एव पानीय पिबन्ति तद् हि पुष्य प्राण्यनुग्रहात् । कुम्भकारोऽपि पुष्य जनानामुपकारकरणात् । अथवा शकारवचनाद् अनर्थका एव इमं शब्दाः ।

प्रवर धेष्णुम् । शुनका कुवकुराः । पुराण कुलित्य अन्नविधेय तस्य पुष्यस्य शवर्णानि तुल्यानि 'शबलानि' इति पाठान्तरम् । उग्रगन्धीनि तीक्ष्णप-  
पुनानि । एकरप्रहारिकम् एकर प्रहारः जीवितापहारित्वेन अस्ति अस्य, एकरप्रहारेण

शकारः—भाव, 'धन्य-पुण्य' ऐसा मुझको बहता है । क्या मैं चाबक (भोतिक-वादी) हूँ, कोष्ठक (भण्डारी, अन्न को कोठा या जल भरने की चर—देमिये टिण्णी) बयवा कुम्भकार हूँ ।

बिट—काणेली के पुत्र, वह तो 'तुम धन्य हो ।' तुम पवित्र हों—इस प्रकार तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है ।

शकार - भाव, तो किस लिये यहाँ आया ?

मिक्षु—इस वस्त्र को धीने के लिये ।

शकार—अरे दुष्ट श्रमणक, मेरे बहनोई ने सब उद्यानों में खँद यह 'पुण्य-करण' नाम का उद्यान मृत्ते दिया है जहाँ कुत्ते और सियार पानी पीते हैं, खँद पुरुष, मनुष्य में भी यहाँ स्नान नहीं करता है । तू उस गोलरी में पुराने कुत्तार के बाले (पूप) जैसे रंग वाले, उग्र दुर्गन्ध युक्त वस्त्रों को धोता है । मैं तुझे एक प्रहार से (ही) मारता हूँ ।

बिट—काणेली के पुत्र, मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह कुछ समय से ही परिव्राजक हुआ है ।

शकार—आप कंमे जानते हैं ?

बिट—इसमे जानने योग्य ही क्या है ? देखो—

सौंज भी केशों के अभाव से इसके ललाट की कान्ति वैसे ही गौर वर्ण है । भ्रम्य समय होने के कारण ही कर्णों पर वस्त्र का धिक्क नहीं हुआ । इसे गेरए दन्तों के पहनने (अथवा रगने) का भी (पूर्ण) अभ्यास नहीं हुआ है, तथा जो उसके शरीर के मध्य भाग को अत्यन्त ढक रहा है एवं वस्त्र की विशालता के कारण गिपिल है, ऐसा इसके वस्त्र का छोर-(वस्त्रान्तम्) कर्णों पर नहीं टपूर रहा है ॥५॥

मिक्षु—उपासक, ऐसा ही है, कुछ समय मे ही मैं परिव्राजक हुआ हूँ ।

शकार—तू उत्पन्न होते ही परिव्राजक क्यों नहीं हुआ ? (मारता है)

भारणीयमिति भावः । एक प्रहारेण मारणोक्तावम् प्रयोगः इति पृथ्वीधरः ।

अचिरेण प्रव्रजितः अचिरप्रव्रजितः तेन ।

कथम् अनिरप्रव्रजितोऽयं भिक्षुरिति प्रतिपादयति बिट—अपेति । अथ भिक्षु केशविरहात् केशानाम् अभावाद् अस्य भिक्षुत्वस्य ललाटस्य छविः शोभा तथैव दृहस्याप्रमे स्थितस्यैव गौरी गौरलपां इत्यते । बालस्य मत्स्यतया च घोरवृत्तः वस्त्रवृत्तः किञ्चः धर्षणज प्रणधिरुं रञ्घे म ज्ञानः । बयापवत्तस्य रथना रञ्जनवायं वस्त्राणां कपायीकरणमिति यावद् वापादवस्त्रधारणं वा न स्पन्दनस्य म सम्पक् शोभितम् । इत्तम् अत्यन्तं निगूढम् ममाच्छादितम् अन्तरं गरीरस्य मध्यभागः येन तन्नु, पटस्य वस्त्रस्य उच्छ्रयान् विज्ञानतया प्रतिपिनं च वस्त्रान्तं वस्त्रान्धनः, मपुंसवत्वं विन्यमिति पृथ्वीधरः । रञ्घे रञ्घप्रदेशे न मनिच्छे स्थिरो न भवति । ममुन्वय काश्चित्कृत्वात्तद्वारी । शादून्विकीरितं वृत्तम् ॥५॥

मिक्षु — नमो बुद्धरा । नमो बुद्धाय ।]

विट — किमनेन ताडितेन तपरिवना । मुच्यताम् । गच्छतु ।

शकारः—असे, विट्ट शश गाथ सपघासेमि । [अरे, तिष्ठ तावत्, याव-  
स्तंप्रधारयामि ।]

विट — केन सार्धम् ।

शकार — अत्तणो हृदयेण । [आत्मनो हृदयेन ।]

विटः—हन्त, न गतः ।

शकार — पुत्रका हृदयेण मट्टके पुत्रके, एते शमणके भवि नाम कि मच्छदु,  
कि चिरददु । (स्वगतम्) नापि मच्छदु, नापि चिरददु, (प्रकाशम्) भावे, सपघातिद  
मए हृदयेण सह । एते मह हृदयेके भणादि । (पुत्रक हृदय, मट्टारका पुत्रक,  
एव शमणकोऽपि नाम कि मच्छतु, कि तिष्ठतु । नापि मच्छतु, नापि तिष्ठतु ।  
भाव, संप्रधारित मया हृदयेन सह । एतन्मम हृदय भणति ।]

विट — कि धवोति ।

शकार — मावि मच्छदु, भावि चिरददु । भावि नारादु, भावि णीयातु ।  
इय ज्जेव ज्ञत्ति पडिअ मसेवु । [भापि मच्छतु भापि तिष्ठतु । माप्पुच्छवसितु,  
भापि निश्वसितु । इहैव ज्ञत्ति पतित्वा श्रियताम् ।

मिक्षु — नमो बुद्धरा शरणागवेहि । [नमो बुद्धाय । शरणागतो-  
ऽस्मि ।]

विट — गच्छतु ।

शकार — न शमएण । [तनु समयेन ।]

शकारः—तथा कहम फेलदुवु, जया पाणिअं पड्डाहस न होवि । भयवा पाणियं  
पुञ्जोकुदुअ कहमे फेसदु । [तथा कर्दमं प्रक्षिपत्, यथा पानीयं पड्डाविसं न  
भवति । अथवा पानोर्यं पुञ्जोकृत्य कर्दमे क्षिपत् ।]

विटः—अहो मूर्खता ।

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ध्मभिः ।

मासदक्षीरियं मूर्खोभारान्ता वसुधरा ॥१॥

(भिक्षुनाइयेनाहोरति)

शकारः—कि भणारि । [कि भणति ।]

विटः—स्तोति भवस्तम् ।

शकार—पुणु पुणु पुणो वि पुणु । [स्तुहि स्तुहि । पुनरपि स्तु हि ।]

(तथा कृत्वा निष्गन्तो भिक्षु )

मिश्र—बुद्ध को प्रणाम है ।

विट—इस बे शर्रे को मारने मे क्या नाम है ? छोड़ दीजिये । क्या नाम (जाने दीजिये) ;

शकार—अरे, तनिक ठहर । अब तक विचार करता हूँ ,

विट—किसके साथ ?

शकार—अपने हृदय के साथ ।

विट—हाय, यह क्या मर्ती ।

शकार—पुत्र हृदय, राजा हृदय, यह बौद्ध मन्मासी क्या नाम या ठहरे ? (अपने आप) न जाये और न ठहरे । (प्रकट रूप में) भाव, देने हृदय क सम्प विरचम कर लिया । मेरा हृदय यह कहता है ?

विट—क्या कहता है ?

शकार—न तो जाये, न ठहरे । न उच्छ्वास से, न विश्वास से, यही पर दुरम्य गिर कर मर जाये ।

मिश्र—बुद्ध को प्रणाम । मैं शरण में आया हूँ ।

विट—यह जाये (इसे जाने दो) ।

शकार—किन्तु समय (शत) से ।

विट—कैसा समय ?

शकार—यह इस प्रकार कीचड़ फेंक दे जिससे कि पानी गदला न होवे । अपना पानी को इकट्ठा करके कीचड़ में फेंक दे ।

विट—अहो, कैसी मूर्खता है ?

विपरीत विचार तथा कार्य करने वाले, मिनामण्ड के समान शरीर (वर्ध्म) वाले मांस के दुर्भों जैसे मूखों के द्वारा यह पृथ्वी मारवर्ती हो रही है ॥६॥

(मिश्र अभिनय द्वारा कोसता है)

शकार—क्या कहता है ?

विट—आपकी प्रशंसा करता है ।

शकार—प्रशंसा करो, प्रशंसा करो; एक बार फिर प्रशंसा करो ।

(वेसा करके मिश्र त्रिकत जाता है)

वानमात्रः उत्पन्नमानः । तत्तन्निना वराहेण । मद्रघारण्यमि विचारण्यमि, निश्चिन्तोमि वा ।

मद्वारक स्वामिन् । धममरुः बौद्धसम्पासो । अवि नाम इति वाक्या-  
नशूरे । मद्रघारिते निश्चितम् । समयेन शरयेन । सर्वमं पशुम् । वशुमिन्  
पशुने मनिनम् । शकारस्य मूर्खतामप्य वचनं श्रुत्वा विटः वचमपि—विपरीतेति ।  
विपरीते विपरीते मनः सेवता न देया तादृशैः शितारावसवन् पापानामरवन्  
वर्णं शरीरं देयाः तैः मातस्य दुर्भैः इव मूर्खैः शकारमदुर्भैः प्रनैः इव वशुपरा  
पृथैः माराण्डा मारवती वरंते । उपमा रूप मारवती ॥६॥



विट.—काणेलीमातः, पश्मोद्यानस्य शोभाम् ।

अमी हि वृक्षा फलपुष्पशोभिता

कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः

नृपाजया रक्षिजनेन पालिता

नराः सदासा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥७॥

शकारः—शुशुभु भावे भणति ।

बहुकुसुमविचिचिता अ भूमि

कुसुमभलेण विणामिदा अ खला ।

द्रुमशिहललदाअलम्बमाणा

पणशफना विअ बाणला ललन्ति ॥८॥

[मुष्टु भावो भणति ।

बहुकुसुमविचिचिता च भूमिः कुसुमभरेण विणामिताश्च वृक्षाः ।

द्रुमशिहललदाअलम्बमानाः पनसफलानीव दानरा ललन्ति ॥]

विट — काणेलीमातः, इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकार — एते हि आश्रिते । (इति विटेन सहोपविशति) भावे अज्ज'पि तं घट'तथेपिअ सुमत्तामि । बुज्जणवअणं विअ हृदयकादो ण ओसत्तवि । [एपोऽस्म्या गिनः । भावः, अथापि तां वसन्तसेना स्मरामि । द्रुज्जनवचनमिव हृदयान्ता-पररतिः ।]

विट — (स्वागतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा ।

स्त्रीभिर्निमानितानां कापुरपाणां विवर्धतेः मदनः ।

सत्पुरपस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥६॥

शकार—भावे, वा वि वेला पायलरचेडरता भणितरता 'प्रलहणं गेण्हुअ तहूँ एतहूँ आअण्णे' ति । अज्ज वि ण भाअण्णदि ति चित्तन्हि पुमुचित्ते । मज्जाण्णे ण शरकीजवि पादेहि गण्णुम् । ता पेक्ख पेक्ख ।

अमीति । पुर्वे फले च शोभिता कठोर पादं यथा स्थाव तथा निष्पन्दरामि. निष्पन्दरामि सताभिः उपवेष्टिता आतिङ्गिताः अमी दृश्यमाना वृक्षाः नृपराय भाजया रक्षिजनेन रक्षकजनेन पालिता. रक्षिता. सदासा स्त्रीभिः सहिता नरा

विट—काणेली के पुत्र, उद्यान की शोभा को देखो ।

फल एवं पुष्पों से सुशोभित, निरचल (निष्पन्द) तताओ से भली-भांति (कठोर—गाड़) आलिङ्गित ये वृक्ष राजा की आत्मा से रसको द्वारा रमित सपत्नीक पुरियों के समान मूल (निर्वृति) से प्राप्त कर रहे हैं ॥७॥

शाकार—आप ठीक कहते हैं ।

भूमि अनेक रंग के पुष्पों से चित्रित है तथा वृक्ष पुष्पों के भार से झुके हैं । वृक्षों के ऊपर की शाखाओं (लता) पर लटकते हुए वानर कटहल (पनस) के फल के समान शोभायमान हैं ॥८॥

विट—काणेली के पुत्र, इस शिलातल पर बंठिए ।

शाकार—यह मैं बंठ गया । (विट के साथ बंठना है) । भाव, आज भी उस वसन्तसेना का स्मरण करना है । दुष्ट जन के वचन के समान वह मेरे हृदय में नहीं निक्लनी है ।

विट—(अपने आग) उस प्रकार निरस्कृत (निरस्त) होकर भी उसको याद करता है । अपना स्त्रियों के द्वारा निरस्कृत हुए अपम (कायर) पुत्रों का काम-भाव (कामवासना) अधिक बढ़ जाता है, किन्तु सज्जनों का काम-भाव तो (स्त्रियों से अप-मानित होने पर) कम हो जाता है अपना रहता ही नहीं ॥९॥

शाकार—भाव, 'स्यावरक' नेवक से यह बड़े हुए रितना समय हो गया कि—'शाही को लेकर शीघ्र से शीघ्र आ जाओ' यह अब तक भी नहीं आ रहा है, मैं बहुत देर से भूसा हूँ । मर्त्याह में बदल नहीं जाया जा सकता तो देखो, देखो—

इव निर्वृति मूलं मानि प्राप्नुवन्ति । उपमा, समामोक्तिश्च । वंगम्य वृत्तम् ॥७॥

बहुबुमुमेति । भूमिः बहुभिः नानावर्णैः बुमुमैः पुष्पैः विचित्रिना, धृता च बुमुमवरेण विनामिता नम्राः कृता । बुपाणां वृशाणां शिलरतनाभ्यः अग्रभागशाखाभ्यः अवलम्बमानाः वानरा एनमकृतानि (कटहल इति भ्रम्यानाम्) इव सलन्ति शोभन्ते । उपमातद्भारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥८॥

शिलातलम् अप्पास्यनाम् इति छेदः । निरस्त निराहृतः, प्रत्याह्वयः । स्त्री-स्मिरिति । स्त्रीभिः विमानितानां निरम्हनायाः कातुदवाभ्याम् अधीरजनानां मदनः कामः विवर्धते तु किन्तु सत्पुण्यस्य स कामः एव मुहुः अन्नः भवति वा अपवा नैव भवति विनामति इति भावः ॥९॥

गहोमज्जगदे शूले दुष्पेवखे कुविदवाणलशलिल्धे ।  
भूमी दडशतत्ता हृदपुत्तशदेव्व गन्धाली ॥१०॥

[भाव, कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य 'प्रवहण गृहीत्वा सपु  
नध्यागच्छ' इति । अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्न  
न शक्यते पादाभ्या गन्तुम् । तत्पश्य पश्य ।

नभोमध्यगतः सूर्यो दुःप्रेक्ष्य कुपितवानरक्षदृशः ।  
भूमिहृदसन्धा हृत्पुत्रभतेव गान्धारी ॥]

षिट — एवमेवत् ।

छायासु प्रतिमुक्तगम्भकवल निद्रायते गोकुलं  
तृष्णातश्च निपीयते वनमृगैरुष्ण पयः सारसम् ।  
सतापादसिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते  
तप्ता भूमिमपास्य च प्रवहण मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥

शकारः — भावे,

शिलशि मम णिलोणे भाव शुज्जश पादे  
शउणिलखगविहङ्गा सुवखशाहाशु लीणा । '  
णलमुल्लिखमणुशशा उण्हदीर्ह शयन्ता  
घलशक्षणणिशण्णा आदवं णिव्वहन्ति ॥१२॥

भावे, अज्ज वि शे खेरे णाअव्वदि । अत्तमो विणोदणमिमतं किं वि पाइरताम् (इति  
वायति) भावे, भावे शुव हुए ज मए पाइवम् । [भाव,

शिरसि मम निलोणे भाव, सूर्यस्य पादः  
शकुनिलगविहङ्गा वृक्षशाखानु लीनाः ।  
नरपुटपमनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो  
गृहशरणनिषण्णा आतर्षं निवहन्ति ॥

भाव, अद्यापि स चेतो नागच्छति । आत्मनो विनोदननिमलं किमपि गास्यामि ।  
भाव भाव, श्रुत त्वया यन्मया गीतम् ॥]

आकाश के मध्य में गया हुआ सूर्यं द्रुव वातर के (मुख के) समान है, देखा जाना कठिन है । मारे गये वे मौ पुत्र जिसके उस गान्धारी के समान यह पृथ्वी अत्यन्त सतप्त है ॥१०॥

वित्—यह ऐसा ही है ।

कोमल घास के घास को छोड़कर शायों का समूह घास में नोद ले रहा है । घास से व्याकुल वन-मृगों के द्वारा मरोवर का गर्म जल पिया जा रहा है । सताप से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य नगरी के मार्ग (सड़क) पर नहीं चल रहे हैं । अतः मैं समझता हूँ कि सन्तप्त भूमि को छोड़कर वह गाड़ी नहीं ठहर गई है ॥११॥

शब्द — भा

सूर्य की किरण (चरण) मेरे निर पर स्थित है, पथी (सग विहङ्ग) वृक्ष की शाखाओं में छिप गये हैं, मनुष्य (नर, पुरुष) गर्म तथा सम्बी सात् लेते हुए घर (ग्रह, चरण) में बंटे आतप (के समय) को व्यतीत कर रहे हैं ॥१२॥

भाव, अब भी वह सेवक नहीं आ रहा है । अपने मनोरञ्जन के लिए कुछ गाता है । भाव, तुमने सुना, जो मैंने गाया ?

नमइति । नमसः आकाशस्य मध्यगतः मध्यभागे स्थितः सूर्यः कुपितवातरस्य द्रुववातरस्य सट्टाः सूर्येण्यः दुखेन प्रेक्षितुं शक्यः । हनं पुत्रात् यस्याः तथाभूता गन्धारी दुर्घोषनादीनां माता इव भूमिः हतं यथा स्यात् तथा सन्तप्ता यथा गान्धारी शोभेन सन्तप्ता आसीत् तथा भूमिः आतपेन सन्तप्ता इति भावः । उपमानद्वारः । आर्षान्नातिः वृत्तम् ॥१०॥

वित्: प्रीत्यसन्तानं वर्णयति—छायामु—इति । प्रतिमुक्ताः त्यक्ताः शय्याणां शालतृणानां श्वत्साः शासाः येन तथाभूत गोकुल गोमूह छायांषु निशयन्ते स्वपिति । वृष्णात्तैः चिन्मात्रकृतैः वनमृगैः वनपशुभिः उष्णं सारसं मरुतः इदं मारुतं पयं जलं पीयते । सन्तापान् सूर्यस्य आतपाद् प्रतिशङ्कितैः भीतैः नरैः नगरीमार्गः न सेष्यते न गम्यते । अहं मय्ये यद् तथा भूमिम् अपात्य त्यक्त्वा प्रवृत्तं श्वश्विन् छायामपद्रवंति सस्फुटम् । स्वभावोक्तिरतद्द्वारः । गार्होत्तविश्वीहितं वृत्तम् ॥११॥

शिरसोति । भाव, सूर्यस्य पादः किरणः मय निरनि नितोनः स्थितः । शकुनयः पशिनः ते एव शय्याः विहङ्गाश्च । गन्धारीतिस्त्वाद् पुनरतिः न शोभय । (एवमप्येति) वृत्तान्नामु सोना । नराः ते एव पुरयाः मनुष्याश्च वर्णं शोभं च श्वत्सन् इह तदेव शरणं तत्र निवृत्ताः उपविष्टाः आतपं निर्बहन्ति दास्यन्ति । मातिनो वृत्तम् ॥१२॥

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

शकारः—कथं गन्धर्वे ण भविशमम् ।

हिङ्गुज्जले जीलकमद्मुष्टे वचाह गण्ठी शगुडा अ शृण्ठी ।

एशे मए शेविद गन्धजुत्ती कथं ण हग्गे न्धुलश्कले त्ति ॥१॥

भावे, पुणे वि दाव गाइरगम् (तथा करोति) भावे भावे, शुवं तुए ज मए पाइरम् ।  
[कथं गन्धर्वो न भविष्यामि ।

हिङ्गुज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शृण्ठी ।

एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव मुनरपि तावद्गाम्यामि । भाव भाव, श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ।]

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

शकारःकथं गन्धर्वे ण भवामि ।

हिङ्गुज्जले दिष्णमरीचचुष्णे वग्घालिदे तेल्लपिएण मिश्रंशे ।

भुत्ते मए पालहुदीअमंशे कथं ण हग्गे मधुलश्कलेत्ति ॥१४॥

भावे, अग्जवि चेडे नाभरुत्ति । [कथं गन्धर्वो न भवामि ।

हिङ्गुज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।

भुक्तं मया पारभृतीयमारं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव, अद्यापि चेटो नागच्छति ।]

विटः—स्वस्थो भवतु भवान् । संप्रत्येवागमिष्यति ।

(ततः प्रविणति प्रघटनाधिष्ठा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः—भीदे वसु हग्गे । मग्जण्हिके शुज्जे । मा यानि कुडिदे साअगातराठाने  
हुविअदि । ता तुतिव वहामि । जाघ घोणा जाघ । भीतः खल्वहम् । माध्या-  
ह्निकः सूर्यः । नेदानी कुपितो राजशालसंत्थानको भविष्यति । तत्त्वरितं  
वहामि । यातं गावो यातम् ।]

वसन्तसेना—हरी हरी । न वसु वड्डमानभस्स अअं सरतंओओ । कि  
जेरम् । कि णु वसु अअवाखत्तेण वाहनपरिस्समं परिहरत्तेण अण्णो मणुस्सो अण्णं  
पवहणं पेत्तिअं भविस्सदि । फुरदि वाहिणं सोअणम् । वेअदि मे हिअअम् । मुण्णाओ  
दिताओ । सअं गजेअ विसंठुल पेस्सामि । [हा धिक् हा धिक् । त खलु वघमान-  
वास्वायं स्वरसंयोगः । कि त्विदम् । कि णु खलवापंचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं  
परिहरतान्यो मनुष्योऽन्यात्प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति । स्फुरति दक्षिणं सोचनम् ।  
येपत्ते मे' हृदयम् । शून्या दिशः । सर्वमेव विसंठुलं पश्यामि ।]

विट—वया कहना ? आप गन्धर्व (गायकजातिविशेष) हैं .

शकार—गन्धर्व क्यों न होऊँ !

होंग से मिश्रित (शुभ्र) तथा जीरे सहित नागरमोषा, बच की गाँठ और गुड़ सहित सोंठ इस सुगन्धित योग (मिथ्रण Mixture) का मैंने सेवन किया है, तो मैं मधुर स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१३॥

भाव, फिर भी गाता हूँ । भाव, भाव, तुमने सुना, जो मैंने गाया ?

विट—वया कहना । आप गन्धर्व हैं ।

शकार—गन्धर्व क्यों न होऊँ ?

मैंने होंग से उज्ज्वल, (काली) मिर्च के घूर्ण से युक्त बपारा हुआ तथा तेल और घी से मिश्रित कोयल का माँस खाया है, फिर मैं मधुर-स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१४॥

भाव, अब भी सेवक नहीं आ रहा है ।

विट—आप स्वस्थ (निश्चिन्त, प्रकृतिस्थ) रहिये । अभी आ जायेगा ।

(तब गाड़ी पर बैठी हुई वसन्तसेना तथा चेट प्रवेश करते हैं)

चेट—मैं बहुत डरा हुआ हूँ । सूर्य मध्याह्न में आ गया । वहाँ इस समय राजशालक संस्थानक क्रुद्ध न हों । अतः तीव्र गति से चलता हूँ । चलो बेलो चलो ।

वसन्तसेना—हाय खेद ! हाय खेद ! निश्चय ही यह बर्धमानक का स्वर-संयोग नहीं है यह क्या (वात) है ? क्या बेलों (वाहन-वाह) की (अथवा ले जाने की) बकावत की बचाते हुये आप चाकरदत्त ने दूसरा मनुष्य और दूसरी गाड़ी भेज दी होगी । मेरी दाहिनी आँस फड़कती है । मेरा हृदय काँप रहा है । दिशायें सूनी (तग रही) हैं सभी विपरीत सा देख रही हैं ।

गन्धर्वः संगीतप्रवीणः देवजातिविशेषः ।

हिङ्गुगन्धर्वेति । हिङ्गुभिः उज्ज्वला शुभ्रा युक्ता वा, जीरकसहितान्ना भद्रमुन्ना वचायाः उपपन्थायाः 'धन्विः सगुडा गुडेन सहिता च शुष्ठी एषा गन्धयुक्तिः गन्धानां गन्धद्व्याणां योगः मया सेविता तर्हि अहं शकारः क्वं न मधुरस्वरः मधुरः स्वरः मया सादृशः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१३॥

हिङ्गुगन्धर्वत्वमिति हिङ्गुभिः उज्ज्वलं रक्तं प्रशिवं मरीचघूर्णं यन्मिन् तत्, व्यापारितं तैससहितेन घृतेन च मिश्रितं (परमृतः एव पारमृतः कोरितः तत्त्वेऽ पार-मृतीयम् 'शुद्धाश्च' 'इति छः'—इति काले) पारमृतीयमामं कोरितमाप्तं मया वृत्तम् । अहं क्वं न मधुरस्वरः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१४॥

शकार — (नेमिघोषभाष्ये) भावे भावे, आगदे । पवहणे । [भाव भाव, भागतं प्रवहणम् ।]

विट — कथं जानासि ।

शकार — किं ण पेवजदि भावे । बुद्धशुभते विअ पुलपुताप्रमाणं सस्त्रीअदि ।

'किं न पश्यति भावः । वृद्धशुकर इव धुरधुरायमाण लक्ष्यते ।]

विट — (हृत्वा) साधु लक्षितम् । अयमागतः ।

शकारः—पुत्रका पावतका चेहा आगदे सि । [पुत्रक स्थावरक चेट, आगतोऽसि ।]

वेट — अथ इ । [अथ किम् ।]

शकार — पवहणे वि आगदे । [प्रवहणमप्यागतम् ।]

वेट — अथ इ । [अथ किं ।]

शकार — गोणा वि आगदे । [गावावप्यागती ।]

वेट — अथ इ । [अथ किम् ।]

शकार — तुम पि आगदे । [त्वमप्यागतः ।]

वेट — (सहासम्) भट्टके अहं पि आगदे । [भट्टारक, अहमप्यागतः ।]

शकारः—ता पवेशेहि पवहणम् । [तत्प्रवेशय प्रवहणम् ।]

वेट — कवलेण भग्गेण । [कतरेण मार्गेण ।]

शकार — एदेण ज्ञेव पगालसण्डेण । [एतेर्नैव प्राकारसण्डेन !]

वेट — भट्टके, गोणा मतेन्ति । पवहणे वि भग्गेदि । हग्गे वि चेदे मत्तामि ।

[भट्टारका, वृषभौ म्रियेते । प्रवहणमपि भज्यते । अहमपि चेटो म्रिये ।]

शकार — भले सारभरतके हग्गे गोणा मते, अबले कीणिसाम । पवहणे भग्गे, अबल घडाइशराम् । तुम मते भग्गे पवहणवाहके हुविररामि । [अरे, राजश्यालकोऽहम् । वृषभौ मृती, अपरो क्रोष्यामि । पवहण भग्नम्, अपरं कारयिष्यामि । त्वं मृत अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति ।]

वेट — शब्धं उववणं हुविशरदि । हग्गे अदणकेतके ण हुविरराम् । सर्वमुपपन्न भविष्यति । अहमात्मीयो न भविष्यामि ।]

शकार — भने, शब्धं वि नरसादु । पगालसण्डेण पवेशेहि पवहणम् । [अरे, सर्वमपि नश्यतु । प्राकारसण्डेन प्रवेशय प्रवहणम् ।]

वेट — विपज्ज रे पवहण, राम शामिना विपज्ज । अग्गे पवहणे । भोटु भट्टके गदुय जिवेदेमि । (प्रविश्य) कथं ण भग्गे । भट्टके एणे उवविपदे पवहणे । विभज्ज रे प्रवहण, सम स्वामिना विभज्ज । अन्यत्प्रवहणं भवतु । भट्टारकं गत्वा निवेदयामि । कथं न भग्नम् । भट्टारक, एतदुपरिघत्तं प्रवहणम् ।]

शकार—(पहिले के शब्द को सुनकर) भाव, भाव, गाड़ी आ गई ।

बेट—कैसे जानते हो ?

शकार—क्या आप नहीं देखते ? बूढ़े सूजर की भाँति घुर घुर करती (प्रवहण) प्रवीण हो रही है ।

बेट—(देखकर) ठीक जाना । यह (बेट) आ गया ।

शकार—बेटा, स्थावरक, बेट, आ गये ?

बेट—और क्या ? (जी हाँ)

शकार—गाड़ी भी आ गई ?

बेट—जी हाँ ।

शकार—बैल भी आ गये ।

बेट—जी हाँ ।

शकार—तू भी आ गया !

बेट—(हँसी के साथ) स्वामिन्, मैं भी आ गया ।

शकार—तो गाड़ी को प्रविष्ट करो ।

बेट—किस मार्ग से ?

शकार—इस पहारदीवारी के टूट भाग से ।

बेट—स्वामिन्, बैल मर जायेंगे । गाड़ी टट अयेगी । मैं बेट भी मर जाऊँगा ।

शकार—अरे, मैं राजप्यासक हूँ । बैल मर गये तो दूसरे खरीद लूँगा । गाड़ी टूट गई तो दूसरी बनवा लूँगा । तू मर गया तो दूसरा गाड़ीवान् हो जायेगा ।

बेट—सब कुछ ठीक हो जायेंगा । मैं अरने आप (स्वयं) न रहूँगा ।

शकार—अरे, सब कुछ मष्ट हो जाये । गाड़ी को प्राचारसभ्य से प्रविष्ट करो ।

बेट—टूट जा री गाड़ी, स्वामी के साथ टूट जा । दूसरी गाड़ी ही जाये । मैं जाकर स्वामी से निवेदन करता हूँ । (प्रवेश करके) क्यों ! (गाड़ी) टूटी नहीं । स्वामिन्, यह गाड़ी उपस्थित है ।

स्वस्यः स्वस्मिन् स्वरूपे स्थितः प्रकृतिस्यः । बाह्ययोः बाह्योः व्यपयोः इति यावत् परिधमं परिहृता । विसंप्लुनं विररीनम् । नेमिः अग्रप्रधिः पुरपुराप्यासं पुरपुरा इति अभ्यासं शब्दं कुर्वत् । प्राकारस्य शब्दः प्राधारसभ्यः तेन ।

उपपन्नम् पुक्तम् प्राप्तं वा । सावरकः आदरगतिः, अम्पन्तरकः अन्तरङ्गः प्रेक्षयसे इति हेतोः त्वं पुरस्करणीयः अपे करणीयः सम्माननीयो वा ।



शकार— ष दिङ्गा गोषा । ष मत्वा सञ्जू । तुम पि ष मत्ते । [न छिल्लो वृषभो । न मृता रज्जव । त्वमपि न मृत ।]

चेट—अथ इ । [अथ किम् ।]

शकार—भाय, आभच्छ । पवहण पेश्लामो । भावे, तुम १५ मे शुतु पत-  
शुतु । पेश्लोभसि शादतके अगमन्तकेति पुत्रककतपीएति तुम दाव पवहण अ-  
अहितुह । [भाव, आगच्छ । प्रवहण पस्याव । भाव, त्वमपि मम शुतु परम  
शुतु प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति । त्व तावत्प्रवहण-  
मप्रतोऽधिरोह ।]

विट—एव भवतु । (शयारोहति)

शकार—अथवा चिष्ट तुमम् । तुह बप्पकेलके पवहणे, जेन तुम अ-  
अहितुहसि । हणे पवहणसामो । अगदो पवहण अहितुहामि । [अथवा तिष्ठ त्वम ।  
तव पितृसबन्धि प्रवहणम, येन त्वमप्रतोऽधिरोहसि । अह प्रवहणन्वामो ।  
अप्रत प्रवहणमधिरोहामि ।]

विट—भवानेव ब्रवीति ।

शकार—अथ वि हणे एध भणामि, तथा वि तुह एते आदत्ते 'अहितुह  
अटके' ति भणितुम् । [अथप्यहमेव भणामि, तथापि तवैष आचार 'अधि-  
रोह भट्टारक' इति भणितुम् ।]

विट—आरोहतु भवान् ।

शकार—एते शपद अहितुहामि । पुत्रका पावतका घेडा पतिवतारोहि प-  
हणम् । [एष साप्रतमधिरोहामि । पुत्रक स्यावरक चेट, परिवर्तय प्र-  
हणम् ।]

चेट—(परावर्त्य) अहितुहु भट्टारके । [अधिरोहतु भट्टारक ।]

शकार—[अधिरुद्रावलोभय च शङ्का नाटयित्वा स्वरितमवतीर्य विट बभ्रु-  
सम्भे) भावे भावे, मत्तेसि मत्तेसि । पवहणाधिरोहो मत्ततो चोले वा पशिवसि ।  
ता अथ सवत्सो, तदो उभे वि मूरो । अथ चोले तदो उभे वि सग्गे । [भाव भाव,  
मृतोऽसि मृतोऽसि । प्रवहणाधिरोहो राक्षसी चोरो वा प्रतिवसति । तद्यदि  
राक्षसी, तदोभावपि मुपितो । अण चोर. तदोभावपि सादितो ।]

विट—न भेतव्यम् । कुतोऽथ वृषभयाने राक्षस्या. सचार. । मा नाम  
ते मभ्याह्मकंतापच्छिन्नदृष्टे. स्यावरकस्य सकञ्चुका छाया दृष्ट्वा भ्रान्ति-  
रत्पन्ना ।

शकार—पुत्रका पावतका घेडा, • ओवेसि [पुत्रक स्यावरक चेट,  
जीवसि ।]

शकार—बैट नहीं दूटे ? रस्त्रियाँ नहीं मरी ? तू भी नहीं मरा ?

बैट—जो हों ।

शकार—भाव, बाबो । गाड़ी को देखते हैं । भाव तुम भी मेरे गुरु हो, परम गुरु हो । तुम मेरे द्वारा आदरणीय अन्तरङ्ग (के रूप में) देखे जाते हो, इसलिये तुम आगे रखने योग्य हो । अतः तुम ही गाड़ी में पहले चढ़ो ।

बैट—ऐसा ही हो (चढ़ता) है ।

शकार—अपवा, तुम टहरो । क्या तुम्हारे बाप की गाड़ी है जो तुम पहले चढ़ते हो ? मैं गाड़ी का स्वामी हूँ, इसलिये पहले (आगे) गाड़ी पर चढ़ता हूँ ।

बैट—आपने ही ऐसा कहा था ।

शकार—यद्यपि मैंने ऐसा कहा, तथापि “स्वामी चढ़िये” यह कहना तुम्हारा गिप्याचार था ।

बैट—बाप चढ़िये ।

शकार—अच्छा, अब यह मैं चढ़ता हूँ । बेटा, स्वाररुह, बैट गाड़ी घुसाओ ।

बैट—(घुमाकर) स्वामी, चढ़िये ।

शकार—(चढ़कर नीचे देखकर, शङ्का का अभिनय करके, तुरन्त उतर कर तथा बैट के गने तबकर) भाव, भाव, (तुम) मर गये, मर गये । गाड़ी पर चढ़ी हुई कोई राजसी है या चोर है । तब यदि राजसी है तो (हम) दोनों ही सुट गये, यदि चोर है तो दोनों ही खाये गये ।

बैट—जाना नहीं चाहिये । यहाँ बैलगाड़ी में राजसी का आगमन किये (हो सकता है) ? ऐसा न हो कि दोनहर के सूर्य के ठाप से बरखाधीन दृष्टि बाने तुम्हें, स्वाररुह की कञ्चुकसहित घांटा को देकर, भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो ।

शकार—गुन, स्वाररुह, बैट क्या तुम जीवित हो ?

घेठ—अघ इ । [अथ किम् ।]

शकारः—भावे, पवहभाघिलुडा इतियआ पडिवरादि । ता अघलोएहि । [भाव, प्रवहणाघिलुडा स्त्री प्रतिवसति । तदवलीकयं ।]

वटः—कयं स्त्री ।

अवनतशिरसः प्रतियाम शीघ्रं पथि दृषभा इव वर्षताडिताक्षाः ।

मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥१५॥

वसन्तसेना—(सविस्मयमात्मगतम्) कयं मम पात्रपात्रे व्याप्राप्तप्ररो ज्ञेव रामसासरो । ता ससइदग्नि मन्दभाआ । एसो शणि मम मन्दभाइणीए ऊसररखेल-  
वडिहो विअ भोअमुट्टी निष्कलो इध आगमणो संवुत्तो । ता कि एथ करइस्सम् । [कयं  
मम मदनभोरायासकर एव राजस्यालः । तत्संश्रितास्मि मन्दभाया ।  
एतदिदानी मम मन्दभागिन्या क्लृपक्षेत्रवतित इव बीजमुष्टिनिष्फलमिहागमनं  
संवृत्तम् । तत्किमत्र करिष्यामि ।]

शकारः—कायते रज्जु एरो बुद्धवेडे पवहणं नावलोएदि । भावे, आलोएहि  
पवहणम् । [कातरः खल्वेष वृद्धघेठः प्रवहणं नावलीकयति । भाव, आलीकय  
प्रवहणम् ।]

वटः—को दीपः । भवतु । एषं तावत् ।

शकारः—कयम्, शिआसा उड्ढेन्ति, वाअसां वड्ढेन्ति । ता जाव भावे  
अवलोहि मवलोअदि, वन्तेहि वेखलोअदि, ताव हणे पसाइरराम् । [कयंम्, श्रुंगला  
उड्डीयन्ते, वाअसा प्रजन्ति । तथावद्भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं  
पत्तायिष्ये ।

वटः—(वसन्तसेना इष्ट्वा । सविषादमात्मगतम्) कयमये, मृगी व्याघ्रम-  
नुसरति । भोग, कष्टम् ।

सेट—जी हाँ ।

शकार—भाव, माड़ी पर चढ़ी स्त्री बंटी है । देखो तो ।

बिट—क्या स्त्री ?

(तब तो) गर्म में वर्षा (की धारा) से ताहित आँखों वाले बँलों के समान सिर नीचा किये हुए मैं शीघ्र जाता हूँ, क्योंकि समाज में प्रतिष्ठा चाहने वाले मेरी (मेरे जैसे व्यक्ति की) दृष्टि कुतूहल स्त्रियों को देखने में भीरु है ॥१२॥

वसन्तसेना—(आश्चर्य से, अपने आप) क्या मेरे नेत्रों में पीड़ा करने वाला (खटकने वाला) यह वही राजा का साना है ? तब तो मन्दभाष्य सांभी में आपति (संघम) में पड़ गई है । इस समय मुझ मन्दभाषिणी का यहाँ आना ऊपर सेट ने पड़ी हुई बीज की मुट्टी के समान निष्फल हो गया । तो क्या करूँ ?

शकार—यह बूढ़ा सेवरु भीरु है, यह माड़ी को नहीं देखता । भाव, तुम माड़ी को देखो ।

बिट—क्या हानि है ? बन्धा ऐसा ही हो ।

शकार—क्यों ? विचार उड़ रहे हैं, कीए भाग रहे हैं । तो जब तक भाग (राजकी के द्वारा) आँखों से छाने जाते हैं तथा दाँतों से देख जाते हैं, तब तक मैं मानता हूँ ।

बिट—(वसन्तसेना को देखकर, दुःखपूर्वक अपने आप) अरे, कैसे ! मृषी व्याघ्र का अनुसरण कर रही है अरे, सेद है ।

प्रवहने स्त्री वसति-इति शकारवचनं निरुप्य बिटः कथयति-अवगतोति । यदि प्रवहने स्त्री तिष्ठति तर्हि कथि नाम् कर्षेः कृष्टिभिः ताहिने अक्षिपी देवा ते वर्तताहिनाशाः अतएव अवगतानि गिराणि देवाः तथाभूताः कृपमाः इव कर्षेः परकृतवदमानसंकोचेन अवगतानि नभ्रामि गिरांसि देवाः । तथाभूताः कन्तः प्रजापः पश्यामः । हि यतः सवनि समाना दीरव प्रतिष्ठा दिवं दस्य तस्य मय विटस्य वसुः दृष्टिः कुसबनस्य कुनीवस्य स्त्रीवनस्य इवने कातरं भीरु । उरनातङ्कात् । पुञ्जिताया वृष्टम् ॥१२॥

संगान्ता संतपमानन्ता विसति प्राता इति यावद् । अत्रोत्रे वृत्ता या तिबुमुष्टिः बीजानां मुष्टिः मुष्टिपरिनितादि बीजानि इत्यर्थः । अक्षिष्यां वस्यते यतः प्रेक्ष्यते इति विरतीतिरिति ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाश पुलिनान्तरशापिनम् ।

हसी हस परित्यज्य वायसे समुपस्थिता ॥१६॥

(जनान्तिरुम्) वसन्तसेने, न युक्तमिदम्, नापि सहसामिदम् ।

पूर्वं मानादवशाय द्रव्यार्थे जननीवशात्

वसन्तसेना—ण । [न ।] (इति शिरश्चालयति ।)

विटः—

अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥१७॥

ननूक्तमेव मया भवती प्रति 'सममुपचर भद्रे सुप्रिय चाप्रिय च ।

वसन्तसेना—पवहणविपज्जातेण आगता । सरणागवन्हि । [प्रवहणविप-  
यसिनागता । शरणागतास्मि ।]

विटः—न भोतव्यं न भोतव्यम् । भवतु । एन वञ्चयामि । (शकारमुपगम्य)  
काणेलीमातः, सत्य राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।

शकारः—भावे भावे, अहं सबलसी वशदि, ता क्रीश ण तुम सुदीदि ? अद्य  
घोले, ता किं तुम ण भरिखदे । [भाव भाव, यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत्कथं  
न त्वा भ्रूष्णाति । अयं चौर तदा किं त्वं न भक्षितः ।]

विटः—किमनेन निरूपितेन । यदि पुनरुद्यानपरम्परया पदभ्यामेव नगरी-  
मुज्जयिनी प्रविशाव., तदा'को दोष स्यात् ।

शकारः—एष्व किं किं भोवि ? [एव कृते किं भवति ?]

विटः—एवं कृते व्यायाम सेवितो घुर्याणा ष परिश्रमः परिहृतो  
भवति ।

शकारः—एष भोवु । घावसजा चेडा, जेह पवहणम् । अघवा सिट्ट विट्ट ।  
देवदाण अह्णणाण ष आगदो चलणेण षाच्छामि । नहि नहि । पवहण अहिलुहिअ  
गच्छामि, जेण दूखरो म पेखितअ भणिरसन्ति—'एणे शे सरिटअशाते षट्टासके  
गच्छदि' । [एव भवतु । स्यावरक चेट, नय प्रवहणम् । अथवा तिष्ठ तिष्ठ ।  
देवताना ग्राह्याणानां चाप्रतश्चरणेन गच्छामि । नहि नहि । प्रवहणमधिरुह्य  
गच्छामि, येन दूरतो मा प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति—एव स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको  
गच्छति' ।]

शरदिति । शरद चन्द्र शरच्चन्द्र तस्य प्रतीकारां सहस्र पुलिनस्य संकृतप्रदेशस्य  
अन्तरे मध्ये शेते इति त हस परित्यज्य त्यक्त्वा हसी वायसे वाक समुपस्थिता ।  
भौदायादिगुणयुक्तं हससदृश चाटदत्त त्यक्त्वा वसन्तसेना शकसदृशमेत शकार प्रति  
कथमागता इति श्लेढ । अप्रस्तुतप्रशसासद्भार । पम्पावकन वृत्तम् ॥१६॥

पूर्वमिति । पूर्वं मानात् गर्वाद् शकारम् अचक्ष्य शिरस्सत्य सम्प्रति जननी वशात्  
मानुराजावशात् द्रव्यार्थे धनार्थम् आगता । यद्येतन्नास्ति तदा अशौण्डीर्यम् अनौदार्यं  
, स्वभावः यस्य तेन वेशभावेन वेरव्याख्येन आगता इति मन्यते ॥१७॥

गरुड शत्रु के चन्द्रमा के समान (श्वेत) बानुहा तट पर स्थित हंस को छोड़ कर हंसों काक के समीप आ गई ॥१६॥

(समीप में) बसन्तसेना, यह उचित नहीं, यह योग्य भी नहीं ।

पहले मानपूर्वक उस (शकार) का तिरस्कार करके माता की अधीनता से धन के लिये—(आई हो)

बसन्तसेना—नहीं (सिर हिलाती है ।)

शिट—(तब) उदारता (या गर्व) रहित है (अघोष्डीर्ष) है स्वरूप जिसका ऐसे वश्यापन के कारण (तुम यहाँ आई हो) —यह समझा जाये ॥१७॥

किन्तु मैंने (पहले ही) आप से कहा ही था—'भद्रे' सुप्रिय और अप्रिय दोनों की समान रूप से सेवा करो ।'

बसन्तसेना—माटी के बलने से आ गई हूँ ।

शिट—डरो नहीं, डरो नहीं । अच्छा, इस (शकार) को बहकाता हूँ । (गकार के पास जाकर) कान्ती के पुत्र सचमुच राक्षसी ही उस पर बैठी है ।

शकार—भाव, भाव, यदि राक्षसी है तो तुम्हें क्यों नहीं सूटा और यदि चोर है तो तुम्हें क्यों न खा लिया ।

शिट—इस विचार से क्या लाभ ? उद्यान को परम्परा से (एक उद्यान से दूसरे में होकर) पैदल ही उज्जैन नगरी में प्रवेश करें तो क्या हानि है ?

शकार—ऐसा करने से क्या होगा ?

शिट—ऐसा करने से व्यापाम ही जायेगा और बँतों का परिग्रम दब जायेगा ।

शकार—ऐसा ही हो । स्यावरु चेट, माड़ी ताओ । या टहर; टहर । (क्या) देवताओं तथा ब्राह्मणों के भागे पैदल चलूँ ? नहीं, नहीं । माड़ी पर चलना है जिससे दूर से मुझे देखकर लोग कहेंगे—'यह वह हमारा स्वामी राजा का माना जा रहा है ।

अहहस्य विपर्ययः प्रमः वंपरीत्यं वा तेन । निरुपिनेन विचारितेन । धूर्तानां दुःखानां वृषभयोरिति यावत् बहुवचनं विनयम् । सामान्याभिप्राय बहुवचनमिति वाने । राट्टिम राट्टे अभिविक्तः ('राट्ट + च') तस्य ग्यासः राक्षस्यासः दृश्यः । अनीयधम् अनीयध कर्तुम् इति अनीयधीकर्तुम् । विषं प्राणविषोर्जकं द्रव्यम् औदधीकर्तुं औदधरूपेण परिवर्तयितुं दुष्करम् । दुर्जनस्य आनुकूल्येन परिवर्तनम् अतिदृष्टिनम् इति भावः—अस्तुदुर्जना । ज्ञानं वायु प्रवाण्यमेतत् । वायुदेव इव आनुदेवक । इवे प्रतिज्ञाते इति क्व प्रत्ययः ।

विट — (स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्तुम् । भवतु । एवं तावत्  
(प्रकाशम्) काणेलीमात , एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता ।

वसन्तसेना—सन्त पावम् । सन्तं पावम् । [शान्तं पापम् । शान्तं पापम् ।]

शकार — (सहयंम्) भावे भावे, म पयत्पुलिश मशुश घायुदेवरुम् । [भाव  
भाव, मां प्रवरपुरुष मनुष्य वासुदेवकम् ।]

विटः—अथ किम् ।

शकार —तेण हि अपुष्वा शिली शमाशादिदा । तशिश काले मए सोशाद्दा,  
शपदं पादेयु पडिअ परादेमि । [तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता । तस्मिन्काले मया  
रोपिता, साप्रतं पादयो पतित्वा प्रसादयामि ।]

विट —साध्वभिहितम् ।

शकार —एशो पादेयुं पडेमि । (इति वसन्तसेनामुपगृत्य) अत्तिके, अम्बिके  
शुशु मम विणत्तिम् । [एष पादयो. पतामि । मातः, अम्बिके, शृणु मम  
विज्ञप्तिम् ।]

एशो पडामि चलणेशु विशालणत्ते

हस्तञ्जलि दशणहे तव शुद्धदन्ति ।

ज त मए अवकिद मदणातुलेण

त सन्मिदाशि बलगति तव म्हि दारो ॥१॥

[एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे हस्ताञ्जलि दशनसे तव शुद्धदन्ति ।

यत्तव मयापकृत मदनातुरेण तत्क्षामितासि वरगाग्नि तवास्मि दासः ॥

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि । अणञ्ज मन्तेसि । [अपेहि । अनार्यं  
मन्त्रयसि । (इति पादेन ताडयति)]

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुम्बिदे अम्बिकमादुकेहि गदे ण देवाणं वि जे पणामम् ।

शे पाडिदे पादतलेण मुण्डे वणे शिआलेण जघा मुदङ्गे ॥१६॥

अले घावलआ चेडा, कहि तुए एशा शमाशादिदा ।

[यच्चुम्बितअम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम् ।

तत्पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृताङ्गम्, ॥

खरे स्यावरकं शेट, कुत्र त्वमैषा समासादिता ।]

बिट—(अपने आप) बिप की औसत बनाना है। अच्छा तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) कागती के पुत्र, यह वसन्तसेना आपसे अभिसार करने आई है।

वसन्तसेना—पाप घान्त हो, पाप घान्त हो।

शकार—(हृष्यपूर्वक) भाव, भाव, मुझ ध्येष्ठ पुरुष मनुष्य वासुदेव से ?

बिट—और क्या ?

शकार—तब तो अपूर्व सद्मी प्राप्त की है। उस समय मैंने इसे स्पष्ट (कृष्ट) कर दिया था, इन समय परों के गिर कर मनाता हूँ।

बिट—ठीक कहा।

शकार—यह मैं तुम्हारे चरणों में गिरता हूँ। (वसन्तसेना के समीप जाकर) माता अम्बिका मेरा निवेदन सुनो।

हे विमान नेत्रों वाली, यह मैं चरणों में गिरता हूँ। हे सुख दाओं वाली, तुम्हारे (चरणों के) दश नखों में अपनी हस्ताम्बलि रखता हूँ। हे ध्येष्ठ मात्र वाली, काम से आतुर हुए मैंने जो (पहले) तुम्हारा अहित (बुरा) किया है, उसे तुमसे क्षमा करता हूँ (क्षमा करने की प्रार्थना करता हूँ)। मैं तुम्हारा दास हूँ ॥१७॥

वसन्तसेना—(क्रोधपूर्वक) दूर हटो, अनार्य जात रहते हो (चरणों से मारती है)

शकार—(क्रोध के साथ)

जिते अम्बिका और माता ने पूजा है, जो देवों को भी नहीं भुजा, उस मेरे मस्तक को तुम्हें चरणतल से इन प्रकार गिरा दिया जैसे वन में भृगवान द्वारा मृतक शरीर (कुचना जाता है) ॥१८॥

अरे, स्थावरक, चेट तुम्हें इसे कहाँ प्राप्त किया ?

समासादिता प्राप्ता । विवर्ति निवेदनम् ।

एष इति । हे विशालनेत्रे विमाने नेत्रे यस्याः सा विमाननेत्रा तस्मिन्दी एषा अहं शकारः तव चरणयोः यन्मि । हे शुद्धवर्ति मुदाः दन्ताः यस्याः सा (मन्मदी) तव दशान्ते दशानां नखानां समाहारः दशान्त तव चरणयोः दशान्ते नखेषु हस्ताम्बलि करोमि इति शेषः । हे वसन्तसेना कल्याणार्थि, मरनातुरेण कामानुरेण मया शकारेण मनु तव अनहृत्तम् अकारो विहितः तन् क्षामिता क्षमां कर्तुं प्रेरिता याचिता वा अस्ति । अयं तव दासः अस्मि । वसन्तदिलसा इत्यम् ॥१७॥

विरतिः । मनु मन मुग्धम् अम्बिकाया मातृकायिः य (मातृका इति स्वार्थे कः प्रायसः शकारेवाशब्दात् पुनरुक्तिः) बुम्बिनम् । मनु देवानामपि प्रणामं न दत्त देवान् प्रति अस्ति न वनतम् । तन् मुग्धं मस्तकं स्वना पादतलेन तर्पितं पादितं यथा बने भृगवानेन वृषाङ्गं मृतकघोरम् ॥१८॥



चेष्ट — भट्टके गामशाअलेहिं सुखे सागमगे । यरो धालुवत्तशा सुवत्तवाडिआए  
पवहण थाविअ तहिं ओदलिअ जाय चक्कपलियट्टिअं कलेमि, ताव एशा पपवहणविप-  
ज्जाशेण इह आलुडे ति तवकेमि । [भट्टक, ग्रामशवर्द्धे रुद्धो राजमाग । तदा  
धारुदत्तस्य वृक्षवाटिकाया प्रवहणं स्थापयित्वा तत्रावृत्तोर्यं यावच्चक्रपरिवृत्तिं  
करोमि, तावदेषा प्रवहणविषयसिंहारूढेति तर्कयामि ।]

शकार — कथं पवहणविषयज्ञाशेण आगदा । ण म अहिशातिदुम । ता आदस  
ओदस ममकेलकादो पवहणावो । तुम त दसिदुशदधवाहपुत्तक अहिशातेसि । ममकेल-  
काद् गोणाद् वाहेसि । ता ओदस ओदस गम्भदासि ओदस, ओदस । [कथं प्रवहण-  
विषयसिंहागता । न मामभिसारयितुम् । तदवतरावतर मदीयात्प्रवहणात् । (व  
त दरिद्रसाधवाहपुत्रकमभिसारयसि । मदीया गावो वाहयसि । तदवतरावतर  
गर्भदासि अवतरावतर ।]

वसन्तसेना — त अज्जचारुदत्त अहिसारेसि सि ज तच्छम अत्तकिदग्धि इमिणा  
वप्रणेण । सपव ज भोदु । त भोदु [तमायचारुदत्तमभिसारयसीति यत्सत्यम् अलङ्-  
कृता स्म्यमुना वचनेन । साप्रत यद्भवत तदभवत् ।]

शकार —

एदेहिं दे दशणहुप्पलमण्डलेहि  
हत्थेहिं चाटुशदताडणलम्पडेहि ।  
कट्टामि वे वलत्तणु णिअजाणवादा  
केशशु बालिदइअ वि जहा जडाऊ ॥२०॥  
[एताभ्यां ते दशनग्नो परमण्डलाभ्यां  
हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् ।  
कर्षामि ते धरतनु निजयानकात्  
केशेषु बालिदयितामिव यथा जटायु ॥]

बिट —

अग्राह्या मूर्धजेप्वेता स्थियो गुणसमन्विता ।  
न-सता पत्तवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवा ॥२१॥  
तदुत्तिष्ठ त्वम , अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने, अवतीर्यताम् ।

(वसन्तसेनावतीर्यकाले स्थिता)

शकार — (स्वगतम्) जे हो मम वज्जणावमाणेण तदा लोकाग्नौ शंघुचितवे, अज्ज  
एशाए वादप्पहातेण अणेण वज्जलिते । त शंपव मातेमि णम् । भोदु । एख दाव ।  
(प्रकाशम्) भावे भावे ।

चेष्ट स्वामिन्, ग्राम की गाड़ियों से रात्रमार्यं रक गया । तब चाण्डल की वृक्षवाटिका में गाड़ी को सटा करने, वहाँ उतरकर ज्यों ही चण्डपरिवर्तन (पहिया फेरना) किया, तब ही यह गाड़ी की भूल से इसमें चढ़ गई— ऐसा अनुमान करता है (समझता है) ।

शास्त्र—क्या ? गाड़ी की भूल से चढ़ गई है, मुझसे अभिसरण के लिये नहीं ! तो उतर, उतर मेरी गाड़ी से । तू उस दरिद्र सार्धवाह के पुत्र (चाण्डल) के प्रति अभिसरण कर रही है और मेरे बँतों को खोतती है (साँ मेरे बँतों से भार बहुत कराती है) तो उतर, उतर, गर्भदात्री, उतर, उतर ।

वसन्तसेना—'उम आर्य चाण्डल के प्रति अभिसरण करती है'—सबमुच ही इस कथन में मैं अतद्भूत हो गई हूँ । अब जो हो, सो हो ।

शास्त्र—दश नमस् रूपी कर्मत समुदाय से युक्त तथा शतशः प्रिय वचनों के समान हो मारने में तत्पर (सम्पट) इन हाथों से तुम्हारे सुन्दर शरीर को केस पकड़ कर अपनी गाड़ी में उसी प्रकार खींचता है त्रिम प्रकार जटापु ने बालि की प्रिया (तारा) को (खींचा था) ॥२०॥

विष्ट—(सुन्दरता आदि) गुणों से युक्त इन नारियों के केस नहीं पकड़ना चाहिए, क्योंकि उद्यान में उन्मूल होने वाली लतायें (कीमल) पत्ते तोड़ने योग्य नहीं होतीं ॥२१॥

इसलिये तुम उठो । मैं इसको उतारता हूँ । वसन्तसेना, उतर जाइये ।  
(वसन्तसेना उतर कर एकान्त में सड़ी हो जाती है )

शास्त्र—(अपने धार) उम समय मेरे वचन के विरस्कार से जो क्रोध की अग्नि जनी थी वह आज इस (वसन्तसेना) के इस पाद-प्रहार से प्रश्लिष्ट हो गई है तो अब इसे मारता हूँ । अर्द्धा, इस प्रकार । (प्रकट रूप में) भाव, भाव ।

एताभ्यामिति । दश नमस्त्रानि एव उत्पत्तमन्वत कनकसमूहं, मयोः ताम्भ्याम् चाटुतातानि निषवचनशानि इव तादृशे सम्पटाभ्यां तदराभ्याम् एताभ्यां हस्ताभ्यां ते वरतन्तुं सुन्दरशरीरं केसोपु दृष्टीत्या निजपानशान् कर्षाभि मया जटापुः वातिरक्षितां वातिरिप्तां तारां आहृष्टवान् । अत्र 'ते ते' इति 'मयाइव' इति च पुनरुक्तम् । व्याह-  
तोरत्नं चेदं जटापुना वातिरिप्तायाः कर्षणमावात् । वसन्तसेनाका वृत्तम् ॥२०॥

अप्राह्यंति । पुत्रं, मोन्दरवांशभि समन्विताः युक्तः, एताः त्रिभ्यः नार्यः मूर्धनेषु केसोपु अप्राह्याः न परीतभ्याः । तथा ही उपवनम् उद्भवः उत्पत्तिस्थानं वातां तां उद्याने उदायाः मताः पत्तवक्ष्येति विमनशता ऐतन् न अर्हन्ति । इष्टान्नातच्छाः ।  
मन्वावर्तं वृत्तम् ॥२१॥

जदिच्छशे लम्बदशाविशाल प्रावालञ्च शुत्तशर्देहि जुत्तम् ।  
मश च खादु तह तृष्टि काडु चृह चृह चुक्कु चृह चृह इति ॥

[म स मम वचनावमानेन तदा रोवाग्निः संधुक्षित अद्यैतस्मा पाद-  
प्रहारेणानेन प्रज्ज्वलित । तस्माप्रत मारयाम्मेनाम् । भवतु । एवं तावत् ।  
भाव भाव,

यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारक सूत्रशर्तयुक्तम् ।  
मास च खादितु तथा तृष्टि कर्तुं चृह चृह चुक्कु चृह चृह इति ॥  
षिट् — तत्र किम् ।

शकार — मम पिअ कलेहि । [मम प्रिय कुरु ।]

षिट् — वाढ करोमि वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकार — माये अरुज्जाह गण्डे धि गरिपि । तपल्लमो कावि गरिपि । [भाव  
अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति । राक्षसी कापि नास्ति ।]

षिट् — उच्यता तर्हि ।

शकार — मातेहि वशान्तोगिअम् । [मारय वसन्तसेनाम् ।]

षिट् — (बणी पिघाय)

वाला स्त्रिय च नगरस्य विभूषण च  
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम् ।

एनामनागसमह यदि धातयामि

केनोडुपेन परलोकनदी तरिष्ये ॥२३॥

शकार — अह ते भेडक दइरशाम् । अण च विवित्ते उरुज्जाणे इय मासन्त को  
तुम वेणित्तरादि । 'अह त उडुपं दास्यामि । अन्यच्च विवित्ते उदान इह  
मारयन्तं कस्त्वा प्रेक्षिष्यते । ]'

षिट् —

पश्यन्ति मा दशदिशो वनदेवताश्च

चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽप्यम् ।

समुदित दीप्तः । 'धुधु' धातु दीपनकवेशनजीवनेषु वर्तन्ते तस्मात् 'क्त'  
प्रत्ययः । पठोति । यदि मत्त लम्बदशाभि दीपं वरान्तं विशाल सूत्रशर्तं पुस्तं  
प्रवितं च प्रावारं प्रच्छद महीतुं इच्छति । तथा 'चृह चृह चुक्कु' 'चृह चृह इति

यदि तुम लम्बे आँवलों वाला, सँकड़ों सूत्रों से युक्त विशाल दुसाला मुझसे सेना चाहते हो और चुट्ट-चुट्ट चुक्क-चुह-चुह—इस प्रकार (का शब्द करते हुए) मांस खाना तथा वृष्टि प्राप्त करना चाहते हो ॥२२॥

विट—तो क्या ?

शकार—मेरा चाहा हुआ करो ।

विट—हाँ, करूँगा, किन्तु अकार्य को छोड़कर ।

शकार—भाव अकार्य की तो गन्ध भी नहीं है । कोई राक्षसी नहीं है ।

विट—तो कहिये ।

शकार—वसन्तसेना को मारो ।

विट—(कान मूँदकर) ।

यदि मैं बाला, स्त्री (उज्ज्वल) नगर की भ्रूषण वेत्या (होकर भी) वेत्याभिल्ल तथा कुलस्त्री के सदा प्रेम-व्यवहार करने वाली इस निरपराध वसन्तसेना को मारता हूँ तो परलोक की नदी को किस नौका से पार करूँगा ॥२३॥

शकार—मैं तुम्हें नौका दूँगा । और दूसरी बात यह है कि इस निजंन सदान में इसे मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा ?

विट—

दशों दिशाओं, वनदेवता चन्द्रमा और दीप्त किरणों वाला यह मूयं, धर्म और

ध्वनि कुर्वन् मांसं साहितुं तुष्टि वृष्टि च ऋतुं इच्छसि । 'ततः मम प्रियं कुरु'— इति वक्ष्यमाणेन अन्वयः । उपजातिः वृत्तम् ॥२२॥

अकार्यम् अनुचितं कार्यम्, वतुं मयोप्यम् इति भावः । अकार्यस्य वतुं मत्तवम् अकार्यं तस्य गन्धः शेषः ।

बातामिति यदि अहं विट् बालां मित्रयं च अबनाभूतां मारयितुमनर्हाम् इति भावः नगरस्य विभूषणं च अन्तर्द्वारदूतां च वेत्या वेत्यारूपेण स्थितामपि अवैतासदृशः कुलनारीव्रतोचितः प्रणयोपचारः प्रेमव्यवहारः यस्याः ताम् अनागतं नास्ति आगः अचराय, यस्याः ताम् निरपराधाम् एनां वसन्तसेनां पातयामि मारयामि तर्हि केन उद्वेष्टेन दादनीदृश्या परलोकस्य नदीं संतरणीनाम्ना तरिष्ये तरिष्यामि ? 'तरिष्ये' इत्यत्र आत्मनेपदं चिन्तयम् । परिभ्रान्तश्रुतः । वसन्तनिका वृत्तम् ।

विब्रजेति वृत्तं पापं योनापितुं न शक्यते इत्याह विटः—परमन्तीति । दशदिशः वनदेवताः च चन्द्रः च अथ पुरः स्थितः शीलाः क्षिपताः यस्य सः दिनचरः सूर्यः च धर्मः अनित्यः वायुः च गणनं च तथा अन्तरात्मा भूमिः च सुहृत्तुष्टुतपोः पुष्पराजयोः साक्षिभूता । एतन्व विद्मदवनपरिणामेन सर्वेषां निरोधनम् । पुष्पराजयो

घर्मानिली च गगन च तथान्तरात्मा

भूमिस्तथा मृकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२५॥'

शकार—तेण हि पडन्तोवातिव रुद्रअ मात्तेहि । तेन ही पटान्तापवारिता कृत्वा मारय ।]

घट—मूर्ख अपध्वस्तोऽसि ।

शकार—अधम्ममीलू एरो बुद्धकोले । भोदु । पावत्तअ चेद अपुणेमि । पुत्तरा पावत्तका चेदा, शोवण्णत्तद्दुआद दइशराम् । [अधर्ममीहरेण वृद्धकोले । भवतु । स्थावरक चेतमनुत्तयामि । पुत्रक स्थावरक चेत, सुवणकटवानि दास्यामि ।]

घट—अह पि पहित्तिशराम् [अहमपि परिघास्यामि ।]

शकार—शोवण्ण वे पीठके क.त्तइशराम् । [सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि ।]

घट—अह पि उव्वविशिराम् [अहमप्युपवेक्ष्यामि]

शकार—शप्य वे उच्छिष्टप्र दइशराम् । [सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि ।]

घट.—अह ललइशराम् अहमपि खादिष्यामि ।]

शकार—शश्ववेक्षण महत्तत्तक कत्तइशराम् । [सर्वचेताना महत्तरक करिष्यामि]

घट—भट्टके हुविरशाम् । [भट्टक, भविष्यामि ।]

शकार—ता मण्णेहि मम वअणम् [तन्मम्यस्त मम वचनम् ।]

घट—भट्टके, शश्व क्सेमि वरिअअ अरुज्जम् [मट्टक, सर्वं करोमि वर्जयित्वाकायम् ।]

शकार—अरुज्जाहु गच्छे वि णत्थि । [अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति ।]

घट—मण्णानु भट्टके । [भणतु भट्टक ।]

शकार—एण वरान्तरोणिअ मात्तेहि । [एना वसन्तसेना मारय ।]

घट—पगोदु भट्टके । इअ मए भणज्जेण अज्जा पवहणपत्तिपत्तणेण भाणीदा । [प्रसीदतु भट्टक । इयं मयात्तार्येणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता ।]

शकार—जत्ते चेदा, तत्तापि न पहयामि । [अरे घट, तत्तापि न प्रमयामि ।]

घट—पहववि भट्टके शलीमाह, ण घालित्ताह । ता पगोदु पगोदु भट्टके । भाआमि षणु अहम् । [प्रभवति भट्टक शरीरस्य, न धारित्तस्य तत्प्रसीदतु भट्टक, विभेमि एत्वहम् ।]

वायु एवं आकाश तथा (मेरा) अन्तरात्मा और भूमि—जो पर-पुरुष की माधी हैं, वे सब मुझे देखती हैं ॥२४॥

शकार—तो वस्त्राञ्चल मे दिनाकर मार दो ।

चेट—सूक्ष्म, पतित (?) हो ।

शकार—यह बूढ़ा शूकर अधर्मभीरु है ! अच्छा, स्थावरक सेवक की मनाता हूँ । पुनरु, स्थावरक, चेट (तुम) सोने के कड़े दूंगा :

चेट—मैं भी पड़ूंगा ।

शकार—तेरे निचे मोने की चौकी बनवा दूंगा ।

चेट—मैं भी (उन पर) बैठूंगा ।

शकार—सारा उच्छिष्ट (भोजन) तुम्हें दूंगा ।

चेट—मैं भी खा लूंगा ।

शकार—सब मेवको का बड़ा (प्रधान) बना दूंगा ।

चेट—स्वामी, मैं बन जाऊंगा ।

शकार तो मेरा कहना भावो ।

चेट—स्वामी, अकार्य को छोड़कर सब करूँगा ।

शकार—अकार्य की गन्ध भी नहीं है ।

चेट—तो बतलाइये, स्वामी ।

शकार—इस वनन्तमेना को मार दो ।

चेट—स्वामी, कृपा करें । यह आर्य (वनन्तमेना) मुझ अनार्य (धनाही) के द्वारा मरदो की मृत (या परिवर्तन) से यहाँ से भाई गई ।

शकार—अरे चेट, क्या तुम पर मेरा प्रभुत्व (अधिकार) नहीं है ?

चेट—स्वामी, इन शरीर के प्रभु है, चरित्र के नहीं । तो स्वामी प्रमन्न हों, प्रमन्न हों । निश्चय ही मैं डरता हूँ ।

वाशिष्ठ उवाच । इमानि मयन्दित्र मां पावन्ति इत्यर्थः । तुष्योपिज्ञातद्वारः । वसन्तनिवृत्ता वृत्तम् ॥२४॥

पदान्तेन वस्त्राञ्चलेन, अपवारितां समाच्छादिनाम् । अन्तरात्तः प्रियतः इति पृथ्वीधरः । शोभ शूकरः । पीठकम् आसनम् । उच्छिष्टं भोजनम् अवशिष्टम् ।

न प्रभवामि प्रभु नास्मि । चरित्रस्य चरित्रम्, चरित्रशब्दात् स्वार्थेण् । मुहूर्तं च दुर्गुर्तं च नयो ममाहारः मुहूर्तदुर्गुर्तं तस्य - विद्वन्निपुणं चानधिकारप्रयानि पा० २।४।१३॥ इति विष्णवेन समाहारः । परिनिष्ठां परान्तास्य मज्जकः ।

शकार—दुम मम घेडे मविम कशा माभासि ? [त्व मम वेढे भूत्वा कस्मादिवमेयि ?]

घट—भट्टके पतलोभरश । [भट्टक परलोकात् ।]

शकार—के शे पतलोए ? [क स परलोग ?]

घट—भट्टके शुक्तिदुर्विकदरश पतिणामे । [भट्टक, मुकुनदुःकृतस्य परिणामः ।]

शकार—केलिते शुक्तिदरश पतिणामे ? [कोदृश मुकुतस्य परिणाम ?]

घट—जादिशे भट्टके बहुशुवण्यमण्डिडे । [यादृशो भट्टको बहुशुवण्यमण्डित ]

शकार—दुर्विकदरश केलिते ? [दुःकृतस्य कोदृश ?]

घट—जादिशे हगे पतपिण्डमवखके भूडे । ता अकज्ज ण कसइरशाम ।

[यादृशोऽह परपिण्डमवखको भूत । तदकाय न करिष्यामि ।]

शकार—अले, ण मासिरसति । अरे न मारयिष्यसि । [इति बहुविधे ताडयति ।]

घट—पिट्टमडु भट्टके मालेदु भट्टके अकज्ज ण कसइरशम् ।

जेण म्हि गवभदाणे विणिम्मिदे भाअधेयदोशेहि ।

अहिअ च ण कीणिणश देण अकज्ज पसिह्वामि ॥२५॥

[ताडयतु भट्टक, मारयतु भट्टक, अकार्यं न करिष्यामि

येनास्मि गवभदाणे विनिमित्तो भाअधेयदोषं ।

अधिक च न व्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥]

यत्तन्ततेण—भाप शरणागदग्धि । [भाव, शरणागतास्मि ।]

विट—काणेलीमात मयम मपर्यं । साधु रपावरक, साधु ।

अप्येय नाम परिभूतदशो दरिद्र

प्रप्य परस्य फलमिच्छति नास्य भर्ता ।

तस्मादमी कपमिवाद्य न यान्ति नाथ

ये वर्धयन्त्यसहस्र सहस्रं त्यजन्ति ॥२६॥

अपि च ।

येनेति । येन हेतुना भाअधेयदोषं भाग्यदोषं पापस्य फलैरिति यावद् गवभदाणं अकार्य एव दास विनिमित्त इति अस्मि तेन तस्मात् कारणात् अधिकं पापपर्यं

शकार—तू मेरा सेवक होकर किराये दरता है ?

खेट—स्वामी, परलोक से ।

शकार—क्या है वह परलोक ?

खेट—स्वामी पुण्य और पाप का फल ।

शकार—पुण्य का फल क्या होता है ?

खेट—जैसे बहुत मे स्वर्ण से आभूषित आप हैं ।

शकार—पाप का क्या (परिणाम) होता है ?

खेट—जैसा मैं दूरमे का अन्न खाने वाला हूँ । अन्न: अकार्य नहीं करूँगा ।

शकार—अरे नहीं मारोमे । (बहुत प्रकार से मारता है) ।

खेट—स्वामी, पीटें या मारें किन्तु अकार्य नहीं करूँगा ।

क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत कर्मों का फल) के दोष (अर्थात् पापों के फल) से मैं जन्म मे ही दाम बनाया गया है इसलिए उन्हे (पापों के फल को) अधिक नहीं अर्जित करूँगा तथा अकार्य का त्याग करूँगा ॥२५॥

वसन्तसेना—भाव, मैं शरणागत हूँ ।

विट—कापेती के पुत्र, क्षमा करो, क्षमा करो । धन्य ! म्पावरक, धन्य !

धन्यमानिह है अबस्था त्रिमकी ऐसा यह दरिद्र दास (स्वावरक) परलोक के फल की इच्छा करता है, किन्तु इसका स्वामी मदार नहीं । तब जो (शकार जैसे) उन अनुचित कर्म (या अयोग्य जनों) की कृति करते हैं तथा उचित कर्म (या योग्य पुरुषों) का त्याग करते हैं वे आज ही भाग्य का प्राप्त क्यों नहीं होते ? ॥२६॥

और भी—

भाग्यशोर वा न श्रेय्यामि अर्वापिप्यामि, अकार्यं पापकार्यं च परिहरामि त्पत्रामि ॥२५॥

खेटशकारयोस्वस्मां भाग्यविपत्तिर्दं च धिन्तदत् विटः कथयति—अप्येव इति । परिपूना तिरमृता वसा मस्य स. दरिद्रः निधनः प्रेष्यः सेवकः अवि मम एवः स्वावरकः परत्र परलोकं फलम् इच्छति, अस्य मर्ता स्वामी शकारः तु न इच्छति । तस्माद् कारणात् ये शकारस्तृणाः जनाः असदृशम् अकार्यम् यजोर्त्वं पुत्र्यं वा कथयन्ति सदृशम् उचितं कर्म धोर्त्वं पुरय वा त्यजन्ति अधी इमे अथ कथमिह माता न धारित न शान्नुवन्ति ? एतस्य विटैः विपत्तिरनेनेति भावः । वसन्तसेनिका इत्यन् ॥२६॥



रुद्रानुसारी विरम कृतान्तो यदस्य दास्य तव चेश्वरत्वम् ।

श्रिय त्वदीया यदयं न भुङ्क्ते यदेतदाज्ञा न भवान्करोति ॥२७॥

शकार—(स्वगतम्) अपम्ममिसुए बुद्धलोडे । पललोप्रसोस एत गम्मदारो । हम्मे सट्टिभगाले कररा भाशामि वलपुत्तिसामणुरो । (प्रकाशम्) अले गम्मदारो खेडे, गच्छं तुमम् आवलके पविशिम वीशन्ते एमन्ते चिरट । । अघर्मभीहको वृद्धशृगाल । परलोकभीहरेय गर्भदास । अह राष्ट्रियश्याल कस्मादिवभामि वरपुरुष-मनुष्य । अरे गभदास चेट गच्छ त्वम् । अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ ।]

घट—ज भट्टके आणवेदि । (वसन्तसेनामुपमुत्थ) अज्जए एत्तिके मे विह्वे । [यदभट्टक आज्ञापयति । आर्य एतावान्मे विभव । ] (इति निष्क्रान्त )

शकार—(परिकर बध्नन्) चिरट वसन्तशणिए पिरट । मालइशाम । [तिष्ठ वसन्तसेने तिष्ठ । मारयिष्यामि ।]

विट—आ ममाग्रतो व्यापादयिष्यसि । (इति गले घृह्णाति)

शकार—(भूमौ पतति) भावे भट्टक मालेदि । (इति मोह नाटयति । चेतनां सन्ध्या)

शब्दकाल मए पुष्ट मशेण अ घिएण अ ।

अज्जे कज्जे शमुप्पण जादे मे वैल्लिए कधम ॥१८॥

(विचिन्त्य) मोहु । सये मए जवाए । दिण्णा बुद्धलोडेण शिलश्चालनशण्णा । ता एव पेशिम वसन्तशेणिम मालइशाम । एध्व दाव । (प्रकाशम्) भावे, ज तुम मए भणिये त कप हम्मे एध्व बड्डकेहि मल्लकप्पमाणेहि कुत्तेहि जादे अकज्ज क्त्तेमि । एध्व एव अङ्गीकृतावेदु मए भणियम् । [भावो भट्टक मारयति ।

सर्वकाल मया पुष्टा मासेा च घृतेन च ।

अद्य कार्ये सपुत्पन्ने जातो मे वैरिक कथम् ॥

भवतु लब्धो मद्योपाय । दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसज्ञा । तदेतं प्रेष्य वसन्तसेना मारयिष्यामि । एव तावत् । भाव, यत्त्व मया भणित, तत्कथमहमेव वृहत्तरं गल्लकप्रमाणं कुलैजितोऽकाय वरोमि । एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम् ।

रुद्र इति । कृतान्तं देव रुद्रानुसारी द्विदान्वेषीः दिवस विपरीत वक्रो-  
वाशस्ति यन् यत् अस्य स्थावरकस्य दास्य दासता तव शकारस्य च ईश्वरत्व प्रभुता  
विद्यते । यन् च अद्य स्थावरक स्वदीयां शकारसम्वाचिनी श्रिय सम्पत्ति न भुङ्क्ते

द्वैव (विधाता) छिद्रान्वेयी तथा विपरीत कार्य करने वाला है जो इस (धार्मिक भाव वाले चेट) के दासता तथा तुम (पाप्मप्रवृत्ति वाले शकार) को प्रभुता दी है तथा जो यह तुम्हारी लक्ष्मी का उपभोग नहीं करता है और आप इसके आशाकारी (सेवक) नहीं हैं ॥२७॥

शकार—(अपने आप) यह बूढ़ा सियार (विट) अघम से डरने वाला है । यह जन्मजात दास (स्वावरक) परलोक से डरने वाला है, किन्तु मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, राजा का साला किससे डरूँगा ? (प्रकट रूप में) अरे जन्म के दास चेट, तुम जाओ किसी गुप्त (या पृथक् स्थित) स्थान में प्रवेश करके विश्राम करते हुये एकान्त में ठहरो ।

चेट—जो स्वामी आज्ञा करें । (वसन्तसेना के समीप जाकर) भायें, इतना ही मेरा सामर्थ्य है । (निकल जाता है)

शकार—(कमर बांधति हुए) ठहर, वसन्तसेना, ठहर । मारूँगा ।

विट—अरे, मेरे सामने मारोमैं । (गला पकड़ लेता है)

शकार—(भूमि पर गिरता है) भाव, स्वामी को मारते हो । (मूर्च्छा का अभिनय करता है । चेतना प्राप्त करके)—

सब समय मांस तथा घृत से मैंने तुझे पुष्ट किया है । आज काम या पक्ष पर तू मेरा वंरी कैसे हो गया ? ॥२८॥

(सोचकर) अच्छा मैंने उपाय पा लिया । बूढ़े सियार (विट) ने सिर हिलाकर (वसन्तसेना को) सकेत दिया है । तो इस (विट) को भेजकर वसन्तसेना को मारूँगा । तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) भाव, जो मैंने तुमसे (वसन्तसेना को मारने के विषय में) कहा है, भला ऐसे मल्लक (?) के समान बड़े कुल में उत्पन्न होकर मैं आकार्य कैसे करूँगा ? इस प्रकार तो अपने को स्वीकार कराने के लिए मैंने कह दिया है ।

यत् च भयान् शकारः एतस्य स्वावरकस्य आताम् आदेशं न करोति न पालयति । एतच्च सर्वं कृतान्तस्य विपमता एवेति भावः ।-उपजातिः वृत्तम् ॥२७॥

अपवारके गृहविशेषे-इति पृथ्वीघरः । विभवः सामर्थ्यम् ।

परिरुः कटिवस्त्रम्, काष्ठ इति प्रसिद्धम् । व्यापादयिष्यामि भारयिष्यासि । सर्वकालमिति । सर्वकालं सदा मया शकारेण मासेन घृतेन च पुष्टः (त्वम्) अद्य कार्यं समुत्पन्ने प्राप्ते सति मे शकारस्य वैरिकः वंरी एव वैरिकः स्वार्थे कं कार्यं जातः ॥२८॥

शिरदद्यात्नेन संता सद्भूतः । मल्लकः लघुभात्रविशेषः (टि०) । समुद्रप्रमाणा-दिति वक्तव्ये मौर्ख्यात् मल्लकप्रमाणतया कुलमुपमिनोति-इति पृथ्वीघरः । 'वृत्तः' इति बहुवचनं शकारवचनत्वाद् ।

विट —

किं कुलेर्नोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति सुतरी स्फीता सुक्षेत्रे कण्टविद्रुमाः ॥२६॥

शकार — भावे, एता तत्र भगवो, सज्जाभिदि, न म अङ्गोक्तैदि । ता गच्छ ।  
पादलअच्छेदे मए विरिद्धे गदे वि । एते पलाइम गच्छवि । ता त वेध्दुम आमपद्धु  
भावे । [भाव, एया तवाप्रतो लज्जते न मामङ्गीकरोति तदगच्छ ।

स्यावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि । एष प्रपलाय्य गच्छति । तस्मात्  
गृहीत्वागच्छतु भाव ।]

विट — (स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शीण्डीयंभावान्न भजेत मूसंम् ।

तस्मात्करोम्येष विवित्तमस्या विवित्तविश्रम्भरसो हि कामः ॥२७॥

(प्रकाशम्) एव भवतु । गच्छामि ।

वसन्तसेना — (पटाक्षे गृहीत्वा) न भगानि शरणागवन्हि । [ननु भगामि  
शरणागतास्मि ।,

विट: — वसन्तसेने, न भैतव्यं न भैतव्यम् । काणेलोमात्, वसन्तसेना तत्र  
हस्ते ग्यास ।

शकार — एष्यम् ! मम हस्ते एषा पाशेण विष्टु । [एवम् : मम हस्त  
स्या ग्यासेन तिष्ठतु ।]

विट — सत्यम् ।

शकार. — गच्छतु । [सत्यम् ।]

विट — (निविद् गत्वा) अथवा मयि गति नृशंसो हन्यादेनाम् । तदपवर्-  
रितशरीरं पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम् । (इत्येकाम्ने त्रियत )

शकार: — मोदु । मालइशम् । अथवा कवडकावडिके एते वहाणं जुद्ध-  
कोष्ठे कवावि औवाल्लिदशलोते गरिअ शिभाते मविअ इवुमुल्लि वमेदि ता  
एदश वञ्चणानिमित्त एव दाव कलंइशम् । (कुमुमावचय कुवंनात्मानं  
कण्टवति) वाशु वाशु मशतशोणिण, एहि । [भवतु । मारयिष्यामि । अथवा कण्ट-

किमिति । कुलेन उपदिष्टेन कपितेन किं की लाम ? यत अत्र अक्रोयंकरणे  
शील एवभाव. एव कारणम् । तथाहि सुक्षेत्रे कण्टविनः कण्टनमया द्रुमाः कृशा सुतरी  
स्फीता अत्यन्तं विन्तुताः समृद्धा वा भवन्ति । इत्यमेव उत्तमकुलेऽपि पापिनो जायन्ते  
इति भाव । अर्थान्तरग्यास ॥२६॥

विट—

कुन के क्यन से क्या (लाभ) ? क्योंकि इस (अकार्य करने) में तो स्वभाव (या अचरन) ही कारण है जैसे कि अच्छे खेत में भी कांटो वाले वृक्ष भैली-भाति ममूढ़ हो जाने हैं ॥२६॥

शकार—भाव, यह तुम्हारे सामने सजाती है तथा मुझे स्वीकार नहीं करती । अतः तुम जाओ । मेरे द्वारा पीटा गया स्थावरक घेत गया भी । (देखो) यह भाग कर जाता है इसलिये आप उसे लेकर भाइये ।

विट - (अपने आप) हमारे सामने वसन्तसेना उदात्त गुणों के कारण कदाचित् इस मूर्ख को स्वीकार न करे, इसलिये मैं वसन्तसेना के लिये (इस स्थान को) निर्जन करता हूँ क्योंकि काम निर्जन एक विरवस्त स्थान में आनन्ददायक होता है ॥३०॥

(प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, जाता हूँ ।

वसन्तसेना—(आचित पकड़कर) मैं कहती हूँ न, कि मैं शरणागत हूँ ।

विट—वसन्तसेना, छोरो नहीं, डरो नहीं । कापेली के पुत्र, वसन्तसेना तुम्हारा हाथ में धरोहर है ।

शकार—अच्छा, मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे ।

विट—सचमुच !

शकार—सच ।

विट—(कुछ दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर यह क्रूर इस (वसन्तसेना) को कदाचित् मार देगा । अतः अपने आप (शरीर) को छिपाये हुए इसके इरादे (कार्य करने की अभिनाया-चिकीर्षित) को देखना हूँ । (एकान्त में ठहर जाता है) ।

शकार—अच्छा, मारूँगा । अथवा धूर्तों में अप्रणी यह ब्राह्मण बूढ़ा-सियार कही अपने भावको छिपाकर (यर्षा से) जाकर सियार सा बनकर छन करता हो ।-तब

अस्मदिति । अस्मत्समसं हि अस्माकं समक्षं वसन्तसेना शौर्यवीर्यभावात् उदात्तभावात् मूर्खं न मत्तेन मेवेत । तस्मान् कारणात् एषः अहं अस्या वसन्तसेनायाः विद्विक्तं विजय करोमि हि यतः कामः विधिस्ते विजते मूर्खे वा विप्रम्ये विश्वासे च एत. आनन्दो यस्य तादृग. भवति । अर्थान्तरस्यासौऽप्युद्धाटं । उपजातिः वृत्तम् ॥३०॥

वपटेन वरतीति काण्टिकः । वपटेयु काण्टिकः वल्गुकाण्टीरित्यर्थ. (पृथ्वी०) अथवारितम् आच्छादित शरीरं येन सः ।

कापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धशृगाल कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा शृगालो  
भूत्वा कपटं करोति । तदेतस्य वञ्चनानिमित्तमव तावत्परिष्यामि । बाले बाले  
वसन्तसेने, एहि ।]

षिट --अये, कामो सवृत् । हस्त, निवृत्तोऽस्मि । गच्छामि । (इति  
निब्रान्त )

शकार —

शुवण्णं देमि पिअ वदेमि पडेमि शीक्षण शवेष्टणेण ।

तथा वि न णेच्छसि शुद्धदन्ति कि शेवअ कष्टमया मणुरणा ॥३१॥

सुवर्णं वदामि प्रिय वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।

तथापि मा नेच्छसि शुद्धदन्ति कि सेवक कष्टमया मनुष्या ॥]

वसन्तसेना को एष सदेहो । (अवनतमुखी जल चरित' इत्यादि श्लोकद्वय  
पठति)

बलचरित निकृष्ट जातदोष कपमिह मां परिलोभसे धनन ।

मुचरितचरितं विशुद्धदेह न हि कमल मधुपा परित्यजन्ति ॥३२॥

यत्नेन सेवितव्यं पुरुष कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि ।

शोभा हि पणस्त्रीणां सहस्रजनसमाश्रयं काम ॥३३॥

अवि अ । सहस्रारपादव सेवित्रं न पलासपादवं अङ्गीकरिस्वम् । [कोऽत्र सन्देह ।]

अपि च । सहस्रारपादप सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि ।]

शकार —दाशौए घोए दलिद्वेषालुदत्तके सहस्रालपादवे कडे, हगो उण  
पलाशे भणिवे किणुके वि ण कडे । एष्व तुम मे गालि वेत्ती मग्जवो त ज्जेव  
षालुदत्तक सुमत्तेशि । दास्या 'पुत्रि, दरिद्रचारदत्तक' सहस्रारपादप कृत अह  
पुन पलाशो भणित किणुकोऽपि न कृत । एव त्वं मध्य गालि ददत्यद्याप तमेव  
षालुदत्तक स्मरसि ।]

वसन्तसेना—हिअभगक्षे ज्जेव कित्त म सुमरोमदि । [हृदयगत एव  
किमिति न स्मर्यते ।]

भूयान् बामोऽस्यास्तीति बामो ।सद्युत सजात । निवृत्त' सुधी निश्चित ।  
सुवर्णकमिति । अह तुभ्यं सुवर्णं वदामि प्रिय वदामि सवेष्टनेन शीर्षेण  
गिरसा पतामि तव परणयोरिति शब्द । तथापि हे शुद्धदन्ति, मां शकार सेवक कि कथं  
न इच्छति ? अहा ! मनुष्या हि कष्टमया । उपजाति वृत्तम् ॥३१॥

इसकी वञ्चना के लिए इस प्रकार करूँ । (पुष्प-वचन करता हुआ अपने आपको धूँषित करता है) बाले, बाले, वसन्तसेने, आओ ।

विट—अरे, कामी बन गया । अहा ! अब निश्चिन्त हो गया । जाता है ।  
(निकल जाता है)

शकार—

मैं तुम्हें सुवर्ण देता हूँ प्रिय वचन कहता हूँ, पगड़ी सति मिर से (तुम्हारे धरणो में) गिरता हूँ, तथापि हे शूद्र दातो वाली क्यों मुझ सेवक को नहीं चाहती ही (खेद है) मनुष्य बड़े कष्टमय है ॥३१॥

वसन्तसेना—इसमें क्या सन्देह है ? (नीचे मुख किया हुए 'क्षलचरित इत्यादि' दो श्लोक पढ़ती है)

हे दुष्ट चरित्र वाले अधम, तुम पाप से युक्त होकर यहाँ मुझे धन से क्यों भुगतो हो ? सुन्दर (आह्लादकता आदि) स्वभाव वाले तथा निर्मल आकृति वाले कमल को भ्रमर नहीं छोड़ते है ॥३२॥

कलीक तथा सदाचारी पुरुष का दरिद्र होते हुए भी धन से सेवन करना चाहिये- क्योंकि अनुरूप जन है <sup>(अश्रिय)</sup> जिज्ञासा ऐसा प्रेम ही वेण्याओ की शोभा है ॥३३॥

और भी । आश्रवण का सेवन करके पलाशवृक्ष को स्वीकार नहीं करूँगी ।

शकार—दासी की पुत्री, दरिद्र चारुदत्त को आश्रवण बना दिया और मुझे पलाश कहा, 'किशुक' भी नहीं बनाया । इस प्रकार तू मुझे गाली देती हुई आज भी डमी चारुदत्त का स्मरण करती है ।

वसन्तसेना वह हृदय में स्थित ही है, फिर उसका स्मरण क्यों न किया जाये ?

क्षलचरितेति । हे क्षलचरित दुष्टचरित, निकृष्टः अधमः, ज्ञातः उत्पन्नः शेषः पापं यस्य तादृशः सन् इह अत्र मां वसन्तसेना कथं धनेन परितोषते परि-  
तोषयति ? सुचरितं शोभनं चरितं शीलम् आह्लादकरवादि यस्य तादृशं विशुद्धः  
विमलः देहः शरीरं आकृतिर्वा यस्य तादृशं कमलं मधुपा. भ्रमराः न परितयजन्ति हि  
न त्यजन्ति इति निश्चितम् । अनेन चारुदत्तं न त्यक्ष्यामीति व्यज्यते । अप्रस्तुत-  
प्रशंसाङ्गद्वारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥३२॥

यत्नेनेति । कुतशोक्तवान् कुतशोक्तयुक्तः पुरुषः दरिद्रः अपि सन् यत्नेन  
प्रयत्नपूर्वकं सेवितव्यं सेवनीयः, हि यतः सदृशजनः अनुरूपजनः समाध्यः यस्य  
तादृशः कामः अनुरागः पणस्त्रोणां वरयाना शोभा भवति । अर्थात्तरण्यातः । आर्मा  
वृत्तम् ॥३३॥

शकार—अज्ज वि वे हिअभगदं तुम च शमं ज्जेव मोडेमि । ता वलिहरात्थवाहं  
भमगुराकामुकिणि, चिरट चिरट [अद्यापि ते हृदयगतं त्वां च सममेव मोट-  
यामि । तद्दिरिसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि, तिष्ठ तिष्ठ ।]

वसन्तसेना—भण भण पुणो वि भण सत्ताहणिआइ एदाइ' अबलराइ' । [भण  
भण पुनरपि भण श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि ।]

शकार—वलित्ताअवु दासीए पुत्ते वलिहवानुवत्तके तुमम् । [परित्रायतां  
दास्या पुत्रो वरिद्रचारुदत्तकस्त्वाम् ।]

वसन्तसेना—परित्ताअवि जदि म पेवजदि । [परित्रायते यदि मां प्रक्षते ।]

शकार—

वि शं शक्के वालिपुत्ते महिन्दे लम्भापुत्ते कालणेमी श्रुवन्धू ।

सुद्धे लाआ द्रोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमाले तिषादू ? ॥३४॥

अथवा, एदे वि वे ण सवसन्ति ।

चाणक्केण जघ्ना शोदा मालिदा भालदे जुए ।

एवं दे मोडइशामि जडाऊ विअ दोव्वदिम् ॥३५॥

[किं स शक्रो वालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्र कालनेमि सुवन्धुः ।

रदो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणकयो वा धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुः ?

अथवा, एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति ।

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे ।

एव त्वां मोटयिष्यामि जटायुखिव द्रोणदीम् ॥

(इति ताडयित्तुमुद्यत )

वसन्तसेना—हा असो, कर्हि सि । हा अज्जचारुदत्त, एसो जणो असंपुण्णमणो  
एधो ज्जेव विवज्जदि । ता उट्ठ' अबकन्दइरसम् । अथवा वसन्तसेना ज्ज' भवकन्वति  
सि सज्जणीअं कपु एवम् । पमो अज्जचारुदत्तस । [हा मात', कुत्रासि ? हा  
आर्यचारुदत्त, एय जनीऽसंपुण्णमनोरथ एव विपद्यते । तदूर्ध्वमा-क्रन्दयिष्यामि ।  
अथवा वसन्तसेनोर्ध्वमाक्रन्दतीति सज्जनीयं सल्वेतत् । नम आर्यचारु-  
दत्ताय ।]

शकार.—अज्जवि गर्भदासी तसस ज्जेव पावसस षाम नेण्हि । (इति कण्ठे  
पीडयन्) शुभत गर्भदासि शुभत । [अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पावस्य नाम  
पृच्छति । स्मर गर्भदासि, स्मर ।]

वसन्तसेना—णमो अज्जचारुदत्तस । [नम आर्यचारुदत्ताय ।]

शकार—आज ही तुम और तेरे हृदय में स्थित (दोनों) को साथ ही पीस जालता हूँ। तो दरिद्र सार्यबाह अर्थात् चारुदत्त को चाहते वाली, ठहर ठहर।

वसन्तसेना—कहो, कहो फिर भी कहो। ये अजर (चारुदत्त कामुकिनी) सराहनीय हैं।

शकार दामो का पुत्र दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा कर ले।

वसन्तसेना—रक्षा करते यदि मुझ देखते।

शकार—वह (चारुदत्त) क्या इन्द्र है? वाति का पुत्र महेंद्र है, या रम्भा का पुत्र कालनेमि है अथवा मुषण्डु है? वह राजा रघु है या श्रेण का पुत्र जटायु है? चाणक्य है, घुग्घुमार है अथवा त्रिशङ्कु है ॥३४॥

जैसे भारत के युग में चाणक्य ने सीता को मारा था इसी प्रकार जटायु के शोषदी को मारने के समान मैं तुम मारूँगा ॥३५॥

(मारने को उद्यत हो जाता है)

वसन्तसेना—हाय माँ ! कहाँ हो ! हाय आर्षं चारुदत्त ! यह जन (मैं) दिना मनोरथ पूर्ण हुए ही मर रहा है। अब मैं ऊँचे स्वर से क्रन्दन करूँगी। अथवा 'वसन्तसेना ऊँचे स्वर से क्रन्दन करती हैं'—वह लज्जा का विषय है। आर्षं चारुदत्त को नमस्कार।

शकार—अब भी यह गर्भदासी उन पापी का ही नाम ले रही है। (गला दबाता हुआ) स्मरण कर गर्भदासी, स्मरण कर।

वसन्तसेना—आर्षं चारुदत्त को नमस्कार।

‘पलाश’ शब्देन राजसोऽप्यभिधीयते पलं मानमनातीति पलाशः। मोटयामि चूर्णयामि। दरिद्रसार्यबाहकः चामो मनुष्यश्च तस्य कामुकिनी अभिलाषिणी स्तम्बवृद्धौ।

क्रिमिति। सः चारुदत्तः किं शक्र-इन्द्रः, बालिपुत्रः महेंद्रः किम्? शक्रः महेंद्रः इति पुनरुक्तिः बालिपुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्। अथवा रम्भायाः पुत्रः कालनेमिः अनुरविशेषः सुबन्धुः कविविशेषः—अत्र रम्भापुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्, रघुः एतन्नामकः राजा अथवा श्रेणस्म पुत्रः जटायुः श्रेणपुत्रः इति विरुद्धम्; चाणक्यः, घुग्घुमारः अमुरविशेषः अथवा त्रिशङ्कुः किम्। गालिनी इति ॥३४॥

चाणक्येन। यथा भारते युगे चाणक्येन सीता मारिता एवं जटायुः शोषरीम् इव च त्वां वसन्तसेनां मोटयिष्यामि चूर्णयिष्यामि मारयिष्यामि मा शकारवाक्यवत्त्वाद् भयङ्करम् ॥३५॥



शकार.—मत्त गम्भवाशि, मत्त । [स्त्रियस्व गर्भदासि, स्त्रियस्व ।]  
(नाटर्षं न कण्ठे निपीड्यन्मारयति)

(वसन्तसेना मूर्च्छिता निश्चेष्टा पतति)

शकार —(सहस्रम् ।)

एदं दोषकलण्डिअं अविणअश्शावाणभूद खलं  
सत्तं तश्श किलागदश्श लमणं कालागद आअदम् ।  
किं एणे शमुदाहलामि णिअअं बाहूण शूलत्तणं  
णीशाणो वि मलेइ अम्ब शुमला शीदा जघा भालदे ॥३६॥  
इच्छन्तं मम णेच्छति त्ति गणिआ लोशेण मे भासिदा  
शुण्णे पुष्पकलण्डके त्ति शहशा पाशेण उताशिदा ।  
शवावञ्चिद भादुके मम पिदा मादेव शा दोष्पदी  
जे शे पेवलादि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणम् ॥

शोढु । शपव बुद्धलोडे आगभिरशवि त्ति । ता ओशसिअ चिरटामि ।

[एता दोषकरण्डिकाभविनयस्याघासभूता खला  
रक्ता तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।

किमेषु शमुदाहरामि निजक बाह्वोः शूरत्वं  
निःश्यासापि स्त्रियतेऽम्बा सुमृता सीता यथा भारते ॥

इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता  
शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेनोत्प्रासिता ।

सेवावञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी  
योऽसौ पश्यति नेदंशु व्यवसित पुत्रस्य शूरत्वम् ॥

भवतु । सांप्रतं बृद्धशृगाल आगमिष्यतीति ततोऽपसृत्य तिष्ठामि ।]

(तया करोति)

(प्रविश्य चेटेण सह)

विट —अनुनीतो मया स्थावरकश्चेट् । तद्यथाकालेनीपातरं पश्यामि ।  
(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, मार्गं एव पादयो निपतितः । अनेन च पतता स्त्री भ्यापा-  
विता । सो पाप, किमिदमकार्यं मनुष्ठितं स्वया । तत्रापि वापिनः पतनात्प्रोषधदशने-  
भातीव पातितता मयम् । अनिमित्तमेतत्, परसत्यं वसन्तसेना प्रति शङ्कितं मे मनः ।  
शर्वथा देवता, स्वस्ति करिष्यन्ति । (शकारमुपगृत्य) कालेनीमानः, एव मयानुनीतः  
स्थावरकश्चेट् ।

शकार—मर जा गर्मदासी मर जा । (अभिनय से गला दबाता हुआ मारता है (वसन्तसेना मूर्च्छित होती है तथा निश्चेष्ट होकर गिरती है)

शकार—(हृष्टपूर्वक)

दोषों की पिटारी, अविनय का निवास स्थान, दुष्टा, अनुरागयुक्ता, यहाँ आये हुए उस चाहदत्त से रमण के लिये आई हुई काल (मृत्यु) को प्राप्त हुई—इस वसन्तसेना की (मैंने मार दिया है) मैं अपनी भुजाओं की शूरता का क्या वर्णन करूँ? श्वास रहित हो जाने पर भी यह बेचारी स्त्री (वसन्तसेना) इसी प्रकार मर रही है जिस प्रकार भारत युग में सीता मली-भाँति मर गई ॥३६॥

‘चाहने वाले मुझको यह वेश्या (वसन्तसेना) नहीं चाहती है—इस कारण से इस शून्य पुष्पकरण्डक नामक उद्यान-में सहसा अपने बाहुपाश से गला दबाकर उसको क्रोध से मैंने मार दिया है । जो मेरा भाई, पिता तथा द्रौपदी जैसी माता अपने पुत्र द्वारा की गई इस शूरता को नहीं देखता है वह मेरी सेवा से बञ्चित रह गया ॥३७॥

अच्छा, इस ममम बूढ़ा सियार आ जायेगा, अतः उससे हटकर खड़ा होता हूँ । (बैसा करता है)

(चेट के साथ प्रवेश करके)

चिट—स्वावरक चेट को मैंने मना लिया है । तो अब कागेली के पुत्र को देखता हूँ (धूमकर और देखकर) अरे, मार्ग में ही वृक्ष गिर पड़ा है । और गिरते हुए इसने स्त्री को मार डाला । अरे, पापी तूने यह क्या अकार्य कर दिया । तुझ पापी के पतन से होने वाले स्त्रीवध के दशंन ने हमें अधिक पतित कर दिया है । यह अपशकुन है, सचमुच ही वसन्तसेना के विषय में मेरा मन शङ्कित हो गया है । सर्वथा देवता कल्याण करेंगे । (शकार के पास जाकर) कागेली-पुत्र, अच्छा मैंने स्वावरक चेट को मना लिया है ।

एतामिति । दोषाणां करण्डिकां पेटिका (पिटारी इति भाषा), अविनयस्य आवासभूतां निवासस्थानम्, सत्ता दुष्टां रक्ताम् अनुरागयुक्ताम् आगतस्य तस्य चाहदत्तस्य-रमणे रमणनिमित्तम् आगतां कालागतां कालप्राप्ताम् एतां वसन्तसेनाम् अहं मारितवान् इति शेषः । एषः अहं निजकं स्वकीयं बाह्यो भुजयोः शूरत्वं शूरतां किमुदाहरामि किं वर्णयामि ? निश्वासा श्वासरहिता अपि अम्बा वराको स्त्री तथा श्रियते यथा भारते युगे सीता समृता सम्यक् मृता । (हतोपमम्) । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६६॥

इच्छन्तमिति । इच्छन्तं कामयमानं मां शकारं गणिकां वसन्तसेनां न इच्छति इति हेतोः शून्ये विजने पुष्पकरण्डके तन्नामके उद्याने सा मया शकारेण सहसा पारोशं बाहुपाशेन उत्वासितं प्राप्तं गमितां निपीडितां वा, रोषेण मारिता च इति । .यः मम छाता पिता, द्रौपदी इव माता च पुत्रस्य शकारस्य अन्वर्तितं वृत्तम् ईदृशं शूरत्वं न प्रायति अयो सेवाबञ्चितः मम सेवया बञ्चितः इति भावः ॥३७॥

शकार—भावे शाब्द वे पुक्तज्ञा पावतका चेडा, तशादि शाब्दम् ।

[भाव, स्वागत ते । पुत्रक स्यावरक चेट तवापि स्वागतम् ।]

चेट—अथ इ अय किम् ।]

विट—मदीय न्यासमुपनय ।

शकार—कोदिशो शासो । [कोदृशो न्यास ।]

विट—वसन्तसेना ।

शकार—गडा । [गता ।]

विट—धव ।

शकार—भावशा जेव पिस्टरो । [भावस्यैव पृष्ठत ।]

विट—(सवितवंम्) न गता खनु सा गया दिशा ।

शकार—तुम कदमाए दिशाए गडे । [स्यं कतमया दिशा गत ।]

विट—पूवया दिशा ।

शकार—शा पि दक्षिणाए गडा । [सा पि दक्षिणया गता ।]

विट—अहं दक्षिणया ।

शकार—शा वि उत्तसाए । [साप्युत्तरया ।]

विट—अत्याकुल कथयसि । न शृण्वसि मेऽन्तरात्मा । तत्वमय सत्यम् ।

शकार—शकामि कावशा शीरो अलणकेल्लेहि पारेहि । ता शठावेहि हिअम् एसा मए मातिदा । [णपे भावस्य शीर्वमात्मीयाभ्या पादाभ्याम् । ततः सत्यापय हृदयम् । एषा मया मारिता ।]

विट—(सविपादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ।

शकार—जह मग वरणो न पतिआअशि, ता देखल पडम सट्टिअसात्तरांडा-णाहू शूलक्षणम् । [यदि मम वचने न प्रत्ययसे, तत्पश्य प्रथमं राष्ट्रियशाल-संस्थानस्य घूरत्वम् । (इति दर्शयति)]

विट—हा हनोऽस्मि मन्दभाष्यः । (इति मृच्छकटिकः पतति)

शकार—ही ही उवलदे भावे । [ही ही । उपरतो भावः ।]

चेट—शामरशाशु शमशाशु भावे । अविचारितअ पहसन आणत्तेण जेव मए पडम मातिदा । [समारवसितु समारवसितु भावः । अविचारितं प्रवहण-मानयतीव मया प्रथमं मारिता ।]

विट—(समारजस्य सकरणम्) हा वसन्तसेने,

अपभ्रुत्व दूर गत्वा । ह्रीवर्षरानेन (वर्तुभूतेन) अय पातिता पातयितः

शकार—भाव, तुम्हारा स्वागत है । वृत्र, स्वावरक चेट, तेरा भी स्वागत है ।

चेट—अव्यथा, (घण्ट्यवाद) ।

विट—मेरी घरोहर लाओ ।

शकार—कैसी घरोहर ?

विट—वसन्तसेना ।

शकार—गई ।

विट—कहाँ ?

शकार—आपके पीछे ।

विट—(वितर्क-पूर्वक) वह तो उस दिशा से नहीं गई ।

शकार—तुम किम दिया, से गये थे ?

विट—पूर्व दिशा से ।

शकार—वह भी दक्षिण से गई ।

शकार—मैं दक्षिण दिशा से (गया था) ।

शकार—वह भी उत्तर दिशा से (गई) ।

बहुत घबराहट से वह रहे हो मेरा हृदय संशय-रहित नहीं हो रहा है । तो सच कहो ।

शकार—अपने चरणों से आपके सिर की शपथ लेता हूँ । वो हृदय को स्थिर करो । उसे मैंने मार दिया ।

विट—(विषादपूर्वक) सचमुच, तुमने मार डाली ?

शकार—यदि तुम मेरे कथन पर विश्वास नहीं करते तो पहले राजशालक संस्थानक की धूर्ता देखो (दिखलाता है) ।

विट—हाय मन्दभाग्य वाला मैं मारा गया (मूर्च्छित होकर गिरता है) ।

शकार—अहो, 'भाव' मर गया ।

चेट—आप धैर्य धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये, बिना विचारे, गाड़ी को साते हुए मैंने ही उसे पहले मार दिया था ।

विट—(धैर्य धारण करके, करुणापूर्वक) हाय, वसन्तसेना ।

वृत्ताः । पातकं क्रियमाणं परमन्निर्जनः पातकी भवसीति भावः । अनिमित्तम् अपराधुनम् ।

दक्षिणदिग्गतत्वं मृतत्वमपि (पृथ्वी०) । अत्याहुतम् आहुततापूर्वकं परस्पर-विरुद्धं वा न शुभ्यति (?) वृद्धः संशयरहितः नास्तीति भावः । प्रत्यपसे विनवसिपि 'ही' इति विस्मयेऽप्ययम् । उच्यतेः मृतः ।

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-

र्हा हालङ्कृतभूपणे सुवर्दने क्रोडारसोद्भासिनि ।

हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा माहशामाश्रय

हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकर ॥३८॥

(साखम्) कष्ट भोः कष्टम् ।

किं नु नाम भवेत्कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।

आपापा पापकल्पेन नगरश्रीनिपातिता ॥३९॥

(स्वगतम्) अये कदाचिदय पाप इदमकार्यं मयि सङ्गामयेत् । भवतु । इतो गच्छामि । (इति परिक्रामति)

(शकार उपगम्य धारयति)

विट — पाप, मा मा स्प्राक्षी । अल त्वया । गच्छाम्यहम् ।

शकार — अले वरान्तरोणिअ शअ ज्जेव मानिअ मं दूशिअ क्कहि पत्ताअदिं ? शपव इदिशे हग्गे अणाधे फदिदे । [अरे, वसन्तसेना स्वयमेव मारयित्वा मा दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? साप्रतमीहशोऽहमनाथः प्राप्तः ।]

विट — अपध्वस्तोऽसि ।

शकारः—

अत्य शदं देमि सुवण्णअं दे

कहावणं देमि शवोडि अंदे ।

एशे दुशट्ठाणं पलव्वमे मे

शामाण्णाए भोदु मणुशशआणम् ॥४०॥

[अयं शतदिदामि सुवण्णं ते अपापापापं ददामि सवोडिकं ते ।

एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकानाम् ॥]

'मया वसन्तसेना मारिता' इति शकारवचनं निगम्य विट. अनुशोचति—  
दाक्षिण्येति । दाक्षिण्यम् औदार्यम् एव उदकं तस्य वाहिनी नदी विगलिता नष्टा । रतिः  
स्वदेशं स्वर्गं याता गता हा । हा ! अलङ्कृतभूपणे, अलङ्कृतानि भूपणानि यया सा  
सम्बुद्धी, सुवर्दने सुमुखि, क्रोडारसस्य रतिश्रीडाया आनन्दस्य उद्भासिनि, प्रहासः एव  
पुलिनं बालुकामयतटं यस्या. तथाभूते, हा ! सौजन्यरय नदि, हा ! माहशामा आश्रये  
आश्रयभूते, हा ! हा ! मन्मथस्य कामस्य विपणिः पण्यवोपिका (हट्टः), सौभाग्यम् एव

उदारता हवी जल की नदी नष्ट हो गई, रति अपने देश (स्वर्ग) को घली गई। हा ! भूषणों को अलङ्कृत करने वाली, सुन्दर मुख वाली, (रति) क्रीडा के आनन्द को उद्भगमित करने वाली, हा ! हास रूपी बालुकामय तटो वाली सुजनना की नदी ! हा ! मेरे जैसों की आश्रयभूत, हाय ! कामदेव की हाट, सौभाग्य रूपी विक्रय द्रव्य की निधि नष्ट हो गई ॥३८॥

(अधुपूर्णे होकर) अरे कष्ट है कष्ट !

क्या प्रयोजन (सिद्ध) हो सकेगा ? जिसमे तूने यह (दुष्कर्म) किया है। पापी जैसे तूने पाप रहित नगर की लक्ष्मी को मार दिया है ॥३९॥

(अपने आप) 'अरे, कहीं यह पापी इस दुष्कर्म को मुझ पर ही डाल दे। अच्छा, यहीं से जाता हूँ।

(शकार पास जाकर पकड़ता है।)

विट—पापी, मुझे मत छुओ। तुम रहने दो। मैं जाता हूँ।

शकार—अरे वसन्तसेना को स्वयं मारकर मुझे दोष लगाकर कहीं भागते हो अब मैं ऐसा बनाप हो गया ?

विट—तुम पतित हो !

शकार—

मैं तुम्हें यों सुवर्णमुद्रा की धनराशि दूंगा, मैं तुम्हें बीस कौड़ी (बोड़ी) सहित एक 'कार्पापण' दूंगा। मेरा यह पराक्रम (वसन्तसेना का मारना) जो दोष का स्थान (अपराध) है यह मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाये (मेरे नाम न लगाया जाये) ॥४०॥

पुण्यं विक्रयस्तु तस्य आकरः क्षतिः निघ्निरा नश्यति । स्वप्नानङ्कारः । वरुणो रसः । शार्ङ्गलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३८॥

किमिति । किं तु नाम कार्यं प्रयोजनं भवेत् येन यद्दृश्येन त्वया प्रकारेण इदं दुष्कर्मं कृतम् । यत् पापकल्पेन पापिनः ईग्दन्तूनेन पापिसहशेन वा त्वया अपापा पाप-रहिता नगरस्य ध्वीः निपातिता मारिता । वसन्तसेनां हत्वा नगरमिदं श्रीविहीनं विहितम् इति भावः । उपमानङ्कारः ॥३९॥

सकामपेद् आरोग्येत् । अपश्वस्वः पतितः ।

अर्थमिति । अहं शकारः ते विटाय शनं सुवर्णकम् अर्थं धनं ददामि । ते तुभ्यं सवोदिकं बोडिनामश्चमुद्रामहिनं कार्पापणम् एतन्नाम्नीं राजमुद्रां ददामि । दोषस्य स्थानम् एषः मे मम शकारस्य पराक्रमः मनुष्याणां सामान्यकः साधारणः भवतु । केनापि वसन्तसेना मारिता इति वक्तव्यम्, न तु शकारेण मारितेति । उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

बिट — घिन् तवैवास्तु ।

चेट — शान्त पापम् । [शान्तं पापम् ।]

(शकारो हसति)

बिटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यता हि हासो

घिक् प्रीति परिभवकारिकामनार्याम् ।

मा भूच्च त्वयि मम सद्गत वदाचि

दान्छिन्न् घनुरिक् निगुण त्यजामि ॥४१॥

शकार — भावे, पशोश्च पशोश्च एहि । नलिणीए पविशिश कीलेम्ह । [भाव,  
प्रसीद प्रसीद । एहि । नलिन्या प्रविश्य प्रीडाय ।]

बिट —

अपतितमपि तावत्सेवमान भवन्तं

पतितमिव जनोऽय मन्यते मामनार्यम् ।

कथमहमनुयाया त्वा हतस्त्रोकमेन

पुनरपि नगरस्त्रीशङ्कितार्घाक्षिदुष्टम् ॥४२॥

(सन्तपन्) वसन्तसेने,

अन्यस्यामपि जाती मा वेरया भूस्त्व हि मुन्दरि ।

चारिन्वगुणसम्पन्ने जायेथा विमत कुले ॥४३॥

दोष कृत्वा हसन्त शकार दृष्ट्वा बिट वयपति—अप्रीतिरिति । हास विमु-  
च्यतां त्यज्यता हि अप्रीति त्वया सह मम स्नेहस्य अभावात् भवतु (अपवा एव अप्रीति  
दुःखं भवतु ।) परिभवकारिकां तिरस्कारकारिणीम् अनायां निवृष्टा प्रीति त्वया सह  
मैत्रो घिक् । त्वयि शकारे मम बिटस्य सङ्गत कथाचिद् अनि मा भूत् । आच्छिन्न  
भान् निगुण ज्यारहित घनु इव दयादिगुणरहित त्वा त्यजामि । उपमात्कारः ।  
प्रह्विणी वृत्तम् ॥४१॥

नलिनीो सरस्याम्, नलानि वनलानि सन्त्यस्यामिति ।

विट—(तुम्हें) धिक्कार है । (यह दोष) तुम्हारा ही रहेगा ।  
 छेद—पाप शान्त हो ।

(शकार हंसता है)

विट—

इस हँसी को छोड़ दो । तुम्हारे साथ मेरा स्नेह नहीं रहेगा । अनादर करने वाली इस निहृष्ट मंत्री को धिक्कार है । मेरा और तुम्हारा सङ्ग फिर कभी न हो । दूटे हुए तथा प्रत्यञ्चा रहित धनुष के समान दयादि गुण रहित तुझको मैं त्यागता हूँ ॥४१॥

शकार—भाव, प्रसन्न हो जाओ, प्रमन्न हो जाओ । आओ (इस) कमल सरोवर में प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करें ।

विट—

आपकी सेवा करते हुए मुझ पाप-रहित को भी लोग अनार्य एवं पापयुक्त समझेंगे । तब स्त्री (वसन्तसेना) को मारने वाले इसी हेतु नगर की स्त्रियों के द्वारा शङ्कित अधशुभी आसों से देखे गये तुम्हारा अनुमरण मैं बँये कहूँ ॥४२॥

(कहनापूर्वक) हे वसन्तसेना,

हे सुन्दरी, तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ । हे चरित्रगुण से युक्त (वसन्तसेना), तुम किसी पवित्र कुल में जन्म लो (अथवा हे वसन्तसेना, तुम किसी चरित्र गुणयुक्त पवित्र कुल में जन्म लो) ॥४३॥

त्वया सह मम सङ्गतिर्न युक्तेति विटः शकारं वयपति-अपतितमिति । भवन्तं शकारं सेवमानम् अपतितम् अरि मां विटम् अयं जनः माधारणो लोकः अनायंम् अश्रेष्ठं निहृष्टमिति दावन् पतितम् पापयुक्तम् इव च भव्यते मंस्यते इत्थं च हतस्त्रीकं हता स्त्री येन तं पुनः अपि च भयस्त्रीभिः शङ्कितैः अर्द्धाक्षिभिः अधोन्मीलितलोचनै- हृष्टं त्वा शकारम् अहं विटः कथम् अनुगाम्यम् अनुगच्छेयम् । न कथमपि त्वामनुगन्तुं शक्नोमीति भावः । काव्यनिज्ञातङ्कारः । मातिनी वृत्तम् ॥४१॥

अन्यस्यामिति । हे सुन्दरि त्वम् अन्यस्यां भाविन्यां जातो जग्मनि अपि वेश्या सा भूः न भव । चारित्र्यं सच्चरित्रम् एव गुणः तेन सम्पन्ना युक्ता तत्सम्बुद्धौ हे चरित्र- गुणयुक्ते वसन्तसेने, (अथवा चारित्र्यगुणसम्पन्ने भुक्ते इति सम्बन्धः) त्व विमले दोष- रहिते, पवित्रे भुक्ते जायेया ज-म गृहाण; इति वसन्तसेना प्रति शुभकामना ॥४॥



शकार—ममकेलके पुष्करुण्णकजिष्णुज्जाणे वसन्तसेना मालिभ कहि पलासति ? एहि । मम आवुत्तरा अगशे वषहाल देहि । [मदीये पुष्पवरुण्डक-जोर्णोद्याने वसन्तसेना मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि । मम आवुत्तस्या-प्रतो व्यवहार देहि ।] (इति धारयति)

विट—आ, तिष्ठ जाल्म । (इति खड्गमाकर्षति)

शकार—(सभयम्पमृत्यु) कि से भोरेति । ता गच्छ । [कि रे, भीतोऽसि तद्गच्छ ।]

विट—(स्वगतम्) न युक्तमवस्थानुम् । भवतु । यन्नामंशविलकचन्द्रगक-प्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि । (इति निःशान्तः)

शकार—निघ्न गच्छ । असे शावसका पुत्रका, कीलितो मए बडे । [निघ्नं गच्छ । अरे स्यावरक पुत्रक, कीदृशं मया कृतम् ।]

चेट—मट्टके, महन्ते अकञ्जे बडे । [भट्टक, महदकार्यं कृतम् ।]

शकार—असे चेडे, कि गणासि अकञ्जे कडेसि । भोडु । एव्य दाय । (तानाभरणान्यवतार्यं) गेण्ह एव अलकारअम् । मए ताव दिण्णे । जेतिके वेने अलंका-सेमि तैत्तिक वेस मन । अण्ण तव । [अरे चेट, कि भणस्यकार्यं कृतमिति । भवतु । एवं तावत् । घृहाणेममलङ्कारम् । मया तावदुत्तम् । यावत्या वेला-यामलङ्करोमि तावती वेला मम । अन्यदा तव ।]

चेट—मट्टके उजेव एवे शोहन्ति । कि मम एवेहि । [भट्टो एवेते शोभन्ते । कि ममीति ।]

शकार—ता गच्छ । एदाई गोणाइ गेण्हिअ ममवेत्तकाए पाराइवालगापडो-रिकाए विरट । जतव हन्ते अत्तगच्छामि । [तद्गच्छ । एतो वृषमी गृहीत्वा मदीयाया प्रासादवासाप्रतोसिकाया तिष्ठ । यावदहभागच्छामि ।]

आकुलस्य भगनीपते । व्यवहार विवाद, विचारम् इति पृथ्वीधरः । 'परस्पर-भ्रुंध्याणा स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यान्वयायादव्यवस्थानं व्यवहार उदाहृत' । इति मित्राक्षरः । जाल्म, असनीक्षयकारिद् । निघ्न मृत्यु गच्छ । वासाय मत्तवारणम्

शाहर—मेरे 'पुष्करण्डक' नामक पुराने उद्यान में वसन्तसेना को मार कर कहीं भागते हो ? आओ, मेरे बहनोई (राजा) के सामने सफाई (स्पष्टीकरण) दो । (पकड़ता है) ।

बिट—अरे, बिना विचारे कार्य करते बाले (जाल्म) ठहर । (सतवार खींचता है) ।

शाहर—(भयपूर्वक हटकर) अरे क्या डर गया, तो जा ।

बिट—(अपने आप) यहाँ ठहरना उचित नहीं । अच्छा, यहाँ धायें शविलक, तथा चन्दनक आदि हैं, वहाँ जाता हूँ । (निकल जाता है) ।

शाहर—मर जा ! अरे म्यावरक, पुत्रक, मैंने कंसा कार्य किया ?

बिट—स्वामी, बड़ा बुरा काम किया ।

शाहर—अरे चेट, क्या कहता है, 'बुरा काम किया' । अच्छा, ऐसा ही (सही) (अनेक आभूषणों को उतार कर) इन आभूषण को ले । मैंने तुझे दे दिया । जितने समय पहनूँ उतने समय मेरा । अन्य समय तेरा ।

बिट—ये (तो) स्वामी को ही गोभा देते हैं । मेरा इनमें क्या (प्रयोजन) ?

शाहर—तो जा : इन बँतों को लेकर मेरी बटारी (बालाघ्न) वाली गली में ठहर जब तक मैं आता हूँ ।

घट — जं मट्टके आणवेदि । [पद्भट्टक आजापयति ।] (इति निग्रान्त )

शकार — अत्तपत्तित्तणे भावे गदे अवंशणम् । चेड वि पाशादवात्तणपदेति-  
काए णिगत्तपूत्तिवं कवुअ भावइइशम् । एव्व मन्ते सवित्ते भोदि । ता गच्छामि ।  
अथवा पेशत्तामि दाव एवम् । किं एशा मत्ता आडु पुणो यि मात्तइइशम् । (अवलोचय)  
कथ सुमत्ता । भोडु । एदिणा पावात्तएण पच्छादेमि णम् । अथवा णामङ्घिदे एते ।  
ता के वि अञ्जपुत्तित्तो पच्चहिजाणेदि । भोडु । एदिणा वातालीपुञ्जिदेण सुवत्तपण्ण-  
पुटेण पच्छादेमि । (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोडु । एव्व दाव । सपदं अधिअत्तणं  
गच्छिअ दवहात्त लिहादेमि, जहा अत्थस्सा कालणावो शत्थवाहच्चालुवत्ताकेण ममत्तेत्तं  
पुष्करत्तण्डकं जिण्णुञ्जाण पवेत्तिअ वसन्तरोणिआ वावादिदे ति ।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवड णवम् ।

णअलीए विणुद्धाए पशुघाद व्व दालुणम् ॥४४॥

भोडु । गच्छामि । (इति निग्रम्य हृत्वा सभयम्) अधिव भादिके । जेण जेण गच्छामि  
मणेण तेण ज्जेव एरो दुष्पशमणके ग्हिदकराओदक घोवत्त वेण्हिअ आअच्छवि ।  
एरो मए णशि च्छिदिअ धांहिदे । किदवेत्ते कदावि मं वेवित्तअ एदेण भात्तिदे ति  
पआशाइइशदि । ता कथ गच्छामि । (अवलोचय) भोडु । एद अट्टपडिइ पाआत्तत्तणं  
उत्तच्छिअ गच्छामि ।

एणे म्हि तुज्जिदत्तुलिदे लङ्काणअलीए गमणे गच्छन्ते ।

भूमोए पाअले हणूमशिहले विअ महेन्दे ॥४५॥

[आत्मपरित्राणे भावो गतोऽवर्षानम् । चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतो-  
लिकाया निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि । एव मन्त्रो रक्षितो भवति ।  
तद्गच्छामि । अथवा पश्यामि तावदेनाम् । किमेवा मृता, अथवा पुनरपि  
भारयिष्यामि । कथ सुमृता । भवतु । एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयाम्येनाम् ।  
अथवा नामाङ्कित एवः । तत्कोऽप्यार्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति भवतु एतेन .....  
वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि । भवतुं एव तावत् । सांप्रत-  
मधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथाधंस्य कारणात्साधवाहकचारुदत्तकेन  
मदीयं पुष्करत्तण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तत्तेना व्यापादितेति ।

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम् ।

नगर्यां विणुद्धायां पशुघातमिव दाहणम् ॥

चेद—ओ स्वामी आजा दें । (निकल जाता है) ।

शकार—अपनी रखा के निमित्त बिट (भाव) विलुप्त हो गया । \*चेद को भी प्रासाद की अटारी वाली गली में बेड़ी डालकर रक्खूँगा । इस प्रकार भेद टिना रहेगा (?) तो जाता है । अथवा पहले इम (वसन्तसेना) को देखता हूँ, क्या यह मर गई । अथवा फिर माहूँगा (देखकर) क्या भली-भाँति मर गई ? अच्छा, इस वस्त्र से इसको ढक देता हूँ । अथवा यह (वस्त्र) तो नामाङ्कित है । तो कोई आर्यजन पहचान लेगा । अच्छा वायु के जोके से इकट्ठे किये गये इस सूखे पत्तों की रागि (डेरि) से ढक देता हूँ । (बैसा करके सोचकर) अच्छा, तो इस प्रकार । अब न्यायालय में जाकर 'भ्यवहार' (अभियोग) लिखाता हूँ कि धन के निमित्त सार्वबाह चारदत्त ने मेरे पुण्यकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर वसन्तसेना को मार दिया ।

पवित्र नगरी में भयङ्कर पशुवध के समान चारदत्त के विनाश के लिये मैं एक नया कपट करता हूँ ॥४४॥

अच्छा जाता है । (निकलकर, देखकर भयपूर्वक) ओह ! जिस जिस मार्ग से जाता है उसी से यह दुष्ट बौद्ध भिक्षु गेरुए रंग के रंगे वस्त्र लेकर आ जाता है । मेरे द्वारा नाक छेदकर निकाला गया यह (मेरे साथ) शत्रुता करके, कदाचित्, मुझे देखकर "इसने मारी है" यह प्रकट कर देगा । तो कैसे जाऊँ (देखकर) अच्छा, इस आधी गिरी हुई चारदीवारी को साथकर जाता हूँ ।

आत्मपरित्राणे स्वरभानिमित्तम् । निगड्युरितम् अतिपुरुषग्नानोक्तिरिदम्  
(पृथ्वी०) मन्त्रः गुप्तवादेः 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । प्रावारकेण उत्तरीय-  
वस्त्रेण । नामाङ्कितः वसन्तसेनायाः इति शकारस्य वेति लिखिताशरः (पृथ्वी०) ।  
वातासिः वातचक्रं तथा पुञ्जितम् एकत्रीकृतम् । अघिकरणं न्यायालयः । भ्यवहारं  
विवादम् ।

चारदत्तेति । विपुल्यायां पवित्रायां नगर्याम् उज्जयिन्यां शहरं भयङ्करं पशुघातं  
पशुवधम् इव चारदत्तस्य विनाशाय नव कपटं करोमि ॥४४॥

अविदमारिके भयसहिते विस्मये (अभ्ययम्) । गृहीतं कथायोर्वचं गैरिकमयजलं  
देन तत् । इतं वरं देन तादृशः ।

भवतु । गच्छामि । अविद भादिने । येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनै-  
वैष दुष्टधर्मणो गृहीतकपायोदक चीवर गृहीत्वागच्छति । एष मया नासा  
छित्त्वा वाहितं शृतवैर कदापि मा प्रश्यतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति ।  
तत्कथं गच्छामि । भवतु । एतमर्घंपतितं प्रानारखण्डमुत्सृज्य गच्छामि ।

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन् ।

धूम्या पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्र ॥

(इति निष्प्रान्तः)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

सवाहको मिक्षु — पश्यातिदे एरो मए चीवलतखण्डे । किं शुक्लु शाहाए  
शुक्लावदशाम् । इय वाणला विलुम्पन्ति । किं शुक्लु भूमोए । धूलोवोरो होबि । ता  
कहि पश्यातिअ शुक्लावदशाम् (दृष्ट्वा) भोदु । इय धादासोपुञ्जिजे शुक्लवत्तशषए  
पशालदशाम् । (तया कृत्या) नमो बुद्धरा । (इत्युपविशति) भोदु । धम्मवत्तसाइ  
उदाहसामि ('पञ्चज्जण जेण मालिदा (८२) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) अथवा अत  
मम एदेण शग्गेण । जाय ताए यत्ततोणिभाए बुद्धोपासिभाए पच्चुपकात्त न कत्तेमि,  
जाए दशान शुक्लकाण किदे जूदित्तेहिं निजकोदे, ततो पट्टदि ताए कोद विअ  
अत्ताणअ अगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं शुक्लु पण्णोदसे शमुस्रादि । अथवा ।

वादादवेण तत्ता चीवलतोएण तिम्मिदा पत्ता ।

एदे विधिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुलन्ति ॥४६॥

[प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् । किं नु खलु शाखाया शुष्कं करि-  
ष्यामि । इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् । धूलिदोषो भवति ।  
तत्तु न प्रसार्यं शुष्कं करिष्यामि । भवतु । इह वातालीपुञ्जिते शुष्कपत्र-  
सचये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु धर्माक्षराण्युदाहरामि अथवा  
ममीतेन स्वर्गेण । यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकाया प्रत्युपकारं न  
करोमि मया दशाना सुवर्णकाना कृते द्यूतकाराभ्या निष्क्रीतं, तत् प्रभृति  
तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि । किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति ।  
अथवा ।

वातात्पेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।

एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणोव स्फुरन्ति ॥]

एष इति । एष अहं शकार लङ्कानगर्यां लङ्कानगरो प्रति गगने धूम्यां पाताले  
हनूमच्छिखरे च गच्छन्, तेषां मार्गेण गच्छन् इति भव महेन्द्र इव त्वरित-

यह मैं (मकार) बाकाय, भूमि, पाताल और हनुमान् (वस्तुनः महेंद्र पर्वत) के कित्तर से लट्ठा को जाते हुए महेंद्र (वस्तुतः हनुमान्) के समान शीघ्रातिशीघ्र जा रहा हूँ ॥४५॥

(निकल जाता है)

(सवाहक, बिना पदां उठाये प्रवेश करके)

सवाहक—यह चीवर मैंने धो लिया । क्या इसे वृष की शाखा पर सुखा लूँ ? यहाँ बानर नष्ट कर देंगे [फाड़ देंगे] । क्या फिर भूमि पर (सुखा लूँ) ? धूलि (लगने) का दोंप हो जायगा । तब कहीं फँलाकर सुखाऊँ ? (देखकर) अच्छा, यहाँ वायु के झोंके से एकत्रित मूँह पत्तों की राशि पर फँसाऊँ ? (बँसा करके) बुद्ध को नमस्कार । (बैठ जाता है) अच्छा, धार्मिक शब्दों का उच्चारण करता हूँ । (पञ्चवज्राः येन मारिताः ८-२ इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक पढ़ता है) अथवा इम स्वयं से मेरा क्या (लाभ है) ? जब तक उस बुद्ध की उपामिका वसन्तमेना का प्रत्युपकार न करूँ । जिन्होंने दत्त सुवर्ण (मुद्रा) के द्वारा (बदले) उन दोनों द्यूतकरों से छुड़ाया । तब से लेकर मैं अपने को उत्तरे द्वारा शरीश गया मा समझता हूँ । (देखकर) पत्तों के भीतर कौन सांभ-सी से रहा है । अथवा—

वात सहित आतप मे सन्तप्त ये पत्तं मेरं वस्त्रं कं जल से बाटें होकर मानो कौन गये हैं पक्ष बिकके ऐसे (पक्षियों के) डँकों के समान हिन रहे हैं ॥४६॥

स्वरितः अष्टमोऽङ्कः पञ्चमः अस्मि । 'महेंद्रशिखराद् इव हनुमान् इति वक्तव्ये सकारोक्तत्वाद् विचरीतम् (पृष्ठा०) । व्यावहृतोपमम् गाया । वृत्तम् ॥३५॥

धानानपेदेति । वातसहितेन आतपेन तप्तानि चीवरस्य वसन्तमेनास्य तोमेन जनेन स्तिमितानि आतंत्वं प्राप्तानि एतानि पत्राणि मन्ये उत्प्रेसा विस्तीर्णानि प्रमृत्तानि पत्राणि (पत्र) मन्य तानि पत्राणि पत्राः इव स्फुरन्ति । उत्प्रेसाः । गाया वृत्तम् ॥३६॥

(वसन्तसेना संज्ञां सञ्ज्ञा हस्तं दर्शयति)

मिक्षु — हा हा । शुद्धालकालभूतिदे इतिथया हृत्पे, विषकमदि । कथम् । बुद्धि  
वि हृत्पे । (यद्द्विविध निर्वणं) पञ्चभिर्भाणामि विभ्र एद हृत्यम् । अथवा किं विचारिण ।  
शक्त्ये शे उज्जेश हृत्ये जेण मे अभ्रम दिण्णम् । भोदु । पेविस्समम् । (नाट्तेनोद्धाट्य  
दृष्ट्वा प्रत्यभिजाय च) शा उज्जेय बुद्धोवाशिभा । [हा हा, शुद्धालङ्कारभूयित  
स्त्रीहस्तो निष्क्रामति । कथम् । द्वितीयोऽपि हन्त । प्रत्यभिजानामीवैत हस्तम् ।  
अथवा किं विचारेण । सत्य स एव हस्तो येन मेऽभय दत्तम् । भवतु । पश्यामि ।  
सैव बुद्धोपासिका ।

(वसन्तसेना पानीयमावाङ्मति)

मिक्षु — कथम् । उदभ मपेदि । दूले च दिग्धिभा । ।क दार्ण एत्थ कत्तइ-  
शम् । भोदु । एद धोवत्त शे उवत्ति गालइशम् । [कथम् । उदक याचते । दूरे  
च दीपिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि । भवतु । एतच्चीवरमस्या उपरि  
गालमिष्यामि ।] (तथा करोति)

(वसन्तसेना सज्ञा लब्धवोत्तिष्ठति । भिक्षु पटान्तेन वीजयति)

वसन्तसेना — अज्ज, को तुमम् । [आयं, कस्त्वम् ।]

मिक्षु — किं म ण सुमत्तेदि बुद्धोवाशिभा दशसुवण्णनिश्कोदम् ? [किं मा  
न स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम् ?]

वसन्तसेना — सुमरामि । ण उण, अथा अज्जो भणादि । घर अह उवरदा  
उज्जेव । स्मरामि । न पुनयंथामो भणाति । वरमहमुपरतैव ।]

मिक्षु — बुद्धोवाशिण, कि ण्णेदम् । [बुद्धोपासिके, किं न्विदम् ।]

वसन्तसेना — (सतिवैदम्) ज सरिस्स धेसमावरस । [यत्सदृश वेशभावस्य ।

मिक्षुः — उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवाशिभा एद पादवत्तमोपजाद सद् ओत्तम्बिअ ।

[उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकता पादपसमीपजाता नतामवलम्ब्य ।]  
(इति सता नामयति)

(वसन्तसेना शृहीत्वोत्तिष्ठति)

मिक्षु — एवमिहा विहाले मम धम्मवह्निभा चिट्ठीदि । तहिं रामराशिदमणा  
मविअ उवाशिभा नेह् गमिश्शदि । ता शेणं शेण गच्छदु बुद्धोवाशिभा । (इति परिज्ञा-  
मति । दृष्ट्वा) ओशात्थ अज्जा, ओशात्थ । एशा तनुणो इत्थिभा, एशो मिवणु ति बुद्धे  
मम एरो धम्मे ।

(वसन्तसेना चेतना पाकर हाथ निकालती है)

मिश्र—हा, हा; शुद्ध आभूषणों से भूषित नारी का हाथ निकल रहा है। क्या! दूसरा भी हाथ है? (बहुत प्रकार से देखकर) इम हाथ को पहचानना सा है। अथवा विचार से क्या (लाभ)? मचमुच यह वही हाथ है जिसने मुझे अमय (दान) दिया था। अच्छा। देखता हूँ। (अभिनय से उघाड कर, देखकर तथा पहचान कर) वही बुद्ध की उपासिका है।

(वसन्तसेना पानी चाहती है)

मिश्र क्या? जल मागती है? बावड़ी दूर है अब यहाँ क्या करूँ? अच्छा यह बस्त्र इसके ऊपर निचोडता हूँ। (बँसा करता है)।

(वसन्तसेना चेतना पाकर उठती है। मिश्र बस्त्र के छोर से हवा करता है)

वसन्तसेना—आर्य, तुम कौन हो?

मिश्र—नया बुद्ध की उपासिका दश सुवर्णों द्वारा खरीदे गये मुझको स्मरण नहीं कर रही है?

वसन्तसेना—स्मरण करती हूँ। किन्तु उम प्रकार नहीं जिस प्रकार आप कह रहे हैं। इससे तो मैं मरी ही अच्छी।

मिश्र—बुद्ध की उपासिका, यह क्या (हूआ)।

वसन्तसेना—(दुःख के साथ) जो वेण्या के योग्य है।

मिश्र—बुद्धोपासिका इस वृद्ध के समीप उत्पन्न हुई लता का सहारा लेकर उठ आयें, उठ जायें। (लता को झुकाता है)।

(वसन्तसेना लता को पकडकर उठती है)

मिश्र—इस विहार (बौद्ध-मठ) मे मेरी धर्म-बहन ठहरी है। वहाँ स्वस्वचित्त होकर उपासिका घर ज योगी। अतः बुद्धोपासिका धीरे-धीरे चलें। (धूमता है, देखकर) आर्यजनों हटो, हटो। यह सुवती स्त्री है और यह मैं मिश्र हूँ। इमलिये यह मेरा पवित्र धर्म है।

दशार्पति नि सारपति इति भाव । शालपिथ्यामि जल्पमेकार्यं निष्पीडयिव्यामि ।

वेशभादस्य वेण्यात्वम्य ।

ममावस्त्वं मनो यस्याः तथाभूता स्वस्वचित्ता इति भाव ।



ह यशजदो मुहशजदो इन्द्रियशजदो शी वस्तु माणुशे ।  
किं कलेदि लाअउले तशश पलालोओ हृत्ये णिच्चले ॥४७॥

[एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति । तत्र समाश्वस्तमना भूत्योपासिका  
गेहं गमिष्यति । तच्छनं शनं गच्छतु बुद्धोपासिका । अपसरत आर्या अपसरत ।  
एषा तरुणी स्त्री, एषा भक्षुरिति शुद्धो मर्मण धर्म ।

हस्तसयतो मुखसयत इन्द्रियसयत स खलु मनुष्य ।  
किं करोति राजकुल तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥]

(इति निष्क्रान्त )

इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।

—

हस्तेति । स खलु मनुष्य य हस्ते हस्तेन वा सयत सयमयुक्त अकार्य-  
करणानिद्वय इति यावद्, मुखेन सयत असत्यभाषणादिरहित इन्द्रियं सयत

यही वस्तुतः मनुष्य है जो हाथों से संयमी है, भुल से संयम रखता है तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण रखता है । राजकुल उसकी कृपा (हाति) कर सकता है जिसके परलोक (स्वर्ग आदि) निश्चित रूप से हाथ में है ॥४७॥

(सब निकल जाते हैं)

वसन्तसेना-मर्दन नामक अष्टम अङ्क समाप्त ।




---

रूपादिविषयेषु अनासक्तः । तस्य एतादृशस्य जनस्य राजकुलं किं करोति ? न किमपि  
 इत्यर्थः । तस्य हस्ते परलोकः निरघतः श्रुतः । परिसंख्यातद्वारः । गाया वृत्तम् ।  
 इति वसन्तसेनायाः मोदनं मर्दनं कण्ठनिपीडनं वा यत्र सः ।

## नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनक — आगतस्मिह् अधिअरणमोइएहि — 'अरे सोहणजा, व्यवहारमण्डप गदुअ भासणाइ सज्जीकरेहि' इति । ता जाय अधिअरणमण्डप सज्जिहुं गच्छामि (परिब्रम्भावलोक्य च) एइ अधिअरणमण्डपम् । एय पधिसमि । (प्रावश्य, समाज्यासन-  
नाथाय) विवित्त कारिह मए अधिअरणमण्डपम् । विरइदाइ मए आसणाइ । ता जाय अधिअरणिआण उण निवेदेमि । (परिब्रम्भावलोक्य) कधम् एसो रट्टिअरसातो इट्टुज्जणमणुस्सो इवो एक्क भाअच्छदि । ता विट्ठिणध परिहरिअ गमिरसम् । [आशप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकं — 'अरे शोधनक, व्यवहारमण्डप गत्वासनानि सज्जीकुरु' इति । तद्यावदधिकरणमण्डप सज्जितु गच्छामि । एपोऽधिकरण-  
मण्डप । एय प्रविशामि । विवित्त कारितो मयाधिकरणमण्डप । विरचितानि मयासनानि । तद्यावदधिकरणिकाना पुनर्निवेदयामि । वयम्, एय राष्ट्रियश्यालो दुष्टदुर्जनमनुष्य इत एवागच्छति तद्दृष्टिपय परिहृत्य गमि-  
ष्यामि ।] (इत्येकान्ते स्थितः)

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलवेपथारः शकारः)

शकार —

ण्हादेह शसिलजलेहि पाणिएह

उज्जाण उववणवाण निरणे ।

णालीहि शह जुवदीहि इत्तिआहि

गन्धव्वे शुविहिदेहि अज्जकेहि ॥१॥

खणेण गण्ठी खणजूलवे मे खणेण वाला खणकुन्तले वा ।

खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्तं विचित्तं हगे लाअगाले ॥२॥

[अहिमन्नङ्के शकारचाण्डत्तयो व्यवहार वप्यते]

शोधनक शोधनादिकर्ता न्यायालयस्य सेवकः, शोधयति इति शोधन निज-  
न्तस्तुघपाठो नन्वदित्वात् स्यु प्रत्यय ततश्च सप्ताश बन् प्रत्यय । अधिअरण  
न्यायालय अधिअरणवे विवादादो मरिपनिनति । अधिअरणस्य भोजकं पालनं अधिअरिभि-  
इति यावत् । व्यवहारस्य विवादस्य मण्डप भवनविशेषः । अधिअरणिका अधिअरणे  
निपुस्ता न्यायधीशाः ।

## नवम अङ्क

(तब 'शोधनक' प्रवेश करता है)

शोधनक—न्यायालय के अधिकारियों ने मुझे आज्ञा दी है—'मेरे शोधनक, विवाद-मण्डप (न्याय-भवन) में जाकर आसनों की व्यवस्थित करो। अतः तब तक न्यायालय को व्यवस्थित करने के लिये जाना है। (घूमकर और देखकर) यह न्याय-भवन है। यह मैं प्रविष्ट होता हूँ। (प्रवेश करते, सफाई करके तथा आसन रखकर) मैंने न्याय-भवन को स्वच्छ (विविक्त, पवित्र) करा दिया है, आसन लगा दिये हैं। तो अब न्यायधीशों से पुनः निवेदन करता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह राजा का ताला दुष्ट दुर्जन व्यक्ति इधर ही क्यों आ रहा है? तो इसके दृष्टिमान (आँसों) से बचकर पाता हूँ।

(एकान्त में खड़ा हो जाता है)

[तदनन्तर उज्ज्वल शेष वाला शकार प्रविष्ट होता है]

शकार—

मैं (शकार) पानी (सलिल, पानीय) से नहामा, नारियों (युवतियों, स्त्रियों) के साथ उद्यान (उपवन, कानन) में बैठा, मुसज्जित अङ्गों से युक्त मैं गन्धर्व के समान हूँ ॥ १ ॥

मेरे केशों की क्षण में गाँठ, (द्वितीय) क्षण में जूड़ा होता है। क्षण भर की दे (सामान्य) बाल और क्षण में घुघराते बाल हो जाते हैं। क्षण भर में खुले हुए (केश) हैं और अग्रिम क्षण ही ऊपर को शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार मैं रग-विरंगा (अद्भुत) राजा का साक्षात् हूँ ॥ २ ॥

स्नान इति । अहं शकारः सलिलैः जर्नैः पानीयैः स्नातः, नारीभिः युवतीभिः, स्त्रीभिः सह उद्याने जावने निपन्नः स्थितः सुबिहितं प्रमाधितः अङ्गैः शरीरवपर्वैः सशितोऽहं गन्धर्वः अस्मि । शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिः । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥ १ ॥

शकारः स्वकेशविन्यासं वर्णयति क्षणेनेति । मम केशानां क्षणेन ग्रन्थिः ग्रन्थिदग्धनं भवति क्षणेन द्वितीये क्षणे च जूलिका वन्प्रविशेयः (जूड़ा इति प्रसिद्धः) जूटकः इति पाठान्तरम्, क्षणेन मे मम दाताः सामान्यकेशाः क्षणेन वा द्वितीयक्षणे च कुन्तलाः वक्रकेशाः क्षणेन मुक्ताः बन्धरहिताः क्षणे च ऊर्ध्वपुङ्खाः ऊर्ध्वम् उपरिभागे घृष्टा शिवाः देया तदाभूताः भवन्ति । इत्यमहं चित्रः विचित्रः अद्भुतः राजस्थानः अस्मि । इत्यमहं चित्रः विचित्रः "अतोऽहं राजस्थानः इति व्याख्येयम्"—इति पृथ्वीषट् । उच्यते इति वृत्तम् । उच्यते इति पृथ्वीषट् ॥ २ ॥

अथि अ । विशगण्ठिगम्भपदित्तेण विअ कोइएण अन्तस मगममाणेण पाविइ मए महङ्गन्त-  
 तम । ता वत्ता एद किविणचेटिअ पाइइइराम (स्मृत्या) ? अं गुमत्तिव मए । इति-  
 हुत्तातुवत्ताश एद किविणचेटिअ पाइइइराम । घण च । अत्तहे बलु ये । तइश  
 शम्भ शमावीअदि । भोइु । अधिअसणमण्डव गइअ अगदो यवहाल तिहावइराम्,  
 अया चालुवत्तायेण वयुन्तरोणिआ मोइिअ मात्तिदा । ता जाव अधिअसणमण्डव ज्जेस्य  
 गच्छामि । (परिव्रम्भावलोचय च) एव त अधिअसणमण्डवम् । एत्थ पविशामि ।  
 (परिव्रम्भावलोचय च) इधम, आशानाह रिष्णाइ घिइइन्ति । जाव आअच्छन्ति  
 अधिअसणमोइिआ वाय एदरिशा पुत्थचत्तले मुहुत्तअ उवपिअिअ पडियालइराम् ।

[स्नातोऽहं सलिलजलं पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः ।

नारीभि सह युवनीभि स्त्रीभिर्गन्धर्वं इव सुविहितैरङ्गकं ॥

क्षणेन ग्रन्थि क्षणजूलिवा मे क्षणेन बाला क्षणकुन्तला वा ।

क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाशिचत्त्रो विचित्रोऽहं राजश्याल ॥

अपि च विषग्रन्थिगम्भप्रविष्टेनेव कीटवेनान्तर नागंमाणेन प्राप्त मया महद-  
 न्तरम् । तत्कस्येदं कृपणचेष्टित पातयिष्यामि ? आ, स्मृत मया । दरिद्रचारुदत्त-  
 स्येदं कृपणचेष्टित पातयिष्यामि । अन्यच्च । दरिद्रः खलु सः । तस्य सर्वं संभा-  
 व्यते । भवतु । अधिअरमण्डप गत्वाप्रतो व्यवहार लेखयिष्यामि, यया चारुदत्तेन  
 वसन्तसेना मोटयित्वा मारिता । तथावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि । एष  
 सोऽधिकरणमण्डप । अत्र प्रविशामि । कणम्, आसनानि दत्तानि तिष्ठन्ति ।  
 यावदागच्छन्त्यधिकरणभोजका तावदास्मिन्दूर्वाचिन्वरे प्रतिपालयिष्यामि ।]  
 (तथा स्थित )

शोधनक—(अथत परिव्रम्भ पुरो दृष्ट्वा) एदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति  
 ता जाव उवत्तप्यामि । [एतेऽधिकरणिका आशवच्छन्ति । तथावदुपसर्पामि ।]  
 (इत्युपसर्पति)

(तत प्रविशति श्रेष्ठिनायस्यादिपरिहृतोऽधिकरणिका )

अधिकरणिक—भो भो श्रेष्ठिनायस्यो ।

श्रेष्ठिनायस्यो—आणवेदु अज्जो ।

अधिकरणिक—अहो, व्यवहारपराधीनतया दुष्कर खलु परचित्तग्रहण-  
 मधिवरणिके ।

और भी । विपग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट कीट के समान मार्ग (छिद्र) बूँदते हुए मैंने महान् उपाय प्राप्त कर लिया है । तो इस कुकृत्य को किस पर आरोपित करूँ ? (स्मरण करके) हाँ, मैंने स्मरण किया । इस कुकृत्य को चारुदत्त पर आरोपित करूँगा । और वह दरिद्र भी है, अतः उसमें सब सम्भव माना जा सकता है । अच्छा, न्याय-भवन में जाकर पहले ही अभियोग लिखवाता हूँ कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को गलाँ दबाकर मार दिया । तो पहले न्याय-भवन में ही जाता हूँ । (घूमकर और देखकर) यह वह न्यायालय है । यहाँ प्रविष्ट होता हूँ (प्रवेश करके और देखकर) क्या, आसन लगा दिये गये हैं ? जब तक न्यायालय के अधिकारी आते हैं तब तक इस दूबवाले चबूतरे पर क्षण भर बैठकर प्रतीक्षा करता हूँ । (उसी प्रकार बैठता है) ।

शोधनक—(दूसरी ओर घूमकर तथा सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी आ रहे हैं । वो निकट जाता हूँ । (समीप जाता है)

(तत्पश्चात् श्रेष्ठी और कायस्य आदि के साथ न्यायाधीश प्रवेश करता है)

अधिकारिणः—सेठ जी और कायस्य जी,

श्रेष्ठिकायस्य—आयं, आदेश कीजिये ।

अधिकारिणः—बहो ! व्यवहार के पराधीन होने के कारण न्यायाधीशों के द्वारा दूसरों (वादी-प्रतिवादी) के मन को जानना कठिन है ।

विपग्रन्थेः (विपग्रन्थि-इति पाठान्तम्) गर्भे अल्पन्तरे प्रविष्टेन । अन्तरं बहिर्निगमनार्थं छिद्रम् । मार्गनाशेन अन्वेषयता । महदन्तरं महच्छिद्रम्, महान् मार्गः उपायो वा इति भावः । कुपणवेष्टितं कुकृत्यम् भोटयित्वा कण्ठं निष्पीड्य । श्रेष्ठी दणिक् । कायस्य, व्यवहारलेखक, जातिविशेष । व्यवहारस्य विवाद-निर्णयस्य पराधीनतया वादिप्रतिवादिसाक्ष्यादीनां युक्त्यधीनतया । परचित्तस्य वादि-प्रतिवादिचित्तस्य ग्रहणं ज्ञानम् अधिकारिणैः दुष्करम् ।

छन्न कार्यमुपक्षिपन्नि पुरुषा न्यायेन दूरीकृत  
 स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूता स्वयम् ।  
 तै पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृप स्पृश्यते  
 संक्षपादपत्राद एव सुलभो द्रष्टुगुणो दूरत ॥३॥

अपि ७ ।

छन्न दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृता  
 स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।  
 ये पक्षापरपक्षदोषसहिता पापानि सकुर्वते  
 संक्षेपादपत्राद एव सुलभो द्रष्टुगुणो दूरत ॥४॥

यत अधिकरणिक क्षत्

शास्त्रज्ञ कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन—  
 स्तुत्यो मितपरस्वकेषु चरित हृष्टवैव दत्तोत्तर ।  
 श्लीवान्पालयिता शठान्व्यपयिता घम्यो न लोभान्वितो  
 द्वाभवे परतत्त्वबद्धहृदयो राजश्च कोपापह ॥५॥

कथं परिचितग्रहणं दुष्करं किं च तस्य फलमित्याह धनमिति । पुरुषा जना-  
 न्यायेन नीत्या अथवा प्रमाणैरपरीक्षणं न्यायं तेन दूरीकृतं रहितं छन्न पररूपेण  
 आच्छादितं कायम् अभियागादिकम् उपक्षिपन्ति निणयायम् उपस्थापयन्ति । रागेण  
 स्वार्थानुरागेण अभिभूता आक्रान्ता अधिकरणं स्वयं स्वान् दोषान् न कथयन्ति । तै  
 पक्षापरपक्षाभ्यां नादिसतिवादिपक्षाभ्यां वर्धितं यत्नमपकीर्तिजननसामर्थ्यं येषां तादृश  
 दोषं नृप स्पृश्यते । नृपस्यापकीर्तिर्भवतीति भावः यत नृप एव पापस्य परमम्  
 अधिष्ठानम् । एव संक्षेपात् द्रष्टु निर्णायकस्य अपवाद अपकीर्ति सुलभ गुणं कीर्तिस्तु  
 दूरतं सुलभा एवेति भावः । काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः । शास्त्रविश्रीरिति वृत्तम् ॥३॥

उक्तमेवापि भङ्गयन्तरेण कथयति धनमिति । कुपितां क्रोधमुक्त्वा जना-  
 न्यायेन दूरीकृता रहिता परेषां धन पररूपेण आच्छादितं दोषम उदाहरन्ति  
 उपस्थापयन्ति किंतु स्वान् दोषान् अधिकरणं पापाधिष्ठाने न कथयन्ति ।  
 एभि सह ते सन्त सज्जना निर्दोषा अपि ध्रुव नष्टा भवन्ति ये पक्षास्य  
 अपरपक्षस्य वा दोषेण सहिता पापानि सकुर्वते कुर्वन्ति । संक्षेपात् द्रष्टु ।

लोग (वादी तथा प्रतिवादी) अन्य रूप में (छन्न) ग्याय से रहित अभियोग (दोष) को (निर्णय के लिये) उपस्थित करते हैं। (स्वायं साधन की) आसक्ति (राग) से युक्त होकर वे न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं। इन्हींमें वादी और प्रतिवादी के पक्षों के द्वारा बढ गया है (अपकीर्तिजनन) मामर्थ्यं त्रिमवा ऐसे (निर्णय की अयथार्थता) के दोष राजा पर लगते हैं, संक्षेप में न्यायाधीश (द्रष्टु) को अपकीर्ति (अपवाद) मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ॥३॥  
और भी—

ग्याय से हीन मनुष्य क्रुद्ध होकर अन्य रूप में (दूसरों के) दोष न्यायालय में प्रस्तुत करते हैं, न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते हैं। (ऐसे लोगो के साथ) वे बुद्धिमान् (सज्जन) भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, जो वादी या प्रतिवादी के दोष में साथ होकर पाप करते हैं। संक्षेप में न्यायाधीश को अपकीर्ति मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ॥४॥

क्योंकि, अधिकरणिक तो

शास्त्रों का ज्ञान (वादी-प्रतिवादी द्वारा किये गये) कपट को समझने में कुशल, दक्षता तथा क्रोधरहित होता है। बड़ मित्र, शत्रु एवं स्वजनों में समान दृष्टि रखने वाला (वादी प्रतिवादी के) व्यवहार (चरितं) को देखकर निर्णय देने वाला, दुर्वलों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला, धर्मयुक्त होता है तथा लोभ से युक्त नहीं होता। उपाय रहते दूसरों की यथार्थ बात को जानने में दत्तचित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होता है ॥५॥

व्यवहारनिर्णायकस्य न्यायदर्शिनो वा अपवाद एव सुलभः गुणः तु दूरतः एव तिष्ठति । काव्यलिङ्गम् अत्रङ्कारः । मार्दूलविज्ञोदितं वृत्तम् ॥३॥

अधिकरणिकस्य स्वरूप दर्शयति—शास्त्रज्ञ इति । अधिकरणिकः हि शास्त्रज्ञः शास्त्राणि जानाति इति सः । कपटस्य वादिप्रतिवादिद्वन्द्वस्य छन्दस्य अनुमारे अनुसरणे कुशलं वक्तुं न च क्रोधनः क्रोधी, मित्रपरस्वकेषु मित्रे शत्रौ स्वजने च तुल्यः समदर्शी, चरितं वादिप्रतिवादिनोः व्यवहारं दृष्ट्वा समीक्ष्य एव दत्तोत्तरं दत्तम् उत्तरं निर्णयः येन तथाभूतः शत्रोश्चान् निर्बलान् पालयित्वा शत्रून् धूर्तान् ध्यययिता दण्डयित्वा, धर्म्यः धर्मयुक्तः धर्माद् अनपेक्षः धर्म्यः धर्मशब्दान् यत्प्रत्ययः, न सोमान्वितः सोमयुक्तः दाम्निवि द्वाः उपायः तस्य भावे विद्यमानज्ञाना उपाये सति इति भावः परस्य वादिनः प्रतिवादिनः वा तत्त्वे वाम्निविस्तान्ज्ञाने बद्धहृदयः दत्तमतिः सति सभवे तयोः यावार्थ्यज्ञाने प्रयत्नशीलः इति भावः [कार्लेमहोदयस्मु-द्वाप्रति न सोमान्वितः इत्यन्वयः, इत्याह । उत्कोचादीनामवसरे सति यः सोमयुतो न भवतीति तदर्थः] राज्ञः च कोपापहः वाक्पाटवेन वस्तुन्यकपनेन च नृनकोपस्य नाशको भवति । मार्दूलविज्ञोदितं वृत्तम् ॥५॥



लेष्टिकापत्नी—अजस्त वि णामं गुणे दोसो त्तियुच्चदि । अइ एवम्, ता चन्द्रालोए वि अन्धआरो त्तियुच्चदि । [आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते । यद्येवम्, तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते ।]

अधिकरणिक — अत्र शोधनक, अधिकरणमण्डपस्य भार्गवादेशाय ।

शोधनकः—एतु एतु अधिकरणमोदभा, एतु । [एत्वेत्वधिकरणभोजक, एतु ।]

(इति परिव्रामन्ति)

शोधनकः—एष अधिकरणमण्डपम् । ता पयिसन्तु अधिकरणमोदभा । [अयमधिकरणमण्डप, तत्रविशन्त्वधिकरणभोजकाः ।]

(एवं च प्रविशन्ति)

अधिकरणिकः—अत्र शोधनक, अहिनिष्क्रम्य मायनाम्—,क क कार्यायी, इति ।

शोधनक — ज अजो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य) अज्जा, अधिकरणिआ भणन्ति—को को इय अज्जयो' त्तियुच्चदि । [यदार्य आणापयति । आर्या, अधिकरणिका भणन्ति 'कः क इह कार्यायी' इति ।]

शहर — (सहस्रम्) उवसियए अधिकरणिए । (साटोप परिष्क्रम्य) ह्यो कसपुसियो मगुरो द्राशुदेवे अरिअशाते सप्रशाले कज्जती । [उपस्थिता अधिकरणिकाः । अह वरपुएयो मनुष्यो धामुदेवो राष्ट्रियशालो राजश्याल कार्यायी ।]

शोधनक — (सप्तधमम्) हीमाविणे, पदम् उजेव रट्टिअतालो कज्जती । भोडु । अज्ज मुहत्तं चिट्ट । वाष अधिकरणिआण निवेदेमि । (उपगम्य) अज्जा, एतो वन्तु रट्टिअतालो अज्जयो ध्यवहार उवसियवो । (हन्त, प्रथममेव राष्ट्रियशालः कार्यायी । भवतु । आर्यं मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकाना निवेदयामि । आर्याः एष खलु राष्ट्रियशाल कार्यायी व्यवहारमुपस्थितः ।]

अधिकरणिक — एवम् । प्रथममेव राष्ट्रियशाल कार्यायी यथा सुखं यथा उपरागो महापुण्यविनिपातमेव वक्ष्यति । शोधनक, ध्याकुलेनाए ध्यवहारेण सञ्चितप्यम् । अत्र, निष्क्रम्योच्यते—गच्छाए च ददते तव ध्यवहार, इति ।

श्रेष्ठ-कायस्थ—व्या आपके गुणों में भी 'दोष है' ऐसा कहा जा सकता है ?  
यदि ऐसा है तो चन्द्रमा के प्रकाश में भी 'अन्धकार' कहा जा सकता है ।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक, न्याय-भवन का मार्ग बतलाओ ।

शोधनक—आइये, आइये न्यायाधीश, आइये ।

(चलते हैं)

शोधनक—यह न्याय-भवन है, अतः न्यायाधिकारी गण प्रवेश करें ।

(सब प्रवेश करते हैं)

अधिकरणिक—भद्र शोधनक बाहर निकलकर हात कीजिये—'कौन-कौन' व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक (कार्यार्थी) है ?'

शोधनक—जैसी आप आज्ञा करें । (बाहर जाकर) सज्जनो, न्याय के अधिकारी कहते हैं—“यहाँ कौन-कौन व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक है ?”

शकार—(हर्यपूर्वक) न्यायाधिकारी उपस्थित हैं । (गर्वपूर्वक चलकर) मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, वासुदेव, राष्ट्रिय, राजश्यालक कार्यार्थी हूँ ।

शोधनक—(घबराहट के साथ) हाँ, पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है । अर्द्धा, आर्य, क्षण भर ठहरो, तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ । (समीप जाकर) आर्यजनों, यह राजा का साला कार्यार्थी होकर व्यवहार के लिए उपस्थित हुआ है ।

अधिकरणिक—क्यों ? पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है । जैसे सूर्योदय का ग्रहण (किसी) महापुरुष की मृत्यु को सूचित करता है । शोधनक, आज का व्यवहार (न्याय-विचार) अव्यवस्थित (आपत्तिपूर्ण Causing disturbance) होगा । भद्र, बाहर जाकर कहिये—'जाओ आज तुम्हारा विवाद नहीं विचारा जाता ।

कार्यार्थी कार्य व्यवहारः व्यवहारार्थी, व्यवहारोपस्थापनस्य अभिलाषी इति यावत् । साटोर्षं सगर्वम् । व्यवहार व्यवहारार्थम् उपस्थितः । 'व्यवहारे' इति पाठान्तरं-व्यवहारनिमित्तमित्यर्थम् । उपरागः ग्रहणम्, सूर्यस्य प्रासः । व्याकुलेन क्षोभयुक्तेन ।

शोधनरु—ज अज्जो आणवेदि ति । (निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिया भणन्ति—‘अज्ज गच्छ । न दोशदि तव व्यवहारो’ । [यदायं आज्ञापयतीति । आर्यं अधिकरणिका भणन्ति—अद्य गच्छ । न दृश्यते तव व्यवहार’ ।]

शकार —(शक्रोधम्) आ किं न दोशदि मम व्यवहारो ? अद्य न दोशदि, तत्रो वाज्जत्ता आण पालअ वहिणोवदि विण्णविअ बहिर्णिण अतिकरु घ विण्णविअ एव अधिअत्तणिअ इत्ते फेत्तिअ एत्थ अण्ण अधिअत्तणिअ ठावइत्ताम् । [आ, किं न दृश्यते मम व्यवहार । यदि न दृश्यते, तदावुत्त राजान पालक भगिनीपति विज्ञाप्य भगिनी मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिक दूरीकृत्यान्वयमधिकरणिक स्थापयिष्यामि ।] (इति गन्तुमिच्छति)

शोधनरु—अज्ज रट्टिअत्ताअ, मुहत्तअ चिट्ठ दाव अधिअरणिआपां णिवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्टिअत्तासो कुयियो भणादि । [आयं राष्ट्रियश्याल, मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । एष राष्ट्रियश्याल कुपितो भणति ।] (इति तदुक्त भणति)

अधिकरणिक—सर्वमस्य मूलस्य सभाष्यते । अद्य, उच्यताम्—‘आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहार’ ।

शोधनरु—(शकारमुपगम्य), अज्ज अधिअरणिया भणन्ति ‘आगच्छ । दोशदि तव व्यवहारो । ता पयित्तु अज्जो । [आर्यं, अधिकरणिका भणन्ति—‘आगच्छ । दृश्यते तव व्यवहार’ ।] तत्प्रविशत्वार्यं ।]

शकार—पथम भणन्ति न दोशदि, शपथे दोशदि ति । ता णाम भोदभोदा अधिअत्तणभोइआ । जेत्तिअ हत्ते भणित्ता तेत्तिअं पत्तिआअइत्ताम् । भोदु । पविशामि (प्रविश्योपनृत्य) शुसुह अम्हाणम्, तुम्हाण पि सुहं वेमि न वेमि अ ।

[प्रथम भणन्ति न दृश्यते साप्रतं दृश्यत इति । तन्नाम भीतनीना अधिअत्तणभोजका । यावदहं भणिष्यामि, तावत्प्रत्याययिष्यामि । भवतु । प्रविशामि । सुसुखमस्माकम् युष्माकमपि सुख ददामि न ददामि च ।]

अधिकरणिक—(स्वगतम्) अहो, स्मिन्सस्कारता व्यवहारार्थिन (प्रवाशम्) उपविश्यताम् ।

शकार—अ, अंतणकलका शे भूमो । ता जहिं मे रोअदि तट्टि उयविशमि (श्रेष्ठिण प्रति) एश उवविशामि । (शोधनरु प्रति) न एत्थ उवापत्तामि । (इत्थधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एश उवविशामि । [आ, आत्मोपैया भूमि । तदत्र महत्तोचते तत्रोपविशामि । एष उपविशामि । नन्वत्रोपविशामि । एष उपविशामि ।] (इति भूमावुपविशति) ।

शोधनरु—जो कार्य आज्ञा करें (निकलकर, शकार के पास जाकर) कार्य, न्यायाधिकारी कहते हैं—'जाओ बाब तुम्हारा विवाद नहीं विचारा जायेगा ।'

शोधनरु—(क्रोधपूर्वक) बा: ! क्या मेरा विवाद नहीं विचारा जायेगा ? यदि नहीं विचारा जाता तो मैं अपने बहनोई, बहन के पति राजा पातक से कहकर बहन तथा भाता से कहकर इस न्यायाधीश को हटाकर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूंगा ।

(जाना चाहता है ।)

शोधनरु—कार्य राजसपातक, क्षम भर ठहरो । तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ । (न्यायाधीशों के पास जाकर) यह राजा का साला कुपित होकर कहना है (उसके कहे को कहता है ।)

अधिकारिक—इस दूबं से सब सम्भावना की जा सकती है । भद्र, कहिये—

शोधनरु—(शकार के पास जाकर) कार्य, न्यायाधिकारी कहते हैं कि बा जाओ तुम्हारा विवाद सुना जाता है । तो कार्य प्रवेग करें ।

शकार—पहले कहते हैं—'नहीं सुना जाता अब (कहते) हैं 'सुना जाता है ।' तो अबरन ही न्यायाधिकारी अत्यन्त डर गये हैं, जो-जो मैं कहूँगा वही-वही उनसे स्वीकार करा लूँगा । अच्छा प्रवेग करता हूँ । (प्रविष्ट होकर तथा पास जाकर) हमारा मनो-मौंति कुराल है दुम्हें भी सुख देता हूँ अपना नहीं देता हूँ ।

अधिकारिक—(अनने आन) बहो ! इस कार्योपों के सम्पत्तों की हड़ता (अपान् न्यायानम में भी यह अननी आदतों पर हड है) (प्रकट रूप में) बैठिये ।

शकार—हाँ, यह अननी भूमि है । तो जहाँ मुझे अच्छा लनेगा वहाँ बैठूँगा । (श्रेष्ठों से) यह मैं बैठता हूँ । (शोधनरु से) नहीं, मैं यहाँ बैठता हूँ । (अधिकारिक के मस्तर पर हाथ रखकर) यह मैं बैठता हूँ । (भूमि पर बैठता है) ।

'आः' इति क्रोधेऽप्यम् । आबुत्तं मगिनीपतिम् । शकारत्ववत्त्वात् पुनरक्तिः । नाम इति निरन्वयेऽप्यम् । प्रत्याजयिष्यामि प्रत्ययं विस्वात् कारयिष्यामि, स्वीकारः यिष्यामि वा ।

स्वियः संस्कारो तस्य सः स्वियसंस्कारः तस्य भावः स्वियसंस्कारता, संस्काराणां हडता इति यावत् ।

अधिवरणिक—भवान्कार्याथो ।

शकार—अथ ह्ये [अथ किम् ।]

अधिकरणिक—तत्कार्यं कथय ।

शकार—कृष्णे कञ्च कथयिष्यामि । एष्व बह्वृके मत्तरकल्पमाणाह कुले ह्ये  
षाहे ।

लाभशशुले मम पिता लाभा तादृश होइ जामादा ।

लाभशिशुने ह्ये ममापि वह्निनीपती लाभा ॥६॥

[कर्णे कार्यं कथयिष्यामि । एव बृहति मल्लकंप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः ।]

राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।

राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥]

अधिकरणिक—सर्वं ज्ञायते ।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति नितरा स्फोता सुक्षेत्रे कष्टकिद्रुमा ॥७॥

तदुच्यतां कायम् ।

शकार—एष्वं भणामि, अथलदाह वि ण अ मे कि पि कसइशदि त्तो तेण  
पहिणीवदिण पवितुपदेण मे कीत्तिदु त्तिलदु शब्बुजजाणण पदसे पुप्फकसण्डकजिण्णुज्जाणे  
दिण्णे । तहिं च वेस्सिलदु अणुदिअहं शोशवेदु शोधावेदु पोत्थावेदु सुणावेदु ण्ण्णामि । हेब्ब-  
जोएण वेस्सामि, ण वेस्सामि वा इत्थिआरत्तीस निवडिअम् । [एऽ भणामि, अपराद्ध-  
स्यापि न च मे किमपि करिष्यति, ततरतेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रोडितु  
रक्षितु सर्वोद्यानाना प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम् । तत्र च प्रेषितु-  
मनुदिवसं शुष्क कारयितु शोधयितु पुष्टं कारयितु सूत कारयितु गच्छामि ।  
देवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीर निपतितम् ।]

अधिकरणिक—अथ ज्ञायते का ह्यो विपनेति ।

शकार—ह्ये अधिअरणभोइआ किति ण जाणामि । त तादिशि चअत्तमण्डपं  
कञ्चणशतभूतणिअ । कथं वि कुपुत्तण अत्थकल्लवत्तरण कालपादो शुण्ण पुप्फकसण्डक-  
जिण्णुज्जाण पवेशिअ बाहुपदचमत्तरणलेण चणान्तरोणिआ मात्तिरा ण भए । [अहो  
अधिवरणभोजका, किमिति न जानामि । ता ताहशी नगरमडण्डन काञ्चनशत-  
भूषणा, केनापि कुपुत्रेणार्थकल्पवर्तस्य वारणाञ्छून्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं  
प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वेसन्नेतेना मारिता । ण मया ।] (इत्यर्थोक्ते  
मुत्तमाह्वयति)

अधिकरणिक—आन कार्यार्थी हैं ?

शकार—ओर क्या ?

अधिकरणिक—तो, कार्यं बतलाओ ।

शकार—कान में कार्यं कहूँगा । ऐसे (?) बड़े मल्लक जैसे कुल से उत्पन्न हुआ हूँ ।

मेरे पिता राजा के श्वशुर हैं, राजा (पालक) मेरे पिता का जामाता होता है । मैं राजा का साला हूँ और राजा भी मेरी बहन के पति हैं ॥६॥

अधिकरणिक—यह सब ज्ञात ही है ।

कुल के वर्णन से क्या (लाभ) ? क्योंकि यहाँ तो चरित्र ही (निर्णय का) कारण है । अच्छे खेत में भी कांटों वाले वृक्ष वृत्त अधिक बढ़ जाते हैं ॥७॥

अतः 'कार्यं' बतलाइये ।

शकार—अच्छा कहता हूँ । अपराधी होते हुए भी (राजा) मेरा कुछ नहीं करेगा । तो मेरी बहन के पति उस राजा ने प्रसन्न होकर क्रीड़ा करने के लिये और रक्षा करने के लिये सब उद्यानों में श्रेष्ठ 'पुष्पकरण्डक' नामक जीर्णोद्यान मुझे दिया है । और वहाँ मैं प्रतिदिन देखभाल करने के लिये (आर्द्र प्रदेशों को) मुष्क कराने के लिये, सफाई कराने के लिये, पालन कराने के लिये तथा (आवश्यकतानुसार) कटवाने के लिये जाता हूँ । संयोग-वश वहाँ मैंने एक स्त्री का शरीर पढ़ा देखा या नहीं देखा ।

अधिकरणिक—क्या ज्ञात हुआ कि मृतक कौन थी ?

शकार—वहो न्यायाधिकारी गण, भला, उस ऐसी (प्रसिद्ध) नगर की शोभा, सँकड़ों आभूषणों वाली को क्या मैं नहीं जानता ? किसी कुपुत्र (दुर्जन) ने कलेवे जैसे तुच्छ धन के निमित्त, निर्जन पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में प्रवेश करके भुजपाश से बलपूर्वक (दबाकर) वसन्तसेना को मार दिया । मैंने नहीं । (इस) प्रकार आधा कहे जाने पर मुझ ढक लेता है ।

राजश्वशुर इति । मम पिता राज्ञः पालकस्य श्वशुरः राज्ञा च मम तातस्य पित्रुः जामाता भवति । अहं शकारः राजश्यालः राजा अपि च मम भगिनीपतिः । गाथा वृत्तम् ॥६॥

स्मिन्नि । उपरि (अष्टमाङ्क २६ तम पद्यम्) व्याख्यातम् ॥७॥

काञ्चनस्य शत्रुं भूयन्नि यस्याः ताम् । बाहुः एव पाशः तस्य बलाकारेण । मुद्गसंवरणं वधनस्य स्थानं सूचयति । प्रमादः अनवधानता । हीमाशिके खेदे मये वाञ्छयम् । उद्वरायमानेन इति पाठान्तरम् त्वरया प्रवर्तमानेन इत्यर्थः । पायसं

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणां प्रसादः । भो. श्रेष्ठिकायस्मै, न मयेति  
व्यवहारस्य प्रथममभिलिख्यताम् ।

कामस्य—अ अञ्जो अणवेदि । (तथा गृत्वा) अञ्ज लिहिदम् । [यदार्थं  
भाज्ञापयति । आर्यं, लिखितम् ।]

शकारः—(स्वगतम्) होमादिके । उततान्तेण चिअ पाअशपिण्डानकेण  
अञ्ज मए अत्ता एष्व पिण्णाशिवो भोदु । एष्व दाव (प्रकाशम् अहो) अधिअ-  
सणभोइआ, न भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा । कि कोलाहल क्सेघ । [आश्चर्यम् ।  
त्वर कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेणाद्य मयात्मैव निनाशितः । भवतु एव तावत् ।  
अहो अधिकरणभोजका, ननु भणामि, मयैव हृष्टा । कि कोलाहलं कुस्त ।]  
(इति पादेन लिखित प्रोञ्छति)

अधिकरणिक—कथ त्वया ज्ञातं यथा सञ्चयंनिमित्तं बाहपासेन  
प्यापादिता ।

शकारः—हहो, पूण पडिण्णाए मोषट्ठानाए गीवालिआए जिद्युवण्णकेहि  
आहलणट्ठानेहि त्वकेमि । [हहो, नूनं परिशून्यया मोक्षस्थानया ग्रीवालिकया  
नि सुवर्णकंराभरणस्थानैस्तकंश्यामि ।

श्रेष्ठिकायस्मै—जुञ्जदि चिअ । [मुञ्जत इव ।]

शकारः—(स्वगतम्) दिशिट्ठा पच्चुञ्जीविदमिह । अविदमादिके  
[दिष्टथा प्रत्युञ्जीवितोऽस्मि । अविदमदिके ।]

श्रेष्ठिकायस्मै—भो, क एतो ववहारो अवलम्बदि । [भो, कमेव  
व्यवहारोऽवलम्बते ।]

अधिकरणिकः—इह हि द्विष्यो व्यवहारः ।

श्रेष्ठिकायस्मै—केरिसो । [कीदृशः ?]

अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च । परस्ताद्व्याख्यानुसारेण,  
स एत्वाथप्रत्ययिभ्यम् । परचापानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्मै—ता वसन्ततेणामादरं अवलम्बदि चवहारो [तद्वसन्तसेना-  
मातरमवलम्बते व्यवहारः ।]

अधिकरणिकः—एवमिदम् । अत्र शोधनक, वसन्ततेनामातरमनु-  
द्वेषयन्नाह्वय ।

शोधनक—सधर (इति निष्क्रम्य गणिकानात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु सग्जा ।  
[तथा । एवेत्वार्था]

परमान्न, क्षीरभोजनम् । तस्य पिण्डारक (१) उदगमनम् पयसः त्वरदीदगमनं  
यथा स्वनाशाय भवति इत्यर्थः । (२) भोज्यं प्रकृतो वा (३) भिजुको वा-पिण्डारो

अधिकरणिक—अहो, नगररक्षको की अभावधानता । हे श्रेष्ठि कायस्थ 'मैंने नहीं' (न मया) अभियोग शब्द प्रथमतः लिख लीजिये ।

कायस्थ—जो आर्य आदेश करे । (बैठा करके) आर्य, लिख लिया ।

शकार—(अपने आप) खेद है, [गमं-गमं खाने के लिये] उतावले खीर खाने वाले (मिश्रुक) के समान मैंने आज अपने आपको ही नष्ट कर लिया । अच्छा, अब इस प्रकार कर्तू (प्रकट रूप में) अहो, न्यायाधिकारीगण, मैं तो यह कहता हूँ कि मैंने ही देखी । क्यों कोलाहल करते हो (लिखे हुए को पंर से पोंछ देता है)

अधिकरणिक—तुमने कैसे जाना कि धन के लिये भुजाश से (दबाकर) मारी गई ।

शकार—जी, उसकी सूनी रिक्त स्थान वाली धीवा तथा आमूषण (पहनने) के स्थानों के आमूषण रहित होने से ऐसा अनुमान करता हूँ ।

श्रेष्ठि-कायस्थ—ठीक सा-ही है (हो सकता है) ।

शकार—(अपने आप) सौभाग्य से पुनः जीवित हो गया हूँ । सन्तोष है ।

श्रेष्ठि-कायस्थ—श्रीमान्, यह व्यवहार किस पर आश्रित है ?

अधिकरणिक—यहाँ दो प्रकार का व्यवहार है ।

श्रेष्ठि-कायस्थ—कैसा ?

अधिकरणिक—वाक्य (वादी-प्रतिवादी के बयान) के अनुसार होने वाला तथा अर्थ (वास्तविक तथ्य) के अनुसार होने वाला । जो वाक्य के अनुसार होता है वह तो वादी तथा प्रतिवादी (की युक्तियों) में एव जो अर्थ के अनुसार होता है वह न्यायाधिकारी को अपनी बुद्धि से निर्णय किये जाने योग्य होता है ।

श्रेष्ठि-कायस्थ—तब वसन्तसेना की माता पर यह व्यवहार आश्रित है ।

अधिकरणिक—ऐसा ही है । भद्र शोधनक, वसन्तसेना को माता को उद्दिग्ध न करते हुए बुला लाओ ।

शोधनक—अच्छा जी, (निकल कर और गणिका वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये आर्या, इपर आइये ।

मिश्रुकें द्रुमे' इति कोशः न्यायादिता मारिता ।

। दूनदूनया (दूनदूनया) इति पाठान्तरम् अत्यन्तम् उच्छूनया (Much swollen) इत्यर्थः । मोघ रिबन् स्थातं यस्याः तथा । प्रीवालिकया प्रीवया । प्रीवालिका कण्ठस्य हाट्टमूत्रावली इत्यप्ये । अविद्वन्नादिके द्रुमारनासे (नासे) ।



वृद्धा—गदा मे वरिषा मितघरअं अतणो जोत्थणं अणुभवितुम् । एतो उण  
 वोहाऊ मणादि—'आअच्छ । अधिअरणिओ सदावेदि । ता मोहपरवसं विअ  
 अताणअं भवगच्छामि । हिअअ मे घरघरेदि । अज्ज आदेतेहि मे अधिअरण-  
 मण्डवरस मग्गम् । गता मे दारिका मिअगृहमात्मनो योवनमनुभवितुम् । एण  
 पुनदीर्घायुर्भणति 'आगच्छ' अधिकरणिक आह्वयति । तन्मोहपरवसमिवा-  
 त्मानमवगच्छामि । हृदयं मे प्रकम्पते । आर्यं, आदिश भह्यमधिकरणमण्डपस्य  
 मार्गम् ।

शोधनक —एदु एदु अज्जा । [एत्वेत्वार्या ।]

(उभो परिक्रामत)

शोधनक —एवं अधिअरणमण्डपम् । एत्थ पविसदु अज्जा । [एपाअधि-  
 करणमण्डप । अत्र । प्रविशत्वार्या ।]

(इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा—(उपसृत्य) मुह तुम्हाणं भोटु भावमिस्ताणम् । [सुखं युष्माकं भवतु  
 भाव-मिश्नाणाम् ।]

अधिकरणिक —घट्टे, स्यागतम् । आस्यताम् । .

वृद्धा—सघर [तथा ।] (इत्युपविष्टा)

शाकारः—(साक्षेपम्) आगदासि बुद्धकुट्टणि, आगदासि । [आगतासि,  
 वृद्ध-कुट्टनि, आगतासि ।]

अधिकरणिक.—अये, एवं कित्त प्तन्तसेनाया माता ।

वृद्धा—अथ इ [अथ किम् ।]

अधिकरणिक.—अयेदानीं वराग्तसेना इय गता ।

वृद्धा—मित्तघरअम् [मिअगृहम्]

अधिकरणिक —किन्नामधेय तस्या मिअम् ।

वृद्धा—(स्वगतम्) हदी हदी । अबिलज्जणीअं इणु एवम् । (प्रकाशम्) जणस्स  
 पुच्छणीओ अअं अरयो, ज उण अधिअरणिअस्स । [हा धिक् हा धिक् । अतित्त-  
 ज्जनीयं खल्विदम् । जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः 'न पुनरधिकरणिकस्य ।]

अधिकरणिक.—अतं सज्जया । ध्यवहारस्सो पृच्छति ।

श्लेष्ठिकावहरो—व्यहारो पुच्छदि । णत्थि दोसो कथेहि । [व्यवहारः  
 पृच्छति । नास्ति दोषः । कथय ।]

वृद्धा—कार्यं व्यवहारो । अइ एवम्, ता सुणन्तु अज्जमिस्ता । सो इणु  
 सारववाहविणअदत्तस्स पत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहिदणामहेओ अज्ज-  
 चारदत्तो णाम, सेट्ठित्तरे पडिअत्तदि । तहि मे दारिआ जोम्भणसुहं अणुमवदि ।  
 [कार्यं व्यवहारः । यद्येवम्, तदा शृण्वन्त्वार्यमिश्ना. स सन्तु सार्यंवाहविणप-  
 दत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम,  
 श्लेष्ठित्तरे प्रतिवसति । तत्र मे दारिका योवनसुपमनुभवति ।]

वृद्धा—मेरी पुत्री मित्र (चाहदत्त) के घर अपने यौवन को भोगने के लिये गई है और यह दीर्घायु बहता है—आजो, न्यायाधीश बुलाते हैं। इसलिये मैं अपने आप को मोह के अज्ञान (किञ्चित्त्व्यविमूढ) सी समझती हूँ। मेरा हृदय बापता है। आर्य, मुझे न्यायालय का मार्ग बताइये।

शोधनरु—आर्या, (इधर से) आये, आये।

(दोनों चलते हैं)

शोधनरु—यह न्यायालय है। आर्या यहाँ प्रवेश करें।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

वृद्धा—(पास जाकर) आदरणीय आपका कल्याण हो।

अधिकरणिक—भद्र स्वागत है, बँठिये।

वृद्धा—अच्छा (बँठती है)।

शकार—(आशेषपूर्वक) आ गई, बूढ़ी कुटनी आ गई।

अधिकरणिक—अजी, तुम वसन्तसेना की माता हो ?

वृद्धा—जी हाँ।

अधिकरणिक—तो इस समय वसन्तसेना कहीं गई है ?

वृद्धा—मित्र के घर।

अधिकरणिक—उसके मित्र का क्या नाम है ?

वृद्धा—(अपने आप) हाय, हाय ? यह (बात) अत्यन्त सज्जा के योग्य है। (प्रकट रूप में) यह बात साधारण लोगों के पूछने योग्य है, न्यायाधीश के नहीं।

अधिकरणिक—सज्जा मत करो। आपसे 'व्यवहार' पूछ रहा है।

थेण्डो-कायस्थ—'व्यवहार' पूछ रहा है। कोई दोष नहीं। कहो।

वृद्धा—क्या ? व्यवहार है ? यदि ऐसा है तो श्रीमान् जी मुनिये। वह सार्यबाह वन्यदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, स्वनाम-घन्य आर्य चाहदत्त हैं जो सेठों के चौक में रहते हैं। वहाँ मेरी पुत्री यौवन मुक्त का अनुभव करती है।

अवतम्बते आश्रयति । निःपाद्यः करणीयः । अनुद्वेजयन् वसन्तसेनायाः भरणवृत्तान्त-  
कथनेन उद्विग्ना त कुर्वन् । मोहेन परदशं पराधीनम् आत्मानम् मुग्धहीतं नामधेयं यस्य  
सः । शारिका पत्नी ।

शाकार—युव अग्नेहि । तिहीअन्दु एदे अवलता । चाबुदत्तेण सह मम  
विवादे । [श्रुतमार्ये । लिख्यन्नामेतान्यक्षराणि । चारुदत्तेन । सह मम विवाद ।]  
श्लेष्मिकायस्थी—चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसा । [चारुदत्तो मित्रमिति  
नास्ति दोषः ।]

अधिकरणिक—ध्वहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते ।

श्लेष्मिकायस्थी—एवं विअ । एवमित्र ।]

अधिकरणिक—घनदत्त, वसन्तसेनार्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां  
ध्ववहारस्य प्रथम पाद । कथम् । आर्यंचारुदत्तोऽप्यस्माभिराह्वाययितव्य । अपथा  
व्यवहारस्यमहत्त्वमिति । भद्र शोधनक, गच्छ । आर्यंचारुदत्तं स्वैरमत्तघ्नान्तमनुद्विग्नं  
सादरमाह्वय प्रस्तावेन—‘अधिकरणिकस्त्वा द्रष्टुमिच्छति’ इति ।

शोधनक—ज अज्जो आणवेदि । (इति निष्कान्तेन चारुदत्तेन सह प्रविश्य  
प) एदु एदु अज्जो । [यदार्यं आज्ञापयति । एत्वेत्वार्यः ।]

चारुदत्त—(विचिन्त्य) ।

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च ।

यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिषङ्कते ॥८॥

(सवितकं स्वगतम्)

ज्ञातो हि किं न खलु बन्धनविप्रयुक्तो

मार्गागत प्रवहणेन मयापनीत ।

चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा

येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥९॥

अथवा किं विचारितेन । अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि । भद्र शोधनक, अधिकरणस्य  
मार्गमादेशय ।

घनदत्तंति कायस्यमग्नेघनम् । प्रथम पाद अशः । व्यवहारस्य हि चत्वारः  
पादाः भवन्ति । उक्तं च याज्ञवल्क्येन—‘चतुष्पाद् व्यवहारोऽयं विवादेनूपदशितः’ ।  
तत्र प्रत्ययिनोऽप्यतो लेख्यमिति भाषापाद प्रथम । स्वैरं स्वच्छन्दम् । असम्भ्रान्त  
सम्भ्रमरहितम् । अनुद्विग्नम् उद्वेगशून्यम् ।

अधिकरणिकेऽहूत चारुदत्त. मनसि तर्जयति—परिज्ञातस्येति । राज्ञा शीलेन  
आचारेण कुलेन च परिज्ञातस्य सम्भ्रम् ज्ञातस्य मे मम चारुदत्तस्य इवम्

शकार—आर्यजनों ने मुन लिया । लिख लीजिये इन अक्षरों को, मेरा विवाद चारदत्त के साथ है ।

थेष्ठीकायस्य—चारदत्त (वसन्तसेना) का मित्र है, इसमें दोष नहीं है ।

अधिकरणिक—यह व्यवहार चारदत्त पर आश्रित है ।

थेष्ठीकायस्य—ऐसा ही है ।

अधिकरणिक—घनदत्त, वसन्तसेना आर्यचारदत्त के घर गईं, यह व्यवहार का प्रथमपाद निश्चये । क्या ! आर्य चारदत्त को भी हमें बुलाना होगा । अथवा 'व्यवहार' उन्हें बुलाता है । भद्र शोधनक आओ । (व्यवहार के) 'प्रमङ्ग से न्यायाधीश आपने मिलना चाहते हैं ।' यह कहकर आर्य चारदत्त को स्वतन्त्रतापूर्वक (या धीरे से) बिना धरराये बिना उद्विग्न किये आदरपूर्वक बुला लाओ ।

शोधनक—जो आर्य आना करें । (निकलकर तथा चारदत्त के साथ प्रवेश करके) आर्य, आइये वाइये ।

चारदत्त—(सोचकर)

राजा के द्वारा शील और कुल से भली भाँति जाने गये मेरा यह बाह्यान (बुलाना) सचमुच ही (प्रकट करता है कि वह) मेरी ऐसी (दरिद्रता की) अवस्था के कारण शङ्कित है ॥८॥

(तर्कपूर्वक अपने आप)

वन्धन से मुक्त हुआ आर्यक मार्ग-रून से मेरे पास आया-और मैंने अपनी गाड़ी से उसे अन्यत्र पहुँचा दिया—क्या यह राजा ने (स्वयं) जान लिया अथवा दूत ही हैं नेत्र जिसके ऐसे राजा के कानों में आ गया, जिसने कि मैं अभियुक्त के समान इस प्रकार (न्यायालय में) जा रहा हूँ ॥९॥

अथवा विचार से क्या ? न्यायालय में हो जाता हूँ । भद्र शोधनक, न्यायालय का मार्ग बताओ ।

आह्वानं घत्सत्य निश्चितमेव अवस्थाम् ईदृशीं दरिद्रावस्थाम् अभिशङ्कते अभित्तय शङ्कते । दारिद्र्यस्य कारणान् न. मा प्रति शङ्कायुक्तो जात. इति भावः । उक्तं हि 'दारिद्र्यशोयो हि गुणराशिनाशो ॥८॥

ज्ञात इति । अग्रतविप्रयुक्त वन्धनात् मुक्तः मार्गागतः मार्गण मार्गक्रमेण मम समीपे आगतः मया प्रवृत्तेन अपनीतः अपवाहितः आर्यक विन्नु सखु ज्ञातः नृपेण स्वयं ज्ञातः वा अथवा चारा दूता. ईक्षणं चक्षु. यस्य तस्य नृपते. श्रुति आगत. प्राप्त. ? येन हेतुना अहं चारदत्त. अभियुक्त. अभियोगेन दूषित इव एवं प्रयागि न्यायालयं गच्छामि । वसन्तविलका वृत्तम् ॥९॥

शोघनक — एदु एदु अञ्जो । (एतु एतु आर्यं)  
(इति परिश्रामत )

वाशरत — (सशङ्कम्) तत्किमपरम् ।

रुक्षस्वरं वाशति वायसोऽप्य-

ममात्यभृत्वा मुहुःराह्वयन्ति ।

सख्य च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य

ममानिमित्तानि हि रोदयन्ति ॥१०५॥

शोघनक — एदु एदु अञ्जो सीर असमन्तम् । [एत्वेत्वार्यः स्वैरमसभ्रान्तम् ।]

वाशरतः—(परिश्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्यतो ध्वाङ्क्ष आदित्यामिमुखस्तया ॥

मयि चोदयते याम चक्षुर्धोरमसशयम् ॥११॥

(पुनरन्यतोऽवलोक्य) अथै, कथमप तर्पं ।

मयि विनिहितहृष्टिभिन्ननीलाञ्जनाभः

स्फुरितविततजिह्व. शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।

अभिपतति सरोपो जिह्विताध्मातकुक्षि-

भुञ्जगपतिरय मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥१२॥

अपि च इवम् ।

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चाद्रं तमा मही

स्फुरति नयनं वामो बाहुमुहुश्च विकम्पते ।

अनिमित्तानि वितोष्य पारदतश्चिन्तयति-रुक्षेति । अयं वायस कारु-  
रुक्षस्वरं श्रवणस्वरेण वाशति शब्द करोति । अमात्यभृत्वाः अमात्यानाम् अवि-  
करणिषाणां वा सेवका मुहुः पारवारम् आह्वयन्ति । सख्यं यामं च नेत्रं प्रसह्य  
बर्णाद् स्फुरति । एतानि अनिमित्तानि अपगङ्गानि हि मम खेदयन्ति । मम  
इति शेषत्वविवक्षायां कर्मणि षष्ठी । अत्र च 'दाहणनादस्तस्कोटरोपगो वायसो  
महाभयद.' इति वराहमिहोक्तं 'यामगयनस्पन्दन बन्धुविन्धेद धनहाति वा' इति

शोधनरु—आइये, आइये, (दोनों चलते हैं) ।

चाण्डल—(शङ्कापूर्वक) तब यह और क्या ?

यह कौआ ध्मे स्वर से बोल रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं, मेरी बाईं आँख बलपूर्वक फड़क रही है । ये अपजुमान मुझे खिन्न कर रहे हैं ॥१०॥

शोधनरु—आप बिना धवरामे स्वतन्त्रतापूर्वक आइये ।

चाण्डल—(धूमकर तथा आगे देखकर) ।

यह कौआ सूखे वृक्ष पर बैठा है तथा सूर्य की ओर मुझ किये है । और मुझ पर अपनी बाईं आँख डाल रहा है । निःसन्देह भयङ्कर आपत्ति है ॥११॥

(फिर दूसरी ओर देखकर) अरे ! क्या यह सपं है ?

चूणित नीले अञ्जन के समान आभा वाला, लम्बी जीभ को लपलपाता हुआ, श्वेत चार दाढ़ वाला, मेरे मार्ग में फँसकर पड़ा हुआ, यह विज्ञान सपं क्रोधपूर्वक वायु से फूले उदर को बरू करता हुआ, मुझ पर दृष्टि लगाए, मेरी ओर आ रहा है ॥१२॥

और भी यह—

भूमि पर रक्ता हुआ पैर फिमन रहा है, यद्यपि पृथ्वी गीली नहीं है । बाईं बाँस फड़क रही है तथा बाईं मुँहा बार-बार काँप रही है ।

गर्गदघनं च अनुसन्धेयम् । उपजातिः वृत्तम् ॥१॥

शुभेति-शुभेवक्षे स्थितः तथा प्रादित्याग्निमुत्त. ध्वाङ्गः धारः मयि चारुदत्ते वामं चक्षुः शोधने प्रेरयति । अनस्य धारं महद्भयं व्यथते उक्तं च इदमहितायाम्—  
'कतहः शुष्कद्रु मन्त्रिये ध्वाङ्गो' ॥१॥

सपं बिलोक्त चाण्डलः विचारयति—मयीनि । भिन्नं चूणितं यत् नीलाञ्जनं पद्मं आभा यस्य सः स्फुरिता दितता विस्तृता जिह्वा यस्य सः, शुक्लं वंष्ट्राद्यनुपलं यस्य सः न मम चाण्डलस्य मार्गम् ताडय्य सुप्तः सुप्तवत् पतितः अयं मुत्तापत्तिः महान् तनः सरोजः रोषपुच्छः क्षिप्रितः बक्रोदृत आध्मातः वायुना प्रपुन्तः कुशितः यस्य ताडयः तथा मयि चारुदत्ते विनिहितदृष्टिः विनिहिता दत्त दृष्टियेन तयामृतः सद्-  
योगतति अतिमुक्तम् वागच्छति । इदं चापगहनं मन्त्रे । उपमा स्वभावादोक्तिश्च ।  
मानिनी वृत्तम् ॥१२॥

स्फुरतीति । भूमी न्यूनं स्फुरितं धरपं स्वतति, न च मही पृथिवी आर्द्रतमा अतिरूपेण आर्द्रा । तपनम् अर्गव् वामं नेत्रं स्फुरति वामं बाहुः च मुहः धार वारं

शकुनिरपरश्चायं तावद्विरोति हि नैकश

कथयति महाघोर मृत्यु न चात्र विचारणा ॥१३॥

सर्वेषां देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनक—एतु एतु अञ्जो । इम अधिकरणमण्डप पवित्रतु अञ्जो ।  
(एत्वेत्वार्यः इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यं ।)

घारदत्त—(प्रविश्य समन्तादवनोत्स्य) अहो अधिकरणमण्डपस्य परा शो ।  
इह हि,

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोमिश्रह्लासुल

पर्यन्तस्थितचारनक्रमकर नागाश्वहिंसाश्रयम् ।

नानावाशककङ्कपक्षिरचित कायस्थसर्पास्पद

नीतिक्षुण्णतट च राजवरण हितं समुद्रायते ॥१४॥

महतु । (प्रविशच्छिखरोपातमभिनीय सवितकम्) अहह, इवमपरम् ।

सव्य मे स्पन्दते चक्षुर्विरोति वायसस्तथा ।

पश्या सप्रेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चात्मानु देवत ॥१५॥

तावत्प्रविशामि । (इतिप्रविशति)

अधिकरणिक—अयमसौ घारदत्त । य एव ।

घोणोन्नत मुसलपाङ्गुविशालनैत्रं

नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

विकम्पते । अथ च अपरः बाबाद अन्य वृद्धादि शकुनि पक्षी तावत् नैकश।  
मुहु विरोति शब्दं करोति । इदं सर्वं महाघोर भयङ्कर मृत्यु कथयति सूचयति अत्र  
च विचारणा तर्कना न नास्ति । यतो हि इमानि अनिष्टसूचकानि मन्वन्ते हरिणी  
दृष्टम् ॥१३॥

इदं न्यायाधिकरण समुद्रजत् दुःप्रवेश्यमिति वर्णयति घारदत्तः—चिन्तेति ।  
चिन्तायां व्यवहारीचन्तेने आसक्ता उत्पराः अतएव निमग्नाः । मीढ्वण एव सौत्तानि  
यत्र तद्, दूता एव ऊर्ध्वं शत्रु तं आहुत्वं युक्तम्, पर्यन्ते इतरतत स्थिता धारा  
दुप्तधराः एव नञा मकरा च यत्र तद्, नागा हस्तिन अश्वा च हिंसा हिंस्रजन्तय  
इव तेषाम् आश्रयः स्थिति यत्र तद्, नाना बहुप्रकारा याराका शत्रु

और यह दूसरा पक्षीभी अनेक बार बोलहा है। ये सब भयङ्कर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं। इस विषय में कुछ सन्देह नहीं है ॥१३॥

सब प्रकार से देवता लोग कल्याण करेंगे।

शोघनक—आर्य आइये आइये। आप इस न्याय-मण्डप में प्रवेश कीजिये।

चाहदत्त—(प्रवेश करके, चारों ओर देखकर) अहो, न्यायालय की उत्कृष्ट शोभा ! क्योंकि यहाँ—

जहाँ विवाद-चिन्तन में तत्पर एवं निम्न मन्त्री ही जल के समान हैं, जो तरंगों पर आए हुए शङ्खों जैसे दूतों से युक्त हैं, जहाँ इधर-उधर स्थित गुप्तचर ही नाके और मगर हैं और हाथी-घोड़े रूपी हिस जन्तुओं की स्थिति है, जो बहुत प्रकार के शब्द करने वाले वादी-प्रतिवादी रूपी कङ्क पक्षियों से व्याप्त है, वायस्य रूपी सर्पों का स्थान, राजनीति से भग्न है तट (मर्यादा) जिसका ऐसा यह न्यायाधिकरण पातक जनों के कारण समुद्र के समान हो रहा ॥१॥

अच्छा (प्रवेश करता हुआ सिर टकराने का अभिनय करके तर्कपूर्वक) कष्ट ! यह और (अनघातुन)—

मेरी बाईं बाँध फड़कती है तथा कौआ चिल्ला रहा है। यह मार्ग सर्प से रक्षा हुआ है। भाम्य से ही हमारा कल्याण होगा ॥१२॥

तब तक प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—यह है वह चाहदत्त जो यह —

ऊँची नासिका से युक्त तथा विशाल कोनो वाले नेत्रों से युक्त मुख को धारण करता है। यह मुख, निश्चय ही, इच्छानुसार लगाये गए दोषों का पाच नहीं है।

कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनाः एव कङ्कपक्षिणः मांसादाः पक्षिविशेषाः (हाइगिला इति भाषाया प्रतिज्ञाः) तं रचितं व्याप्तम् (पृथ्वी०) अशुभसूचकत्वेन तेषां समबधानुक्तम्-इति पृथ्वीधरः। कायस्थाः एव सर्पाः तेषाम् आस्पद स्थानम् र्नातिः सामादिरूपा तथा क्षुण्णं नया इव भग्नं तटं समुद्रतटं मर्यादा वा यत्र तद् च राजकरणं न्यायाधिकरणं हिंस्रं घातुकैः उपलक्षितं समुद्रायते समुद्र इव आचरति। उपमारूपकयोः अलङ्कारयोः सङ्करः। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥१४॥

सव्यमिति । मे सव्यं धाम क्षुः, स्पन्दते स्फुरति तथा वायतः काकः विरोति शब्द करोति । अयं पन्थाः मार्गः सर्पेण रद्धः अस्मानु देवतः भाम्यादेव स्वस्ति भवतु ॥१॥

चाहदत्तमवलोक्य 'निर्दोषेयमाकृतिरिति' कथयति अधिकरणिकः—घोणोन्नत-मिति । यः एषः चाहदत्तः घोणा उन्नता यत्र तद्, घोणदा वा उन्नतमुत्कृष्टम् । अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः विशाले नेत्रे यत्र तद् च (एतेन नेत्र-विशालत्वमुक्तम्-पृथ्वी०) एवं विघ्नं मुग्धं धारयति । एतद् तदर्थं मुखम् अकारणैव ह्येव आरोपितानां रूपणानां



नागेषु गोषु सुरगेषु तथा नरेषु

नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥१६॥

चारदत्त.—नोः अधिहृतेभ्य स्वस्ति । हंहो नियुक्ताः, अपि कुशल भवताम् ?  
अधिकरणिकः—(ससभ्रमम्) स्वागतमार्यस्य । भद्र शोधनक, आर्यस्यासन-

मुपनय ।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) एव शासनम् । एत्थ उपविशतु अज्जो ।

[इदमासनम् । अत्रोपविशत्वार्यः ।]

(चारदत्त उपविशति)

शकारः—(सक्रोधम्) अगदेगि से इरिपआघादभा, आगदेगि । अहो  
णाए ववहाले, अहो धम्मे ववहाले, ज एबाह इरिपआघादकाह, आराणे दीअदि ।  
(सगवंम्) भोदु । णं दीअदु । [आगतोऽसि रे स्त्रीघातक, जागतोऽसि । अहो  
न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः, यदेतस्मै स्त्रीघातकामासनं दीयते  
भवतु । ननु दीयताम् ।]

अधिकरणिकः—आर्यं चारदत्त, अस्ति भवतोऽस्या आर्याया इहिव्रा सह प्रसक्तिः  
प्रणय प्रीतिर्वा ।

चारदत्त —कस्याः ।

अधिकरणिक—अस्याः । (इति वसन्तसेनामातरं दशंमति)

चारदत्तः—(उत्पाप) आर्ये, अभिवाहये ।

वृ३१—जात, चिरं मे जीव (स्वगतम्) अयं शो चारदत्तो । सुनिश्चितं  
मेषु दरिभए जोध्वणम् । (जात, चिरं मे जीव । अयं स चारदत्तः । सुनिश्चितं  
स्मनु दारिकया योवनम् ।]

अधिकरणिकः—आर्यं, गणिका तय मित्रम् ।

(चारदत्तो लज्जां नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए वा

चालितं अलिण गिगूहिदुम् ।

शअ मालिअ अत्यकालणा

दाणिं गूहिदि ण तं हि भट्टके ॥१७॥

[लज्जया भीक्षतया यां चारित्रमलीकं निगूहितुम् ।

स्वयं मारयित्वायंकारणादिदानीं गूहति न तद्धि भट्टकः ॥]

क्योंकि हाथी, गाय, बरख तथा मनुष्यों में उनका बर्तार अपने अनुकूल चरित्र का त्याग नहीं करता ॥१६॥

चाहदत—न्यायाधिकारियों का कल्याण हो। हे अधिकारीयग, आप कुम्भन तो हैं।

अधिकरगिक—(धवराहट से) आप का स्वागत है। भद्र शोभनर, आप के निम्ने कासन साजो।

शौवनरं—(आसन साकर) यह मानन है। आप इस पर बैठें।

(चाहदत बँटता है) -

गकार—(कोशबुवंक) आ गया रे स्त्रीभावक आ गया। बहो! कितना न्यायपुक्त, व्यवहार (विवाद-निर्णय legal procedure) है! कितना धर्मयुक्त 'व्यवहार' है! इस स्त्रीभावक को आसन दिया जा रहा है। (धर्म के साध) अच्छा, दोबरे।

अधिकरगिक—आप चाहदत, आपका इस बार्दा की पुत्री के साध गाइ समकं, अनुपम मा स्नेह है क्या?

चाहदत—किसे?

अधिकरगिक—इसकी। (बसन्तसेना की माता को दिखवाता है)

चाहदत—(उठकर) आप, अभिवादन करता हूँ।

बृद्धा—बस विरञ्जोव। (अपने आन) यह वह चाहदत है। निरवम ही मेरी पुत्री ने अपना मौवन ठीक प्रकार से अर्पित किया है।

अधिकरगिक—आप, बेरया तुम्हारी मित्र है।

(चाहदत तन्त्रा का अभिनय करता है)

गकार—

धन के निम्ने (बसन्तसेना को) स्वयं मारकर इस समय तु तन्त्रा अपना भीला के कारण अपने बुरे चरित्र को छिनादे का मल करता है, किन्तु निरवम ही उसको मृच्छ (राजा पालक मा अधिकरगिक) नहीं छिनादेगा ॥१७॥

भाजनं पात्रं न भवति हिं यत्रः नापेषु हस्तिषु गोषु कुर्येषु वर्येषु तथा नरेषु  
माहतिः आकारः सुमहा संपा आसापनुदूनं वृत्तं चरित्रं न विमहाति त्यजति।  
आहतिननुमरति मुगाः ईदगो चाहतिनं शीनं व्यभिवर्योति भावः। दहन्तिविका  
वत्तन् ॥१६॥

न्यायः न्यायाद् बननेव, न्यायपुक्तः इति वादद्। धर्म्यः धर्माद् अनन्तः  
धर्मयुक्तः इति भावः। प्रगक्तिः मातनुपपः। प्रगकः अनुपपः। प्रीतिः स्नेहः।  
मुनिमिन्तं मुञ्चु सनचित्तम्।

सम्बपेति। अर्थकारणान् स्वयं बसन्तसेनां मारयित्वा इदानीं तन्त्रा भीलाया  
धनेन वा अनोकं निम्ना चारित्रं निगृह्युं गोतापितुं यत्रसे इति वेपः किन्तु मृच्छ  
महारकः राजा अधिकरगिको वा तद् चारित्रं न मुञ्चति हि। वंतापीयं वृत्तम् ॥१७॥

धेष्ठीकायस्व—अञ्जचारदत्त, भणारि । अल सञ्जाए । बवहारो षु  
एतो । [आर्य चारुदत्त, भण अल लज्जया । व्यवहार खल्वेष ।]

चारुदत्त—(सलज्जम) भो अधिष्टता मया कयमोटश यक्तप्यम्, यथा गणिका  
मम मित्रमिति । अथवा योयनमात्रापराध्यति, न चारिभ्यम् ।

अधिकरणिक—

व्यवहार सविघ्नोऽय त्यज लज्जा हृदि स्थिताम् । .

ब्रूहि सत्यमल धैर्यं छमतल न गृह्यते ॥१८॥

अत लज्जया । व्यवहारस्त्यां पृच्छति ।

चारुदत्त—अधिकृत, केन सह मम व्यवहार ।

शकार—(साटोत्रम्) अते मए सह बवहाले । [अरे, मया सह व्यवहारः ।]

चारुदत्त—त्वया सह मम व्यवहार सुदु सह ।

शकार—अते इरिष्यभाघारभा, त तारिंश सअणरावभुराणिअ घरात्त-  
शोणिअ मालिअ, रापव कवडकावडिके भधिअ निगूहेसि । [अरे स्त्रीघातक तां  
ताहशी रत्नशतभूषणा वसन्तसेना मारयित्वा, साप्रत कपटकापटिको भूत्वा,  
निगूहसि ।]

चारुदत्त—असद्वद् सत्यसि ।

अधिकरणिक—आर्यं चारुदत्त, अतमनेन । ब्रूहि सत्यम् । अपि गणिका तव  
मित्रम् ।

चारुदत्त—एवमेव ।

अधिकरणिक—आर्यं, वसन्तसेना बव ।

चारुदत्त—गृहं गता ।

धेष्ठीकायस्व—कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केण अणुगता । [कथं  
गता, कदा गता, गच्छन्ती वा वेनानुगता ।]

चारुदत्त—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्न गतेति ब्रवीमि ।

धेष्ठीकायस्व—अञ्ज, कथेहि । [आय कयय ।]

चारुदत्त—गृहं गता । किमन्यद् ब्रवीमि ।

शकार—मम केलक पुष्करलण्डकजिण्णुज्जाण पवेसिअ भरणिमित्त  
बाहुपाशादलकालेण मालिदा । अए शंपव वदसि घस गवे त्ति । मदीय पुष्कर-  
ण्डवजीर्णोदान प्रवश्यार्यनिमित्त बाहुपाशावलात्कारेण मारिता । अये, साप्रतं  
वदसि गृहं गतेति ।]

चारुदत्त—आ । असद्वद्प्रतापिन् ।

व्यवहार इति । अय व्यवहार सविघ्न विघ्नेन सहित अत हृदि स्थितां  
लज्जां त्यज । सत्यं ब्रूहि धैर्यमसं "विलम्बो मास्तु इत्यर्थं यदा धैर्यम् अतम्

श्रेष्ठीकामस्य—आर्यं चादत्त, कर्हो । लज्जा मत करो । यह तो 'व्यवहार' है ।

चाददत्त—(लज्जापूर्वक) हे अधिकारी गण, मुझसे इस प्रकार कैसे कहा जा सकता है कि बेरया मेरो मित्र है । अथवा यौवन अपराधी है चरित्र नहीं ।

अधिकारणिक—

यह व्यवहार विघ्नयुक्त है । हृदय में स्थित लज्जा को छोड़ दो, सब कर्हो, विलम्ब मत करो (अथवा सत्य कहने के लिये पर्याप्त धैर्य धारण करो) । व्यवहार में कपट को स्वीकार नहीं किया जाता ॥१८॥

लज्जा न करो तुम से 'व्यवहार' पूछ रहा है ।

चाददत्त—अधिकारणिक, जिसके साथ मेरा 'व्यवहार' है ।

शकार—(गर्व के साथ) अरे, मेरे साथ 'व्यवहार' है ।

चाददत्त—तेरे साथ मेरा व्यवहार दुःसह्य है ।

शकार—अरे स्त्रीघातक, उस ऐसी सैकड़ों रत्नों के आभूषण वाली वसन्तसेना को मार कर इस समय कपट से धूर्त बनकर छिपाता है ।

चाददत्त—तू असज्जत (बात कहने वाला) है ।

अधिकारणिक—आर्यं चाददत्त, इसे (शकार को) रहने दो । सब बतलाओ ।

क्या गणिका तुम्हारी मित्र है ?

चाददत्त—ऐसा ही है ।

अधिकारणिक—आर्यं, वसन्तसेना कहां है ?

चाददत्त—घर को गई ।

श्रेष्ठीकामस्य—कैसे गई ? कब गई ? अथवा जाती हुई के साथ कौन गया ?

चाददत्त—(अपने आद) बना 'पुप्त रूप से गई, यह कह दूँ ।

श्रेष्ठीकामस्य—आर्यं कहिये ।

चाददत्त—घर को गई । और क्या कहूँ ?

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में से आकर धन के लिये पुत्रराज से बलपूर्वक (दबाकर) मार दी है । अरे अब कहता है 'घर को गई' ।

चाददत्त—अरे असज्जत प्रलाप करने वाले

अस्तु सत्यकथनादेति शेषः—(काले) (?) अन् व्यवहारे क्षणं न दुरुष्यते स्वीक्रियते ॥१८॥

कपटेन कापटिकः धूर्तः ।

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां

चापाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले ।

मिथ्यैतदाननामिदं भवतस्तथाहि

हेमन्तपद्ममिव निप्रभतामुपैति ॥१६॥

अधिकरणिकः—(जनान्तिकम्) । -

तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।

ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) आर्यं चारुदत्तः सख्यसौ रूपभिरमकार्यं करिष्यति । ('योगा' (६।१६) इत्यादि पठति)

शकारः—किं पक्षवादेण व्यवहारे दोषादि । [किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते]

अधिकरणिकः—अपेहि भूतं ।

वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता

मध्याह्नं वीक्षसेऽर्कं न तव सहसां दृष्टिविचलिता ।

दीप्तान्गो पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो

चारिष्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः ॥२१॥

आर्यं चारुदत्तः रूपमकार्यं करिष्यति ।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमातशोपं

दत्तानि येन हि घनान्वनपेक्षितानि ।

मिथ्या तवाभियोग इति शकारमाह चारुदत्तः—अभ्युक्षित इति । एतद् तव कथनं मिथ्यम् । तथा हि बलाहकानां जनदाना सलिलैः जलैः न अभ्युक्षितः तिक्तः असि एवं, किन्तु छन्नराते एतदवचनमध्ये भृशम् अत्यन्तं चापस्य पक्षविशेषस्य (नीलकण्ठ इति लोके प्रतिद्वयस्य) अपक्षः पक्षान्न तस्य सदृशं कृष्णवर्णं सद् इति भावः भवतः तव शकारस्य इदम् आगतं मुसम् हेमन्तस्य पद्मकमलम् इव निष्पन्नतां कान्तिहीनताम् उपैति प्राप्नोति । उपमातद्धारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६॥

तुलनमिति । चारुदत्तस्य दूषणं दोषज्ञापनम् अद्रिराजस्य पर्वतराजस्य शिवालस्य तुलनम् इव समुद्रस्य च तारणं तीर्त्वा पारे गमनम् इव अनिलस्य पावकस्य ग्रहणम् इव च अशक्यमस्तीति भावः ॥२०॥

यह झूठ है, क्योंकि तू बादलों के जल से नहीं भीगा, किन्तु इस बात को कहते हुए (अन्तराले—कथन के बीच में) विल्कुल नीलकण्ठ के पक्ष के अग्र भाग के समान (काला-बाला) तेरा यह मुख हेमन्त ऋतु में कमल की भाँति कान्तिहीनता को प्राप्त कर रहा है।

अधिकरणिक—(अलग से) चारुदत्त का दोष दिखलाना पर्वतराज हिमालय को तोलने के समान, सागर को तैर कर पार करने के समान तथा अग्नि को पकड़ने के समान (असम्भव) है ॥२०॥

(प्रकट रूप में) भला यह आर्य चारुदत्त इस अकार्य को कैसे करेंगे ?

(‘घोषा’ ६/१६ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

शकार—क्या पक्षपात से व्यवहार का विचार किया जा रहा है ?

अधिकरणिक—हट, मूर्ख,

नीच (प्राकृत) होकर तू वेद का अर्थ कथन करता है तथापि तेरी जिह्वा नहीं विरो। मध्याह्न के समय तू सूर्य की ओर देखता है तथापि तेरी दृष्टि सहसा ही भ्रष्ट नहीं हुई। तू प्रज्वलित अग्नि में हाथ डाल रहा है तथापि तेरा हाथ जला नहीं। तू चारुदत्त को धरित्र से भ्रष्ट कर (बतला) रहा है तथापि पृथ्वी तेरे शरीर का हरण नहीं करती ॥२१॥

आर्य चारुदत्त अकार्य कैसे करेंगे ?

जिस चारुदत्त ने (रत्नों का दान देते हुए) समुद्र को जल की प्रचुरता मात्र ही शेष जिसमें ऐसा कर दिया तथा जिसने (याचकों के द्वारा) अप्रापित धन का दाव

अधिकरणिक शकारं भर्त्सयति-वेदार्थान् इति । प्राकृतः पामरः एवं शकारः वेदार्थान् वदति तथापि ते तव जिह्वा च न निपतिता (नीचस्य हि वेदार्थकथने जिह्वापातस्योक्तत्वात् मध्याह्नं अर्कं सूर्यं बीचसे पश्यति तथापि तव दृष्टिः सहसा तत्कालमेव न विचलितता भ्रष्टा (मध्याह्नं सूर्यदर्शनेन दृष्टपक्षपातो जायते) । दोषो प्रज्वलिते अग्नी बन्तः अभ्यन्तरे पाणि हस्तं क्षिपति तथापि ते तव सः हस्तः च दग्धः नो भवति । त्वं च चारुदत्तं चारिभ्याम् चलयति व्यावयसि तथापि भूः पृथ्वी ते देहं न हरति । निदर्शनार्थद्वारः विशेषोक्तिश्च । सुमधुरा वृत्तम् ॥२१॥

चारुदत्ते पापस्य सम्भावनापि नास्तीत्याह—कृत्वेति । येन चारुदत्तेन हि समुद्रम् उदकोच्छ्रयमात्रशेष उदकस्य उच्छ्रयः उन्नतिः आधिक्यं वा तन्मात्रमेव शेषः यत्र तादृशं कृत्वा देवानाम् रत्नानाम् उद्धरणात् जनमात्रशेष सागरं कृत्वा इति भावः,

प ध्येयसा कथमिवैकनिधिर्महात्मा

पाप करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ॥२२॥

वृद्धा—हदास, जो तदाणि पासीन्दि सुवर्णमण्डल रति चोरेहि अवहिद  
ति तस्य कारणादो चदुरसमुद्गसारभूद रज्जुपायति देदि, तो बाणि अत्यरत्तवत्तरत  
कासणादो इम अरुज्ज करेदि ? हा जादे, एहि मे पुत्ति [हताश, यस्तदानीं  
न्यासीकृत सुवर्णभाण्ड रात्री चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतु समुद्गसारभूता  
रत्नावली ददाति, स इदानीमर्पकत्यवनस्य कारणादिदमकार्यं करोति ? हा  
जाते, एहि मे पुत्रि ।](इति रोदिति)

अधिकरणिक—आप चाहदत्त बिभसो पद्व्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

चाहदत्त—ननु मम प्रत्यक्ष न गता । तन्न जाने कि पद्व्यां पता, उत  
प्रवहणेनेति ।

(प्रविरय सामय )

घोरक —

पादप्रहारपरिभवविमाणणावद्गुरुअरेरस्स ।

अणुसोअन्तस्स इअ कथ पि रत्ती पभादा मे ॥२३॥

ता जाव अधिभरणमण्डव उवत्तप्पामि (प्रवेष्टकेन) सुह अज्जमिस्सामम् ।

[पादप्रहारपरिभवविमाननावद्गुरुकवरेरस्य ।

अनुशोचत इय कथमपि रात्रिः प्रभाता मे ।

तथावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि सुखमार्यमिश्राणाम् ।]

अधिकरणिक—अये, नगररक्षाधिकृतो घोरक । घोरक, किमागमनप्रयो-  
जनम् ?

घोरक—हो, दन्धनभेअणसममे अज्जक अण्णेसन्तो, ओवारिद पवहण वच्चदि  
ति विआर करन्तो अण्णेसन्तो, अरे सुए वि आलोइदे मए वि आलोइदइवो ति  
भणन्तो ज्जेव चव्वपमहत्तरएण पादेण ताडितो ह्मि । एव सुणिअ अज्जमित्ता  
पमाणम् । [हि, दन्धनभेदनसङ्गमे आर्यकमन्वेपयन्, अपवारित प्रवहण  
व्रजतीति विचार कुर्वन्नन्वेपयन्, अरे, त्वयाप्यातोकिताम्, मयाप्यालोकि-  
तव्यम् इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण, पादेन ताडितोऽस्मि । एतच्छ्रुत्वार्य-  
मिश्राः प्रमाणम् ।]

किया, कल्याणों का (अद्वितीय) आधार वह महात्मा, धन के लिये वैरियों के द्वारा भी (अथवा कार्यों द्वारा भी) न किया जाने योग्य यह पाप कैसे करेगा ॥२२॥

वृद्धा—हताश जो (चारदत्त) उस समय घरोहर रखे हुए सुवर्णभाण्ड को रात्रि में चोरो ने हर लिया, इसलिये उसके निमित्त चारों समुद्रों की सारभूत रत्नावली दे देता है, वह इस समय कलेवा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त यह कुकृत्य करता है ? हाय बत्से, आश्रो मेरी पुत्री । (रोती है)

अधिकरणिक—आर्य चारदत्त, क्या वह पैदल गई या गाड़ी से ?

चारदत्त—मेरे सामने नहीं गई। अतः मैं नहीं जानता कि पैदल गई या गाड़ी से ।

वीरक—(चन्दनक के) पाद-प्रहार के तिरस्कार से होने वाली धुग्धता द्वारा उत्पन्न हो गया है, वैर-भाव जिसमें उस मेरी (वीरक को) सोच करते हुए ही रात्रि व्यतीत हुई (प्रभात रूप में आई) ॥२३॥

अतः न्यायालय में जाता हूँ (हाय से) भद्र पुरुषों (स्वापका) कल्याण हो ।

अधिकरणिक—अरे नगर-रक्षा में नियुक्त वीरक है । वीरक तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ?

वीरक—अहो ! बन्धन तोड़ने से होने वाली धवराहट के समय आर्यक को बँदते हुए 'ढकी हुई गाड़ी जा रही है' यह विचार करते हुए तथा निरीक्षण करते हुए तूने (चन्दनक) भी देख ली मुझे (वीरक) भी देख लेनी चाहिये' यह कहते हुए ही मुझे अधिक महान् (?) चन्दनक ने लातो से मारा है । यह सुनकर (माग्यगण आप) ही प्रमाण है ।

अधिकरणिक—भद्र, जानते हो कि वह किसकी गाड़ी थी ।

अनपेक्षितानि अर्षिभिः अयाचितानि (?) धनानि दत्तानि श्रेयसां कल्याणानाम् एकनिधिं मुख्याश्रयः सः महात्मा चारदत्तः धनार्थम् अवैरिबुष्टः (अवीरजुष्टम् पाठान्तरम्) वैरिजनेनापि असेवितं वापं कथं करिष्यामि । वसन्तलिखा वृत्तम् ॥२२॥

हता आशा यस्य सः (सम्बुद्धौ) अत्र क्रूर, निर्दयः इति भावः । पादैति । पादप्रहारेण चन्दनकस्य चरणप्रहारेण कृतः यः परिभवः तिरस्कारः तेन जातः या विमानता अवमानना शोभ. इति यावत् तथा बद्धं गुहकं महत् वैरं वैरभावः यस्य तस्य अनुशोचतः पश्चात्तार्पं कुर्वतः मे मम वीरकस्य इयं रात्रिः कथमपि कष्टेन प्रभाता प्रभातं प्राप्ता व्यतीता इति भावः । २३॥

अत्र इति द्विगुणोपलक्षणम् अन्वयनपेदेन यः सम्पन्नः त्वरा तस्मिन् सति तत्समये



वीरकः—इमस्त अञ्जचारदत्तस्त । वसन्तसेना आस्ता पुष्करणद्वन्द्वि-  
ष्णुज्जाणं कीर्तिदं, णीअदि ति पवहणवाहणेण कहिदम् । [अस्यार्यंचारदत्तस्य ।  
वसन्तसेनारूढा पुष्पकरणद्वन्द्वीणां चान् क्रोडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन  
कथितम् ।]

शकारः—पुणो वि शुद अञ्जेहि । [पुनरपि श्रुतमार्यैः ।]

अधिकरणिकः—

एष भो निर्मलज्योत्स्नो राहुणा प्रस्यते शशो ।

जल कूलावपातेन प्रसन्नं कतुपायते ॥२४॥

वीरक पश्चादिह भवतो म्याप इक्ष्याम । य एषोधिकरणज्ञायंश्वस्तिष्ठति,  
तमेनमाह्ला गत्वा पुष्पकरणद्वन्द्वीयान्, हस्पतामसित तत्र काचिद्विपन्ता स्वी न  
वेति ।

वीरकः—अ अञ्जे आणवेदि (इति निष्क्रान्तः । प्रविश्य च) गदो हि  
हहि । विट्ठ घ मए इत्थिआकलेवर सावदेहि विनुप्यन्तम् । यदायं आत्तापर्यति ।  
गतोऽस्मि तत्र । हृष्टं च मया स्त्रीकलेवर श्वापदैर्विलुप्यमानम् ।]

श्लेषिकायस्यै कथं तुए जाणिद इत्थिआकलेवरं ति । [कथं त्वया ज्ञातं  
स्त्रीकलेवरमिति ।]

वीरकः—सावतोसेहि . केसहृत्पपाणिपादेहि उक्तवित्तवं मए । [सावशेषैः  
केसहृत्पपाणिपादैरुपलक्षितं मया ।]

अधिकरणिकः—अहो धिअवम्यं लोकव्यवहारस्य ।

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा संकटमेव दृश्यते ।  
अहो मुसन्ना व्यवहारनीतयो मतिस्तु गीः पङ्कगतेव सीदति ॥२५॥

चाणदत्तः—(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमं विकाशं समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।

एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२६॥

वीरकस्य वचनमाकर्ण्य अधिकरणिकः वचनमिति-एष इति । भो इति श्लेषे  
(काले) एषः अयं निर्मला ज्योत्स्ना पद्मिनी यस्य स शशी चन्द्रः राहुष्य प्रस्यते ।  
प्रसन्नं प्रसादयुक्तं, स्वच्छ जलं कूलावपातेन तटस्य पतनेन कतुपायते मलिनं  
जायते । निर्मलनरिन्नेण मुनतः चारदत्तः अपवादेन दुप्यतीति भावः । अतिशयोक्तिर-  
सङ्कारः ॥२४॥

विपन्ता मृता । श्वापदैः हिसकपशुभिः विलुप्यमानं विनाशमानम् ।  
केसहृत् केशपाशः धिक् लोकव्यवहारस्य जनानां चरितस्य अयना लोकवृत्तस्य वचस्य  
शंपरीत्यं धिक् ।

घोरक—इम आर्य चाखदत्त की ।<sup>1</sup> इस पर बंडी बसन्तसेना पुण्यकरण्डक नामक पुगने उद्यान में ब्रीडा करने के लिये से जाई जा रही है” यह गाड़ीवाद् ने कहा था ।

शकार—आर्यजन, आपने फिर भी मुन लिया ।

अधिकरणिक—खेद ! निमल चांदनी वाला यह चन्द्रमा राहु से ग्रसा जा रहा है । तट के गिरने में स्वच्छ जल मलिन हो रहा है । (अर्थात् दुर्द्व से पवित्र चरित्र वाला चाखदत्त कलङ्कित हो रहा है) ॥२४॥

घोरक, तुम्हारे अभियोग पर पीछे विचार करेंगे । जो यह न्यायालय के द्वार पर घोड़ा खड़ा है, इम पर चढकर पुण्यकरण्डक नामक उद्यान में जाकर देखिये कि वहाँ कोई मृतक स्त्री है मा नहीं ।

घोरक—जो आर्य आज्ञा करें । (चला गया, ओर प्रवेश करके) मैं वहाँ गया । वहाँ मैंने स्त्री का शरीर द्विमक पशुओं द्वारा समाप्त किया जाता देखा ।

श्रेष्ठी कायस्थ—तुमने कैसे जाना कि स्त्री का शरीर है ?

घोरक—यथे हूए केगपाश, हाथ और पैरों से मैंने समझ लिया ।

अधिकरणिक—अहो, लोचब्यवहार की विषमता को धिक्कार है ।

जैसे-जैसे इस पर भली-भांति विचार किया जाता है, वैसे-वैसे ही यह उद्योग हुआ दिखलाई देता है । अहो, व्यवहार के नियम (The legal points or proofs) भली-भांति सम्बद्ध या स्पष्ट हो (सुसन्ना) रहे हैं, किन्तु मेरी बुद्धि कीचड़ में गई हुई गी के समान फँस रही है ॥२५॥

चाखदत्त—(अपने आप) जैमे विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पुण्य (मकरन्द) का पान करने के निचे घमर एकत्रित होकर गिरते हैं, इसी प्रकार, आपति के समय मनुष्य की भ्रूण (=छिद्र) होने ही अनेक अनिष्ट एकत्रित हो जाते हैं ॥२६॥

अधिकरणिकः लोचव्यवहारस्य वैपन्वनेव प्रकटयति—यथेति । इदं चाखदत्त-वृत्तं यथा यथा निपुणं सम्बन्ध् विचारयंते तथा तथा संस्कृतं मायाश्रं गहनं वा हरयते । अहो ! व्यवहारनीतयः व्यवहारस्य विवादस्य नीतयः नियमाः सुसन्नाः सम्बन्ध् सम्बद्धाः स्पष्टाः प्रतीयन्ते इति भावः । तु किन्तु मम मतिः पङ्कगता । गौः इव सोदति निमज्जति; न किमपि निर्गतुं शक्नोतीति भावः । उरभानक्षारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥२५॥

यथेति । यथा एष प्रथमे विकासो विकासस्य आरम्भे पुण्यं कुमुदं तस्य मकरन्दमिति तावद् पशुं पानार्थं घमरा समेत्य एकत्रीभूय पतन्ति एवम् अनेन प्रकारेणैव विपत्तिकाले मनुष्यस्य छिद्रेषु दोषस्थलेषु मत्सु अनर्था अनिष्टायाः बहुलीभवन्ति एकत्र जायन्ते । उरभानिः वृत्तम् । ॥३६॥

अधिकरणिक—आयं चारदत्त सत्यमभिधीयताम् ।

चारदत्त—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरो मनुष्या

रागान्ध परमिह हन्तुकामबुद्धि ।

किं यो यद्धदति मृषैव जातिदोषा-

सत्प्रग्राह्य भवति न तद्विचारणीयम् ॥२७॥

अपि च

योऽह लता कुमुमितामपि पुष्पहेतो-

रावृष्य नैव कुमुभावचय करोमि ।

सोऽह कथ भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे

केशे प्रगृह्य रदती प्रमदा निहन्मि ॥२८॥

शकार—हहो अधिकरणभोडभा, किं दुग्धे पक्षवादेण खवहात पक्षप, प्जेण अज्ज वि एसे हदासाचारुवत्ते आसण घातोअदि । [हहो अधिकरणभोजका, किं यूय पक्षपातेन व्यवहार पश्यत येनाद्याप्येप हताशचारुदत्त आसने धार्यते ।]

अधिकरणिक—अत्र शोधनक एव क्रियताम् ।

(शोधनकर्तव्या परोति)

चारदत्त—विचार्यतां भो अधिकृता, विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्थं भ्रूमापुपविशति)

शकार—(स्वगतम् । सहर्षं नतित्वा) ही, अनेण मए कटे पावे अण्णसा मस्तके निवडिडे । ता जहिं चालुदत्ताके उबविशदि तहिं हग्गे उबविरामि । (उपा कृत्वा) चालुदत्ता, पेखल पेखल मम् । ता भण भण मए मालिदे ति । [ही, अनेन मया कृत पापमन्यस्य मस्तके निपतिमम् । तद्यत्र चारुदत्त उपविशति तत्राह-मुपविशामि । चारुदत्त पश्य पश्य माम् । तद्भ्रूण भण मया मारितेति ।]

चारदत्त—भो अधिकृता, ('दुष्टात्मा'—६।२७ इत्यादि पूर्वोक्त पठति) सति श्वास स्वगतम्)

सौम्येय भो किमिदमद्य ममोपग्रातो

हा ब्राह्मणि द्विजकुल विमले प्रसूता ।

चारदत्तोऽधिकरणिक प्रतिवदति—दुष्टात्मेति । इह अधिकरणे ससारे वा दुष्टात्मा दुष्ट आत्मा बुद्धि यस्य स परगुणेषु मत्सरो मत्सरोऽस्यास्तीति ईर्ष्यातु-रागेण भय परम् अयजत हन्तुकामा बुद्धि यस्य तादृश य मनुष्य जातिदोषान्

अधिकारिक—आर्य चारुदत्त, सत्य कहिये ।

चारुदत्त—इस (न्यायानय या जगत्) में दुष्टात्मा, दूसरो के गुणो के प्रति ईर्ष्या करने वाला, राग से अग्या, दूसरे को मारने की कामना वाला मनुष्य स्वाभाविक दोष से मिय्या ही जो कुछ कहता है क्या वह स्वीकार योग्य होता है ? क्या वह विचारणीय नहीं होता ? ॥२७॥

और भी—

जो मैं पुष्पयुक्त तता को भी पुष्प लेने के लिये खींचकर पुष्पचयन नहीं करता, वह मैं (चारुदत्त) भ्रमर के पत्तों के समान कान्ति वाले लम्बे केशों को पकड़कर रोती हुई रमणी को कैसे मारता ? ॥२८॥

शकार—हे न्यायाधिकारीगण, क्या तुम पक्षपात से विवाद का विचार करते हो, जो अब भी इस नोब चारुदत्त को इस आसन पर बैठा रक्ता है ।

अधिकारिक—भद्र शोधनक, ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) कीजिए ।

(शोधनक बैसा ही करता है)

चारुदत्त - विचार कीजिए, अधिकारीगण, विचार कीजिए ।

(आसन से उतरकर भूमि पर बैठता है)

शकार—(अपने आप, हर्षपूर्वक नाचकर) अहा ! इस (चारुदत्त को आसन से उतारने) से मेरे द्वारा किया गया पाप दूसरे के माथे पड़ गया । तब जहाँ चारुदत्त बैठता वहाँ मैं बैठता हूँ । (बैसा करके) चारुदत्त, मुझे देख, देख । तो कह दे कह दे कि मैंने मारी है ।

चारुदत्त—हे अधिकारीगण, ('दुष्टात्मा' ६ / २७ इत्यादि पूर्वोक्त पढ़ता है) (सन्धी सांस लेकर अपने आप)–

हे मंत्रेय, यह क्या (हो रहा है) ? आज मेरा विनाश (उपस्थित हो गया है) हाय ! ब्राह्मणि, तुम पवित्र ब्राह्मणव्रज में उत्पन्न हुई हो (मग्न होने प्रकार की मृत्यु

स्वभावदोषाद् मृगा मिथ्या एव यद् वदति किं तद् ग्राह्यं स्वार्थं भवति ? नैव भवतीति भावः । किं न तद् विचारणीयम् ? तद् विचारणीयमेवेति भावः । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥२७॥

यौगर्मिति । य अहं चारुदत्त कुमुभितां कुमुभानि संजातानि अस्याः तां (तारकादित्वाद् इतच् प्रत्ययः) तताम् अपि पुण्यहेतोः पुण्याणि ग्रहीतुं आहृष्य कुमुभानां अवचयं पुत्रचयनं न करोमि स अहं भ्रमरस्य पश्यो इव रुचि कान्तिः पश्य तस्मिन् कृष्णवर्णे सुदीर्घे केशे प्रगृह्य गृहीतोऽ रुदती प्रमदा रमणी कथं निहन्मि मारयामि । न कथमपि हन्तुं शक्नोमीति भावः । वसन्ततिचका वृत्तम् ॥२८॥

स्वमित्र भावां पुत्र च स्मृत्वा चारुदत्त सम्बोधयति— मंत्रेयेति । भो मंत्रेय, किम् इदं भवति ? अद्य मम उपपन्नः मित्राय उपस्थितः । हा इति खेदेऽव्ययम् । ब्राह्मणि, त्वं विमने पवित्रे ब्रह्मणव्रजे प्रसूता जाताऽसि । भवतः तव

हा रोहसेन हि न पश्यसि मे विपत्तिं

मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥२६॥

प्रेषितश्च मया तद्गतान्येषणाय भ्रंशेभ्यो यत्नन्तसेनासकाशं शकटिकानिमित्तं च तस्य प्रवृत्तान्यलङ्करणानि प्रत्यर्पयितुम् । तत्कथं चिरयते ।

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विद्रूपकः)

विद्रूपकः—प्रेषितोऽह्नि अञ्जचारदत्तेन यत्नन्तसेनासकाशम्, तर्हि अलंकरणं गेहिह्रज्ज अथा 'अञ्जमित्तञ्ज यत्नन्तसेनाए यच्छो रोहसेनो अतर्गोऽलंकारेण अलंकरिञ्ज जणनीतआस पेतिदो । इमस्त आहरण दादव्यम, ण उण गेहिह्रदव्यम् । ता सगप्पेहि' ति । ता जाय यत्नन्तसेनासकाशं ञ्जेव यच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च । आवाशे) एध भावरेभिल्ल, किणमित्तं तुमं उड्विग्गो उड्विग्गो विञ्ज सवतीअत्ति (अनप्यं) किं गणात्ति—विअवअत्तो चाहदत्तो अधिअरणमण्डपे सहाइयो' ति । ता ण ह् अ'पेण ण्जेण होदव्यम् (विचिन्त्य) ता पच्छा यत्नन्तसेनासकाशं गमिणात्तम् । अधिअरणमण्डपं यय गमिणात्तम् । (परिक्रम्यावलोक्य च) इदं अधिअरणमण्डपम् । ता जाय पवितात्ति । (प्रविश्य) मुहं अधिअरणमोइआणम् । फर्हि भम विअवअत्तो । [प्रेषितोऽह्नि अञ्जचारदत्तेन यत्नन्तसेनासकाशम्, तत्रालङ्करणानि गृहीत्वा, यथा—'शावर्गभ्रंशे, यत्नन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोलङ्कारेणात्तद्व्यत्यं जननीसकाशं प्रेषितः । अस्या आभरणं दातव्यम्, न पुनर्गृहीतव्यम् । तत्समर्पय' इति । तद्यावद्द्वयान्तरोनासकाशमेव गच्छामि । एष भावरेभिल्लः । भो भावरेभिल्ल, किणमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । किं भणसि—'प्रियवयस्त्र्यञ्जचारदत्तोऽधिकरणमण्डपं आहृतः' इति । तन्न सत्त्वल्पेन कार्येषु भवितव्यम् । तत्पश्चाद्वयान्तरोनासकाशं गमिणात्तम् । अधिकरणमण्डपं तावद् गमिष्यामि । अवमधिकरणमण्डपः । तद्यावत्प्रविशाम । शुक्रमधिकरणभोजकानाम् । कुत्र मम प्रियवयस्यः ।]

अधिकरणपिपः—नन्वेव तिष्ठति ॥

विद्रूपकः—ययस्स, सोत्थि वे । [वयस्य, स्वास्त ते ।]

आहदत्तः—पविष्यति ।

विद्रूपकः—अपि वसेनं वे ? [अपि क्षेमं ते ?]

आहदत्तः—एतदपि भविष्यति ।

विद्रूपकः—भो ययस्स, किणमित्तं उड्विग्गो उड्विग्गो विञ्ज सवतीअत्ति कुशो वा सहाइयो ? [भो वयस्य, किणमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । कुतो याहृतः ?]

आहदत्तः—पयाय,

तुम्हारे लिये अनुचित है)। हाय ! पुत्र रोहसेन, तू भी मेरी विपत्ति को नहीं जानता है। सदा बालमुलभ क्रीडा से (परव्यसनेन) आनन्दित होता है, किन्तु यह व्यर्थ ही है ॥२२॥

और मैंने उस (वसन्तसेना) का समाचार जानने के लिये तथा उस (रोहसेन) की (स्वर्ण की) गाड़ी (वनाने) के निमित्त (वसन्तसेना द्वारा) दिये गये अलङ्कारों को लौटाने के लिये वसन्तसेना के पाम मंत्रेय को भेजा है। किन्तु वह क्यों देर कर रहा है ?

(तब आभूषण लिये हुए विदूषक प्रविष्ट होता है)

विदूषक—मुझे आर्य चारदत्त के द्वारा आभूषणों की लेकर यहाँ (वसन्तसेना के घर) वसन्तसेना के पास भेजा गया है (और कह गया है—) 'आर्य मंत्रेय, वसन्तसेना ने वत्स रोहसेन को अपने आभूषणों में अतङ्कृत करके (उसकी) माता के पाम भेजा है। इस (वसन्तसेना) के आभूषण दे देने चाहियें, लेने नहीं चाहियें, अतः लौटा दो।' इसलिये अब मैं वसन्तसेना के पास जाता हूँ।—(चलकर और देखकर आकाश की ओर...) क्या भाव रेभिल है ? किसलिये तुम उड्डिग्न से दिखलाई दे रहे हो ? (सुनकर) क्या कहते हो ? प्रिय मित्र चारदत्त न्यायालय में बुलाया गया है।' तो कोई साधारण (छोटा) कार्य न होना चाहिए। (सोधकर) तब वसन्तसेना के पास पंखे जाऊँगा, पहले न्यायालय में जाऊँगा (चलकर और देखकर) यह न्यायालय है तो तब तक प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके न्यायाधिकारी जनों का कल्याण हो। मेरा प्रिय मित्र कहीं है ?

अधिकारिणः—यह बैठा है।

विदूषक—मित्र, तुम्हारा कल्याण हो।

चारदत्त—होगा।

विदूषक—तुम्हारी कुमन तो है ?

चारदत्त—यह भी होगी।

विदूषक—हे मित्र, उड्डिग्न-उड्डिग्न से क्यों दिखलाई दे रहे हो और यहाँ क्यों बुलाये गये हो ?

चारदत्त—मित्र,

पत्सुरीटशो विनागस्तेऽनुचितः इति भावः—इति कानि महोदयः । हा ! रोहसेन, मे मम विपत्ति हि न परयमि, नित्यं सदा परव्यसनेन वेदनेन बालमुलभक्रीडनेन (परं द्रुम् अज्ञातम् इति भावः च तद् व्यसनं च तेन—इति चावे) । नन्दमि आनन्दमनुभवमि किन्तु मिष्या व्यर्थम् एव तत् । वसन्तसेनाया वृत्तम् ॥२२॥

मया खलु नृशसेन परलोचमजानता ।  
स्त्री रतिर्वाविशेषेण शेषमेपोऽभिधास्यति ॥३०॥

विद्रूपक — किं किम् [किं विम् ।]

घारुदत्त — (कर्ण) एवमेवम् ।

विद्रूपक — को एव्य भणति । [क एयं भणति ।]

घारुदत्त — (सजया शवार दर्शयति) नन्वेव तपस्यो हेतुभूत कृतातो मा  
ष्याहरति ।

विद्रूपक — (जनान्तिकम्) एव्य कीस ण भणोअदि वेह गदेत्ति । [एव किमयं  
न भण्यते, गृह गतेति ।]

घारुदत्त — उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

विद्रूपक - भो भो अज्या, जेण बाध पुरट्ठावणविहारारामवेउलतडागकुवलूवेहि  
अलकिवा णअरो उज्जइणो, सो अणोसो अत्यरुत्सयत्तकारणावो एरिस अकज्ज अणुचिट्ठ-  
दि त्ति ? (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीमुदा राअशालसटाणभा उरुमुह्लसआ किन्दजणपोस-  
मण्डआ बहुसुयणमण्डिदमर्षकडआ, मण मण मम आगदो, जो दाणि मम पिअचअस्तो  
कुमुमिद माघवीलद पि आबिट्ठिअ कुमुमावचअ ण करोदि, क्वा वि आकट्ठिदाए पत्स-  
यच्छेदो भोदि त्ति, सो कथ एरिस अकज्ज उहअलोअविहदं करोदि । चिट्ठ रे कुट्ठिणिपुत्ता  
चिट्ठ । जाव एदिणा तव हिअअकुडित्तेण दण्डअट्ठेण मत्पअ वे सदसण्ड करोमि ।  
[भो भो आर्या, येन तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवालयनटागकूपपमूर्परलङ्कृता  
नगयुञ्जयित्री, सोऽनीशोऽर्थकल्यवर्तकारणादीदृशमकाममनुतिष्ठतीति । अरे रे  
कुलटापुत्र राजशालसस्थानव, उच्छृङ्खलरु, कनजनदोषमण्ड, बहुगुवर्णमण्डित-  
मर्कटक, भण भण ममाप्रत, य इदानी मम प्रियवपस्य कुसुमिता माघवीलता-  
मप्याकूप्य कुमुमावचय नं करोति कदाचिदानुत्तया पत्न्यवच्छेदो भवतीति, स  
कथमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्ध करोति । तिष्ठ रे कुट्ठिनीपुत्र, तिष्ठ । यावदेतेन  
तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तक ते शतरण्ड करोमि ।]

सद्वार्ताया तस्या यत्नसेनाया कृतातस्य अन्वेषणाय । तस्य रोहणेनस्य  
भारतिकानिभित्त स्वर्णशरटिकानिर्माणार्थम् । चिरयते विराम्य करोति । आकाशो  
आकाशाभिमुखम् इत्यर्थं, इदं च आकाशभाषितं नाम सवादभेदः । मयेति  
परलोचम् अज्ञानता परलोचानभिज्ञेन नृशसेन क्रूरेण मया चारुदत्तेन खलु स्त्री

परलोक न जानने वाले तथा क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा (कहिण्-कि) बिना किसी भेद के (स्वयं) रति ही.....शेष (अर्थात् मार दी) यह (प्रकार) कहेगा ॥३०॥

विदूषक—क्या-क्या ?

शास्वत—(कान में) इस प्रकार, इस प्रकार ।

विदूषक—कौन ऐसा कहता है ?

शास्वत—(संकेत से प्रकार को दिखलाता है) यह बेचारा निमित्तमान होने वाला, (वस्तुतः) पमराज ही मुझे (इस प्रकार) कह रहा है ।

विदूषक—(धीरे से) यह क्यों नहीं कहा गया कि धर गई है ।

शास्वत—कहा गया भी अवस्था (दृष्टिावस्था) के दोष से नहीं माना गया ।

विदूषक—हे आर्जुनो, जितने उपनगर-निर्माण, बौद्ध-विहार, उपवन, मन्दिर, तालार, कूप तथा महस्तम्भों के द्वारा उज्जैन नगर को बलवृद्ध किया है, वह निर्धन होकर क्लेशा जैसे (तुन्द) धन के निमित्त इन प्रकार का अत्यायं करेगा ? (शेषपूर्वक) बरे कुलटा के पुत्र, राधा के सते, दम्पतिक, उच्छृङ्खल, जनता का अपराध करने वाले मान्य, बहुत से सुवर्ण से आभूषित बन्दर, मेरे सामने कहे, कहे । इस समय जो मेरा प्रिय मित्र पुष्पभुक्त माधवोत्तजा को भी लींकर या झुका कर पुष्पचमन नहीं करता कि कभी (कहाँ) झुकाने से इसके पत्ते न टूट जायें, वह इस प्रकार का, दोनों मौकों के निस्त्व, दुष्कार्य कैसे करता ? टहर रे कुलटा के पुत्र ठहर । अब तक तेरे हृदय के समान कुटिल इन बाळ-दण्ड से तेरे मस्तक के ही टुकड़े करता हूँ ।

सामान्यस्त्री वा अपरा अविशेषेण भेदाभावेन रतिः सायाद् रतिः एव -रतिवृत्त्या ना-  
सीति भावः ... । शेष 'हता' इति वाक्यशेषम् एषः प्रकारः अभिप्रास्यति कथयिष्यति ।  
बहू तु तद्वस्तुनवि न समर्थः इति भावः ॥३०॥

तत्पत्नी बराकः शोच्यो वा पतः कृतान्तस्य क्रूरकर्मणि हेतुभूतः । अप तु  
निमित्तमानं संवातः वस्तुतः कृतान्तः एव कथयति इति भावः । अवस्थायाः दृष्टिाव-  
स्थायाः दोषाद् । शृङ्खले स्वीकृतं ।

पुरस्थापनं पुरनिर्माणम्, उपनगरनिर्माणमिति वाक्यम् । विहारः बौद्धविहारः  
आराधनः उपवनम् । मूषः महस्तम्भः । अनोशाः ऐश्वर्यरहितः निर्धनः मत् 'इति भावः ।  
उच्छृङ्खलकः स्वैरः । कृताः पनानां दोषाः देन सः, कृतजनदोषः चासी भगदरव । बहुभिः  
सुवर्णैः मण्डितः भूषितः मण्डकः वानरः (इमे च सम्बुद्धि-दयोगाः) आहृष्यतया  
वाकर्षणात् । कुटिलो जननी । हृदयवत् कुटिलेन वरुण ।



शकार — (सङ्गोद्यम्) शुणन्तु शुणन्तु अञ्जमिशा । घालुदत्तकेण सह मम विवादे धवहावे वा । ता कोश एते कारूपदशोत्तमशतका मए शिले गटरुण्डे क्लेदि । मा दाव । तं दासोऽपुत्ता दृष्टबडका । [भृष्वन्तु भृष्वन्त्वार्यमिश्रा । चारुदत्तेन सह मम विवादे व्यवहारो वा । तत्किमर्थमेव वापपदशीर्षमन्तको मम शिर शतक्षण्ड करोति । मा तावत । रे दास्या पुत्र दृष्टवटुक ।]

(विद्रूपको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्त पठति । शकार सङ्गोपमुपाम ताडयति । विद्रूपक प्रतीप ताडयति । अन्योन्य ताडयत । विद्रूपनस्य कथदेनादाभरणाणि पतन्ति ।)

शकार — (नानि गृहीत्वा दृष्ट्वा सयाद्यसम्) पेशन्तु पेशन्तु अञ्जा । एदे षसु ताए तवशिशणीए बेलका अलकाता । (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमस्य अत्यक्तवत्तया कालपादो एगा मातिदा वावादिदा अ । [पश्यन्तु पश्वन्त्वार्या । एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलङ्कारा । अस्त्यर्थकल्पवर्तस्य वारणादेया मारिता व्यापादिता च ।]

(अपिश्रिता सर्वेऽधोमुखा स्थिता)

चारुदत्त — (जनान्तिरम्) ।

अयमेवविधे काले दृष्टो भूपणविस्तर ।

अस्माक भाग्यवंपम्यात्पतित पातयिष्यति ॥३१॥

विद्रूपक — भो, कीस भूदत्त ए गिवेदीभदि । [भो, किमर्थं भूतार्यो न निवेद्यते ।]

चारुदत्त — धयस्य,

दुबल नृपतेश्चक्षुर्नेतत्तस्य निरीक्षते ।

केवल वदतो दीन्यमश्लाघ्य मरण भवेत् ॥३२॥

अधिकरणिक — कष्ट भो कष्टम् ।

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पते ।

अयमिति । एव विधे काले अपराधनिर्णयस्य समये अस्माक भाग्यवंपम्यात् भाग्यस्य वंपरीत्यात् पतित. दृष्ट च अय भूपणविस्तर अत्रङ्कारसमूह मा पातयिष्यति विपत्तो पातयिष्यति । 'भाग्यवंपम्यापतित. इति पाठांतरम् भाग्यवंपम्याद् आपतित' इत्यर्थं ॥३१॥

भूय युक्त सत्यो वा अर्थ भूतार्थ ।

दुर्बलमिति । नृपते राज तत्प्रतिनिधौ, न्यायाधीशस्य वा घसु नेत्र दुर्बलं

शकार—(शोधपूर्वक) मान्यजन, मुनिने मुनिने । चाखदत के साथ मंग विवाद या व्यवहार है । तब क्यों यह कारुण्य के समान मिर-भाये वाला मेरे सिर के सौ टुकड़े करता है । ऐसा नहीं, ठहर अरे दासों के पुत्र दुष्ट ब्राह्मण ।

(विद्वेषक काष्ठ-दण्ड को उठाकर पूर्वोक्त पढ़ता है । शकार शोधपूर्वक उठकर मारता है । विद्वेषक उल्टा मारता है । एक दूसरे को मारते हैं । विद्वेषक की काँस से बानुषम मिरते हैं ।)

शकार—(उन्हें लेकर, देखकर भय के साथ) आयं, देखिये देखिये, अवश्य ही ये उस बेवारी के अन्तर्कार हैं । (चाखदत को लक्ष्य करके) इस कलेत्र जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त यह (वमन्तसेना) भारी गई है, नष्ट की गई है ।

(सब अधिकारी गोचा मूँस करके बैठ जाते हैं)

चाखदत—(धीरे से विद्वेषक के प्रति) ऐसे समय हमारे भाग्य के शोच से पिरा हुआ तथा (अधिकारियों द्वारा) देखा गया यह आभूषणसमूह मुझे (विपत्ति में) गिरा देना ॥३१॥

विद्वेषक—जी, यथार्थ बात क्यों नहीं कह दी जाती ?

चाखदत—मित्र,

राजा (या उनके प्रतिनिधि ग्नामात्रीन) की इच्छा दुर्बल होती है । वह यथार्थ बात को नहीं देखती, अतः यथार्थ कहने वाले की केवल दीनता प्रकट होगी, निन्दनीय मूल्य ही होगी ॥३२॥

अधिकारमिक—कष्ट है अरे कष्ट—

मद्गत ग्रह है विन्द्व जिमके ऐसे दुर्बल वृहस्पति के समान धूमकेतु के समान यह (अन्तर्कारणतन रूपी) दूसरा ग्रह उपस्थित हुआ है । (जिस प्रकार मद्गत ग्रह का विरोध, नीच स्थान में स्थिति अर्थात् क्षीणता और समान ही धूमकेतु का उदय;

यथार्थ इच्छानननयम् । एतन् चक्षुः तत्त्वं तस्यभूतनयं न निरोधते पुरमेति, किन्तु बहिः प्रनागतानि अन्वेषयतीत्यर्थः । अतः बहवः भूनायं कथयतः मम बैल्यम् एव केवलं प्रकाशितं स्यात्, अत्रचाश्रु नष्टिनं मरणं च भवेत् ॥३२॥

अज्ञात्वेति । मद्गतग्रहः मद्गतग्रहः विन्द्वो यस्य तस्य प्रसोगतस्य नीचस्थान-स्थितवना दुर्बलस्य वृहस्पतेः । एतन्नामग्रहस्य पारबे समीपे धूमकेतुः इव प्रसू, अन्तर्कारणतनकतः जनरः ग्रहः उत्पिन उद्गतः । यथा मद्गतग्रहस्य विरोधः

ग्रहोऽयमपर पार्ष्वे घूमवेतुर्विवोत्थित ॥३३॥

शेठी-कायस्थौ—(विलोचय वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अबहिवा बाव अरुजा एव सुवर्णमण्डअ अयतोएतु, सो ऽजेव एसो, ण वेत्ति । [अवहिता तावदार्येद सुवर्णभाण्डमवलोकयतु तदेवेद न वेत्ति ।]

पृथा—(अवलोचय) सरिसो एतो ण उण सो । [सदृशमेतत्, न पुनस्तत् ।]

एकार—आ बुद्धकुट्टनि, अबलीहि मन्तिव वाभाए मूकियम् । [आ बुद्धकुट्टनि, अशिष्या मन्त्रित वाचा मूकितम् ।]

पृथा—हदास, अपेहि । [हताश, अपेहि ।]

शेष्ठिकायस्थौ—अप्पमत रुषेहि सो ऽजेव एसो ण वेत्ति । [अप्रमत्त कथय, तदेवैतन्न वेत्ति ।]

पृथा—अरुज, सिण्णिकुत्तलदाए ओबन्धेदि दिट्ठिम् । ण उण सो । [आर्य शिल्पिकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम् । न पुनस्तत् ।]

अधिकरणिक्—मत्ते अवि जानास्येतान्याभरणानि ?

पृथा—ण मणामि, ण ह ण ह मणानिनाणिदो । मह वा रुदादि सिण्णिणा गद्धो मधे । ननु मणामि, न खलु न खल्वनभिजात । अयवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत् ।]

अधिकरणिक्—पश्य शेष्ठिन्,

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नून

रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य ।

दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गं

सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥३४॥

शेष्ठिकायस्थौ—अरुजचारदत्तसस केरकाइ एदाइ । [आयचारदत्तोया-न्येतानि ।]

धारदत्त—ण खलु न खलु ।

शेष्ठिकायस्थौ—तर करत्त । [तदा करत्त ।]

मीचस्थानस्थिति, पार्ष्वे घूमवेतोरुदमस्य पृहस्पते पराभवाय कल्पन्ते तर्पव शरार-विरोध, दरिद्रता, अलङ्कारपातत्रच चारुदत्तस्य विनाशाय भविष्यन्ति इति भाव । अत्रस्तुतप्रशंसा उपमा च ॥३३॥

मन्त्रित 'सदृशमेतद्' इति यथितम् । मूकितं 'न पुनस्तद्' इति गोपायितम् ।

दृहस्पति के लिये अनिष्टकर होते हैं, इसी प्रकार शकार का विरोध, दखिता और यह अलङ्कारपतन चारुदत्त के लिए अनिष्टकर हैं) ॥३३॥

श्रेष्ठीकायस्थ—(देखकर, वसन्तसेना की माता को लक्ष्य करके) सावधान होकर आप इस सुवर्णपात्र को तो देखिये, यह वही है या नहीं ।

वृद्धा—(देखकर) उसके समान है यह, किन्तु वही नहीं ।

शकार—अरी वृद्ध कुट्टनी, (तुम्हारी) आँसों ने कह दिया, वाणी चुप हो गई ।

वृद्धा—हताश, दूर हटो ।

श्रेष्ठी-कायस्थ — सावधानी से कहो, यह वही है या नहीं ?

वृद्धा—आर्य, शिल्पकार की कुशलता से यह (मेरी) दृष्टि को बांध रहा है, किन्तु यह नहीं है ।

अधिकारणिक—भद्रे, क्या इन आभूषणों को पहचानती हो ?

वृद्धा—कहती तो हूँ कि नहीं, यह अपरिचित नहीं है । अथवा सम्भवतः शिल्पकार ने (वैसा ही) बना दिया हो ।

अधिकारणिक—सठ जी देखो—

निश्चय ही कृत्रिम आकार (बनावट) तथा आभूषणों में सौन्दर्य आदि गुणों में अन्य वस्तुएँ समान होती हैं क्योंकि शिल्पकार जन (किसी वस्तु को) देखकर उनकी रचना का अनुकरण करता है और (शिल्पकार के) हस्तकौशल के कारण ही (दो वस्तुओं में) सादृश्य देखा गया है ॥३४॥

श्रेष्ठीकायस्थ—ये (आभूषण) आर्य चारुदत्त के हैं !

चारुदत्त—नहीं, निश्चित रूप से नहीं ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—तब किसके हैं ?

सदृशाग्नेतानि आभूषणानि न पुनस्ताग्नेवेति वसन्तसेनामातुर्वचन निशम्य अधिकारणिकः समर्थयति—वस्त्वन्तराणीति । कृत्रिमस्य रूपस्य भूषणगुणस्य च सदृशानि वस्त्वन्तराणि भवन्ति नूनम् । शिल्पवर्गं हि दृष्ट्वा क्रियाम् अनुकरोति श्रुत-हस्ततया एव च सादृश्यं दृष्टम् । इत्यन्वयः ।

कृत्रिमस्य कार्येण निवृत्तस्य रचितस्य इति मायत् रूपस्य भूषणगुणस्य अलङ्काराणां सौन्दर्यादिः च सदृशानि वस्त्वन्तराणि अन्यानि वस्तूनि भवन्ति नूनं निश्चयेन । हि यतः शिल्पवर्गः शिल्पकारगणः दृष्ट्वा अन्यनिमित्तं वस्तु दृष्ट्वा क्रियां तस्य श्रुतिम् अनुकरोति शिल्पवर्गस्य श्रुतहस्ततया हस्तकौशलेन एव च वस्तुनोः सादृश्यं दृष्टम् अस्माभिः दृश्यते । काव्यनिष्कम् अलङ्कारः । वसन्तविलका श्रुतम् ॥३५॥

घारुदत्तः—इहाश्रमवत्या दुर्हितुः ।

श्लेष्मिकायस्यो—रुध एदाइ ताए विओअं गदाइं । [६ पमैतानि तस्या वियोगं गतानि ।]

घारुदत्तः—एव गतानि । ओ इदम् ।

श्लेष्मिकायस्यो—अञ्जचारुदत्त, एत्वं सत्त्वं वत्तश्चम् पेशस पेशस ।

सत्त्वेण सुहं वसु लब्भइ सत्त्वालावे ण होइ पावम् ।

सत्त्वं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सत्त्वं अलिएण गूहेहि ॥३५॥

[आर्यचारुदत्त, अत्र सत्य वक्तव्यम् । पश्य पश्य ।

सत्येन सुखं सलु लभ्यते सत्यालापे न भवति पातकम् ।

सत्यमिति द्वे अप्यक्षरे मा सत्यमलीकेन गूह्यम् ॥]

घारुदत्तः—आभरणान्याभरणनीति । न आने, कित्तरमदुग्हादातीतानीति जाने ।

शर्कराः—उज्जाणं पवेशिअ पदम मालेति । कवडकावडिआए शंपरं निगू-  
हेसि । [उद्यान प्रवेश्य प्रथमं मारयसि । कपटकापटिकतया सांप्रतं निगूहसि ॥]

अधिकरणिकः—आर्यं चारुदत्त, सत्यमभिधीयताम् ।

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्निःशङ्कं कर्कशाः कंशाः ।

तव गान्धे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः ॥३६॥

घारुदत्तः—

अपापानां कृते जाते मयि पापं न विद्यते ।

यदि सभाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥३७॥

(स्वगतम्) न च वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम् । (प्रकाशम्) भोः किं बहुना !

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।

स्त्रीरत्नं च विशेषेण शोपभेधोऽभिधास्यति ॥३८॥

साधेनेति । सत्येन सत्यकथनेन ससु निश्चयेन सुखं लभ्यते । सत्यालापे सत्यकथने पातकं पापं न भवति । 'सत्यम्' इति द्वे अपि अक्षरे वर्णे नष्टे न भवति, इति व्यज्यते; न क्षरति इतरक्षरमिति व्युत्पत्तिलभ्योऽयमर्थः । अतः सत्यम् अलीकेन असत्यकथनेन भा न गूह्य संवृणु । अत्र 'सत्यमालापयतांति निवपि सत्यालापः । तत्र न भवति पातकम्' इति पृष्ठीधरः । वंतालीयं वृत्तम् ॥३५॥

चारदत्त—इस आदरणीयां की पुत्री के ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—उे उसके वियोग (पृथक्त्व) को कैसे प्राप्त हुए ?

चारदत्त—इस प्रकार प्राप्त हुए । हां यह—

श्रेष्ठी-कायस्थ—आपें चारदत्त, यहां सच कहना चाहिये । देखो, देखो,

निद्रव्य ही सत्य से सुख प्राप्त होता है । सत्य कहने पर पाप नहीं होता । 'सत्य' में दो वर्ण (अक्षर) नष्ट न होने वाले (अक्षर) हैं । अतः सत्य को झूठ से न क्षिणाओ ॥३५॥

चारदत्त—ये आभूषण (वे ही) आभूषण हैं—यह मैं नहीं जानता, किन्तु हमारे घर से लाये गये हैं, यह जानना है ।

शकार—पहले तो उद्यान में से जाकर उभे मार दिया अब कपट द्वारा धूर्तता से छिनाता है ।

अधिकरिणक—आपें चारदत्त, सब बचनाइये—(गन्यथा)

इस समय तुम्हारे इस कोमल शरीर पर कठोर कोड़े, हमारे मनोरथों के टाप ही गिरने लगे ॥३६॥

चारदत्त—पाप-रहित जनों के कुल में उत्पन्न होने वाले मुझ में पाप नहीं है । यदि (तुम्हारे द्वारा) मुझ में पाप की शङ्का की जाती है तो मेरे पाप-रहित होने से भी क्या (लाभ) ? ॥३७॥

(अपने आप) और वसन्तमेना से रहित मेरे जीवन से कुछ प्रयोजन नहीं । (मकट रूप में) अरे, अधिक क्या ?

दोनों लोकों को न जानने वाले तथा जूर मने एक स्त्री और विशेष रूप से स्त्रीएल ही...शेष (अर्थात् 'मार डी') यह (शकार) कहेगा ॥३८॥ ^

कपटेन छनेन छनस्य वा कापटकिता धूर्तता .

इरानीमिति । इरानो मुकुमारो कोमले आत्मन् तत्र गाने शरीरे कक्षा कठोरः कक्षाः अरवताडन्यः अस्माक मनोरथः त्वद्रक्षणविषयकः अभिलार्थः सह साकं निशङ्कं यथा स्यात् तथा पतिष्यन्ति । तव शरीरे कक्षाः पतिष्यन्ति उत्तमकाल-नेव चास्माकं मनोरथाः नश्यन्तीति भावः । सहोक्तिः अलङ्कारः ॥३६॥

अपापानामिति । अपापानां पापरहितानां जनानां कुले जाते उत्पन्ने मयि चारदत्ते पापं न विद्यते । यदि पापं सम्प्राप्यते दुष्माभिः शङ्कयते तर्हि अपापेन पापरहितेन मया किम् ? न कोऽपि लाभः इति भावः । यत्र हि भवन्त एव निन्दे प्रमाणम् ॥३७॥

मयेति । स्त्री एव तलं । पूर्व (६—३०) व्याख्यातम् ॥३८॥

शकार—वावादिभ्य । अत्ते, तुमं पि भण मय वावादिदेति । [व्यापा-  
दिता । अरे, त्वममि भण, मया व्यापादितेति ।]

षादवत्त—त्वयंबोत्तम ।

शकार.—युणेघ युणेघ मट्टारया, एदेण मात्तिदा । एदेण ज्जेव शशाए दिण्णे ।  
एवशा वत्तिह्वात्तुवत्तश शालीवे वण्डे घातोभु । [भृणुत भृणुत भट्टारका,  
एतेन मारिता । एतेनैव सणयधिच्छन्त. एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य शारीरो दण्डो  
घार्यताम् ।]

अधिकरणिक्—सोधनक, प्रयाह राधिय । सो राजपुट्टया. गृह्यतामयं  
षादवत्त ।

(राजपुरया गृह्यन्ति)

वृद्धा—पसीदन्तु पसोदन्तु अग्गामिस्सा । [जो दाव मोरेहि अवहिदस्स—  
(२१५ गृधे) इत्यादि पूर्वोक्त पठति] ता जदि वावादिदा मम दादिआ, वावादिदा ।  
जोवतु मे दीहाऊ । अण्य घ । अट्ठियपच्चट्ठियण्णे खावहारो । अह अट्ठियणो । ता  
मुञ्चघ एरम् । प्रसोदन्तु प्रसीदन्त्वायंमिथा. तद्यदि व्यापादिता मम दादिआ,  
व्यापादिता । जोवतु मे दीघावु । अन्यच्च । अट्ठियप्रत्यधिनीव्यंवहारः ।  
अहमधिनी । तन्मुञ्चतैनम् ।]

शकार.—अपेहि गरभदाशि गच्छ । किं तव एदिणा । [अपेहि गर्भदाशि,  
गच्छ । किं तवैतेन ।]

अधिकरणिक्—आयं गम्यताम् । हे राजपुट्टया, निष्क्रामयतेनाम् ।

वृद्धा—हा जाव, हा पुत्तम । [हा जात ! हा पुत्तक !] (इति स्वती  
निष्क्रान्ता)

शकार—(स्वगतम्) क्व भए एवशा अत्तणो शत्तिराम् । शपव गच्छामि ।  
[कृतं मयंतस्यात्मनः सहशम् । साप्रतं गच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

अधिकरणिक्—आयंषादवत्त, निणंदे मय प्रमाणम्, शेषे तु राजा । तथापि  
सोधनक, विनाप्यतां राजा पातक ।

‘अये हि पातकी विप्रो न वध्यो मगुरव्वोत् ।

राप्पादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतै. सह ॥३६॥

सोधनक—मं अग्गो आपवेवि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य । सारम्)  
अग्गो गरह्ण तहि । राजा पातओ मयादि—जेण अत्यकल्लवरास्स कात्तणा बी  
वसन्तसेणा वावादिदा, त तादे ज्जेव आहरणाद गले भन्धिअ इडिडिम तादिअ  
इत्तिअणमसाणं णइअ सुत्ते भग्जेय ति । जो को वि अवरो एरित अरज्ज अणु-  
क्किट्ठदि सो एदिणा सणिआरक्खणेण ताताअवि । यदायं (आज्ञापयति.)

शाकार—मार दी । अरे तू भी कह, कि "मैंने मारी ।"

चाहदत्त—तूने ही कह दिया ।

शाकार—मुनिये, अधिकारीगण मुनिये । इसने मारी । इसने ही संशय दूर (नष्ट) कर दिया । अतः इम दरिद्र चाहदत्त के लिये शारीरिक दण्ड निर्धारित किया जाये ।

अधिकरणिक शोधनक, जैसा राजश्यालक ने कहा (बँसा किया जाये) । हे राजपुत्रयो, इम चाहदत्त को पकड़ लिया जाये ।

(राजपुत्र्य पकड़ने हे)

बृद्धा—आर्य जन, कृपा कीजिये, कृपा कीजिये ('य तावन् चोरं अपहृतस्य' इत्यादि पूर्वोक्त पृ० २१५ पढती है) । तब यदि मेरा पुत्री मारी गई, तो मारी गई । मेरा यह दीर्घायु (चाहदत्त) जीवित रहे । इमके अनिर्गिक वादी और प्रतिवादी का व्यवहार है । मैं वादिनी हूँ । अतः इसको छोड़ दो ।

शाकार—दूर हट घमंदासी, जा, नरा इमसे क्या (प्रयोजन) ?

अधिकरणिक—आर्य, जाइये । हे राजपुत्रयो, इसे, निकालो ।

बृद्धा—हाय बत्स ! हाय पुत्र ! (गंती हुई निकल जाती है) ।

शाकार—(अपने आप) मैंने इसके प्रति अपने अनुरूप (कार्य) कर दिया । इस समय जाता हूँ । (निकल जाता है) ।

अधिकरणिक—आर्य चाहदत्त, निर्णय करने में हम प्रमाण (अधिकारी) है किन्तु शेष कार्य करने में राजा (प्रमाण है) । तथापि हे शोधनक, राजा पालक को यह सूचित किया जाये—

मनु ने बतलाया है कि यह ब्राह्मण पापी होकर भी वध के योग्य नहीं है, किन्तु क्षतिरहित सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से निकाल देना चाहिए ॥३६॥

शोधनक—जो आर्य आज्ञा करे । (निकलकर तथा पुनः प्रवेश करके अधु-पूर्वक) आर्यगण में वहाँ गया । राजा पालक कहते हैं—जिसने कलेवा जैसे (तुच्छ)

ससयः अनेन मारिता न वेति सम्येह. धिम्नः नाशितः, दूरोकृतः । आत्मनः सदृशम् अनुरूपं, योग्यम्, स्वशक्तेः अनुरूपमिति भावः ।

अपमिति । अपं विप्र पातकी निर्णीतदोषः हि तथापि न षड्यः न वधाहूः यतः इत्यमेव मनु अत्रवीद् यथा 'न जातु ब्राह्मण हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्वात् समप्रथनमक्षतम् ॥ तु किन्तु अक्षतं. क्षतिरहितः विभवः सम्पद्भिः सह अस्मात् राष्ट्रात् निर्वात्य. नि सारणीय. ॥३६॥

दिग्दिग्म. वाचविशेष. (दोन इति भाषायाम्) यः घोषणावसरे ताडयते ।



गतोऽस्मि तत्र । राजा पालके भगति—येनार्थकत्यन्नस्य कारणाद्वसन्तसेना  
आर्या, व्यापादिता, त तान्मेवाभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिम ताडयित्वा दक्षिण-  
श्मशान नीत्वा शूले भङ्क्त इति । य कोऽप्यपर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति स  
एतेन सनिकारदण्डेन शास्यते ।]

चारदत्त—अहो अविमृश्यकारी राजा पालक । अपवा—  
ईदृश व्यवहारान्गो मन्त्रिभि परिपातितता ।  
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणा दशाम ॥४०॥

अपि च

ईदृश श्वेतकाकीये राज्ञ शासनदूपके ।  
अभाषाता सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

सखे मंत्रेय, गच्छ । मद्भवनादम्बामश्चिचमममिवादयस्य । पुत्र च रोहसेन  
परिपालयस्व ।

विद्रूपक मृते छिन्ने कुदो पादवस्त पालनम् । [मूले छिन्ने कृत पादपस्य  
पालनम् ।]

चारदत्त—मा मंत्रेय ।

नृणा लोकान्तरस्थाना देहप्रतिकृति सुत ।

मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥४२॥

विद्रूपक—भो चअस्त अह ते विअवअस्तो भविअ तुए विरहिवाइ  
पाणाइ धारेमि ? [भो वयस्य, अह ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्रा-  
णाधारयामि ?]

चारदत्त—रोहसेनमपि तावद्दीय ।

विद्रूपक—एवम जुज्जदि । [एवम युज्यते ।]

अधिकरणिक—एत शोधनक, अपसायतामय बहु ।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधिकरणिक—क कोऽत्र भो । घाण्डलानां बीयतामादेश ।

(इति चारदत्त विमृज्य निष्क्रान्ता सर्वे राजपुरुषाः)

शोधनक—इदो आअच्छदु अज्जो । [इत आगच्छत्वार्ये ।]

निकारेण तिरस्कारेण सहित सनिकार यो दण्डेन ।

इहा इति । ईदृशो व्यवहार एव अग्नि तस्मिन् विनादविधाररूपानी इति  
यावत् मन्त्रिभि परिपातितता महीपाला कृपणां कातरां शोचनीया वा दशां गच्छन्ति  
इति स्थाने खलु युक्तम् एव ॥४०॥

धन के निमित्त वमन्तसेना को मार दिया, उसको—वे ही आभूषण गले में बाँधकर, द्विदोष पीटकर, दक्षिण भ्रमण में ले जाकर—शूली पर चडा दो। जो कोई दूसरा ऐसा बुरा कार्य करेगा वह इस अपमान महिं वण्ड में शामिल होगा।

चाण्डल—अरे, राजा पालक दिना विचारें कार्य करने वाला है। अथवा—  
इस प्रकार की व्यवहाररूपी अग्नि में मन्त्रियों के द्वारा डाले गये भूमिपाल शौचनीय दशा को प्राप्त होते हैं, यह युक्त ही है ॥४०॥

जौर भी—

'चाक श्वेत है' इस प्रकार का विश्वास दिलाने वाले, राजा के शासन को दूषित करने वाले ऐसे (न्यायाधीशों) के द्वारा महलों निरपराध (व्यक्ति) मारे गये हैं तथा मारे जा रहे हैं ॥४१॥

मित्र मंत्रण, जाजो। मेरे वचन (मेरी ओर) से माता को अन्तिम अभिवादन करो और मेरे पुत्र रोहसेन का पालन करना।

विदूषक—जड़ कट जाने पर वृक्ष का पालन कैसे ?

चाण्डल—नहीं, ऐसा नहीं।

परलोक में गये हुए जनों का पुत्र अपना प्रतिनिधि होता है। अतः तुम्हारा मुत्र पर जो स्नेह है, रोहसेन में लपा दिया जाये ॥४२॥

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारा प्रिय मित्र होकर मैं, तुमसे विमुक्त प्राणों को धारण कर सकूँगा ?

चाण्डल—तनिक, रोहसेन को भी दिलला (मिला) दो।

विदूषक—अच्छा, ठीक है।

अधिकारणिक—भद्र शौचनक, इन व्यक्ति (?) को हटा दो।

(शोधनक बंसा करता है)

अधिकारणिक—कौन ? अरे यहाँ कौन है ? चाण्डलो को आदेश दिया जाये।

(चाण्डल ने चेकर कर सब राजपुरष निरूल जाते हैं)

शोधनक—आयें इधर आइये।

ईदृशीरिति । ईदृशी श्वेतचाकः इव इति श्वेतचाकीर्यः 'समासाच्च तद्विधयात्' इति छप्रत्ययः, 'श्वेतः चाकः' इत्येवं विपरीतायंशक्तिभिः "उत्पानकल्पैरित्यर्थः" इति पृथ्वीवरः । राज्ञः शासनदूषकैः न्यायाधिकारिभिः अपापानां पापरहितानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

नाम्नि परिवर्तनं परचाद्र्मवं यस्य तत्र तथा ।

न्यायमिति । लोकात्परस्थापाना परलोक गतानां नृणां मुतः पुत्र' देहप्रतिवृत्तिः आत्मनः शरीरस्य प्रतिनिधिः "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्युक्तेः । तत्र मंत्रणस्य नपि चाण्डले यः स्नेहः सः वै निश्चयेन रोहसेने मुम्पताम् ॥४२॥

चारदत्त --(सकारणम्) मंत्रेय को किमिदमद्य' (६/१६) इत्यादि पठति ।  
(आदाते) ।

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे  
 कृकचमिह शरीरे धीक्ष्य दातव्यमद्य ।  
 अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मण मां निहसि  
 पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रं समेत । ४३॥

क्षयमाणतोऽस्मि ।

(इति निघ्नान्ता सर्वे)

इति ध्यवहारो नाम नयमोऽङ्क

भावि मरण निश्चित्य चारदत्त पालक नृपमुद्दिश्य श्रुत्वा मे कथयति विदेति ।  
 विष विषपान सलिल जले मग्जनं तुला तुलारोहणम् अग्नि अग्निधारणम् इत्येव-  
 विधाभि परीक्षाभि प्रार्थिते परीक्षितुम् अभीष्टे मे मम विचारे ध्यवहारे सति अद्य  
 इह अस्मिन् मम शरीरे कृकच करणम् ('आरा') धीक्ष्य विचार्यं दातव्यम् अथवा  
 यदि विचारनिरपेक्ष रिपुवचनात् शकारस्य वचनात् मा ब्राह्मण निहसि मारयसि  
 ततः पुत्रपौत्रं समेत सद्धित नरकमध्ये पतसि पतिष्यसि । तथा चोक्तं मनुना

वारन्त--(कल्याणके) पौत्रे नमः 'अस्मिन्महा' ६, २६ इत्यादि पठता है ।  
(आराग मे)

मेरे व्यवहार-विचार में मित्र, जल, भुव्या तथा अग्नि (की दिव्य परीक्षा) अभीष्ट है, अत्र आज इन मेरे गर्भरे में विचार करके ही 'आरा' देना चाहिये । किन्तु यदि जत्रु (शत्रु) के बन्तों में ही (हे राजन्) तु मुझ ब्राह्मण को मारता है तो पुत्र तथा पौत्रों के श्राव्य तु नरक में गिरेगा ॥४३॥

पहू में था गया है ।

(सब निवृत्त जाते हैं)

व्यवहार नामक नवम अङ्क समाप्त

अदृष्टमातुं वप्यन् राजा; दण्डजान्बन्धाम्भरद्वयम् ।

अथगो महामान्मोक्षि नरकं चैव पश्यति ।

व्यवहारः—विवादः अथ हि शकारवारदणवो व्यवहारः तत्रामकः अङ्कः ।

व्यवहारम्बरुणं चोक्तं विवाधरायाम्—

परमार्थं मनुष्याणां स्वार्थं विप्रतिपत्तिषु ।

वाक्यान्वयान्पारद्वयव्ययानं व्यवहार उदाहरणः ॥

एति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः

## दशमोऽङ्कः

[[ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानरघारदत्तः]]

उभौ—

तत्रिकं ण कलत्रं कालर्णं णववह्वन्धनअणे णिउणा ।  
अचिलेण शीशद्येअणशूलावीवेशु कुशलह्य ॥१॥  
ओशल्लघ अज्जा; ओशल्लघ । एते अज्जचानुदत्ते ।  
दिण्णकलवीलदामे गहिदे अह्हेहि वज्जपुल्लसेहि ।  
शिवे एव मन्दहेणे मोअ घोअ खअं जादि ॥२॥  
[तत्रिकं न कलय कारण नववधवन्धनयणे निपुणो ।  
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्थः ॥

अनसरतार्या अपसरत । एष आर्यंचारुदत्तः

दत्तकरवीरदामा गृहीत आवाभ्या बध्वपुरुषाभ्याम् ।  
दीप इय मन्दस्नेहः स्तोत्रं स्तोत्रं क्षयं याति ॥]

चारुदत्त —(सविषादम्)

नयनसलिलसिक्तं पांशुश्लक्ष्मीकृताङ्गं  
पितृयनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।

विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं  
वलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कं पति ॥३॥

चाण्डालौ—ओशल्लघ अज्जा, ओशल्लघ ।

किं पेक्खथ छिज्जन्तं शप्पुल्लिशं कालपल्लशुभ्रालाहि ।

शुअणशउणाधिवाशं शज्जणपुल्लिशद्दुमं एदम् ॥४॥

अस्मिन्नङ्के—चारुदत्तस्य बध्वभूमिं प्रति नयनम्, वसन्तसेनायाः सजाप्राप्तिः, तथा चारुदत्तस्य मोक्षः, आर्यंकस्य राज्यराज्यं चारुदत्तस्य दृष्टसिद्धिश्च वर्ण्यन्ते । चारुदत्तं बध्वभूमिं नयन्तो चाण्डालौ चारुदत्तं प्रति बध्वयत — तत्रिकमिति । तत् ततः किम् ? इति कारणं बध्वस्य निमित्तं न बल्य तर्क्य । मघो नूतनो यो बध्वबन्धो तन्नो, नयने प्राणेषु निपुणो तथा अचिरेण अचिलभवेन शीर्षच्छेदनानि शूलारोपाश्च तेषु कुशलौ आर्थास्त्वः । गायः वृत्तम् ।

वसति । दत्त वष्टे सिद्धं वरद्वीराणां 'कनियर' इति प्रसिद्धानां पुष्पिक-

## दशम अङ्क

(इसके पश्चात् दो चाण्डालों द्वारा अनुगत चारदश प्रवेश करता है)  
दोनों (चाण्डाल)

तब क्या (कारण है) ? इस प्रकार वध के निमित्त कोन विचारो । हम दोनों (प्रतिदिन के) नवीन वध और दग्धन के लिये ले जाने में निपुण हैं, अविलम्ब सिर काटने और शूली पर चढ़ाने में कुशल हैं ॥१॥

हटो, आर्यजनी, हटो । यह आर्य चारदत्त—

जिसे कनियर की माला पहनाई गई है, जो वध के लिए अनुकूल हम दोनों जनों के द्वारा पकड़ा गया है, ऐसा यह चारदत्त स्वल्प तेल वाले दीपक के समान धीरे-धीरे विनाश को प्राप्त हो रहा है ॥२॥

चारदत्त—(दुःख के साथ)

यहाँ कर्कश शब्द करते हुए ये कौए-बनुजन से भीगे हुए, घूलि से घूसरित अवयवों वाले, श्मशान के पुष्पो से ढके हुए तथा लाल चन्दन से लिप्त मेरे इस शरीर को बलि के समान खाने का विचार कर रहे हैं ॥३॥

दोनों चाण्डाल—हटो आर्यगण, हटो ।

साधुजन रूपी पक्षिगण के निवास स्थान, सत्पुरुषों के वृक्ष इस श्रेष्ठ पुरुष चारदत्त को कालरूपी कुठार की धाराओं से काटा जाता हवा क्यों देखते हो ?

शेषाणां दास्य माता यस्य सः आवाभ्यां बध्यौ बधे निदुक्तौ पुरुषौ बध्यपुरुषो ताभ्यां गृहीतः एष आर्यचारदत्तः (इति गद्येनान्वयः) मन्वस्नेहः क्षीमर्तलः दीप इव स्तोत्रं स्तोत्रम् अल्पशय्य विनाश याति गच्छति । उपमालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥२॥

नयनेति । इह विरसं यथा स्यात् तथा रटन्तः शब्दं कुर्वन्तः वापसा काका नयनसलिलेन अश्रुजलेन सिञ्चतं पांशुभिः घूलिभिः कृसीकृतानि घूसरीकृतानि मङ्गला यस्य तत्पितृवनस्य श्मशानस्य मुननीभिः पुष्पैः वेष्टितं तथा रक्तगन्धेन रक्तचन्दने अनुलिप्तं मे मम चारदत्तस्य शरीरं बलिम् इव बलिरूपेण दत्तम् अन्नमिव परिभोक्तुं तर्कयन्ति कल्पयन्ति । उपमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥२॥

किमिति । मुजनाः एव शकुनाः पक्षिणः तेषाम् अग्रिवासे वारस्ययानम्, पुरुषः एव इमः पुरुषद्वयः सज्जनानां पुरुषद्वयं वृक्षवत् छायाकरं पुरुषम् एतं पुरतः स्थितं सन्पुरुषं कातः एवं परशुः तस्य धारामिः द्विदमानं किं कथम् परमतः ? रूपकालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥३॥

भागच्छ ते बालुवत्, भागच्छ ।

[अपसरतामः, अपसरत ।

किं पश्यत छिद्यमानं सत्पुरुषं कालपरशुधारामिः ।

सुजनशकुनाधिवासं सज्जनपुरुषद्रुममेतम् ॥

भागच्छ रे चारुदत्त, आगच्छ ।]

चारुदत्त.—पूर्यमाणानामासिद्यत्याः क्लृप्ता व्यापाराः, यदहमीदृशो वशामनु प्राप्तः ।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तीं रक्तचन्दनहस्तकैः ।

पिष्टचूर्णविकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥५॥

(अप्रतो निरूप्य) अहो, तारात्म्यं नराणाम् । (सकरुणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मह्यं धिगस्त्वित्युपजातवाप्याः ।

अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति यदन्ति पौराः ॥६॥

बाण्डाली—ओशलय अञ्जा ओशलय । किं वेकलय ।

इन्द्रे प्पवाहिजन्ते गोप्पशवे संकमं च तालाणम् ।

शुपुलिशपाणविपत्तीं पत्तालि इमेण ददुव्वा ॥७॥

[अपसरतामः अपसरत । किं पश्यत ।

इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणम् ।

सुपुल्यप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे ण न द्रष्टव्याः ॥

एक.—हृष्टे आहीन्ता, पेशत पेशत ।

णजलीपघ्णानभूदे वज्जीजन्ते कदन्तअण्णाए ।

किं लुअदि अन्तलिकंखे आदु अणब्भे पडदि वज्जे ॥८॥

[अरे आहीन्त, पश्य पश्य ।

नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताजया ।

किं रोदित्यन्तरिक्षमथवानध्वं पतति वज्रम् ॥

द्वितीयः— अस्ते गोहा..

सर्वेति । सावंग्रात्रेषु भ्रमस्ताङ्गेषु विन्यस्तीं स्थापितैः रक्तचन्दनस्य हस्तकैः स्थाः एव हस्तकाः इति स्वार्थे कन् अथवा हस्ता इव हस्तकाः इति इत्यर्थे कन् हस्त-चिह्नैः इत्यर्थः । पिष्टचूर्णेन पिष्टचूर्णं श्यामतण्डुलचूर्णमिति पृथ्वीधरः, । पिष्टं ताडुसानां चूर्णं च तिस्रानामिति परे ताभ्याम् अवकीर्णः ध्याप्तः-अहं नारुदत्तः पुष्यः अहं पशूकृतः धनिपशुतुल्यः इतः ॥५॥

बाओ रे; चारुदत्त जाओ ।

चारुदत्त—पुरुष के भाय्यों का कार्य अचिन्तनीय है जिससे मैं ऐसी रक्षा का प्राप्त हो गया हूँ ।

समस्त अङ्गों पर लालचम्बन के हस्तचिह्नों (घाघे या धाप) के द्वारा तथा (चावल के) आटे और (तिलों के) चूर्ण से श्याप्त करके मुझ पुरुष को ही (बलि का) पशु बना दिया गया है ।

ये नगरवासी मेरे द्वारा प्राप्त इस अवस्था को देखकर, यह कहकर कि— 'मरणशील मनुष्य को धिक्कार है' अध्रुयुक्त हो गये हैं और मेरी रक्षा करने में असमर्थ होते हुए 'तुम स्वर्ग प्राप्त करो' यह कहते हैं ॥६॥

विसर्जन के लिये ले जाया जाता इन्द्रध्वज; यो.का प्रसव, तारों का पतन और श्रेष्ठ पुरुष का प्राण-त्याग-इन चारों को नहीं देखना चाहिये ॥७॥

एक—अरे, आहीन्त, देखो देखो ।

द्वैव (अथवा) (कृतान्तसदृश राजा पालक) के आदेश से नगरी के प्रधान पुरुष (चारुदत्त) के वध भी तैयारी होने पर क्या अन्तरिक्ष रोता है अथवा मेघों के बिना ही वज्रपात हो रहा है ॥८॥

द्वितीय—अरे गोह,

तरुतमस्य भावः तारुतम्यं परम्परा ।

अमी । इति अमी इमे हि वीराः पुरवासिनः मनुषेत्तं मया प्राप्तम् एतद् रूपं ध्वजनं वा हृद्वा मर्यं मरणधर्माणं ननुष्यं धिग् अस्तु इति उक्त्वा उपजात-वाप्याः अध्रुयुक्ताः सन्तः मां चारुदत्तं । परिरक्षितुम् अशरनुबन्तः अक्षयर्षाः स्वर्गं समस्त इति स्थितिः । उपजाते वृत्तम् ॥६॥

इन्द्र-इति । प्रषाहृत्प्रमाणः विसर्जनाय नीयमानः इन्द्रः इन्द्रध्वजः, गोः प्रसवः ब्रह्मवर्नं, ताराणां संक्रमः पतनं, सुपुरुषस्य प्राणविवर्षितः मरणं च धत्वारः इमे न हृष्टभ्याः न दर्शनीयाः । आर्षा वृत्तम् ॥७॥

'हृष्टे' इति नीचपात्राणां सम्बोधनम् । 'आहीन्त' इति द्वितीयस्य चान्दालस्य नाम । नागरीति । कृतान्तस्य विधेः कृतान्ततुल्यस्य पञ्चकस्य वा आश्रयो आदेशेन नवर्षाः अश्रयिण्याः प्रधानशूत्रे पुरुषे चारुदत्ते वध्यमाने सति किम् अन्तरिक्षं रोषिति कथया अत्रच्छे मेपरहिते नमति यच्च पतति । माया वृत्तम् ॥८॥

'गोह' इति प्रथमस्य चान्दालस्य नाम ।



ण अ लुअदि अन्तनिवले णेअ अणग्गे पडदि वज्जे ।  
 महिलासमूहमेहे णिवडदि णअणम्बु धाराहि ॥६॥  
 यज्जम्मि णीअमाणे जणशश शब्बशश लोदमाणशश ।  
 णअणसलिलेहि शित्ते लच्छादो ण उण्णमइ लेणू ॥११॥

[अरे गोह,

न च रोदित्यन्तरिक्ष नैवानध्रे पतति वज्रम् ।  
 महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभि ॥

अपि च ।

वध्मे नोपमाने जनस्य सर्वस्य रदत ।  
 नयनसलिलं सिक्नो रथ्यातो नोन्नमति रेणु ॥]  
 धारदत्त—(निरुप्य सकृणम्)

एता पुनर्हंम्यंगताः स्त्रियो मा वातायनाधेन विनिस्तृतास्थाः ।

हा चारुदरोत्यभिभाषमाणा वाप्य प्रणालीभिरिवोरसृजन्ति ॥११॥

चाण्डालो—आमच्छ ले चातुदत्ता, आमच्छ । इमं घोषणद्वानम् । बाह्येष  
 डिण्डिमम् । घोरोध घोषणम् । [आगच्छ रे चारुदत्त, आगच्छ । इद घोषणा-  
 स्यागम् । आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम् ।

उभौ—शुणाथ अज्जा, शुणाथ । एशे रातयथाहविणअदत्तरा गरिषे  
 शाअतदत्तरा पुत्तवे अज्जचालुदतो णाम । एदिणा वित्त अकज्जकालिणा गणिआ  
 वरान्तराणा अरक्कल्लवत्तश कानणादो शुण्णं पुष्पकलणअजिण्णुअजाण पवेसिअ  
 बाहुपाशबल्लवकालेण मालिदे ति एशे शतोत्ते गहिदे, शअं अ पडिक्खे । तरो  
 लण्णा पालएण अए अण्णत्ता एव पालेदुम् । जदि अबले ईदिग उअमसोअविहुअं  
 अकज्ज कलेदि त पि लाआ पालए एव्य ज्जेव शासदि [शृणुतायां शृणुत । एष  
 सार्थंवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम । एतेन  
 किलाकार्यकारिणा गणिका वसन्तमेनार्थकल्पवर्तस्य कारणच्छून्य पुष्पकरण-  
 कजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण भारितेति एष सलोत्प्लो, पृहीत-  
 स्वयं च प्रतिपन्नः । ततो राजा पालकेन वयमाज्ञप्ता एतं मारयितुम् । यद्यपर  
 ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति ॥

न चेति । न च अन्तरिक्षं रोदिति नैव अनध्रे' मेपरहित (अनध्रे इति  
 पाठान्तरम्) वज्रं पतति । किन्तु महिलासमूहः एव मेघं तस्माद् नयनानाम्  
 आबुजतम् धाराभि पतति । रूपशालङ्कारः । गाया वृत्तम् ॥६॥

न तो आकाश ही रो रहा है, न मेघ के बिना वज्र ही गिर रहा है । महिला अमुदाय रूपी मेघ से नेत्र-जल धाराओं में गिर रहा है ॥६॥

और भी—

वर्ध्म (चारुदत्त) को ले जाये जाते समय रोते हुए समस्त जनों के नेत्रजल से भीगी हुई धूलि गली से नहीं उठ रही है ॥१०॥

चारुदत्त—(दिलकर, करुणा सहित)

और ये भवनों पर स्थित नारिणीं खिड़की के एक भाग से मुख निकाले हुए 'हाय चारुदत्त' यह कहती हुई मानो परनालो से ही अश्रुजल बहा रही हैं ॥१॥

दोनों चाण्डाल—आ रे चारुदत्त आ । यह घोषणा का स्थान है । ढोल पीटो । घोषणा करो ।

दोनों—मुनो आर्यजन, सुनो ।- यह व्यापारी विनयदत्त का नाती (पौत्र) सागरदत्त का पुत्र आर्य चारुदत्त है । इस अकार्य करने वाले ने वसन्तसेना नामक वेश्या को, कलेवा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त, पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर भुजपाश से बलपूर्वक मार दिया । यह चोरी के घन (लोभ) सहित पकड़ा गया और इनने स्वयं स्वीकार कर लिया । तब राजा पालक ने हमें इसकी मारने की आज्ञा दी है । यदि कोई दूसरा दोनों लोको के विरुद्ध इस प्रकार का अकार्य करता है तो राजा पालक उसको भी इसी प्रकार दण्ड देंगे ।

वध्य इति । वध्यं चारुदत्ते वध्यभूमि नोयमाने सति स्वतः रोदनं कुर्वत. सर्वस्य जनस्य नमनसलिलैः नेत्रजलैः सिक्तः रेणु, धूलिः रण्धातः प्रवोत्स्याः न उन्नमति उल्लि-  
ष्टति । आर्या वृत्तम् ॥१०॥

एता इति । पुनः तथा एताः हृन्म्यगताः भवनेषु स्थिताः स्त्रियः वातायनस्य गवा-  
सस्य अर्धेन एकभागेन विनिवृत्तानि निर्गतानि आस्थानि मुक्तानि यासां ताः तादृश्यः  
भूत्वा इति यावत् 'हा चारुदत्त' इति अभिषाषमाणा. कथयन्त्यः प्रणालीभिः इव जल-  
नालिकाभिः इव धाण्डम् अश्रुजलम् उद्गिरन्ति प्रवाहयन्ति । उत्प्रेसात्कारः । इन्द्रवज्रा  
वृत्तम् ॥११॥

मोष्य चौर्येण प्राप्तं धनम्, तेन सहितः सलोचनः । प्रतिपन्नः स्वीकृतवान्

घाहदत्तः—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे  
सदसि निविडचेत्यब्रह्मघोषं. पुरस्तात् ।

मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापं—

स्तदसदृशमनुष्यैर्घुंष्यते घोषणायाम् ॥१२॥

(उद्गीय्य कर्णोऽपि धाय) हा प्रिये वसन्तसेने,

शशिविमलमयूतशुभ्रदन्ति सुहचिरविद्रुमसन्निभाघरोष्ठि ।

तव वदनमवामृतं निपीय कल्पमवशो ह्यवशोविष्य पिबामि ॥१३॥

उत्तै—औशस्य अज्जा, औशस्य ।

एशो गुणलअणाणिहि शज्जणदुक्खाणं उत्तलणशेद् ।

अशुवण्णं मण्डणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो ॥१४॥

अणं घ ।

शब्दे वल्लु होइ सोए सोओ शुह्वण्ठिदाण तत्तिल्लो ।

विणिवडिदाणं णल्लणं पिअकालो दुत्तहो होदि ॥१५॥

[अपसरतायाः, अपसरत ।

एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःस्नानामुत्तरणसेतुः ।

असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽथ नगरीतः ।

अन्यच्च ।

सर्वः खलु भवति लोके लोक सुखसस्थितानां चिन्तायुक्तः ।

विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ।]

घाहदत्तः—(सर्वतोऽवलोक्यं)

मयेति । मत्तानां वशानां शतं परिपूतं पवित्रीकृतं मे मम घाहदत्तस्य गोत्रं  
बुल यत् पुरस्तात् पूर्वकाले सर्वास्ति सभायां निविडेयु जनसकुलेषु घंत्वेयु अग्निघयन-  
रूपतेषु अज्जाणल्लामु इति यावत् ब्रह्मघोषं. वेदपाठं. उद्भासितं प्रकाशितम् आसीत् ।  
तद् गोत्र मरणदशायां वर्तमानस्य मम पापं. अतदसदृशमनुष्यैः अपोष्यजरीः नीचैस्तिर्यकैः  
घोषणायाम् अपराधघोषणारवले घुष्यते । विवमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥१२॥

\* 'उद्गीय्य' इति पाठान्तरम् । उद्गीय्य उद्गीयं कृत्वा इति वृष्वोचरः । शशोति ।  
शशिविमलमयूता. चन्द्रस्य निर्मलकिरणाः इव शुद्धा. वन्ताः यस्या सा

चारदत्त—(दुःख के साथ, अपने आप)

सँकड़ों यज्ञों से पवित्र जो भेरा बंश पूर्वकाल की समाओं में जनाकीर्ण यक्षशाला की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था, वही मेरे मरणावस्था में विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों के द्वारा (अपराध) घोषणा स्वयं में घोषित किया जा रहा है ॥१२॥

(ऊपर देखकर, कानों को बन्द करके) हाय प्रिये, वसन्तसेने ।

हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान श्वेत दाँतों तथा सुन्दर मूंगे के सदृश अघरोष्ठ वाली वसन्तसेने, तेरे मुख से उत्पन्न अमृत का पान करके अब पाषाण हुआ मैं अपकीर्ति रूपी विष क्यों पी रहा हूँ ॥१३॥

बोनों—हटो, आर्यजनो, हटो ।

गुण रूरी रत्नों का भण्डार (सागर), सज्जनों के दुःखों को तरने के लिए छेतु के समान, बिना सुवर्ण का आभूषण यह चारदत्त आज (रज्जयिनी) नगरी से दूर किया जा रहा है ॥१४॥

बोर भी—

संसार में सभी जन सुखी मनुष्यों के ही शुभचिन्तक होते हैं । विपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों का हित करने वाला दुर्लभ ही है ॥१५॥

चारदत्त—(सब ओर देखकर)—

(सम्बुद्धो), सुरचिः अतिमुन्दरः यः विद्रुमः प्रवालः तत्सन्निभः तस्य सदृशः अघरोष्ठः पत्न्याः सा (सम्बुद्धो), तव वसन्तसेनायाः वदनभवं मुस्ताद् उत्पन्नम् अमृतं निषीम पीत्वा यथाः पराधीनः अहं अयथाः अपकीर्तिः एव विषं कथं पिबामि । उगमा, रूपरुम्, विषमन्वातङ्कारः । पुष्पिताया वृक्षम् ॥१३॥

एव इति । गुणा एव रत्नानि तेषां निधिः सागरः सज्जनदुःखानाम् उत्तरणसेतुः सङ्घनसाधनम्, अमुवर्णं अमुवर्णघटितं मण्डनम् आभूषणम् एषः चारदत्तः अद्य नगरीतः अपनीपते दूरीक्रियते । रूपवानङ्कारः । गायो व्रतम् ॥१४॥

सर्वं इति । लोके संसारे सर्वेः लोकः जनः सत्तु निश्चयेन सुखे तस्थितानां सम्यक् विद्यमानानां सुखपुक्तानां अनानामिति भावः चिन्तामुक्तः शुभचिन्तकः (चिन्तापरः उपदुःखः इत्यर्थः इति पृष्ठाघरः) भवति । विनिपतिनानां विपत्ती पतितानां नराणां प्रियकारी हितकर्ता कुलंभः भवति । अस्तुव्रतप्रसंगे मत्तङ्कारः । गायो व्रतम् ॥१५॥

अमी हि वस्त्रान्तरिद्धवक्त्रा प्रयान्ति मे दूरतरं वमस्याः ।

परोऽपि बन्धुः समसस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥१६॥

घण्डाली—ओगालनं किदम् । विवित्तं ताअमगम् । ता आणेण एव विण्णवज्जचिण्हम् । [अपसारणं कृतम् । विवित्तो राजमार्गः । तदानपत्तनं दत्तं वध्यचिह्नम् ।]

(चारुदत्तो निःश्वस्य 'मंत्रेण भो किमिदमद्य' (६।२६) इत्यादि पठति)

(नेपथ्ये)

हा ताव, हा पिअवअस्स । [हा तात, हा प्रियवयस्य ।]

चारुदत्त—(आकर्ष्यं सकरणम्) भो स्वजातिमहतर, इण्डाम्भं भवंतं सकारात्प्रतिग्रहं कर्तुंम् ।

घण्डाली—किं अग्हाणं हत्यादो पडिण्हं कत्तेसि । [किमस्माकं हस्तात्प्रतिग्रहं करोषि ।]

चारुदत्त—शान्तं पापम् । नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव घण्डालः । तत्परत्तोकार्यं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

घण्डाली—एव कलीअनु [एव क्रियताम् ।]

(नेपथ्ये)

हा ताव, हा आवुक्क । [हा तात, हा पित ।]

(चारुदत्तं श्रुत्वा सकरणम् भो स्वजातिमहतर' इत्यादि पठति)

घण्डाली—अले पजला, सण अत्तल देध । एसो अजजालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु । (नेपथ्याभिमुखम्) अज्ज इदो इदो । अज्जच्छे से दालजा, आअण्ण । [हे पीरा क्षणमन्तरं दत्त । एष आर्यंचारुदत्तः पुत्रमुखं पश्यतु । आर्यं, इत इत । आरच्छे रे दारक, आगच्छ ।]

(ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः)

विदूषक—नुवरदु नुवरदु भद्रेणुहो । पिवा वे मारिदु जोअदि । [त्वरतो चरतां भद्रमुख । पिता ते मारयितुं नीयते ।]

दारक—हा ताव, हा आवुक्क । [हा तात, हा पित ।]

विदूषक—हा पिअवअस्स कोहं मए तुम पेक्खिदध्वो । [हा प्रियवयस्य, कुत्र मया त्वं द्रष्टव्यः ।]

अमी हीति । अमी हि मे मम चारुदत्तस्य वयस्योः सुहृद वस्त्रान्तेषु वसनाञ्चलेन निरुद्धम् आच्छादितं वक्त्रं मुखं यं तादृशा सन्तः दूरतरं प्रयान्ति । समसस्थितस्य समावस्थायां सुखावस्थायांनिर्वाणं यावत् स्थितस्य जनस्य परं अन्यं अपि बन्धु सम्बन्धी भवति, विन्दु विषमावस्थायां आपत्तिवृत्ते इति यावत्

ये मेरे मित्र नम्ब के आंचन ने मुख डके हुए दूर जा रहे हैं। (सच है) मुख की अवस्था में अन्य जन भी (सगे) सम्बन्धी हो जाते हैं; किन्तु आपत्ति में पड़े हुए मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता।

दोनों चाण्डाल—(भीड़ को) हटा दिया गया। राजमार्ग जन-शून्य (विविक्त) है। अंतः दिया गया है यद्य का चिह्न जितको, ऐसे इग (चारदत्त) को लाओ। (चारदत्त दीर्घ श्वास लेकर 'भैत्रेय भौ किमिदमद्य (६:२६)' इत्यादि पढ़ता है।)

(नेपथ्य में)

हा तात ! हा प्रिय मित्र !

चारदत्त—(सुनकर, करुणामहित) हे अपनी जाति के महतो (प्रधान), मैं आपसे (कुछ) दान लेना चाहता हूँ।

दोनों चाण्डाल—क्या हमारे हाथ से दान लेते हो ?

चारदत्त—पाप शान्त हो। पालक के समान चाण्डाल (भी) बिना परीक्षा के (कार्य) करने वाला तथा बुरा व्यवहार करने वाला नहीं है। अतः मैं परलोक के लिये पुत्र का मुख देखने की प्रार्थना करता हूँ।

दोनों चाण्डाल—ऐसा कर लीजिये।

(नेपथ्य में)

हाम तात ! हाम प्रिय मित्र !

(चारदत्त सुनकर करुणापूर्वक 'भौ. स्वजातिमहत्तर' पृ० ३६२ इत्यादि पढ़ता है)

दोनों चाण्डाल—अरे नगरवासियों क्षण भर के लिये अवकाश दो। यह आर्य चारदत्त पुत्र का मुख देखले। आर्य, इवर इधर (नेपथ्य की ओर) आ रे, आनक, आ जा।

(तब बालक को लेकर विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—शीघ्रता करो, भद्रगुण, शीघ्रता करो। तुम्हारे पिता बध के लिये से जाये जा रहे हैं।

शारक—हाम तात, हाम पिता।

विदूषक—हाम प्रिय मित्र, अब मैं तुम्हें कहीं देखूंगा ?

स्मितस्य जनस्य न कश्चिद् अपि मित्रं भवति । अयान्तरन्यासोऽनङ्कारः । उपजातिः  
इत्तम् ॥१५॥

विविक्तः विजनः । स्वजात्यां महत्तरः प्रतिग्रहं दानं पुरस्कारं पल्लपातम् अनुग्रहं  
श्च । जन्मदये प्रार्थये । परलोकार्थं परलोके शुभगत्यर्थम् । उक्तं मनुना—

पुन्यान्तो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं मुतः ।

तस्माद् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ मनु० ६:१२८.

आयुक्तं पितः ।

चारवत्तः—(पुत्रं मित्रं च वीक्ष्य) हा पुत्र, हा मित्रेय (सकरणम्) मोः  
कर्मम् ।

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।

अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् । १७॥

किं पुत्राय प्रयच्छामि । (आत्मानमवलोक्य । यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आ, इवं तावदीति  
यमं च ।

अमोक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।

देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते ॥१८॥

(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

घण्टासः—आञ्जलिं ते चातुर्वर्ता, आञ्जलिं । [आञ्जलिं रे चास्वदत्तं,  
आञ्जलिं ।]

द्वितीयः—अस्ते, अञ्जलिचातुर्वर्तं जितुवववेण नाम्ण आस्वदति । अस्ते वेवत् ।

अभ्युदय अवशाणे तद्दे अ लत्तिदिव अहदमग्गा ।

उद्दामे व्व किशोली णिजदी व्वु पडिच्छिदुं जादि ॥१९॥

अर्णं च ।

शुक्ला विवदेश शे कि विणमिअ मत्थए ण काअव्वम् ।

साहुगहिदे, वि चन्दे ण वन्दणीए जणपदश ॥२०॥

विरमिति । परलोके चिरं खलु पिपासितः भविष्यामि कुत ? यतो हि  
इदं पुत्रेण दास्यमानं निवापस्मं पितृत्ववर्णस्य उदकमेव भोजनम् अस्माकं अत्यल्पम्  
भविष्यति । पुत्रस्य बालत्वात् तेन दीयमानो जलाञ्जलिः अपर्याप्तः स्यादिति  
भावः ॥१७॥

अमोक्तिकमिति । इवं यज्ञोपवीतम् अमोक्तिकं नास्ति मोक्तिकं मुक्ता यस्मिन्  
तयोभूतम् असौवर्णं न सुवर्णनिमित्तं ब्राह्मणानां विभूषणम् आभूषणम् अस्ति; येन  
यज्ञोपवीतेन श्रेयसानां पितृणां च भागं देववति पितृपिण्डादिकं वा प्रदीयते ॥१८॥

निरूपपदेन 'आयं' इत्यादि विशेषणरहितेन ।

अभ्युदय इति । अभ्युदये सम्पन्नावस्थायां अवस्थाने सम्पदां समाप्ती तयैव  
रश्मिचिह्नम् अहोरात्रम् अहत अप्रतिहतं मार्गं यस्याः सा अप्रतिहतयमना निर्यति  
मार्ग्यं उद्दामा उद्गतं कामं बन्धनं यस्याः सा बन्धनरहिता विशोरी योवनं प्राप्ता बालेव  
(आसाववा इव इति कालेमहोदयः) खलु प्रत्येवितु पुरस्य स्वीकृतुं याति यच्छति ।  
उपमासङ्कारः । गाथां वृत्तम् ॥१९॥

चावदत्त—(पुत्र और पितृ को देखकर) हाय पुत्र, हाय मैत्रेय (करुणापूर्वक) अरे कष्ट है ।

मैं परलोक में विरजाल तक प्यासा ही रहूँगा, क्योंकि यह (पुत्र के द्वारा दिया गया) पितृतपस्य का अलरूपी भोजन हमारे लिये अत्यन्त थोड़ा होगा ॥१७॥

मैं पत्र को क्या दूँ ? (अपने आप को देखकर । मञ्जोपवीत को देखकर) अच्छा, यह तो मेरे पाम है ।

यह बिना मोती का तथा सुवर्ण से न बना हुआ, ब्राह्मणों का आभूषण है, जिससे देवता और पितरों का भाग दिया जाता है ॥१८॥

(मञ्जोपवीत देता है)

चावदत्त—आधो रे चावदत्त, आधो ।

द्वितीय—अरे, आर्य चावदत्त को ('आर्य' आदि) उपपद-रहित नाम से पुकारते हो । अरे, देखो—

सम्पन्नावस्था में और सम्पत्ति के समाप्त होने पर तथा रात में और दिन में यह अत्रिहित-शक्ति वाली नियति बन्धन-रहित (स्वच्छन्द) श्रवती के समान पुरुष को खोजने के लिये जाती है ॥१९॥

और भी—

इसके (सम्पत्ति-कोति आदि) अङ्ग सूख गये है अतः (इसे) मस्तक झुकाने से क्या (प्रयोजन) ? (ऐसा नहीं, क्योंकि) क्या राहु द्वारा अस्त बन्द्या भी जनपदवासियों के लिये बन्दनीय नहीं होता ? [पाठः-उत्तर में पूर्वपाद का अनुवाद यह है—इस चावदत्त

शुष्का इति । अस्त्य चावदत्तस्य प्रवेगाः अङ्गानि साधनानि वा अत्रि शुष्काः शुष्कानि यत्नानि, अतः विनिमित्तं मस्तकं विनिमित्तमस्तकं लेत् किं कर्तव्यं किं प्रयोजनमिति न । कुतः इत्याह- राहुणा श्रवतीः अत्रि प्रस्तः अपि चन्द्रः जनपदस्य तत्र स्थितस्य जनस्य न बन्दनीयः ? अत्रि तु बन्दनीयः एव । अत्र पूर्वपादस्य—'शुष्का अत्रि प्रवेगा अङ्गानि ! किं विनिमित्तमस्तकेन—अवनतगिरसा किं कर्तव्यम् । अस्त्य स्वर्गाहृतस्य सृजत्रया नतगिरमोर्णव न कुन्नेत्यर्थः"—इति पृथ्वोषरः । 'शुष्का अत्रिप्रवेगा अस्त्य किं विनिमित्तमस्तकं न कर्तव्यम्' इति पाठान्तरम्—'अस्त्य चावदत्तस्य अत्रिप्रवेगाः



[अरे, आर्यचारदत्तं निरूपपदेन नाम्नालपसिं । अरे, पश्य,  
अभ्युदयेऽवसाने तयैव रात्रिन्दिवमहृतमार्गा ।

उद्दामंय किशोरी नियतिः खलु प्रत्येपितुं याति ॥

अन्यच्च—

शुष्का अपि प्रदेशा अस्य किं विनमितमस्तकेन कर्तव्यम् ।

राहुपृहोतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ॥

दारकः—अरे रे चाण्डाला, कहि मे आवुक णेव । [अरे रे चाण्डालो,

कुत्र नम पितर नयत ।]

घाघरत्त—वत्त,

असेन विभ्रत्करवीरमाला स्कन्धेन शूल हृदयेन शोकम् ।

आघातमद्याहमनुप्रमामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽज ॥२१॥

चाण्डाल—दासआ,

ण हु अम्हे चाण्डाला चाण्डालकुलमि जादपुव्वा वि ।

जे अहिभवन्ति शाहु ते पावा ते अ चाण्डालाः ॥२२॥

[दारक,

न खलु वय चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि ।

येऽभि भवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥]

दारक—ता बीस मारय आवुकम् । [तत्किमयं मारयत पितरम् ॥]

चाण्डालः—दीहाओ, अत्त ताअणिओओ वसु अवत्तज्जादि, ण खु अम्हे ।

[दीर्घायुः अत्र राजनियोगः स्वत्वपराध्यति न खलु वयम् ।]

दारक—वाधादेय मम् । मुञ्चय आवुकम् । [व्यापादयत माम् । मुञ्चत

पितरम्]

चाण्डाल—दीहाओ, एवं भणन्ते चित मे जीव । [दीर्घायुः एव भणश्चरं  
मे जीव ।]

घाहात्त—(सास पुत्र वण्ठे गृहोत्वा)

इदं तत्स्नेहसर्वस्व सममाहृयदरिद्रयोः ।

अ इन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥२३॥

शोभननामादयः किं शुष्का अनेनापवादेन क्षीणाः अत्य विनमितमस्तकं किं न  
कर्तव्यम् । कर्तव्यमेव । इत्ययं." इति काले महोदयः । अत्र च सुधियः एव प्रमाणम् ।

शुष्कान्तालङ्कारः । गायो वृत्तम् ॥२०॥

. . . चारदत्त स्वपुत्रं प्रति वधयति-अमेनेति । असेन वण्ठेन [अंस. स्कन्धे विभागे च'  
इति विश्व ] करवीरमाला करवीरपुष्पमाला स्कन्धेन शूल हृदयेन च शोकं विभ्रत् घारयन्

के शोभनतामादि क्या सूझ गये ? क्या इसके प्रति मस्तक नत नहीं करना चाहिए ?.....] ॥२०॥

दारक—अरे चाण्डालो, मेरे पिता को कहां ले जाते हो ?

चाण्डाल—बरस,

श्ले में कनेर की माला, कन्धे पर शूल तथा हृदय में शोक धारण किये हुए मैं आज यज्ञ में बलि (अभिमन्त्रण) के लिये पशुबध म्यल (अभिमन्त्रणा म्यल) पर (ले जाये जाते) द्याग के समान (अधिकरण के) बध स्थान पर जा रहा हूँ ॥२१॥

चाण्डाल—बालक,

चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी हम चाण्डाल नहीं है । जो सज्जन को अपमानित (पीड़ित) करते हैं वे पापी हैं और वे चाण्डाल हैं ॥२२॥

दारक—तो मेरे पिता को क्यों मारते हो ?

चाण्डाल—दीर्घायु, इसमें राजाज्ञा दोषी है, हम नहीं ।

दारक—मुझे मार दो । पिताजी को छोड़ दी ।

चाण्डाल—दीर्घायु, इस प्रकार कहते हुए तुम बहुत समय जीओ ।

चाण्डाल—(अथयुक्त पुत्र को गले लगाकर)

यह वह स्नेह का सर्वस्व है जो घनिक और दरिद्र दोनों के लिए समान है । यह हृदय का सुखकर लेप है जो चन्दन का तथा उगीर (खर) का नहीं (बना) ॥२३॥

अहम् अद्य अश्वरे यज्ञे आलब्धुम् अभिमन्त्रयितुं हन्तुं वा शामित्रं शमितरि यज्ञे भवं शामित्रं अभिमन्त्रयस्थानं पशुघातस्थानं वा अजं इव आघोनम् अधिकरणवधस्थानम् अनुग्रयामि अनुग्रच्छामि । आलब्ध इवाश्वरेऽजः' इति पृथ्वीधरानुमतः पाठः । आलब्धो- अभिमन्त्रितः मारितः इत्येके । यज्ञे अभिमन्त्रितः अजः यया शामित्रं गच्छति तथेति भावः । उपमानद्वारः गायत्र्युक्तम् ॥२१॥

न ललित्विति । चाण्डालकुले जातः पूर्वं जाताः सम्बन्धमानोऽपि वयं न सन्तु चाण्डालाः कर्मणा न चाण्डालाः इति भावः । ये जनाः शकारप्रवृत्तयः इति स्पष्टयते साधुं सन्तुत्यम् अभिमन्त्रयन्ति तिरस्तुर्वन्ति ते पापाः पापिनः ते च चाण्डालाः । विशेषोक्तिरलङ्कारः । गायत्र्युक्तम् ॥२२॥

राजनियोगः राज्ञः नियोगः आदेशः ।

स्वपुत्रं कण्ठे पृहीत्वा चाण्डालः कथयति—इदमिति । इदं पुत्रालिङ्गनं तद् प्रसिद्धं स्नेहस्य वाचनस्य सर्वस्वं तत्त्वम् । इदं च आद्यं घनिकः दरिद्रः च तयोः द्वयोरपि तनं तुल्यमेव अचान्दनं चन्दनरस्येदं चान्दनं न चान्दनम् अचान्दनम् अनौगीरम् उगीर-रसिदम् अनौगीरं, न अनौगीरम् अनौगीरं च हृदयस्य अन्विजनम् अनुद्गः मुक्कुरः इति भावः सौम्यः अस्ति । रूपकाङ्गारः ॥२३॥

['वसेन विभ्रत्—' (१०/२१) इत्यादि पुन. पठति । अनतोक्ष्य स्वगतम् । 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवस्त्राः (१०/१६) इत्यादि पुन. पठति)

विदूषकः—भो भद्रमुहा, मुञ्चध पिअवअत्त चासुवत्तम् । म बावारेण ।  
[भो भद्रमुहाः, मुञ्चत प्रियवयस्यं चाशुदत्तम् । मा व्यापादयत ।]

धावरक्तः—शान्तं पापम् (दृष्ट्वा स्वगतम्) अष्टावगच्छामि ।  
(परोक्षपिसमसंस्तिप्तस्य—' (१०/१६) इत्यादि पठति । प्रकाशम् । 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०/११) इत्यादि पुन. पठति)

चाण्डालः—भोगालघ अज्जा, भोगालघ ।

किं पेक्खध शप्पुल्लिशां अजशवशेण प्पणट्टजीवाशम् ।

कूपे खण्डितपाश काञ्चनकलशं त्विअ ड्ढन्तम् ॥२४॥

[अपसरतार्या, अपसरत ।

किं पश्यत सत्पुत्पमयशोवशेण प्रनष्टजीवाशम् ।

कूपे खण्डितपाश काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ॥]

(शोदत सवरुणम् 'शशिविमलममूरु—' (१०/१३) इत्यादि पठति)

अपर—अस्ते, पुणोवि घोसेहि । [अरे, पुनरपि घोषय ।]

(चाण्डालस्तथा करोति)

धावरक्तः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां

यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ।

एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे

श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हृतेति ॥२५॥

(ततः प्रविशति प्राप्तादत्सो बद्धः स्थावरकः)

स्थावरकः—(घोषणामारुर्ध्वं सर्वैकलभ्यम्) कथं अयाये चासुदत्तं वावारीप्रधि हृत्ते विअत्तेण शामिणा बन्धिरे । भोदु आक्कन्वामि । शुणाथ अज्जा; शुणाथ । इत्थि बान्णि मए पावेण पवहणपडिवत्तेण पुक्ककलसअभ्रिण्णुअण्णं वरान्तमोवा भोदा । तदो मम शामिणा मं ण कामेत्तिति क्खुअ वाहुपाशवसक्कामेण अत्तिहा, ण उण एविण अज्जेण । कथम् । भेवुत्तवाए ण को वि शुणादि । ता कि कत्तेमि । अत्ताणअं पादेमि । (विचिन्द्य) अइ एव्णं कत्तेमि, तदा अज्जघासुदत्तं ण वावारी-

स्तिमित । क्षणित. विप्रः पाशः रज्जु इत्य तपाभूतं कूपे पञ्चमं काञ्चनस्य शुभर्णस्य कलशम् इव अपोरोवरोनं अनेन वसन्ततेना हृतेति अपकीर्तिनिमित्तं च

['अस्तेन विभ्रत्' (१०/२१) इत्यादि फिर पढ़ता है । - (दिखकर अपने आप)  
'अग्नी हि वस्नात्पनिहृद्वक्त्राः' (१०/१६) इत्यादि फिर पढ़ता है ।]

विबूषक—हे भद्रमुखो, मेरे प्रिय मित्र चाखदत्त को छोड़ दो । मुझे मार दो ।  
चाखदत्त—पाप शान्त हो । (दिखकर अपने आप) बाज जान रहा हूँ ।

['अमसुंस्वित्त'—' (१०/१६) इत्यादि पढ़ता है । (प्रकट रूप में) 'एताः पुनर्हर्ममताः  
स्त्रियो माम्' (१०/११) इत्यादि फिर पढ़ता है ।]

बाण्डाल—हटो, बाण्डाली, हटो ।

रस्सी टूटने पर क्रूर में डूबते हुए सुचर्णघट के समान अचकीर्ति के कारण  
त्रिसके जीवन की आशा नष्ट हो गई है ऐसे इस सत्पुरुष को क्या देखते हो ॥२४॥

[चाखदत्त कदगापूर्वक 'अग्निविमलमपूष' (१०/१३) इत्यादि पढ़ता है]

क्रूररा—अरे, फिर धोपणा करो ।

(चाण्डाल बंसा करता है)

चाखदत्त—

मैं विरक्ति (व्यसन) के कारण होत एवं महित (अनार्या) दशा को प्राप्त हो  
पया हूँ । जिस दशा का यह जीवन की समाप्ति फल है । और यह धोपणा मन को  
पीड़ित करती है जो मुझे यह सुनना पड़ता है—'मैंने यह (वसन्तसेना) मारी है ॥२५॥

(तब प्रासाद पर स्थित, बंधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है)

स्थावरक—(धोपणा को सुनकर, विकलता के साथ) क्या ! पापरहित  
चाखदत्त मारा जा रहा है । मुझे स्वामी ने बेटी से बांध दिया है । अच्छा । चित्ताद्रा  
हूँ । मुनिरे आर्षजन, मुनिरे । ऐसा है कि मुझ पापी के द्वारा प्रवहम-परिवर्तन के  
कारण वसन्तसेना पुष्पकरगडक नामक पुराने उद्यान में ले जाई गई । तब मेरे स्वामी  
(शकार) ने—'तुम मुझे नहीं चाहती हो' यह कहकर मुझराग से बलपूर्वक इसे मार  
दिया, इस आर्ष (चाखदत्त) ने नहीं । क्या, दूर होने के कारण कोई भी नहीं सुनता  
है । वो क्या करे ?

अनष्टा श्रीशशा जीवनस्य आशा यस्य तं सत्पुरुषं सज्जनं हि पश्येय ? उपमानच्छाट ।  
याया वृत्तम् ॥२४॥

प्राप्त इति । अहं चाखदत्तः, अस्तेन आपत्त्या शरिर्ग्रहेण वा हेतुना 'अस्तेनकृताम्  
इति पाठान्तरम् । आपत्तिजनितान् इत्यर्थः कृतां हीनान् अनार्यां महितां रतां प्राप्ताः,  
यत्र दशाद्याम् इदं जीवितस्य जीवनस्य अवसानं समाप्तिः मरणम् इति शब्दः अत्रि  
कन् जातम् । एषा च धोपणा मे मन मन्तः व्यय्यति पीडयति यत् मया इदं शीतय्यम्  
'अग्नी वसन्तसेना मया चाखदत्तेन हता मारिता' इति । पद्विणी वृत्तम् ॥२५॥

अदि । भोवु । इमाद्रो पारादवातगपदोलिकादो एदिणा जिष्णववशेन अत्ताणअं  
 णिखिलवामि । वल हग्गे उवलदे, ण उग एरो कुलपुत्तविहगाण वाशपादधे अग्गचातु-  
 बत्ते । एव जइ विवज्जामि लट्ठे मए पललोए । (इत्यारंभान पातयित्वा) हो 'हो ।  
 ण उवलदमिह । मग्गे मे दण्डणिअत्ते, ता चाण्डालघोरा शमण्णेशामि (दृष्ट्वोपसृज्य)  
 हहो चाण्डाला, अन्तल अतलम् । [नथमपापश्चारदत्तो व्यापाद्यते । अहं निगडेन  
 स्वामिना दद्व । भवतु । आब्रन्दामि शृणुतार्या, शृणुत । अस्नीदानो मया पापेन  
 प्रवहणमपरिवर्तेन पुण्यकर इवजीर्णोद्यान वसन्नमेना नीता । ततो मम स्वामिना  
 मा न कामयम इनि वृत्वा बाहुपाणवलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेनार्येण ।  
 कथम् । विदूरतया न नोपि शृणोति । तत्त्वि करोमि । आत्मान पातयामि ।  
 यद्येवं करोमि, तदायंचण्डित्तो न व्यापाद्यते । भवतु । अस्या प्रासादवालाग्रप्रतो-  
 लिकात् एतेन जीर्णगवाक्षणात्मानं निक्षिपामि । वरमहमुपरत, न पुनरेष कुल-  
 पुत्रविहगाना यामपादप आयचाखदत्त । एव यदि विपद्ये लब्धो मया परलोक ।  
 आश्चर्यम् । नोपरताऽस्मि । भस्तो मे दण्डनिगड । तच्छाण्डालघोष समन्वि-  
 प्यामि । हहो चाण्डाला अन्तरमन्तरम् ।

चाण्डालो—अत्ते के अन्तल मग्गेदि । [अरे, कोऽन्तरं याचते ।]

(नेट 'शृणाध्' (३२८ पृष्ठे) इति पूर्वोक्त पठति)

चारदत्त—अये,

कोऽयमेवविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।

अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघं इवोदित ॥२६॥

भो, धृतं भवद्भिः ।

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यश ।

विशुद्धस्य हि मे मृत्यु पञ्चजम्बुमा भवेत् ॥२७॥

अन्यच्च ।

तेऽस्म्यङ्गतवरेण क्षुब्धेणात्यल्पदुःखिना ।

शरेणैव विपाकतेन दूषितेनापि दूषित ॥२८॥

चाण्डालो—पायलअ, अदि शच्च भणाशि । [स्यावरक, अपि सत्यं  
 भणासि ।]

चेट —शच्चम । हग्गे वि मा कश वि रुधइरशशि ति पारादवातगपरो  
 लिकाए दण्डणिअलेण वं घअ णिखिलत्ते । [सत्यम् अहमपि मा कस्यापि कप-  
 यिष्यसीति प्रासादवालाग्रप्रतोलिकाया दण्डनिगडेन अद्ववा निक्षिप्त ।]

बैतलभ्येन सह इति सत्यंलक्ष्य विपलतापूर्वकम् । उपरतं मृत । कुलपुत्रा

अपने आप हो गिराऊ है (सोचकर) यदि ऐसा करता है तो श्रायं चारदत्त नहीं मारे जाते । अच्छा । इस प्रामाद के नवीन अग्रभाग से टूटी चिह्नकी द्वारा अपने आपको गिराऊ है । मैं मरा (मर जाऊँ) अच्छा, किन्तु कुलपुत्र रूपी पत्नियों का निवास वृक्ष भायं चारदत्त नहीं । यदि मैं इस प्रकार मरता हूँ तो मैंने स्वयं पा लिया । (अपने आपको गिराकर) आश्चर्य । मैं मरा नहीं । मेरा बेड़ी-डण्डा (?) टूट गया । अब चाण्डाल की घोषणा (के स्थापन) की खोजता हूँ (देखकर पास जाकर) अरे, चाण्डालो, अवकाश दो अवकाश ।

दोनों चाण्डाल—अरे कौन अवकाश माँगता है ?

(चेत 'शृगुतायां' यह पूर्वोक्त पदता है)

चारदत्त—अरे,

वर्षा के न होने से सूखते हुए घान्य पर द्रोण नामक मेघ के समान इस प्रकार के (आपत्ति) समय में मेरे काल के पाश में स्थित होने पर यह कौन आ गया है ? ॥१६॥ अरे आपने मुना ।

मैं मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ, किन्तु (इसलिये कि) मेरी कीर्ति कलङ्कित हुई है । दोष रहित (पवित्र) होकर मेरी मृत्यु होती तो नहु पुत्र के जन्म के समान होती ॥२७॥

कोर भी—

जिमके साथ बँर नहीं किया था ऐसे नीच, मन्द बुद्धि वाले स्वयं दोषयुक्त उस प्रकार ने विषयुक्त वाप के समान मुझे दूषित कर दिया है ॥२८॥

दोनों चाण्डाल—स्यावरक, क्या सत्य कहते हो ?

चेत—सच । "तुम किसी ने कहीये नहीं" इसलिये मुझे भी प्रामाद के नवीन अग्रभाग में डण्डा-बेड़ी में बाँधकर डाल दिया ।

एव विहगाः पक्षिणः । अनाद्यन्तनोततः प्रामादभागाद् इत्यर्थः—(पृष्ठी०)

कोऽप्यपत्तिः । अनाद्युत्पत्त्या दृष्टेः अभावेन ह्ये नष्टप्रये सत्ये घान्ये द्रोणमेघः सत्यवृद्धिकटः मेघविशेष, इव एषप्रिये काले आपत्तिसमये सति चारदत्ते कालपाशस्थिते शान्तपाशे स्थिते गति अर्थ कः उदितः आविर्भूतः । उपमातद्दकारः ॥२६॥

न भीत इति । अहं मरणान् मृत्योः न भीतः अस्मि केवलं याः कीर्तिः दूषितं कलङ्किता इति विभेदि । हि तथा हि विगुहस्य दोषरहितस्य पवित्रस्य वा मे मम मृत्युः मन इते पुत्रजन्ममनः पुत्रजन्ममहाराः सुखकरः भवेत् । उपमातद्दकारः ॥२७॥

तेनेति । अशुतचरेण न हृतं बँरं यस्य ताहशेन क्षुब्धेन नीचेन अल्पबुद्धिना अल्पा-मन्दा बुद्धिः यस्य तथाभूतेन स्वयं दूषितेन दोषयुक्तेन तेन प्रकारेण विषाधनेन विषयुक्तेन शरेण बाधेन इव दूषितः अस्मि । उपमातद्दकारः ॥२८॥

(प्रविषय)

शकारः—(सहस्रम्)

मयेण तिनखामिलकेण भर्त्त शक्केन सूपेण शमच्छकेण

भुक्तं मए अत्तणभयश गेहे शालिशशकूलेण गुलोदणेण ॥२६॥

(कर्म दएवा) भिष्णकंशालइलणाए चाण्डालवाआए शतशंजोए । जया अएशे उच्चसालिरे वज्जदण्डिणमसदे पट्टहानं अ भुणीअदि, तथा तसकेमि, दलिद्वचालुदत्ताके वज्जदट्टाणं णीआदि ति । ता पेविखराशम । शत्तुविणारो णाम् मम् महन्ते हलवृकराणं पलिदोरो होदि । श्रुं अ मए, जे वि किल शत्तुं चापादअन्त पेसलदि तसरा अण्णशित जम्भन्तते अविस्ततोणे ण होदि । मए वलु विरागण्डिगम्भपविट्टेण विअ ङोडएण कि पि अन्ततं मगमाणेण उप्पाडिदे ताह दलिद्वचालुदत्ताह विणारो । शंपदं अत्तणकेतिकए पासादबालागपदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलवकमं पेवत्तामि (तया कृत्वा दृष्टवा च) ही ही, एवाह दलिद्वचालुदत्ताह वज्ज णीअमाणाह एवइदे जणरामहे अ वेसं अम्हासिदो पवसे वलमणुस्से वज्ज णीअदि त वेसे केदिरो मये ? (निरोध्य) कयम् । एशे शे णवदलदके विअ मण्डिदे वसिलणं दिरां णीअदि । अय किणिमित्तं मम केतिकए पासादबालागपदोलिकाए शमोवे घोषणा निवडिदा, निवातिवा अ (विलोच्य) कयम् पावतलो वेहे वि णत्थि इय । मा णाम तेण इदो गहुअ मन्तभेदे कडे भविररादि त जाव णं अण्णेशामि ।

[मांसेन तित्ताम्लेन भयतं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।

भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडोदनेन ॥]

भिन्नकांस्यवत्खड्गखणायाश्चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगः । यया चंथ उद्गीतो वध्यदण्डिमशब्दः पट्टहानां च श्रूयते, तथा तर्कमामि, दरिद्रचारुदत्तको वध्यस्यानं नीयत इति । तत्रैलिष्ये । शत्रुविनाशो नाम मम महान्द्वयस्य परितोषो भवति । श्रुतं च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापारमानं पश्यति, तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति । मया खलु विपन्नविगर्भप्रविष्टे-नेव कीटकेन किमप्यन्तरं मृगायमाणंनोत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः । सांप्रतमात्मीयायां प्रासादबालागप्रतोलिकायामधिष्ठ्यात्मनः पराक्रमं पश्यामि । ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्यैतावाञ्छ-नसंमर्दः, यस्यां विलायामस्मादृशः प्रवरो वरमानुषो वध्यं नीयते तस्यां विलायां कीटमो भवेत् । कयम् । एष स नववलीवर्दं, इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते अथ किनिमित्तं भदीयायाः प्रासादबालागप्रतोलिकायाः समोपे-घोषणा निप-तिता, निवारिता च ? कयम्, स्यावकशवेदोऽपि नास्तीह ? मा नाम तेनेतो गर्त्वा भन्त्रभेदः कृतो भविष्यति । तद्यावदेनमन्विष्यामि (इत्यवतीर्षोत्संपाद)

(प्रवेश करके)

शकार—(हर्षपूर्वक)

मैंने अपने घर तीते-खट्टे मांस, शाक, मछली सहित (पाल या रस), गालि भात तथा गुड़ मिश्रित चावल (भात) के साथ भोजन किया है ॥२६॥

(बान देकर) टूटे हुए कर्ण के (पात्र के) समान खन्-खन् शब्द वाली चाण्डाल की वागी और यह वध्य के डोल का उच्च (उद्गीत) शब्द तथा नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि दरिद्र चाण्डाल वध्यस्थान पर ले जाया जा रहा है। तो देखूँगा। शत्रु का विनाश मेरे हृदय का महान् आनन्द (सन्तुष्टि) है। और, मैंने सुना भी है कि जो भी कोई शत्रु को मारे जाते हुए देखता है, उसको दूसरे जन्म में नेत्र रोग नहीं होता। विष-प्रणयि के भीतर प्रविष्ट हुए कीट के समान कुछ अवकाश (छिद्र) खोजते हुए मैंने उस दरिद्र चाण्डाल का विनाश उपस्थित कर दिया है। इस समय अपने प्रासाद के नवीन अग्रभाग में चढ़कर अपने पराक्रम को देखा है। (देखा करके और देखकर) यही इस चाण्डाल को वध्य स्थान की ओर ले जाते समय इतनी अधिक लोगों की भीड़ है। जिस समय हमारे जैसा मुख्य श्रेष्ठ मनुष्य वध्य स्थान को ले जाया जाये उस समय कौनी (भीड़) होगी। (देखकर) यह वह नये वस के समान आभूषित करके दक्षिण दिशा को ले जाया जा रहा है। किन्तु किस लिये मेरे प्रासाद के नवीन अग्रभाग के समीप घोषणा हुई और रोह भी गई। (देखकर) क्यों! यहाँ स्थावरक बेट भी नहीं है। ऐसा न हो कि उसने यहाँ से जाकर रहस्य को मोन दिया हो। तो जब तक खोजता हूँ। (उतर कर पास जाता है)।

मात्स्येति । मया शकारेण भात्मनः मेहे तित्त्वं च तद् अस्मिन् भेति तिक्रान्तं  
तेन मात्स्ये शाकेन समत्स्यकेन मत्स्यसहितेन मूषेन शातीयकुरेण शाल्युत्पन्नेन बन्नेन  
इति काले महोदयः, मात्स्येभक्तेन इति पृथ्वीधरः गुडोदनेन गुडमिश्रितेन ओदनेन सह  
भक्तं भोजनं कृतम् ॥२६॥

मिन्तकात्स्यकत् सप्तसवायाः खग खग इति शब्दापमानायाः स्वरसंयोगः  
स्वराणां सम्बन्धः । विषप्रणये गर्भे अन्तरे प्रविष्टेन कीटरेण इव अन्तरम् अवगातां छिद्रं  
कर्णं वा । 'हो' इति विस्मयेऽप्ययम् । जनानां समदः एकत्रीभवत्वं (भीड़) इति  
प्राधान्यात् । प्रवृत्तः मुस्यः ।



चेट — (दृष्ट्वा) मट्टासका एते आगदे । [भट्टारका एष स आगत ।]

घण्टाली—

ओशलघ देध मग्ग दाल ढवकध होध तुण्हीआ ।

अविणअतिक्खविशाणे दट्टवद्दजे इदो एदि ॥३०॥

[अपसरत दत्त मागं द्वार पिघत भवत तूष्णीवाः

अविनयतीक्षणविषाणो दुष्टवलीवदं इत एति ॥]

शकार — अते अते अन्तसे अन्तसे वेध । (उपसृत्य) पुस्तका पावत्तका चेडा एहि । मच्छम्ह । [अरे अरे, अन्तरमन्तरं दत्त । पुत्रक स्थावरक चेटक, एहि गच्छाम ।]

चेट — ही ही अणञ्ज, वशातसेणिअ मालिअ अ पलितुट्टे सि । शंषर पणइजणरूपपावय अणञ्जघासुवत्त मालइडु ववशिबेदि । [ही ही अनार्य, वसन्तसेना मारयित्वा न परितुष्टोऽसि । साप्रत प्रणयिजनकल्पपादपमायंचारदत्त मारयितुं व्यवसितोऽसि ।]

शकार — ण ।ह ,सअणकुम्भशदिसे हग्गे इदिअ वावादेमि । । न दि रत्तकुम्भसहशोऽह स्त्रिय व्युपादयामि । [

सर्वे—अहो, तुए मारिवा ण अणञ्जचारदत्तेण । [अहो त्वया मारता नापंचारदत्तेन ।]

शकार — के एत्थ मणाद । [ क एव भणति ।]

सर्वे—(चेटमुद्दिश्य) एसो साह । [नन्वप साधु ।]

शकार — (अपवाय सभमम्) अविद भादिके, अविद भादिके क्ख पावत्तके चेडे सुन्दु ण मए मांजवे । एते पणु मम अणञ्जइश शयलो (विचिन्त्य) एत्थ दाव कनइइशम् । (प्रकाशम्) अलीअ घण्टालिका (हहो, एते चेडे सुवण्णघोत्तिआए मए एहिबे पिण्टिबे मालिदे बडे अ । ता क्खिदयेसे एते ण भणादि कि शक्कम् (अपवा-रितकेन चेटस्य बटक प्रयच्छति । स्वैरकम्) पुस्तका पावत्तका चेडा, एव गेहिअ अण्णया भणाहि । [हन्त कप स्थावरकश्चेट सुष्ठु न मया सयः । एष सनु ममाकायस्य साक्षी । एव तावत्करिष्यामि । अलीकं भट्टारका । अहो, एष चेट सुवर्णचोरिकया मया गृहीतस्ताडितो मारितो वदशच । तत्कृतबेर एष यद्गणति कि सत्यम् ? पुत्रक स्थावरक चेट, एतद्गृहीत्वान्यथा भण ।]

चेट—(गृहीत्वा) पेशवद पेशवद मट्टासका । हहो, सुवण्णेण म पत्तोमेदि [पश्यत पश्यत भट्टारका । अहो सुवर्णेन मा प्रलोभयति ।]

चेट—(देखकर) मातृक, यह वह भाता है ।

दोनों साण्डाल—

हट जाओ, मार्ग दे दो, द्वार बन्द कर लो, चुप हो जाओ । अविनय रूपी तीक्ष्ण सीनों वाला दुष्ट बंल (शकार) इधर आ रहा है ॥३०॥

शकार—अरे अरे, अबकाश दो अबकाश (समीप आकर) पुत्र स्यावरक; चेट आओ चलो ।

चेट—अहो ! अनायं वसन्तसेना को मारकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ । इतने समय प्रार्थी जनों के कल्प वृक्ष आयं चारुवत्त को मरवाने के लिये उद्यत है ।

शकार—रत्न कलश के समान मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ ।

सब—हां ! तुमने मारी है । आयं चारुवत्त ने नहीं ।

शकार—ऐसा कौन कहता है ?

सब—(चेट की ओर संकेत करके) जो; यह सज्जन ।

शकार—(अलग से भयपूर्वक) खेद, स्यावरक चेट को मीने भली-भाँति क्यों नहीं बाँधा । यही मेरे अकार्य का साक्षी है । (सींचकर) तो ऐसा कहोगा । (प्रकट रूप, में) अधिकारीगण, यह झूठ है । अहो, यह चेट स्वर्ण की चोरी करने के कारण मेरे द्वारा पकड़ा गया, पीटा गया, मारा गया और बाँध लिया गया । तो बँर करके जो यह कहता है क्या यह सत्य है ? (अलग से चेट को कड़ा देता हुआ धीमे स्वर से) पुत्रक, स्यावरक, चेट, यह लेकर अन्य प्रकार से कह दे ।

चेट—(लेकर) देखिये, मातृक, देखिये । अहो ! मुझे सुवर्ण से लुभा रहा है ।

---

अपसरतेति । अपसरत दूरं गच्छन्, मार्गं दत्तं, द्वारं पिघत्त आवृतं कुरु तत्प्राणीकाः मीनयुक्ताः भवत । अविनय एव तीक्ष्णो विपात्रः शृङ्गं यस्य तादृशः दुष्टबलीवर्धः दुष्टवृषभरूपः शकार इत्यर्थः इतः अत्र एति आगच्छति । आर्या वृत्तम् ॥३०॥

अनायिजनानां प्रायिजनानां कल्पपादप कल्पवृक्षम् । ध्यवसितः उद्यतः । स्वरेण एव स्वरेणम् मन्दस्वरेण, यथा—'परचाव स्वरेण गज इति किल ध्याहृतं मरयः वाचा' (वेणीवहाट ३-६) ।

शकार—(वटकमान्दित्य) एषो रो शुवण्णके, जइरा कालणावो मए दइ । (सत्रोपम्) हहो चाण्डाला, मए ऋषु एषो शुवण्णमण्डाले णिउरो शुवण्णं चोलभन्ते मान्दिने विरिट्ठे । ता जदि ण पत्तिभाअध ता विरिट्ठ दाय पेवसध । [एतत्तत्सुवर्णकम्, यस्य कारणान्मया बद्ध । हहो चाण्डाला, मया सत्त्वेण सुवर्णभाण्डारे नियुक्तं सुवर्णं चोरयन्मारितस्ताडित । तद्यदि न प्रत्ययध्वं तदा वृष्टं तावत्प्रथत ।]

चाण्डाली—(दृष्ट्वा) शंहेण मणादि । वितत्ते चडे किं ण प्पलत्तदि ? [ओमन् भणति । वितत्तश्चेटः किं न प्रलपति ? ]

चेट—हीमादिके ईरिरो दासभावे अ सच्च कपि ण पत्तिभाअदि (सकरुणम्) अग्गचानुवत्त, एतिके मे यिहवे । [हन्त, ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यापति । आयं चारदत्त, एतावन्मे विभवः ।] (इति पादयो पठति)

चाण्डाल—(सकरुणम्)

उत्तिष्ठ भो पतितसाधुजनानुवम्पि-

न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील ।

यत्नं कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय

देव न सवदति किं न वृत्तं त्ययाच ॥३१॥

चाण्डाली—मट्टके, विट्ठिथ एव चेड णिवत्तलेहि । [मट्टक, ताडयित्वैतं चेडं निष्कासय ।]

शकार—णिवक्कम से (इति निष्क्रामयति) अने चाण्डाला, किं वित्तम्बेध । मालेध एवम् । [निष्क्राम रे । अरे अरे चाण्डाला, किं वित्तम्बध्वम् । मारय-तैनम् ।]

चाण्डाली—जदि तुयत्तशि ता शअ ण्जेय मालेहि । [यदि त्वरयसे तदा स्वयमेव मारय ।]

रोहसेन—अले, चाण्डाला, म मारेध । मुञ्चध आवुक्कम् । [अरे चाण्डाला, मा मारयत । मुञ्चत पितरम् ।]

शकार.—शपुत्तं ण्जेव एवं मालेध । [सपुत्रमेवैतं मारयत ।]

चाण्डाल—सत्यं सत्यं मूर्खस्य सभाष्यते । तद्गच्छ पुत्र, मातुः समीपम् ।

रोहसेन—किं भए मदेण कादध्वम् । [किं मया गतं कर्तव्यम् ।]

चाण्डाल—

आश्रमं वत्स गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम्

शकार—(कड़ा छीनकर) यह वह स्वर्ण है जिसके कारण मैंने इसे बाँधा था (क्रोध सहित) अरे, चाण्डालो मैंने इसे सुवर्ण-भाण्डार में नियुक्त किया था। सुवर्ण चुराते हुए इसे मारा पीटा। तो यदि (तुम दोनों) विश्वास नहीं करते तब (इसकी) पीठ को देख लो।

दोनों चाण्डाल—(देखकर) आप ठीक कहते हैं। उत्पीड़ित किया गया चेट क्या (झूठ) नहीं कहेगा ?

चेट—खेद, दासता ऐसी (बुरी) है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती। (कहना सहित) आर्य चारदत्त, इतना ही मेरा सामर्थ्य है। (चरणों में गिरता है)

चारदत्त—(कहना सहित) हे आपत्तिग्रस्त श्रेष्ठ जनो पर कृपा करने वाले, अकारण आये हुए बन्धु, धार्मिक जन, उठो। मेरी मुक्ति के लिये तुमने महान् प्रयास किया है किन्तु भाग्य अनुकूल नहीं है। तुमने आज क्या नहीं किया है ॥३१॥

दोनों चाण्डाल—स्वामी, इस चेट को पीटकर निकाल दो।

शकार—निकल रे। (निकालता है) अरे चाण्डालो, क्यों बिलम्ब करते हो ? इसको मारो।

दोनों चाण्डाल - यदि शीघ्रता करते हो तो स्वर्ण ही मार दो।

रोहसेन—अरे चाण्डालो, मुझे मार दो। गिता जी को छोड़ दो।

शकार—इसको पुत्र सहित ही मार दो।

चारदत्त—इस मूल के लिये सब कुछ सम्भव है अतः हे पुत्र, माता के समीप जाओ।

रोहसेन—मुझे जाकर क्या करना है ?

चारदत्त—वत्स, आज ही माता को लेकर आश्रम में चले जाना चाहिए।

हन्त इति खेदे विस्मये चाप्ययम् । दासभावः दासता प्रत्यापत्ति विश्वासपति ।  
विभवः सामर्थ्यम् ।

चारदत्त पादयोः पतितं स्यावरकचेटं प्रति कथयति—उत्तिष्ठेति । सो पतितम् आऽद्रुस्तं साधुजनम् अनुकम्पते इति पतिनसाधुजनानुकम्पी तद् तन्बुद्धौ, निष्कारणम् उपगतः निष्कारणोपगतः, सः चासौ बाध्यवच तत्सम्बुद्धौ, धर्मशील, उत्तिष्ठ स्वया स्यावरकेण मम चारदत्तस्य भोजनाय सुवर्ण्यं सुमहान् यत्नः कृतः अपि इवं न संबदति भाग्यं अनुकूलं नास्ति । स्वया अथ किं न कृतम्—यथाशक्ति सर्वमेवं कृतमिति भावः । परिकरानुष्ठारः । । वसन्तविलका वृत्तम् ॥३१॥

संबदति अनुकूलं भवति ।

आश्रममिति-वत्स अथ एव मात्र गृहीत्वा आश्रमं तयोवर्गं गन्तव्यम् । पुत्र मा

मा पुत्र पितृदोषेण त्वमन्येव गमिष्यसि ॥३२॥

तद्वयस्य, गृहोत्खेन वज्र ।

विद्वयक—भो वयस्य, एव तुए जाणिदम्, तुए विणा अह पाणाई धारेमि त्ति ? [भो वयस्य, एव त्वया ज्ञातम्, त्वया विनाह प्राणान्धारया-मीति ?]

चारुदत्ता—वयस्य स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तत्र प्राणपरित्याग ।

विद्वयक—(स्वगतम्) जुष्टं जेदम् । तथा पि न सक्कुणोमि विअवअत्स-विरहिबो पाणाइ धारेकुं त्ति । ता वरुहणोए दारअ समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्ताणो विअवअत्स अशुगमिस्सम् । (प्रकाशम्) भो वयस्य, पराणेमि एद लट्टम् । [युवतं नेदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितं प्राणान्घर्तुमिति । तद्ब्राह्मण्यं दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो वयस्य, परानयाम्येत लघु ।] (इति सक्कुणग्रह पादयो पतति)

(दारकोऽपि रुदन्पतति)

शकार—अले, ण भणामि रापुत्ताक चालुदत्ताक दायादेध त्ति । [अरे ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्त व्यापादयतेति ।]

(चारुदत्तो भय नाटयति)

चाण्डाली—णहि अम्हाण ईदिशो साआण्णत्तो, जथा रापुत्त चालुदत्तं दायादेध त्ति । ता निक्कम ले शतमा, निक्कम । (इति निष्कामयत) इम तद्वज्र घोरा-णट्ठाणम् । तादेध डिण्डिमम् । [न ह्यस्माकमीदृशी राजाज्जन्ति. यया सपुत्र चारुदत्त व्यापादयतेति । तन्निष्काम रे दारक, निष्काम । इदं तृतीय घोपणा-स्थानम् । ताडयत डिण्डिमम् ।] (पुनर्घोषयत)

शकार—(स्वगतम्) क्व एषो ण पत्तिआअन्ति पीला । (प्रकाशम्) हहो चालुदत्ता बटुका, ण पत्तिआअदि एषो पीलजणे । ता अराणकेलिकाए जीहाए भणाहि मए वसन्तरोणा मालिदेत्ति । [कथमते न प्रत्ययन्ते पीरा । अरे चारुदत्त बटुक, न प्रत्ययत एण पीरजन । तदात्मीयया जिह्वया भण मया वसन्तरोणा मारितेति ।]

(चारुदत्तस्तूष्णीनास्ते)

शकार—अले चाण्डालसोहे, ण भणादि चालुदत्ताबटुके ता भणवेध इमिणा मज्जतवशात्तडेण शङ्खसेण तातिअ तातिअ । [अरे चाण्डालमनुष्यं न भणति चारुदत्तवटुके । तद्वधणयतानेन जर्जरवशात्तडेण शङ्खसेन ताडयित्वा ताडयित्वा ।]

चाण्डाल—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्ता भणाहि । [भोश्चारुदत्त, भणा ।

चारुदत्ता—(सकरणम्)

ह पुत्र, नहीं तो पिता के (मेरे) अपराध से तुम भी इसी प्रकार चले जाओगे ॥३२॥

अतः मित्र, इमको लेकर जाओ ।

विदूषक—हे मित्र, तुमने यह समझ लिया है कि मैं तुम्हारे बिना प्राण धारण करूँगा ?

चारुदत्त—मित्र, तुम्हारा जीवन स्वाधीन है अतः तुम्हें प्राण-न्याय करना उचित नहीं ।

विदूषक—(अपने आप) निश्चय ही यह ठीक नहीं है । तथापि प्रिय मित्र से विमुक्त होकर मैं प्राण धारण करने में समर्थ नहीं । अतः ब्राह्मणी को यह बालक सौंपकर प्राण-न्याय कर अपने प्रिय मित्र का अनुसरण करूँगा । (प्रकट रूप से) हे मित्र, मैं इसे शीघ्र ही लौटा ले जाता हूँ ।

(गले निलकर पंरो पर गिर जाता है)

(बालक भी रोता हुआ गिर जाता है)

शकार—अरे कहता तो हूँ कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो !

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है)

दोनों चाण्डाल—हमें ऐसी राजाना नहीं है कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो । अतः निकल जा हे बालक, निकल जा (दोनों निकालते हैं) यह तीसरा धोपणा स्पत है । डोल पीटो । (फिर धोपणा करते हैं)

शकार—(अपने आप) क्यों ! ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । (प्रकट रूप से) अरे, चारुदत्त बटुक, ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । अतः अपनी जिह्वा से कहो कि 'मैंने वसन्तसेना मार दी है ।'

(चारुदत्त चुप रहता है)

शकार—अरे गोह नामक चाण्डाल, चारुदत्त बटुक तो नहीं कहता है । अतः जीर्ण बांस के टुकड़े के इस वादन दण्ड (शङ्खलेन) से पीट-पीटकर इससे कहलाओ ।

चाण्डाल—(प्रहार के लिए उद्यत होकर) हे चारुदत्त कहो ।

चारुदत्त—(करुणा सहित)

एतद् न स्यात् यत् पितृबोधेण पितुः (मम) अपराधेन स्वम् अपि रोहसेनः अपि एवम्  
महम् इव गमिष्यासि मृत्युं यास्यसि ॥३२॥

स्वाधीन स्ववर्यं जीवितं यस्य तथाभूतस्य प्राणन्यायः न मुच्यते, आत्महत्या  
हि नोचितेति भावः । परान्यामि निवर्तयामि । तद्यु शीघ्रम् ।

प्राप्यैतदव्यसनमहार्णवप्रपातं

न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विपादः ।

एको मा दहति जनापवादवह्नि-

वक्तव्य यदिह मया हता प्रियेति ॥३१॥

(शकार पुनस्तथैव)

शास्त्रदत्त — भो भो शौरा । ('मया खलु नृसत्तेन' (६।३०, ३८) इत्यादि पुन पठति)

शकार — वावादिदा । [व्यापादिता ।]

शास्त्रदत्त — एवमस्तु ।

प्रथमवाण्डाल — अले, तव अत्त वज्रपालिआ । [अरे, तवान्न वध्यपालिका ।]

द्वितीयवाण्डाल — अले, तव । [अरे तव ।]

प्रथम — अले, लेखअ कलेम्ह । (इति बहुविध लेखक वृत्त्वा) अले, जदि ममकेलिका वज्रपालिआ, ता चिट्ठु दाव मुहुत्तअम् । [अरे लेख कुर्मः । अरे, यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावमुहूर्तवम् ।]

द्वितीय — किनिमित्तम् । [किनिमित्तम् ।]

प्रथम — अले, मणिदो म्हि पिदुणा राग वच्छन्तेण, जघा—पुत्त वीरअ, जइ खुह वज्रपालिआ होदि, मा गहशा घायादअशि घच्चाम् । [अरे, भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता, यथा—पुत्र वीरक, यदि तव वध्यपालिका भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम् ।]

द्वितीय — अले, किनिमित्तम् । [अरे, किनिमित्तम् ।]

प्रथम — कदाधि कोवि शाहू अत्थ वइअ यज्ज मोआवेदि । कदावि सण्णो पुत्ते मोरि, तेण वद्धायेण शब्बवज्जसाण मोक्खे होदि । कदावि हत्थो वन्ध सण्डेदि, तेण संभमेण यज्जे मुक्खे होदि । कदावि साअपलिवत्ते होदि, तेण शब्बवज्जसाण मोक्खे होदि । [कदापि कोऽपि साधुरथं दत्त्वा वध्य मोचयति । कदापि राज पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्याना मोक्षो भवति । कदापि हस्ती बन्ध सण्डयति, तेन सभ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति । कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति ।]

शकार — किं कि साअपलिवत्ते होदि । [किं कि राजपरिवर्तो भवति ।]

वाण्डाल — अले, यज्जपालिआए लेखअ कलेम्ह । [अरे, वध्यपालिकाया लेख कुर्म ।]

इस विपत्ति के महासमुद्र में गिरकर मेरे मन में भय नहीं और न विषाद ही है । केवल इस लोकापवाद की अग्नि ही मुझे जलाती है जो यहाँ मुझे कहना है कि "मैंने वसन्तसेना को मारा है" ॥३३॥

(शकार फिर वैसे ही कहता है)

चारदत्त—हे नगरवासियो, (मया खलु नृशसेन ६. ३०. ३८ इत्यादि फिर वृता है ।)

शकार—मार दां ।

चारदत्त—ऐसा ही हो ।

प्रथम चाण्डाल—अरे तेरी वध करने की बारी है ।

द्वितीय चाण्डाल—अरे तेरी ।

प्रथम—अरे गपना करते हैं (बहुत प्रकार की गपना करके) अरे यदि मेरी वध करने की बारी है तो थोड़ी देर ठहरो ।

द्वितीय—किम् लिए ?

प्रथम—अरे स्वर्गं जाते हुए मेरे पिता ने मुझ से कहा था कि हे योरपुत्र, यदि तेरी वध की बारी हो तो वध्य को सहमा न मारना ।

द्वितीय—अरे, किस लिए ?

प्रथम—कभी कोई सज्जन धन देकर वध्य को छुड़ा लेता है । कभी राजा के पुत्र होता है, उस (कुल) वृद्धि के महोत्सव के कारण सब वध्यजनों को मुक्त कर दिया जाता है, कभी हाथी बन्धन को तोड़ देता है उस ध्वराहट से वध्यजन मुक्त हो जाता है । कभी राज-परिवर्तन ही जाता है, उसमें सब वध्यजनों की मुक्ति हो जाती है ।

शकार—कदा-कया ? राज्य बदलता है ?

— चाण्डाल—अजी, वध करने की बापों की गपना (हिसाब) कर रहे हैं ।

शङ्खलेन पट्टवादनदण्डेन । प्रहारं प्रहारापमं उद्यम्य उद्यतो भ्रूत्वा । चाण्डालेन शोषितः चारदत्तः कथयति—प्राप्येति । एतद् व्यसनम् आपत्तिः एव महाभयः महा-धमुद्रः सन् प्रयातं पटनं प्राप्य मे नम चारदत्तस्य मनसः न श्रातः भयं न च विषादः अस्ति । एकः केवलं मया चारदत्तेन लोभाद् प्रिया वसन्तसेना हतेति यन् इह अत्र बहूप्यम् इति जनापवादः लोकापवादः एव बलिः अग्निः मां दहति सन्तापयति । रूपकालङ्कारः । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥३३॥

वध्यपालिका वधपर्यायः (पृथ्वी०) । लेखं गणनाम् । वीर एव वीरकः उत्सम्बुडा । वीरक इति चाण्डालनाम—इति पृथ्वीश्वरः ।

वृद्धेः कुनवृद्धेः अभ्युदयस्य वा महोत्सवः तेन निमित्तेन । बन्धं लक्षयति बन्धम् शान्तिद्वयं प्रगर्तति (पृथ्वी०) ।



राकार—अले, शिग्धं मातेष चातुदत्ताकम् । [अरे, शीघ्रं मारयत चारुदत्तम् ।] (इत्युक्त्वा घेटं दृहीत्वंकान्ते रिपय )

चाण्डालः—अज्जघातुदत्त, साअणिओओ खु अयलज्जमदि, ण खु अम्हे चाण्डाला । ता शुमतेहि ज शुमतिदय्य । [आर्यचारुदत्त, राजनियोगः खल्वपरा-  
ध्यति, न खलु वयं चाण्डाला , तत्स्मर यत् स्मर्तव्यम् ।]

चारुदत्त —

प्रभवति यदि घर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य

प्रवलपुरुषवाक्यं भग्न्यदोषात्कथञ्चित् ।

मुरपतिभवनस्या यत्र तत्र त्यिता वा

व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥३४॥

मोः, वक्ष तावन्मया गन्तव्यम् ।

चाण्डालः—(अपतो दर्शयित्वा) अले एदं दीग्गदि दखिणमंशाणम्, अं पेखिअ  
दग्गता इत्ति पाणाइ मुञ्चन्ति । पेखल पेखल ।

अद्धं कलेवल पडिवृत्तं कट्टन्ति दीहगोमाआ ।

अद्ध पि शूललग्गं वेश विअ अट्टहाशरश ॥३५॥

[अरे एतद्दृश्यते दक्षिणश्मशानं यत्रेश्य वध्या इदिति प्राणान्मुञ्चन्ति ।

पश्य पश्य ।

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीधंगोमायवः ।

अर्धमपि शूललग्गं वेश इवाट्टहासस्य ॥

चारुदत्तः—हा, हतोऽस्मि मन्वभाय. (इति सावेगमुपविशति)

राकारः—ण वाक्क गमिरराम् । चातुदत्ताकं दावादअन्तं दाक्क पेखलामि ।

(परिक्रम्य दृष्ट्वा) कथं उवदिस्ते । [न तावद्गमिष्यामि । चारुदत्तकं व्यापाद्यमातं  
तावत्पश्यामि । कथमुपविष्टः ।]

चाण्डालः—चारुदत्ता किं भीदेशि । [चारुदत्त, किं भीतोऽसि ।

चारुदत्तः—(सहस्रोत्थाय) मूलं । (‘न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यतः’

०१२७ इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः—अज्जघातुदत्त, गअणइले पडिवरान्ता चण्वागुज्जा यि विपत्तिं  
सहन्ति । किं उण जणा मलणभोलुआ माण्वा वा । मोए कोवि उदिठरो पडिदि, कोवि  
पडिबोवि उट्टेवि ।

उद्वृन्तपदन्ताह वशणपाडिआ शवश उण अत्थि ।

एवाइ हिअए कदुअ सघात्तेहि अत्ताणअम् ॥३६॥

शकार—अरे चारदत्त को शीघ्र मार दो ।

(यह कहकर चेट को लेकर एकान्त में उठर जाता है)

चाण्डाल—आर्य चारदत्त, राजा अपराधी है हम दोनों चाण्डाल नहीं । तो स्मरण कर लो जिसे स्मरण करना हो ।

चारदत्त—आज शक्तिशाली पुरुष (न्यायाधीश या शकार) के वचनों से अपने भाग्य-दोष के कारण कलङ्कित हुए मेरा धर्म यदि कुछ भी प्रभाव रखता है तो इन्द्र के भवन (स्वर्ग) में स्थित अथवा जहाँ कहीं (जीवित हो) विद्यमान वह वसन्तसेना ही अपने स्वभाव से मेरे कलङ्क को दूर करे ॥३४॥

अरे, अब मुझे कहाँ जाना है ?

चाण्डाल—(बागे दिखलाकर) अरे यह दक्षिण भ्रमणान दिखलाई दे रहा है त्रिमे देखकर वधुय तुरन्त प्राणों को छोड़ देते हैं । देखो देखो ।

उन्नत शरीर वाले शृगाल शूल से लटकते हुए (प्रतिवृत्त) आधे शरीर को खींच रहे हैं । शूल पर स्थित (शेष) आधा भाग भी (काल के) विकट हास का रूप-भा प्रतीत होता है ॥३५॥

चारदत्त—हाय, मन्दभाग्य वाला मैं भर गया । (आवेग के साथ बैठ जाता है) ।

शकार—अभी गद्दी जाऊँगा । जब तक चारदत्त को मारे जाते हुए देखता हूँ । (गुमकर देखकर) क्या वह बैठ गया ?

चाण्डाल—चारदत्त, क्या डर गये हो ?

चारदत्त—(सहसा उठकर) मूर्ख (न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यगः ॥१२७ इत्यादि फिर पढ़ता है)

चाण्डाल—आर्य चारदत्त, गगन तल में दास करने वाले चन्द्रमा और सूर्य भी विपत्ति को प्राप्त होते हैं, फिर मनुष्य अथवा (कहिय) मृत्यु से डरने वाले मानव

या वसन्तसेनेन भाग्याददूषितस्य मे कलङ्कं दूरीकरोतु इत्याह चारदत्तः—  
 प्रभवतीति । अत्र प्रबलपुरुषस्य न्यायाधीशस्य शकारस्य वा वाक्यैः वचनैः भाग्यदोषात्  
 दूषितस्य अपि मे मम चारदत्तस्य धर्मः पुण्यं यदि कथञ्चित् प्रभवति समर्थास्ति तदा  
 पुरस्तेः भवनस्य क्वचिद्व्यतिथिस्तत्र स्थिता वर जीवन्ती एव यत्र स्ववित्तं वर्तमाना  
 वा सा वसन्तसेनेन स्वस्वभावैरेव आत्मनः स्वरूपेण चरित्रेण वा मम कलङ्कं व्यपनयतु  
 दूरीकरोतु । मालिनी वृत्तम् ॥३४॥

अर्धमिति । दीर्घाः उन्नताः विशालाः वा गोमायवः शृगालाः प्रतिवृत्तं-शूलाद्  
 लम्बितम् । अर्धं क्लेशर शरीरं कर्वाणति । शूले लग्नं स्थितम् अर्धम् अपि अट्टहासस्य  
 कल्पस्य विकटहासस्य वेशः इव स्वरूपमिव विद्यते इति शेषः । आर्या वृत्तम् ॥३५॥

सावेगम् आवेगेन सहितम् ।

उत्तिष्ठ इति । उत्तिष्ठन् चागो पतन् चेति तस्य अथवा पूर्वम् उतिष्ठतः  
 पश्चात् पततः च शकस्य मृतशरीरस्य पुनः वसनस्य वस्त्रस्य इव पातिका

(द्वितीयवाण्डाल प्रति) एवं स्रज्जठं घोषणद्वानम् । ता उग्रोशाह [आर्यं चारुदत्त गगनतले प्रतिवसन्तो चन्द्रमूर्यावपि विपत्ति लभते । किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा । लोके कोऽप्युत्थित पतति, कोऽपि पतितोऽभ्युत्तिष्ठने ।

उत्तिष्ठत्यततो दसनपातिका शवस्य पुनरस्ति ।

एतानि हृदये कृत्वा संधारयात्मानम् ॥

एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम् । तदुद्धोपयाव ।]

(पुनस्तथं योद्धोपयत

'चारुदत्त — हा प्रिये वसन्तसेने । (शशिविमलमयूख' १० १३ इत्यादि पुन पठति) (तत. प्रविशति ससभ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

मिश्र—ह्रीमाणहे, अद्वानपतिशश-तं शमइशाशिम वसन्तशोनिभ नभन्ते अणुगहिवह्नि पव्वज्जाए । उवाशिके, कहिं तुम णइशम् । [आश्चर्यम् । अस्थान-परिश्रान्ता समाश्वास्य वसन्तसेनिका नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रजयथा । उपासिके कुत्र त्वा नेष्यामि ।

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स ज्जेय गेहम् । तस्स दत्तणेष्मि मिअत्ताञ्छणस्स विभ्र कुमुदिण आणवेहि मम् । [आर्यं चारुदत्तस्यैव गेहम् । तस्य दर्शनेन भृगु-लाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम् ।]

मिश्र—(स्वगतम्) कदलेण मग्गेण पविशामि ! (विचिन्त्य) साअमग्गेण ज्जेव पविशामि । उवाशिके, एहि । इम लाअमग्गम् (आकर्ण्य) किं णु वञ्चु एशे साअमग्गे महन्ते कलअले शुणीअदि ? [कतरेण मार्गेण प्रविशामि । राजमार्गेणैव प्रविशामि । उपासिके, एहि । अय राजमार्गः । किं णु खल्वेष राजमार्गे महान्कतकल श्रूयते ?]

वसन्तसेना—(अप्रतो निरूप्य) कध पुरयो महाअणसमूहो ? अज्ज जाणाहि दाव किं णेर स्ति । विसमभरवन्ता विअ वसुन्धरा एअवासोण्णदा उज्जइणी षट्ठरि । [कथं पुरतो महाञ्जनसमूह ? आर्य, जानीहि तार्किकनिवर्तमिति । विषमभर-क्रान्तेव वसुन्धरा एकावासोन्नतोऽज्जयिनी वर्तते ।

वाण्डाल — इम अ पविद्धम घोषणद्वानम् ता तालेय विण्ढिमम् । उग्घो-रोष घोषणम् । (तथा वृत्वा) भो चारुदत्त, पडिवालेहि । मा भाभाहि । लडुं ज्जेव मालीअसि । [इदं च परिचम घोषणास्थानम् । तत्ताटयत द्विण्डिमम् । उद्-घोषयत घोषणाम् । भोश्चारुदत्त, प्रतिपालय । मा भै । शीघ्रमेव मार्यसे ।]

चारुदत्त — मगवत्यो देवता ।

मिश्र—(धृत्वा ससभ्रमम्) उवाशिके, तुम किल चारुदत्तेण भासिदासि स्ति चारुदत्तो भासितुं शोअदि । [उपासिके, त्वं किल चारुदत्तेन मारितास्योति चारुदत्तो मारयितुं नीयते ।]

(मल्ल) तो क्या ? लोह में कोई उठकर गिरता है, कोई गिरकर भी उठता है ।

उठकर गिरते हुए मृत शरीर को भी वस्त्र के समान ही पतन क्रिया होती है । यह हृदय में विचार कर अपने आपको स्थिर करो ॥३३॥

(फिर वैसे ही घोषणा करते हैं)

चाण्डल—हाय प्रिये, वसन्तसेना, (शशिविमलमयूख १०।१३ इत्यादि फिर पढ़ता है)।

(तब घबराहट के साथ वसन्तसेना प्रवेश करती है और भिक्षु भी)

भिक्षु—आश्चर्य है ! अनुचित स्थान में परिभ्रान्त (मूर्च्छित) हुई वसन्तसेना को आश्वस्त (स्वस्थ) करके ले जाता हुआ मैं सन्वास द्वारा अनुगृहीत (कृतकृत्य) हुआ हूँ । उपासिके तुम्हें कहाँ ले चलूँ ?

वसन्तसेना—आर्य चाण्डल के ही घर । उनके दर्शन से, चन्द्रमा के दर्शन-से कुमुदिनी के समान, मुझको आनन्दित करो ।

भिक्षु—(अपने आप) किस मार्ग से प्रवेश करूँ ? (सोचकर) राजमार्ग से ही प्रवेश करूँ । उपासिके, माओ यह राजमार्ग है । (मुनकर) क्या ! राजमार्ग पर बड़ा कीलाहल मुनाई दे रहा है ?

वसन्तसेना—(आगे देखकर) क्यों सामने बड़ा जन-समुदाय है । आर्य पता तो लगाओ कि यह क्या है ? विषमभार से आक्रान्त पृथ्वी के समान उज्यमिनी नगरी एक स्थान पर उमड़ी जा रही है ।

चाण्डल—और यह पाँचवाँ घोषणा स्थल है, अजः डोल पीटो, घोषणा घोषित करो । (बैसा करके) हे चाण्डल, प्रतीक्षा करो । (उदत हो जाओ) करो मत्त । पीछ ही मारे जा रहे हो ।

चाण्डल—भगवती देवताओं !

भिक्षु—(मुनकर घबराहट में) उपासिके, तुम्हें चाण्डल ने मार दिया, इस विषे चाण्डल को मारने के लिये ले जाना जा रहा है ।

पुनश्चिवा अस्ति यथा जाणवस्त्रं व्यज्यते तथैव शरीरमपि इति भावः, एतानि सुखे इत्या आत्मानं संघात्रय स्थिरं कुरु ॥३६॥

प्रवृत्तया प्रवृत्त्ये इति प्रवृत्त्या तया, संन्यासेन अनुगृहीतः अस्मि कृतापः इति अस्मि । मृतस्य साञ्छनं विद्धं यस्मिन् सः तस्य चन्द्रस्य । एरुगते एकस्थाने उल्लासः । प्रतिपापय प्रतीक्षां कुरु प्रहारं सोऽमुष्यतो भवेति भावः ।

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) हृद्धी हृद्धी, ऋध मम मन्दभाङ्गीए किदे अञ्ज-  
घालुदत्तो वापादीअदि ? भो तुरिद तुरिद आदेसेहि मग्गम् । [हा धिक हा धिक्, कयं  
मम मन्दभागिन्याः कृत आयचारदत्तो व्यापायते । भो त्वग्नि त्वरित्तमादिश  
भागम् ।]

मिशुः—तुषलतु तुषलतु बुद्धोपासिका अञ्जघालुदत्त ओअन्त रामराम-  
शिशुम् । अञ्जा, अन्तल अन्तल देध । , त्वरता त्वरता बुद्धोपासिकायेचारदत्तं  
जीवन्त समाश्वासयितुम् । आर्या. अन्तरमन्तर दत्त ।]

वसन्तसेना—अन्तर अन्तरम् । [अन्तरमन्तरम्]

चाण्डाल —अञ्ज घालुदत्त, रामिणिभोभो अवत्तज्जदि । ता सुमत्तेहि जं  
सुमत्तिदग्गम् । [आयंचारुदत्त, स्वामिनियोगोऽपराधयति । तत्स्मर यत्स्मरतं व्यम् ।]

धारदत्त —विबहुना । (प्रभवति—' १०। ४ इत्यादि श्लोक पठति) ।

चाण्डाल —(सङ्गमाहृष्य) अञ्जघालुदत्त, उत्ताणे षडिअ समं षिट्टु ।  
एवकप्पहालेण मालिअ तुम अग्ग पेन्ह । [आयंचारुदत्त, उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ ।  
एकप्रहारेण मारयित्वा त्या स्वर्गं नयामः ।]

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

चाण्डाल.—(एतद्गुंभीहते सङ्गपत्तन हस्ताश्चिनयन्) ही, ऋधम् ।

आञ्जट्टिदे शलोअ मृट्ठीए मुट्ठिणा गहीदे वि ।

घलणीए कीश पडिदे दालुपके अशणिसाणिहे खग्गे ॥३७॥

जथा एवं संयुक्तम्, तथा तरसेमि ण विवञ्जदि भग्जघालुदत्तो ति । नअपदि शन्त-  
वारिणि परोद परोद । अवि णाम चालुदत्तरा मोरसे भवे, तदो अणगहीरं तुण  
चाण्डालज्ज भवे । [ही ! कथम् ।

आकूट्टः शरोप मुट्ठिना गृहीतोऽपि ।

धारण्या किमर्थं पतितो दारुणकोऽशानिसनिभः सङ्गः ॥

ययैतत्संवृतम्, तथा तर्क्यामि न विपद्यत भार्यचारुदत्त इति । भगवति सहस्रवा-  
सिनि, प्रसोद प्रसोद । अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया  
चाण्डालकुलं भवेत् ।]

अपर—अटाणत्तं अणचिट्ठम्ह । 'यथाज्ञप्तमनुत्तिष्ठावः ।]

प्रथम—भोतु । एव्व इत्तेम्ह । [भवतु । एवं कुवं ]

(इत्युभौ चारुदत्त मूले समारोपयितुमिच्छत)

(चारुदत्तः 'प्रभवति' १०।३४ इत्यादि पुन पठति)

मिशुबंधततोना ष—((हृत्वा) अञ्जा, मा दाव मा दाव । अञ्जा एसा अहं  
मन्दभाङ्गी, आप कारणावो एतो वापादीअदि । [आर्या. मा तावन्मा तावत् ।  
आर्या., एपाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेव व्यापायते ।]

वसन्तसेना—(घबराहट के साथ) हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार ! मुझ मन्दभागिनी के लिये चारदत्त को क्यों मार जा रहा है ? भरे, शीघ्रातिशीघ्र मार्ग बतलाओ ।

मिथु—जीवित रहते आर्य चारदत्त को आश्वासन देने के लिये बुद्ध की उपासिका शीघ्रता करें, शीघ्रता करें । आर्यजनो, स्यात् (दो), स्यात् (दो) ।

वसन्तसेना—मार्ग (दो) मार्ग (दो) ।

चाण्डाल—आर्य चारदत्त (इसमें) स्वामी का आदेश ही अपराधी है । अतः जो कुछ स्मरण करना हो, स्मरण कर लो ।

चाण्डाल—अधिक क्या ('प्रभवति' १० । ३४ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

चारदत्त—(तलवार खींचकर) आर्य चारदत्त, ऊपर की होकर सीधे खड़े हो, एक प्रहार से मारकर तुम को स्वर्ग में पहुँचाते हैं ।

(चारदत्त वैसे ही खड़ा होता है)

चाण्डाल—(प्रहार करना चाहता है । हाथ से तलवार गिरने का अभिनय करता हुआ) ओह ! यह कैसे ?

रोपपूर्वक (भ्यान से) खींची गई, मूठ पर मुट्ठी से पकड़ी गई वज्र के समान मयंकर यह तलवार क्यों गिर गई ? ॥३७॥

क्योंकि ऐसा हुआ है उससे मैं अनुमान करता हूँ कि आर्य चारदत्त नहीं मारा जाता । सहा (पर्वत) पर वास करने वाली देवी (दुर्गा), प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ । यदि चारदत्त की मुक्ति हो जाये तो तुम्हारे द्वारा यह चाण्डाल कुल अनगणित हो जाये ।

ब्रूतरा—हम दोनों (राजा की) आज्ञा के अनुसार कार्य करें ।

प्रथम—अच्छा, ऐसा ही करें ।

(दोनों चारदत्त को शूली पर चढाना चाहते हैं)

मिशु और वसन्तसेना—(देखकर) आर्यजनो, ऐसा न कीजिए, न कीजिए । आर्यगण यह मैं मन्दभागिनी हूँ जिसके कारण ये मारे जा रहे हैं ।

आकृष्ट इति । सरोयं रोपपूर्वकम् आकृष्टः कोशात् निष्कासित, मुष्टी सङ्घस्य मुष्टी (सरो) मुष्टिना स्वहस्तमुष्टिना (गृहीत) अपि अस्मिन्निभः वक्षसद्वज्रः पारस्य कः भयङ्करः सङ्घः किमप्यं किन्निमित्तं धरण्यां भ्रूमौ पतितः ? उद्गीतिः । वृत्तम् (गृम्बी०) ॥३७॥

सहो एतन्नामके पर्वते वसतीति सह्यवासिनी, तत्रत्या दुग्दिवी, तस्य चाण्डालस्य वृत्तदेवता, तस्याः सम्बोधनम् ।

घाण्डाल—(दृष्ट्वा)

का उण तृतिद एसा अघापइन्तेण चिउलभालेण ।

मा मत्ति वाहलन्ती उट्ठिदहत्वा इदो एदि ॥३८॥

[का पुनस्तवरितमेवासपतता चिकुरभारेण ।

मा मेति व्याहरन्मुत्पितहस्तेत एति ॥]

वसन्तसेना—अञ्जचासुवत्त किं गेदम् । [आर्यचारदत्त, किं न्विदम् ।]

(इत्युरसि पतति)

मिञ्जु —अञ्जचासुवत्त किं गेदम् । [ आर्यचारदत्त, किं न्विदम् । ]

(इति पादयो पतति)

घाण्डाल—(सभयमुपसृत्य) कथम वसन्तसेना । ननु खल्वस्माभि साधुर्न व्यापादित ।]

मिञ्जु (उत्पाय) अले जीवदि चासुवत्त । [अर जीवति चारदत्त ।]

घाण्डाल—जीवदि वसन्तसेनाम् । [जीवति वर्षशतम् ।]

वसन्तसेना—(सहपम्) पच्चुञ्जओविदम्हि । [प्रत्युज्जीवितास्मि ।]

घाण्डाल—ता जाय एव वुत्त राइण्णो अणवाइगदशा णिवेदेम्ह

[तद्यावदेतदवृत्त' राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयाव ।]

(इति निष्क्रामत)

राजार—(वसन्तसेना दृष्ट्वा राजासम्) हीमादिके केण गभदासी जीवादिवा ? ज्वरन्ताइ मे पाणाइ । मोदु पलाइराम् । [आश्चर्यम् । केन गभदासी जीवनं प्रापिता । उत्क्रान्ता मे प्राणा । भवतु पलायिष्ये] (इति पलायते)

घाण्डाल—(उपसृत्य) अले ण अण्हाण ईदिरो लाअणसी केण सा वावादिवा, त मातेथ सि । 'ता सट्ठिअघासअ उजेथ अण्णेणम्ह । [अरे, नन्वस्मा कमीदृशी राजाजप्ति—येन सा व्यापादिता, त मारयतेति । तद्राष्ट्रियस्याल-मेवान्विष्याव ।]

(इति निष्क्रान्तौ)

सावदत्ता—(सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।

अनावृष्टिहते सस्ये द्रौणवृष्टिरिवागता ॥३९॥

(अवसोवय च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिव किमित्यम् ।

का पुनरिति । अस्यो स्वयं पतता चिकुरभारेण केशवनापेन उपलब्धिवं जरीपतहस्ता इतिवत् हस्त, मस्या सा 'मा मा इति व्याहरन्ती कथयती एषा का

घाण्डाल—(दिखकर) कंधों पर बिखरे हुए कैराकलाप से मुक्त हाथ उठाये हुए "नहीं, नहीं" यह कहती हुई यह कौन मीमता से इधर भा रही है ॥३॥

वसन्तसेना—आयं चारदत्त, यह क्या ? (वृक्ष-स्थल पर गिर जाती है)

मिन्नु—आयं चारदत्त यह क्या ? (चरणों पर गिरता है)

घाण्डाल—(भयपूर्वक पास जाकर) क्या ? वसन्तसेना ! ठीक है, हमने सत्पुरुष को नहीं मारा ।

मिन्नु—(उठकर) अरे, चारदत्त जीवित है ।

घाण्डाल—सौ ह्रयं तक जीवित रहे ।

वसन्तसेना—(ह्रयं के साथ) मैं पुनः जीवित हो गई हूँ ।

घाण्डाल—जब तक यह समाचार यज्ञशाला में स्थित राजा से निवेदन करते हैं ।

(दोनों जाते हैं)

राजार—(वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य, किसने इस जग्मदासी को जीवन प्राप्त करा दिया ? मेरे प्राण निकल रहे हैं ! अच्छा, भाग जाऊँ ।

(भाग जाता है)

घाण्डाल—(समीप जाकर) अरे, हमें ऐसी राजा की आज्ञा है कि जिसने वसन्तसेना को मारा है, उसको मार दो । अतः राजा के भाले को ही खोजते हैं ।

(चले जाते हैं)

चारदत्त—(आश्चर्य से)

(मेरे वक्ष के लिये) शस्त्र उठ जाने पर तथा मेरे मृत्यु के मुख में चले जाने पर यह कौन (नारी), अनावृष्टि से नष्टप्राय खेतों पर द्रौण (नामक मेघ) की वर्षा के समान, आ गई है ॥३६॥

(उर देखकर)

क्या यह दूनरी वसन्तसेना है ? क्या वही स्वर्गलोक से इस प्रकार (दिह धारण करते) आ गई ?

स्वारातम् इतः एति आगच्छति ? माया दृष्टम् ॥३॥

उरति वसन्तसेना, चारदत्तः इति पाठान्तरम् प्रायुर्जीवितान् स्मि चारदत्तस्य जीवनेनाहं पुनर्जीवितास्मि । यज्ञशालास्य यज्ञशालायां स्थितस्य ।

केयमिति । शस्त्रे खड्गरूपे अम्पृष्टते मम वधार्थम् उरगदौ मयि चारदत्ते च मृत्योः वक्षप्रगते मुक्षगते सति अनावृष्ट्या दृष्टेः अभावेन हते नष्टप्राये सत्ये द्रौणस्य मेघविक्षेपस्य वृष्टिः वर्षणमेव इयं वा आगतः । उरमालङ्कारः ॥३६॥

वसन्तसेनेति— । किम् इयं पुरो दरयमाना द्वितीया वसन्तसेना ? किम् सा एव त्रिषु स्वर्गलोकाद् इत्यं एवं रूपेण समागता ?



भ्रान्तं मनः पश्यति वा मर्मेनां वसन्तसेना न मृताय सैव ॥३०॥

अथवा

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।

तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्वेयमागता ॥४॥

वसन्तसेना—(सास्रमुत्पाय पादयोनिपरय) अञ्जघातुवत्, सा ज्जेष अहं पावा, जाए कारणासो इअं तुए अतरिस्सो अवरया पाविशा । [आर्यचारुदत्त, सैवाहं पावा, यस्याः कारणादियं त्वायाऽसदृश्यवस्था प्राप्ता ।]

( नेपथ्ये )

अश्चरिअं अश्चरिअम् । ओवदि वसन्तसेना । आश्चर्यंमाश्चर्यम् । जीवति वसन्तसेना ।] (इति सर्वे पठन्ति)

वादस्त—(आश्रयं सहस्रोत्पाय रूपंमुद्यमभिनीय निर्मोलिताश्च एव हर्ष-पदगदाशरम्) प्रिये, वसन्तसेना त्वम् ।

वसन्तसेना—सा ज्जेषाहं मन्वभाआ । [सैवाहं मन्दभाग्या ।]

अश्चरिअः—(निरूप्य सहर्षम्) कथं वसन्तसेनेव । (सानन्दम्)

कुतो वाप्याम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरी ।

मयि मृत्युवशां प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥४२॥

प्रिये वसन्तसेने,

त्वदर्धमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे ।

अहो प्रभावः प्रियतंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्धिरेत ॥४३॥

अपि च । प्रिये, वरय ।

रवतं तदेव वरवस्त्रमियं च माला

कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।

अथवा मम भ्रान्तं भ्रान्तिपुस्तं मनः एनां वसन्तसेनां पश्यति न तु वस्तुतोऽपि विद्यते इति भावः । अथवा वसन्तसेना न मृता सा एव येनम् ? सन्देहात्सङ्कारः । उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

किं न्विति । किं नु इति वितर्के मम चारुदत्तस्य ओवदु जीवितं तस्य काम्यया इन्द्रया पुनः प्राप्ता आगता । किमुत तस्याः वसन्तसेनायाः रूपानुरूपेण रूपस्य अनुरूपेण सादृश्येन उपलक्षिता इयम् अन्या काचिद् आगता । सन्देहात्सङ्कारः ॥४१॥ ।

असदृशी अनुचिता ।

'वसन्तसेनेव समागता' इत्यवधार्यं चारुदत्तः सानन्दं वक्ष्यति कुत इति । अपि चारुदत्ते मृत्युवशां प्राप्ते सति वाप्याम्बुधाराभिः अश्रुजलधाराभिः पयोधरी

अपवा मेरा भ्रान्तिमुक्त मन इस (स्त्री) को वसन्तसेना देख (समझ) रहा है ? या वसन्तसेना मरी नहीं है, यह वही है ? ॥४०॥

अपवा—मुझे जीवित रखने की इच्छा से यह फिर स्वर्ग से आ गई है या उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूप वाली यह कोई अन्य (स्त्री) आई है ॥४१॥

वसन्तसेना—(अधुसहित उठकर, चरणों में गिरकर) भार्यं चादरत्त मैं वही पानिनी हूँ, जिसके कारण तुमने यह अनुचित दया प्राप्त की है।

(निपट्य में)

आरचयं है, आरचयं ! वसन्तसेना जीवित है। (यह सब पढ़ते हैं)

आदरत्त—(मुनकर, सहसा उठकर, स्पर्श-सुख का अभिनय करके नेत्र मूँदे हुए ही हृयं से गद्गद् अक्षरों में) प्रिये, तुम वसन्तसेना हो।

वसन्तसेना—मैं वही मन्दभागिनी हूँ।

आदरत्त—(देखकर, हृयंपूर्वक) क्या वसन्तसेना ही हो ? (आनन्दपूर्वक) मेरे मृत्यु के वग में होने पर अधु-जन की धाराओं से स्तनों की सीबती हुई (संजीवनी) विद्या के समान तुम कहाँ से आ गई हो ? ॥४२॥

प्रिय वसन्तसेने,

तुम्हारे कारण नष्ट किया जाता हुआ यह मेरा शरीर तुम्हारे द्वारा ही मुक्त कर दिया गया। अहो ! प्रियमित्र का महान् प्रभाव ! अग्न्या मरा हुए भी कोई फिर जीवित हो सकता है ? ॥४३॥

और भी प्रिये, देखो—

प्रिया के आगमन से वही लाल वस्त्र दूल्हे के वस्त्र (के समान) और यह

स्तनौ स्तपयन्ती सिञ्चन्ती विद्या सञ्जीवनी विद्या इव द्रुतः समागता । पय्यावस्त्र द्रुतम् । समालङ्कृत् ॥४२॥

स्वयंमिति । स्वयं तव कारणात् चित्प्राप्तमानं विनात्ममानं मे मन हेतुं शरीरं स्वया वसन्तसेनया एव प्रतिमोक्षितम् । अहो आरचयंस्वयम् । प्रियतन्मस्य प्रियतन्मस्य सङ्गमस्य प्रभावः प्रियसङ्गमस्य हि महान् प्रभावः इत्यर्थः । अग्न्या द्रुतः अग्निः कः नाम कः जनः पुनः प्रियेत प्राणैः इति शेषः, प्राणधारणं कुर्यादिति धावः । अत्र देहवन्दः तनुं सके प्रयुक्तः 'कापो देहः क्त्वीवंपुंसोः' इत्यमत् । अर्पित्वात्प्राप्तोत्सङ्कृत् । उत्सङ्कृतिः द्रुतम् ॥४३॥

प्रियागमनेन वस्त्रविह्वानि अपि विवाहविह्वानि जातानि इत्याह—रत्नमिति । कात्यायनेन हि तद् एव रत्नं वरवस्त्रम् इयं च माता वरस्य यथा (तथा) रिश्राति । दर्शय च एते वस्त्रपटहृष्वनयः विवाहवद्व्यभिभिः समानाः जाताः—इत्यन्वयः ।

कान्तायाः प्रियायाः आगमेन हि निश्चितं तद् एव वस्त्रविह्वं रत्नं रत्न-वर्णं वरवस्त्रं वरस्य वस्त्रम् इव इयं च गते धारिता माता करपीरुष्यमाता वास्य

एते च वक्ष्यपटहृष्यनयस्तापैव

जाता विवाहपटहृष्यनिभिः समानाः ॥४४॥

वसन्तसेना—अद्विदविल्लणराए कि णेवं वयसिदं अग्जेण । [अतिदसिणतया कि न्निद व्यसितमार्येण ।]

वाश्वत्तः—प्रिये, त्वं किल मया हतेति—

पूर्वानुबद्धवैरेण शशुणा प्रभेविष्णुना ।

नरके पतता तेन मन्नागस्मि निपातितः ॥४५॥

वसन्तसेना—(कणौ पिघाय) सन्त पाठम् । तेण ग्निह राअसालेण वावाविवा । [शातं पापम् । तेनास्मि राजस्यालेन व्यापादिता ।]

वाश्वत्तः—मिधुं हृष्ट्वा अयमपि कः ।

वसन्तसेना—तेण अणग्जेण वावाविवा । एदिणा अग्जेण जीवाविदग्निह [तेनात्तार्येण व्यापादिता । एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि ।]

वाश्वत्त —कस्वमकारणबन्धुः ।

मिधुः—क एषमिजजागदि मं अग्जो । अह शे अग्जरा वमपरावाह—  
चिन्तए शवाहके नाम । जुविजतेहि गहिवे । एराए उवासिकाए अग्जरा केतके ति  
अलकासपण्णिकीवे ग्निह । तेण अ जुवणिग्जेवेण शशकशमणकेरांउत्ते ग्निह । एरावि  
अग्जा एषहणविपग्जासोण पुष्पकरण्डकजिष्णुज्जाणं मरा । तेण अ अणग्जेण च मं  
बहु मग्णेशि ति दाहपाशवसवरातेण मारिता मए विट्टा । [न प्रत्यभिजानाति  
मामार्यः । अहं अ आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तकः संवाहकी नाम द्यूतकरं पृं हीत एत-  
योपासिकयार्यस्यात्मीय इत्यलङ्कारपणनिष्क्रीतोऽस्मि । तेन च द्यूतनिर्वदेन शाश्व-  
श्रमणकः संवृतोऽस्मि । एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यसिने पुष्पकरण्डकजीर्णोऽथानं  
गता । तेन चानार्येण न मां बहु मन्यस इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया  
हृष्ट ।]

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हुन्ता

तदनु जयति भेत्ता पण्मुखः क्रौञ्चशशुः ।

यदा वरस्य माता इव विमति शोभते । तस्यैव च एते वक्ष्यपटहृष्यो वाधविशेषाणां ध्वनय-  
विवाहपटहृष्यनिभिः विवाहवादानां ध्वनिभिः समानाः जाताः । उपमा पर्यायचाल-  
ञ्चासी । वसन्तसिद्धा वृत्तम् ॥४५॥

अतिरक्षितया अशुवारवया । अयतितं इतम् ।

(रघु) माला वर-माला के समान शोभायमान है तथा वही प्रकार दश के बाघों की ध्वनियाँ विवाह के बाघों की ध्वनियों के समान हो गई हैं ।

वसन्तसेना—अत्यन्त उदारता के कारण आर्य ने क्या कर डाला ?

शावदत्त—प्रिये, (इस अभियोग में कि) मैंने तुम्हें मार दिया है—

पहले से ही बँर बाँध लेने वाले, सामर्थ्यशाली, नरक में गिरने वाले मेरे शत्रु उस घकार ने मुझे विपत्ति में गिरा दिया है ॥४१॥

वसन्तसेना—(दोनों कान बन्द करके) पाप शान्त हो । उस राज्यस्थालक के द्वारा मैं मारो गई हूँ ।

शावदत्त—(भिष्णु को देखकर) और यह कौन है ?

वसन्तसेना—उस अनार्य (शकार) ने मार डाली, इस आर्य ने मुझे (फिर) जीवन प्राप्त कराया ।

शावदत्त—तुम अकारण बन्धु कौन हो ?

भिष्णु—आर्य मुझे नहीं पहचानते ? मैं वह आपके चरण दबाने की चिन्ता करने वाला संवाहक हूँ, जो जुआरियों के द्वारा पकड़ा गया और इस बुद्धोपासिका के द्वारा 'बापका बादमोय हूँ' यह जानकर आमूषण की मूल्य से खरीदा गया हूँ, और उस दृष्ट के दुःसानुभव से मैं बौद्धभिष्णु हो गया । यह आर्या (वसन्तसेना) भी गाड़ी बदलने से पुष्पकरभद्रक नामक पुराने उद्यान में चली गई थीर वहाँ उन दुष्ट (घकार) के द्वारा 'यह मुझे नहीं चाहती' यह कहकर भुजबारा से बलपूर्वक (दबाकर) मार डाली गई, मैंने देखा ।

(नेरघ्य से कोलाहल)

दश यज्ञ के विनाशक दिव (दृषध्वज) की जय हो ! इसके परचाय (शत्रुओं के) विनाशक क्रौञ्च (नामक दंत्य) के शत्रु कालिकेय की जय हो ।

पूर्वेति । पूर्वम् अनुबद्धं हृदये धारितं बँरं येन तेन प्रसन्निधुना सामर्थ्य-  
शालिना मरुते पतता मिथ्यादोषारोपणात् नरकं गच्छता शत्रुणा तेन सत्कारेण मनाद्  
भिष्णु, प्रायेण वा निपातितः विपत्ती पातितः मरणात्सन्तप्तं वा प्रापितः बलि ॥४१॥

— चरणयोः संवाहस्य मर्दनस्य चिन्तकः । आर्यस्य चादरस्य ध्यात्तोयः स्वयनः  
इति इत्या । दासद्वार एव पद्मः मूल्यं तेन निष्कीरतः । शत्रून् हतः निर्देहः शक्तिः  
वैरिनिकेच्छानिर्मुक्तिः (पृथ्वी०) शत्रुनिर्देहः तेन ।

अपतीति । दशयज्ञस्य हन्ता विनाशकः शत्रुमहेतुः शिवः अयति सर्वोत्कर्षेण  
पठेते । तदनु उदनन्तर मेता शत्रुणां नाशकः क्रौञ्चस्य एतन्नामकस्य दंत्यस्य शत्रुः

तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं  
विनिहितवरवैरी चार्यको गा विशालाम् ॥४६॥

(प्रविश्य सहसा)

शविसक —

हत्वा त कुनूपमहं हि पालकं भो-  
स्तद्राज्ये द्रुतमभिविच्य चार्यकं तम् ।  
तस्यासां शिरसि निधाय शेषभूता

मोक्ष्येऽह व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥४७॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समारवास्य पुनः प्रकर्षात् ।  
प्रान्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारैरिव शत्रुराज्यम् ॥४८॥

(अग्रतो निरूप्य) मन्त्रु । अत्र तेन शवितव्यम्, यत्रायं अनपदसमवायः । अपि नामाय-  
मारम्भं क्षितिपतेरायंकरायंचारुदत्तस्य जीवितेन शक्यः स्यात् । (स्वरिततत्पुण्यमृत्प्य)  
भयवातं शात्मा । (दृष्ट्वा सहर्षम्) अपि द्विपते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया । संपूर्णाः  
सर्वस्वमत्तन्वामिणो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो व्यसनमहाणंवादपारा-

दुस्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।

नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे

ज्योत्स्नादयं शशिनमिवोपरागमुरातम् ॥४९॥

पण्डितः कान्तिकेय जयति । तदनु तदश्च विनिहत. वरवैरी प्रधानशत्रुः येन तयाभूतः  
आयं क. शुभ्रः श्वेतः कैलासः एव केतु पताका यस्या ता विशालां विस्तोर्णा हत्स्नां  
निस्तिसां गा पृथिवी जयति आत्मसात् करोति । रूपकालङ्कारः । मानिनी दूरम् ॥४६॥

आपद्ग्रस्तं चारुदत्तं मोचयितुम् उद्यतः शविसकः सहसा प्रविश्य कथयति—  
हृत्वेति । श्रीः अहं शविसकः हि तं कुनूप दुष्टनृपतिं पास्तु हत्वा तस्य राज्यं तद्  
आयं कं द्रुतं स्मरति अभिविच्य च तस्य आयं कस्य शेषभूतां पुष्पदामायमानो (पृथ्वी०)  
'प्रसादान्निर्जनमाल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्वः आसां शिरसि निधाय अहं  
शविसका व्यसनगतं विपतिग्रस्तं चारुदत्तं च मोक्ष्ये मोचयित्यामि । प्रहृषिणी  
दूरम् ॥४७॥

हृत्वेति । आयंकेय हि बलं संगं मन्त्रिणश्च तैः हीनं मन्त्रहीनमिति पाठोक्तः

और तदनन्तर प्रधान (वर) शत्रु (पालक) को मारने वाला आर्यक श्वेत कंलास (श्वेत) है पताका जिसकी ऐसी समस्त विनाश पृथ्वी को जीतता है ॥४३॥

(सहसा प्रवेश करके)

शोबलक—हे मनुष्यो, उस दुष्ट राजा पालक को मार कर, उसके राज्य पर तुल्य ही उस आर्यक का अभिषेक करके मैं (शोबलक) उस (आर्यक) की आज्ञा की (निर्मात्य की) पुष्पमाला के समान शिर पर धारण करके विपत्ति-प्रसूत चारुदत्त को मुक्त करता हूँ ॥७॥

सेना तथा मन्त्रियों से रहित उस शत्रु (पालक) को मार कर फिर अपने अधिक प्रभाव से नगरवासियों को सान्त्वनी देकर, बल नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र के राज्य के समान, पृथ्वी के आधिपत्य से मुक्त समस्त शत्रु के राज्य को प्राप्त कर लिया ॥४८॥

(आगे देखकर) अच्छा, उन्हें (चारुदत्त को) यहाँ होना चाहिये, जहाँ यह लोगों की भीड़ है । और भूमिपति आर्यक की यह राज्य प्राप्ति (आरम्भ) आर्य चारुदत्त के (जीवन की रक्षा) से सफल हो सकती है । (अधिक वेग से सनीप जाकर) विचारहीन जनो, हट जाओ । (देखकर, हृष्यपूर्वक) अच्छा चारुदत्त वसन्तमेना सहित जीवित है । विषय ही हमारे स्वामी (आर्यक) के मनोरथ पूर्ण हो गये ।

हे मनुष्यो, सौभाग्य से गुणों (उदारता आदि तथा नौका पक्ष में रक्षियों) से आहृष्ट सुन्दर स्वभाव वाली (पक्ष में सुघटित) नौका के समान प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा अपार विपत्ति (व्यसन) सागर से बचाने गये चारुदत्त की ग्रहण से मुक्त तथा चन्द्रिका से मुक्त चन्द्रमा के समान, मैं बहुत समय में देख रहा हूँ ॥४९॥

रम्, त्रिषु शत्रुं त पालकं हत्वा पुनः प्रकृष्यात् प्रमावोत्कर्षात् पौरात् नगरवासिना  
सनाशवास्य बलारेः बलस्य दैत्यविशेषस्य अरेः शत्रोः इन्द्रस्य इति भावः राग्यमिब  
समप्रं वसुधाधिराऽयं वसुधायाः अधिराज्यं यस्मिन् तत् शत्रोः पालकस्य राज्यं प्राप्तम् ।  
उपमात्कृत्वाः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥४८॥

कापयानां जनपदस्थानां मनुष्याणां समवायः समूहः । आरम्भः राज्य-प्राप्तिः ।  
अपयात् असरत् । ज्ञान्माः असमीक्ष्यकारिणः विचारहीनः इति यावत् ।

व्यसनान् मुक्तस्य चारुदत्तस्य दर्शनं मनः सौभाग्यादेवेत्याह—विष्ट्येति । भोः  
शिष्ट्या सौभाग्याद् गुणधृतया गुणैः औदार्यादिभिः प्रृतया आहृष्टया नौकापक्षे गुणैः  
रञ्जुभिः धृतया भुरगीतवत्या शोभनत्वभाववृत्त्या पक्षे शोभनया नावा इव प्रियतमया  
प्रियया वसन्तमेनया अपरात् व्यसनं विपत्तिः एव महार्णवः महासमुद्रः तस्मात् उत्तीर्णम्  
उत्पन्नं चारुदत्तम् उपरागात् ग्रहणात् मुक्तं अमोक्षनया चन्द्रिकया अर्णवं सम्पन्नं शशितम्  
इव विराज निरीक्षे पश्यामि । रूपक श्लेषः उपमा चालङ्काराः । प्रहृष्यन्तो वृत्तम् ॥४९॥

तद्वृत्तमहापातकं कथमिदं न मुपसर्पामि । अथवा सर्वत्रार्जवं शोषते । (प्रचारानुपवृत्त्य  
ब्रह्मज्जलि ) भायं चारुवत् ।

चारुवत् — तनु को भवान् ।

शक्तिवत् —

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम् ।

सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥१५०॥

चारुवत् — तथे, मंभवम् । त्वयासी प्रणयं हृतः । (इति कण्ठे वृत्ताति)

शक्तिवत् — अन्यच्च ।

आयंकेणार्पणवृत्तेन कुलं मानं च रक्षताः ।

पशुवद्यज्ञवाटस्यो दुरात्मा पालको हृतः ॥१५१॥

चारुवत् — शिम् ।

शक्तिवत् —

त्वद्यानयं समाकृत्वा गतस्त्वा शरणं पुरा ।

पशुवद्विनतं यज्ञं हृतस्तेनाद्यं पालकं ॥१५२॥

चारुवत् — शक्तिवत्, योऽसौ पालकेन घोषादानीदं निष्कारणं कृताकारे ब्रह्म  
भायं कृतमा त्वया मोक्षितं ।

शक्तिवत् — मयाहं तत्र भवान् ।

चारुवत् — प्रियं न प्रियम् ।

शक्तिवत् — प्रतिष्ठितमार्गेण तव सुहृदायकेणोऽजयिन्या विनातटे कृताव्या  
राज्यनतिवृष्टम् । तत्प्रतिमान्यनां प्रथमं सुहृत्प्रणयः । (परिवृत्त्य) अरे रे, ध्यानीयतामय  
पापो शक्तिवत् ।

(नेपथ्ये)

पचाज्जापयति शक्तिवत् ।

शक्तिवत् — भायं, नन्दयभायंको राजा विनापयति — इह मया पुष्पहृत्तुणे-

इत महापातकं सुवर्णभाण्डापहरणरूपं येन भ । शोभंरुमं हि महापातकेषु  
गण्यते ।

येति । येन ते चारुवत्स्य भवनं गृहं भित्त्वा न्यासास्य निशेषरूपेण घृतस्य  
सुवर्णभाण्डस्य अपहरणं कृतम्, कृतं महापापं येन तादृशं स भहं शक्तिवत् त्वम्  
चारुवत्स्य एव शरणं गतं शरणं प्राप्तोऽस्मि ॥१५०॥

प्रणयः — अनुग्रहः ।

आयंकेणेति आयंकेणैव साधुकीलेन आयंकेण कुलं मानं गौरवं च रक्षता

तो महान् पार करने वाला मैं इसके समीप कैसे जाऊँ ? अपना सरलता सब बरहू शोभायमान होती है (एकट रुप में, समीप जाकर, हाथ जोड़ें हुए) आर्य शारदत्त ।

शारदत्त—अच्छा, आप कौन हैं ?

शबितक—जिसने आपके घर (की दीवार) को तोड़कर (जेंध लगाकर) धरोहर की चोरी की थी । वही महानापी मैं आपकी ही शरण में आया हूँ ॥१०॥

शारदत्त—निन, ऐसा न कहो । तुमने तो यह अनुग्रह किया । ३

शबितक—और भी—

उत्तम झील वाले आर्यक ने कुल और गौरव की रक्षा करते हुए, यत्न-स्वान्न नै-स्मित पशु के समान, दुष्ट पालक को मार दिया ॥११॥

शारदत्त—क्या ?

शबितक—जो आर्यक तुम्हारी गाड़ी में बैठकर पहले तुम्हारी शरण में गया था, उसने आज विलुप्त यत्न में पशु के समान, पालक को मार दिया ॥१२॥

शारदत्त—शबितक, जो यह (राजा) पालक के द्वारा धोप में लाकर बिना कारण ही कारागार में बांधा गया था, तथा तुम्हारे द्वारा मुक्त किया गया था, वही बसिक नामक का व्यक्ति ?

शबितक—जैसा आश्चर्यीय आप कह रहे हैं ।

शारदत्त—हमारे लिये प्रिय (समाचार) है, प्रिय ।

शबितक—उज्जयिनी में (सिंहासन पर) प्रतिष्ठित होते ही तुम्हारे मन आर्यक ने बेमा नदी के तट पर कुशावती का राज्य (आपको) दिया है । मिन की प्रथम स्नेह शर्पणा को स्वीकार कीजिये (अथवा स्वीकार कर सम्मानित कीजिये) । (धूम कर) बरे रे, इस पानी धूर्त राजस्थालक-शकार) को लाइये ।

(निनम्य में)

येसी शबितक आशा करें ।

शबितक—आर्य, निरव्य ही राजा आर्यक सूचित करते हैं कि मैंने यह राज्य

शरदत्तः पशुस्वान्नं तत्र स्थितः यः पशुः उत्तम्यः कुशावती पालकः हतः मारितः ।  
उज्जयिनीद्वारः ॥१२॥

शबितक । यः आर्यकः स्वयमान तत्र प्रवह्यं समावृष्ट्य पुरा पूर्वं त्वां शारदत्त  
एष वक्तुः । तेन आर्यकेन अद्य वितते प्रवृत्ते यैः पशुवद् पालकः हतः मारितः ॥१२॥

उज्जयिनीं प्रतिष्ठितमात्रेण सिंहासने स्थितमात्रेण । अतिवृष्टं दत्तम् । प्रति-  
पालका सम्मान्यता, स्वीकारेण आश्रियता वा । प्रथमः शर्पणा । यदस्वामी यद्वि-  
चिन्ति-यद्विगतः मयूरस्यैकादेरावृत्तिगमत्वात् समाप्तः ।



पाजित राग्यम् । तदुपयुज्यताम् ।

चादवत्ता — अस्मद्गुणोपाजित राग्यम् ।

(नेपथ्ये)

अरे रे राष्ट्रियदयालक, एहो हि, स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(सतः प्रविराति पुरुषं रधिष्ठित. परधाद्वाहबद्ध. शकार.)

शकार — होमाविके ।

एध्वं दूलमदिक्कन्ते उद्दामे विअ गद्दहे ।

आयीदे वस्तु हुये बद्धे हुडे अण्ये ऋव दुक्कले ॥१३॥

(दिशोऽवलोक्य) रामन्तवो उवद्विब्वे एगे सरिटअवन्धे । ता कं वाण अशरण शरणं व्रजामि । (विचिन्त्य) भोदु । त उजेव अम्मुक्कवणशरणवत्सलं गच्छामि । (इत्युपसृत्य) अश्रमचासुवत्त, पत्तिताभाहि, पत्तिताभाहि । [आश्चर्यम् ।

एवं दूरमतिक्रान्त उद्दाम इव गर्दभः ।

आनीतः सत्वहं बद्ध. कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः ॥

समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धः । तत्किमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि । भवतु । तमेवाभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि । आर्यं चारुदत्त, परित्रायस्व परित्रायस्व ।] (इति पादयोः पतति)

अश्रमचासुवत्तं, मुञ्च मुञ्च । वावादेह एवम् । [आर्यं चारुदत्त मुञ्च मुञ्च व्यापादयामैतम् ।

शकारः—(चारुदत्त प्रति) भो अशरणशरणे पत्तिताभाहि । [भो अशरणं शरण, परित्रायस्व ।]

चादवत्ताः—(सानुकम्पम्) अहह, अमयममय शरणागतस्य ।

शविसकः—(सावेगम्) वा. अपनीयतामय चादवत्तपारंबीत् । (चारुदत्तं प्राठ) कन्नूष्पता किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति ।

चादवत्ताः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्किंयतेः॥

पुष्पाकं भवतः चारुदत्तस्य गुणैः उपाजितं प्राप्तम् । उपयुज्यताम् उपयोगः क्रियताम् । अविनयः दुष्पर्यवहारः । बाहुबद्धः बाह्वो बद्ध बाहुबद्धः । बद्धो बाहु यस्य, बद्धबाहुः इति प्रयोगः परीयान् ।

एवमिति । उद्दामः उन्मुक्तबन्धनः गर्दभः इव एवम् अनेन प्रकारेण दूरं अविक्रान्तः पलायितः अहं सन्तु अन्यः दुष्करः दुष्टः दुर्ग्रह इत्यर्थः (काले) कुक्कुर

बुद्धारे गुणों से प्राप्त किया है। तो इसका उपयोग कीजिये।

चाददत्त—हमारे गुणों से उपाजित किया गया राज्य है ?

(नेपथ्य में)

अरे रे राजश्यालक, आजो आओ। अपने दुर्व्यवहार का फल भोगो। (तब मनुष्यों द्वारा शासित पीछे की ओर हाथ बँधा हुआ शकार प्रविष्ट होता है)।

शकार—आश्चर्य है।

बन्धन खुले हुए गधे के समान इस प्रकार दूर भागे हुए मुझको किसी दुष्ट कुत्ते के समान बाँधा गया है तथा यहाँ लाया गया है ॥१३॥

(दिशाओं को देखकर) चारों ओर से राजश्यालक का (मिरा) बन्धन ही गया है। तो अब आश्रयहीन मैं किसकी शरण में जाऊँ (सोधकर) अच्छा, उसी शरणागत-वत्सल (चाददत्त) के समीप जाता हूँ। (समीप जाकर) आर्य चाददत्त, रक्षा करो, रक्षा करो। (चरणों में गिरता है)।

(नेपथ्य में)

आर्य चाददत्त, छोड़ दो। हम (दोनों) इसको मार देंगे।

शकार—(चाददत्त से) हे अगारणों को शरण देने वाले, रक्षा करो !

चाददत्त—(दया के साथ) अहह ! शरणागत का अभय हो, अभय।

शक्तिरू—(आवेश के साथ) आः, इसे चाददत्त के पास से हटा लीजिये। (चाददत्त से) बतलाइये इस पापी का क्या किया जाये ?

क्या इस (शकार) को अच्छी तरह बाँधकर (मनुष्य) खींचे, अपवा इसे कुत्ते खाये। क्या इसे शूली पर चढ़ाया जाये, या इसे आरे से काटा जाये ॥१४॥

चाददत्त—क्या जो मैं कहूँ वही किया जाना है।

इति बद्धः अत्र च आनीतः ॥१३॥

राष्ट्रियस्य राजश्यालस्य शकारस्य ममेति भावः बाधः बन्धनम्, 'निरोद्धा पुरुषदगं' इति कालेमहोदयः, बन्धादेनः इति केचित्। समन्ततः परितः उपस्थितः अहं समन्ततः बद्धः इति भावः। अमुपपन्नशरणानां शरणागतानां वत्सलः स्नेहशीलः।

श्यापाश्याम मारयाम। न मनम् अभयम्। अनुष्ठीयतां तिपताम्।

आकर्षन्तिवति। एनं शकारं सुबद्ध्वा सम्यक् बद्ध्वा ('सुबद्धप' इति पादान्तरम्) आकर्षन्तु जनाः इति शेषः अपवा अयं रश्मिः बुक्कुरः साधताम्। एवः शूले वा तिष्ठताम् वा अपवा क्रकवेन करपत्रेण पाटपशाम्। अत्र 'सुबद्ध्वा', 'तिष्ठताम्' इति च प्रयोगौ चिन्पौ ॥१४॥

सङ्गं योष्यम्।

शब्दितक—कोऽत्र सन्देहः ।

शकारः—मन्दासना धातुदत्त, दत्तगागदे णि । ता पत्तिताआहि पत्तिता-  
आहि । अ तुए शतिश त इलेहि । पुणो ण ईदिश कतिशयम् । [भट्टारक चास्वत्त,  
शरणागतोऽस्मि । तत्परित्रायस्व परित्रायस्व । यत्तव यहश्च तत्कुर । पुनर्नेदृशं  
करिष्यामि ।]

(नेपथ्य)

पीरा दावादेध । किनिमित्त पादकी औवावीअदि । [पीराः, व्यापादयत ।  
किनिमित्त पादकी जोव्यते ।]

(वसन्तसेना मध्यमालां चारदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति)

शकारः—मम्मदांशोघोए, परोद परोद । ण उण मालहराम् । ता  
पत्तिताआहि । [गर्भदासीपुत्रि, प्रसीद प्रसीद । न पुनर्मारियिष्यामि । तत्परि-  
त्रायस्व ।]

शब्दितक—अरे रे, मपनपत्त । आयेचारदत्त, आनाप्यताम्—रिमस्य पाप-  
स्यामुष्टोपताम् ।

धातुदत्त—किमह यद्भवोमि तत्किप्यते ।

शब्दितक—कोऽत्र सन्देहः ।

आदत्त—तत्पम् ।

शब्दितक—सत्यम् ।

आदत्त—यद्येवं शीघ्रमयम् ।

शब्दितक—कि हन्येताम् ।

आदत्त—तहि नहि । मुच्यताम् ।

शब्दितक—किमर्थम् ।

आदत्त—

शब्द—हतापराधः शरणमुपेत्य पावयोः पतितः ।

शब्देण न हन्तव्यः ।

शब्दितक—एषम् । तहि इयमिः साद्यताम् ।

आदत्त—मति ।

उपकारहृतस्तु कृतव्यः ॥३३॥

शब्दितक—अहो, आश्चर्यम् । कि करोमि । अदत्तार्थः ।

आदत्त—तन्मुच्यताम् ।

शब्दितक—मुक्तो भवतु ।

शकार—होमादिने । पशुजोविदे णि । [आश्चर्यम् । प्रत्युज्जीवितोऽस्मि ।]

(शिव पुराणः सह निव्रान्तः.)

शबितरु—इसमें क्या सन्देह है ?

शकार—म्हामी चारदत्त, मैं शरण में आया हूँ । अतः रक्षा करो, रक्षा करो । जो तुम्हारे योग्य है वही करो । फिर ऐसा नहीं करूँगा

(नेपथ्य में)

नगरवासियों, मार दो । यह पापी किस लिये जीवित रक्खा जा रहा है ?  
(बसन्तसेना बध्यमाता को चारदत्त के गले से उतार कर शकार के ऊपर फेंकती है)

शकार—सर्गदासी की पुत्री, प्रसन्न हो । फिर नहीं मारूँगा । अतः रक्षा करो ।

शबितरु—अरे, हटाओ । आर्य चारदत्त आज्ञा दीजिये कि इस पापी का क्या किया जाये ?

चारदत्त—क्या जो मैं कहूँ वही किया जायेगा :

शबितरु—इसमें क्या सन्देह है ?

चारदत्त—सबनुच ।

शबितरु—सबनुच ।

चारदत्त—यदि ऐसा है तो इसे शीघ्र—

शबितरु—क्या मार दिया जाये ।

चारदत्त—नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाये ।

शबितरु—किस लिये ?

चारदत्त—यदि अपराध करने वाला शत्रु शरण में आकर शरणों में गिर गया तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये ।

शबितरु—यदि ऐसा है तो क्या कुत्तों द्वारा खाया जाये ?

चारदत्त—नहीं ।

.....किन्तु उसे उपकार से मरा हुआ कर देना चाहिये ॥१५॥

शबितरु—अहो, आश्चर्य है ! क्या कहें ? आर्य बतलाइये ।

चारदत्त—तो छोड़ दिया जाये ।

शबितरु—मुक्त हो जाये ।

शकार—(आश्चर्य में) फिर से जीवित हो गया है । (मनुष्यों के साथ निरुस वाता है)

शत्रुरिति । कृतः अपराधः येन तादृशः शत्रुः यदि शरणम् उपेत्य आगत्य पारयोः पन्नवि तद्वि सः शस्त्रेण न हन्तव्यः मारणीयः तु किन्तु उपकारेण अनुग्रहेण हता कर्तव्यः तथा चोक्तं रामायणे—

बद्धान्त्रिभुटं दीनं याचन्तं शरणगतम् ।

न हन्यादानुगंस्पापंमनि शत्रुं परंतप ॥ सुब-१८ ॥१५॥

(नेपथ्ये बलकल )

(पुनर्नेपथ्ये)

एसा अञ्जचासुवत्तरस षट्श्रुभा अञ्जा धुवा पवे दतणाञ्चले विलगन्तं दारमं  
भाविस्तवन्ती चाप्यभरिदणभणेहि अणेहि णिवारिञ्जमाथा पञ्जलिते पावए पवित्तिदि  
[एपायंचारुदत्तस्य वधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्तं दारकमाक्षिपन्ती  
वाभ्यभरितनयनैर्जनैर्नियार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति ।]

शबिलक—(आरुण्यं नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कए धन्दनक । धन्दनक,  
किमेतद् ।

धन्दनकः—(प्रविश्य) कि ण वेरलदि अञ्जो । महाराजप्पासाद बरिस्सिनेण  
महन्तो जणसमहो षट्ठिदि । ('एसा' इत्यादि पुनः पठति) कथिद अ मए लोए, जया—  
'अञ्जे, मा साहस करेहि । जीवदि अञ्जचारुदत्तो' ति । परन्तु दुवत्तवाकुड्ढाए णो  
सुणेदि, को वसिआएदि । [किं न पश्यत्यायं । महाराजप्रासादं दक्षिणेन  
महाञ्जनसमदो वर्तते । कथित च मया तस्यै, यथा-'आर्यो, मा साहसं कुरुष्व ।  
जीवत्यायंचारुदत्त.' इति । परन्तु दुःखाद्यापृततया कः शृणोति, कः प्रत्ययते ।]

चारुदत्त—(सोद्वेगम्) हा प्रिये, जीवत्यपि मयि किमेतद् व्यवसितम् ।  
(ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निश्चस्य च)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि ।

चचितं तथापि परलोकमुख न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥१६॥

(इति मोदमुपगतः)

शबिलक—अहो प्रमादः ।

त्वरया सप्यं तत्र मोहमार्योऽत्र च।गतः ।

हा धिवप्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥१७॥

वसन्तसेना—समस्तसिदु अञ्जो । तत्त गदुअ अं वावेदु अञ्जाम् ।

अण्णया अधीरराणेण धनत्पो समाधीअदि । [समाश्रयसित्वायः । तत्र गत्वा  
जीवयत्वार्याम् । अन्यथाधीरत्वेनानर्थः संभाव्यते ।]

वाच्यः अश्रुभिः भरितानि नयनानि येषां तं जनैः । दक्षिणेन इति एनप-  
प्रत्ययान्तम् । तद्योगे च 'एनपा द्वितीया' २।३।३१॥ इत्यनेन महाराजप्रासादमित्यत्र  
द्वितीया भवति । महासजस्य आयेकस्य प्रासादम् ।

दु खे ष्यापृता तत्तरा दु खभ्यापृता तस्याः भावः तत्ता तथा । प्रत्ययते  
विश्वसिति । व्यवसितं निश्चितम् ।

जीवित मा परित्यज्य स्वलोकगमनं न मुक्तमित्याह चारुदत्त—न महीति ।  
हे चारुचरिते साधुचरिते धूते, यदपि भवत्याः चरितानि सदाचारणानि महीतले

(निपथ्य में कौनाहूत)  
(फिर निपथ्य में)

यह आर्य चारदत्त की पत्नी आर्या धृता चरण में झोर वस्त्र के आंचल में लिपटे हुए बालक को हृद्यती हुई आँसू भरे नेत्रों वाले मनुष्यों के द्वारा रोकी जाती हुई भी अग्नि में प्रवेश कर रही है।

शक्तिरु—मुनकर, (निपथ्य की ओर देखकर) क्या चारदत्त है ? अन्दनक, यह क्या ?

अन्दनक—(प्रवेश करके) क्या आप नहीं देखते हैं कि महाराज के प्रासाद के दक्षिण की ओर मनुष्यों की बड़ी भीड़ हो रही है (एया' इत्यादि फिर पढ़ता है) और मैंने जसते कहा "आर्य साहस कम करो। आर्य चारदत्त जीवित हैं"। किन्तु दुःख में घीन होने के कारण कौन मुनता है ? कौन विश्वास करता है ?

चारदत्त—(बड़े गपूर्वक) हाय प्रिये, मेरे जीवित रहते ही यह क्या निश्चय कर लिया ? (उपर देखकर और लम्बी साँस लेकर)

हे श्रेष्ठ चरित्र वाली, यद्यपि तुम्हारे मच्चरित्र इस भूमि पर रहने योग्य नहीं हैं तथापि हे पतिव्रते, पति को छोड़कर तुम्हें (अकेले ही) परलोक का मुक्त भोगना संभव नहीं ॥१६॥

(मूर्च्छा को प्राप्त होता है)

शक्तिरु—अहो ! असावधानी !

वहाँ (धृता के सनीप) शीघ्रता से जाता है किन्तु वहाँ आर्य चारदत्त मूर्च्छा को प्राप्त हो गये हैं। हाय ! भिक्कार ! अब और से प्रयत्न की निष्कलता ही दिवसाई देती है ॥१७॥

अनन्तसेना—आर्य आवश्यक हो (अपने धारण करें) वहाँ जाकर आर्या (धृता) को जीवित करें। नहीं तो अक्षीरता से अनर्थ की सम्भावना है।

धृतेः, तिपत्तिहानि स्यात्। योग्यानि न कृत्वि स्वर्लोहपोष्यानि सन्तीति भावः। कर्पाणि हे पतिव्रते, पति चारदत्त मा विहाय पतिव्यज्य तव धृतायाः परलोकमुत्तं स्वर्गदुःखं न उचितम् पतिव्रतायास्तव एकाकिन्याः स्वर्गमुत्कीर्णभोगीर्षि मौचिनः इति भावः। कास्मिन्नु अन्धकारः। प्रमिताभरा कृतम् ॥१६॥

त्वरयेति। तत्र धृतायाः सन्निधौ त्वरया मरणं यमनम् आवश्यकम्। अत्र च आर्यः चारदत्तः मोहम् मूर्च्छाम् आपतः हा यिहू तवतोमुत्तं प्रयत्नवैफल्यं प्रयत्नाना रिक्त्यता दृश्यते। यदि धृतायाः चारदत्तस्य च जीवितरक्षा न स्यात् तर्हि सर्वेऽस्माकं प्रयत्नाः निष्फलाः इति भावः ॥१७॥

अनर्थः सम्भाष्यते धृता नृता स्यादिति सम्भावने। अतिवचनम् उतरम्।

घारदत्त—(सिद्धावस्थे तहसापाय ष) हा प्रिये, बघासि । देहि मे प्रति-  
पचनम् ।

एवदत्त—इरो इषो अज्जो । [इत इत आयं ।

(इति सर्वे परिक्लामन्ति)

(तत प्रविशति यथाविशिष्टा पूजा वेताञ्चतमावर्षन्विदपरेमानपम्बमानो रोहतेनो  
ररन्विना ष)

पूजा—(सातम्) जाय मुञ्चेहि मम् । मा विण्य करेहि । सोअमि मम्बन्तस्त  
ममङ्गुलारुण्यमायो । [जात, मुञ्च माम् । मा विण्यं कुरव्व । विभेम्यार्यपुत-  
ह्यामङ्गुलारुण्यमात् ।] (इत्युत्थानान्नतमाहृष्य पावकारिममुष परिक्लामन्ति)

रोहतेन—माइ अज्जए, पडिवातेहि मम् । तुए विणा ष सरहुणीमि सातरे  
पारेतुम् । [मातरार्यं, प्रतिपालय माम् । त्वां विना न रोहणीमि षीरित  
धत्तुम् ।] (इति स्वरितमुपसृष्ट्य दुभारन्वरु वृद्धाति)

विद्वरु—ओहोए हाव बग्गुणीए भिण्यत्तरेण सिद्धाधिरोहणं पाव उदोहं  
रेणित रित्तोमो । [भवत्थास्तामद्वाराहृष्या भिन्नत्वेन पिनाधिरोहणं पापमुदाह-  
रन्ति श्रेयसं ।]

पूजा—ए पावावरण । न उण अज्जउत्तस्य अनङ्गुलारुण्यमम् । [वरं  
पापावरणम् । न पुनरार्यपुत्रस्यामङ्गुलारुण्यमम् ।]

साविकरु—(पुरोञ्जसोकर) आसन्नदुतवहोर्षो । तत्त्वयंता त्वयंतांम ।

(कारदत्तत्वरित परिक्लामन्ति)

दुर्षो—एणिए, अञ्जलम्ब दारअम्, जाय अह समोहित करोमि । [रदनिये,  
अवलम्बस्व दारअम् । यापदहं समोहितं करोमि ।]

वेटी—(तकरुणम्) अह वि जयोपदेसिणि मिह भट्टिणीए । [अहमपि ययो-  
पदेशिन्यस्मि भट्टिण्या ।]

पूजा—(विद्वदकमवलोका) अज्जो हाव अञ्जलम्बेडु । [आर्यस्तावदवलम्ब-  
ताम् ।]

विद्वरु—(साविकम्) समोहितसिद्धिए पञ्जणेण बग्गुणी अग्गो कारव्वो ।  
अंभी सोधिंए अहे भग्गो होमि । [समोहितसिद्धये प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यं ।  
अतो भयत्या अहमग्रणीर्भवामि ।]

पूजा—एव पव्वादिह्विह्वं हुवेहि (बालकमानिक्रम) जाय, तुम वजेव परज-  
बहुविहि अत्तेण तिलोदधराभाअ । अदिक्कन्ते कि मणोरहेहि । (तनिस्वात्म) ष  
एणु अण्णवत्तो तुमं पेज्जवत्तमिंसरि । [सर्वे प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम् । जात,  
स्वैर्वै पश्येवस्थापयतामानभस्माकं तिलोदकदानाय । अतिमान्ते कि मनोरदं ।  
ए वात्त्वान्यंशुसत्त्वा पर्ययत्पापयिष्यति ।]

चावदत्त—(आश्चर्य होकर और सहसा उठकर) हाय प्रिये, कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो ।

बन्धनक—इधर इधर आर्य ।

(सब घूमते हैं)

(तब मयानिदिष्ट भूता, वस्त्राञ्जल को खींचता हुआ एवं विद्रूपक से अनुसृष्टण किया गया रोक्षेण और रत्निका प्रवेश करते हैं)

भूता—(अधु खहित) पुत्र, मुझे छोड़ दो । विघ्न न करो । अर्घ्यपुत्र के (मरणा रूप) अमञ्जल को सुनने से डरती हूँ (उठकर, आँसु सौंचकर अग्नि की ओर चलती है ।)

रोहसेन—आर्ये माता, मेरी प्रतीक्षा करो । मैं तुम्हारे बिना जीवन धारण नहीं कर सकता ।

विद्रूपक—आप बीसी शाह्यणी के पति से वृष्य चित्तारोहण को, ऋषिगण पाप बताते हैं ।

भूता—पापाचरण अच्छा है, किन्तु अर्घ्यपुत्र के अमञ्जल का सुनना नहीं ।

शबिलक—(आगे देखकर) आर्य (भूता) अग्नि के समीप हैं । अतः शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये ।

(चावदत्त शीघ्रता से चलता है )

भूता—रत्निका, बालक को पकड़ लो । जब तक मैं अभीष्ट (कार्य) करती हूँ ।

शेटी—(करणापूर्वक) मैं भी स्वामिनी के कपन के अनुसार ही करने बाधी हूँ । (अर्घ्य में भी अग्नि में प्रवेश करती हूँ ।)

भूता—(विद्रूपक को देखकर) आर्य तनिक पकड़ लीजिये ।

विद्रूपक—(आवेगपूर्वक) अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए (व्यक्ति) को शाह्यण आगे करना चाहिये । अतः मैं आपका अप्रणी होता हूँ ।

भूता—भया ! दीनों ने अस्वीकार कर दिया । (बालक को गले लगाकर) शोक, हमें तिल-मिश्रित धन (तिलान्जलि देने के लिये) धुम ही अपनी रक्षा करो । समय बीत जाने पर यनोर्यों से क्या लाभ ? (निश्वासपूर्वक) निश्चय ही अर्घ्यपुत्र (अमञ्जल) को तुम्हारी देख-भाल नहीं करेगा ।

कत पुत्र, वत्स (सम्बुद्धा । अमञ्जलस्य मरणरूपस्य आकर्षणात् श्वणात् प्रतिपास्य प्रतीक्षस्व अथवा अम पालनं कुरु । पापं पापजनकम् । तथा चोक्तम्—  
‘वृष्यं चितिं समादह्य न विप्रा गन्तुमर्हति । अन्यासांसेन भारीणा ऋषीर्षमोऽयं पुरः  
सृष्टः ॥ आसन्नः कृत्वहः अग्निः यस्याः सा । उपदेशमनतिक्रम्य इति यपोपदेशम्  
तद् अस्याः अस्तीति यपोपदेशिनी, उपदेशानुरूपं कार्यं कुर्वाणा इति भावः ॥ प्रत्यादिष्टा  
प्रत्याह्वाना, निषिद्धा वा



शाहवत्.—(आरुष्यं सहसोपसृत्य) अहमव पर्ययस्थापयामि बालिशम् ।  
(इति बालक बाहुभ्यामुत्पाप्य वशसालिङ्गति)

धृता—(विलोक्य) अम्महे । उज्जउत्तस्त ज्जेव सरत्तजोओ (पुननिपुणं निरुष्य  
सहर्षम्) दिट्ठिआ अज्जउत्तो ज्जेव एत्तो । पिअ मे पिअम् । [आश्चर्यम् । आयंपुत्र-  
स्वैव स्वरसंयोगः । दिष्टधार्यपुत्र एवैयः । प्रिय मे प्रियम् ।

शाहवत्.—(विलोक्य सहर्षम्) अम्मो । आयुको मं परिस्तजदि । (धृतां प्रति)  
अज्जए, वड्ढवीअसि । आयुको ज्जे म पज्जयद्दावेदि । [आश्चर्यम् । पिता मां परि-  
ष्वजति । आयं, वधंसे । तात एव मां पर्यवस्थापयति । (इति प्रत्यालिङ्गति)  
शाहवत्.—(धृता प्रति)

हा प्रेयसि, प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत् ।

अम्मोजिनिलोचनमुद्रणं किं भानादनस्तंगमिते करोति ॥१८॥

धृता—अज्जउत्त, अओ ज्जेय सा अचेतनेति उच्चोअदि । [आयंपुत्र, अतएव  
सोऽचेतनेति उच्यते ।

विपुषक.—(दृष्ट्वा सहर्षम्) ही हो भो, एदेहि ज्जेय अच्छोहि पिअवअस्तो  
पेवलीअदि । अहो ! सबोए पहाओ, जओ जत्तणप्पयेशप्पयत्ताएण ज्जेय पिअत्तमागमं  
पाविदा (चारुदत्तं प्रति) ओडु जेवु पिअवअस्तो । [आश्चर्यं भोः, एताभ्यामैवा-  
क्षिभ्यां प्रियवयस्यः प्रैक्ष्यते । अहो सत्या. प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसाये-  
नैव प्रियसमागमं प्रापिता । जयतु प्रियवयस्यः ।]

शाहवत्.—एहि मैप्रेय । (इत्यालिङ्गति)

चेटी—अहो संविधानअम् । अज्ज, यदामि । [अहो संविधानकम् । आर्य,  
वन्दे । (इति चान्दनस्य पादगो. पतति)

शाहवत्.—(पृष्ठे करं दत्त्वा) रदनिके, उत्तिष्ठ । (इत्युत्थापयति)

धृता—(वशान्तसेनां दृष्ट्वा) दिट्ठिआ कुसलिणो बहिण्णिआ । [दिष्ट्या  
कृशालिनी भांगिनी ।]

वशान्तसेना—अहुण्ण कुसलिणो संवुत्तमिह । [अधुनार कृशालिनी संवृत्तास्मि ।]  
(इत्यन्योन्यमालिङ्गंतः)

शाबिसकः—दिष्ट्या जीवितमुद्गुदगं आर्यः ।

शाहवत्.—सुप्पत्प्रसादेन ।

शाबिसकः—आर्ये वशान्तसेने, परितुप्यो राजा भवती वपुशब्देनानु-  
पृच्छति ।

चावदत्त—(सुनकर; सहसा समीप जाकर) मैं ही बालक की देख-भास करूँगा।

(बालक को हाथों से उठाकर छाती से लगाता है)।

धृता—(देखकर) आश्चर्य ! आर्यपुत्र का सा स्वरसंयोग है। (फिर भतीज भाँति देखकर हर्षपूर्वक) भाग्य से आर्यपुत्र ही हैं। मेरे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक है।

बालक—(देखकर, हर्ष के साथ) आश्चर्य, पिता जी मुझे गले लगा रहे हैं। (धृता से) आर्य, बड़ रहीं हो (भौभाग्यवालिनी हो), पिता जी ही मेरी देख-भास कर रहे हैं। (प्रत्यातिङ्गन करता है)

चावदत्त—(धृता से) हे प्रियतम पति के विद्यमान (जीवित) रहते ही तुमने यह क्या कठोर (अग्निप्रवेना का) निश्चय कर लिया था? क्या सूर्य के अस्त को प्राप्त हुए बिना कमनिनी कभी नेत्र मूँदती है? ॥५॥

धृता—आर्यपुत्र इसलिये यह बचेतन कही जाती है।

विदूषक—(देखकर, हर्षपूर्वक) अरे, आश्चर्य है। इन्हीं आँतों से प्रिय मित्र देता जा रहा है। अहो ! सती का प्रभाव, जिससे कि अग्नि में प्रवेन के निश्चय से ही प्रिय मित्रन को प्राप्त हो गई। (चावदत्त से) प्रियमित्र की अप हो, जय हो।

चावदत्त—शाओ मंत्रेय, (आतिङ्गन करता है)।

बेटी—अहो ! (आश्चर्यजनक) संयोग ! आर्य प्रणाम करती हूँ। (चावदत्त के चरणों पर गिरती है)

चावदत्त—(पीठ पर हाथ रखकर) रदनिका उठो। (उठाता है)

धृता—(वसन्तसेना को देखकर) भाग्य से बहन कुशलपूर्वक है।

वसन्तसेना—अब सकुशल हो गई है। (परस्पर भिलती हैं)

शक्तिरु—भाग्य से आर्य का मित्रवर्ग जीवित है।

चावदत्त—तुम्हारी कृपा से।

शक्तिरु—आर्य वसन्तसेना, प्रसन्न हुए राजा आपको बधू कन्द-से अनुग्रहीत करने हैं।

पर्यवस्थापय रज्जु शालिसं बालकम् दिष्ट्या भाग्येन ।

'कथं त्वया कठोरो व्यवसायः स्वीकृतः' इत्याह चावदत्तः धृता प्रति-हेति । हा प्रियेति प्रियतमे, प्रियसि त्वप्रियजने मयि विद्यमाने कः अयं कठोरः निष्ठुरः व्यवसायः अग्निप्रवेसनिश्चयः आसीत् । किम् ? भानो सूर्ये अस्तं गमिषे अस्तं न प्राप्ते सति अम्भोजिनी कमनिनी लोचनमुद्वेगं पुष्पसङ्कोचं करोति । सूर्ये अस्तं मनस्य पूर्वं कमनिनी न सङ्कोचं प्राप्नोषेत् । दृष्टान्तात्कृत्वाः । इन्द्रव्या-दत्तम् ॥५॥

अचेतनेन—अच्यते, चुम्बते इति पाठान्तरम् । अचेतने अनी प्रवेसस्य व्यवसायः निश्चयः तेन ।

वसन्तसेना—अञ्ज कदारपन्नि । [आस्यं, कृतार्थास्मि ] ।

शबिलक—(वसन्तसेनामवगुण्ठय चारदता प्रति) आर्यं किमस्य चिक्षो-  
क्रियताम् ?

चारदत्त—भिक्षो, किं तव बहुमतम् ?

भिक्षु—इम ईदिसा अणिच्चत्तण पेस्सिअ दिउणत्ते मे पस्वग्जाए बहुमापै  
सद्धत्ते । [इदमोद्दशमनित्यत्व पक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्याया बहुमान  
संवृत्त । ]

चारदत्त—सखे दृढोऽस्य निश्चय तत्पृथिव्या सबिहारेषु कुलपति-  
रयं क्रियताम् ।

शबिलक—यथाहायं ।

भिक्षु—पिअ णो विअम् । [ प्रियं न प्रियम् । ]

वसन्तसेना—सपर जीवाविदग्धि । [साप्रत जीवापितास्मि । ]

शबिलक—स्वावरकस्य किं त्रिमताम् ।

चारदत्त—सुवृत्त, अदासी भवतु । ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानाम्भ्रि-  
पत्तबो भवन्तु । अन्दवण पृषवीदण्डपात्तरो भवन्तु । तस्व र ष्टीवरत्रालस्य  
यथैव क्रिया पूर्वमासीत्, वर्तमाने तथैवास्मास्तु ।

शबिलक—एव यथाहाय परमेत मुञ्च मुञ्च । व्यापदग्रामि ।

चारदत्त—अभय शरणागतस्य (शत्रु कृतापराध- (१०।१४) इत्यादि  
पठति)

शबिलक—तदुभ्यता विं ते भूय प्रिय करोमि ।

चारदत्त—अत परमपि प्रियमस्ति ।

सख्या चारित्रशुद्धिचरणतिपतिन शत्रुरूपेण मुक्तः

प्रोत्साहारातिमूल प्रियसुहृदचलामार्यकं शास्ति राजा ।

प्राप्ता भूय प्रियेय प्रियसुहृदि भवान्सङ्गतो मे वयस्यो

सख्यं किं चातिरिक्तं यदपरमघृणा प्रापयेद्भू भवन्तम् ॥१५॥

सविधानं विधानम् आयोजनं वा । शोचिताः सुहृद्वर्गं यस्य तथाभूतः ।  
बहुमतम् अभोषितम् ।

सखमेव प्रियं जातमतं परमपि किं प्रियं स्यादित्वाह चारदत्तः—सख्येति ।  
चारित्रस्य शुद्धिं पवित्रतां निर्दोषतां वा सख्यां प्राप्ता वसन्तसेनावधापवादकलङ्क-  
परिहृत इत्यर्थः । एष शत्रु शकार अपि चरणयो निपतित मुक्तः च । प्रोत्साहत्तम्  
उत्प्रेक्षितम् अशानिपूर्वं येन स मम प्रियसुहृद् प्रियमित्रम् आर्यं राजा तन् अक्षयं

वसन्तसेना—आयें, कृतायें हो गईं ।

शशिलक—(वसन्तसेना का अवगुण्ठन करके चारदत्त से) आय, इस मिश्रुक का क्या किया जाये ?

चारदत्त—मिश्रुक तुम्हें क्या अभीष्ट है ?

मिस्रु—इस प्रकार की संसार की अनित्यता को देखकर मेरा सव्यास हें दुगना आदरभाव हो गया है ।

चारदत्त—मित्र, इसका निश्चय टढ़ है । बरतः पृथ्वी के घनस्त बौद्ध मठों का कुलपति इसे बना दिया जाये ।

शशिलक—जैना आयें कहें ।

मिस्रु—हमारे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक ।

वसन्तसेना—इस समय मुझे जीवित कर दिया गया है ।

शशिलक—स्वावरक का क्या क्रिया जाना चाहिये ?

चारदत्त—अच्छे आचरण वाला यह अब दास नहीं रहना चाहिये । वे चाण्डाल एवं चाण्डालों के स्वामी बन जायें । चन्दनक पृथ्वी का दण्डनायक (न्यायाध्यक्ष या पुंसिप्त का अग्रज) हो जाये । उस राजदयालक का जैसे पहले काम था, इस समय वंसा ही इसका रहे ।

शशिलक—जैसे आमं ने कहा वंसा ही (होगा) किन्तु इसे छोड़ दो, छोड़ दो । इसे मारता हूँ ।

चारदत्त—शरणागत के लिये अभय है । (शत्रुः कृतापराधः १०।१४ इत्यादि पढ़ा है )

शशिलक—तो बतलाइये कि आपका और क्या प्रिय करूँ ?

चारदत्त—इससे अधिक भी क्या प्रिय है ।

चरित्र की निर्दोषता प्राप्त कर ली, चरणों पर पड़े हुए शत्रु (शकार) को भी मुक्त कर दिया । शत्रुओं को उन्मूलित करके मेरा प्रिय मित्र आर्यक राजा हो गया तथा पृथ्वी का शासन करने लगा । यह प्रिया वसन्तसेना फिर मिल गई । प्रिय मित्र आर्यक से मिले हुए आप मेरे मित्र हो गये । इससे अधिक और क्या प्राप्त करता है, जिसकी मैं अब आपसे प्रार्थना करूँ ।

पृथिवी शान्ति । इयं प्रिया वसन्तसेना म्रुयः पुनः प्राप्ता । प्रियसुहृदि प्रियमित्रे आर्यके सङ्गतः भवान् शशिलकः मे मम वयस्यः मित्रं जानः इति नेपः । किं च अनिरिक्तम् एभ्यः अधिकम् तस्य प्राप्तपीयमस्ति, अधुना अहं चारदत्तः यद् अपरम् वक्ष्ये भवन्तं शशिलकं प्रार्थये । यद् प्रापणीयं तत्पर्वमेव प्राप्तं न किमपि तस्यनव-शिश्येन इति भावः । समुच्चयानङ्गाः काव्यनिर्गुण्य । सधरा वृत्तम् ॥१६॥

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्मुन्ति  
 कांश्चित्पातविधौ-करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्प्राकुसान् ।  
 अन्योन्य प्रतिपक्षसंहतिमिमा लोकस्थिति बोधय-  
 न्नेष क्रीडति रूपयन्वघटिकान्यायप्रसक्तौ विधिः ॥६०॥

तथापोदमस्तु (परतवागम्)

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसपन्नसस्या  
 पर्जन्यः कालवर्षो सकलजनमनोनन्दिनी वान्तु याताः ।  
 मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः, सन्तु सन्तः -  
 श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वी प्रशमितरिपवो धर्मेनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥  
 (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)  
 संहारो नाम दशमोऽङ्कः

विधिरैव जनानां जीवनेन क्रीडा करोतीत्याह चाहस्तः-कांश्चिदिति । कांश्चित्  
 शनान् तुच्छयति तुच्छान् रिक्तान् करोति 'तत्करोति' इति निच् । कांश्चिन् प्रपूरयति  
 वा पूर्यान् करोति । कांश्चिद् उन्नतिम् अभ्युदयं गपति । कांश्चिन् पातविधौ  
 गतनसर्गि करोति च प्रेरयति । कांश्चिन् पुनः प्राकुसान् इवाकुसान् भयति करोति-  
 इत्यर्थः । इमाम् अन्योन्य प्रतिपक्षाणां रिक्ततापूर्णताप्रभूतीनां विरोधिनां संहतिः  
 इत्याय यत्र तादृशीं लोकावस्थां बोधयन् रूपयन्वघटिकानां अतोदरणयन्त्रस्य  
 घटिकानां शुद्धघटानां गः न्यायः पद्धतिः एकस्याः रिक्तता, अन्यस्याः जलपूरण  
 परस्परविन्द उन्नतिः परस्परविचक्षण पतनम् तस्मिन् (न्याये) प्रसक्तः सत्यरः एवः विधिः  
 क्रीडति निश्चिन्तान्कुरारः । सानूँलविभीडितं वृत्तम् ॥६०॥

परतस्य नटस्य वाग्यम् शशीवैवनम् । (टि०)

किन्हीं को रिक्त (पुच्छ) करता है, किन्हीं को पूर्ण करता है। किन्हीं को उपरि की ओर ले जाता है तथा किन्हीं का पतन करता है और किन्हीं को तो व्याकुलता में ही डाल देता है। इस प्रकार परस्पर विरोधियों (रिक्तता-पूर्णता आदि) की समष्टि से युक्त इस संसार की अवस्था का बोध कराता हुआ, कृपयन्त्र (रहस्य) की घटिकाओं की पद्धति का अनुसरण करने वाला वह भाग्य क्रोड़ा करता है ॥६०॥

फिर भी यह होवे—

(भरतवाक्य)

गौर् (प्रचुर) दूध वाली हों, पृथ्वी-सब प्रकार के धान्य से पूर्ण हो। मेघ समय पर बरसने वाला हो, समाप्त जनों के मन को आनन्दित करने वाली वायु चले। प्राणेश्वरी निरन्तर सुखी रहे। पूज्य ब्राह्मण लोग उत्तम शील वाले हो, समृद्धिशास्त्री, शत्रुओं का नाश करने वाले तथा धर्मनिष्ठ राजा पृथ्वी का पालन करें ॥६१॥

(सब निकल जाते हैं)

उपसंहार नामक दशम अङ्क समाप्त

क्षीरिण्य इति । गावः धेनवः क्षीरिण्यः दुग्धवत्यः सन्तु । वसुमती पृथ्वी सर्व-सम्पन्नतस्या सर्वाणि च तानि सम्पन्नाति च तस्यानि यस्यां तादृशी भवन्तु । पर्जन्य मेघः कालपर्यो काले यथासमयं वर्षतीति तथा भवतु । सकलजनानां मनांसि नन्दयतीति तयामृताः वाता पवनाः वान्तु वहन्तु । जन्ममाजः देहधारिणः सततं भोवन्ताम् । अन्नमत्ताः पूजिताः ब्राह्मणाः सन्तः सायुशीलाः सन्तु । धीमन्तः समृद्धिशालिनः प्रशामिताः नागिताः रिपवः शत्रवः यैः तादृशाः धर्मो निष्ठा येषां तादृशाश्च भूपाः भूमिपालाः पृथ्वीं पान्तु पालयन्तु । परिसंख्यालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥६१॥

संहारः उपसंहारः, उपसंहाराख्योऽयं दशमोऽङ्कः ।

इति दशमोऽङ्कः

समाप्तचार्यं ग्रन्थः

परिशिष्ट १

मृच्छकटिकश्लोकानां वर्णानुक्रमणिका

	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
असेन विभ्रत्नरवीरमाला	१०	२१	अग्नेहि चङ अहि	१	२८
आप्राह्णा भूधंजेध्वेता	८	२१	अय हि पातवो विप्रो	६	३६
अङ्गारकविह्वलय	६	३३	अय न सुरतज्ज्वान	४	११
अत्य नद हेमि शुवण्णअ	८	४०	अय तव शरीरस्य	४	७
अद्ध कलेवल पडिबुत्त	१०	३५	अयमेवविधे बाले	६	३१
अद्याप्यस्य तथैव वेश०	८	५	अय पट सूत्रदरिद्रता	२	१०
अनया हि तामालब्ध	३	१५	अये शस्त्र मया प्राप्त	६	२४
अद्यआले पलाअती	१	३६	अल चतु शालमिम प्रवेश्य	३	७
अग्नस्य दृष्टिरिव	१	४६	अवगोध बालअजण	२	१८
अन्य मनुष्य हृदयेन	३	१६	अवनतशिरस प्रयाम	८	१५
अन्यस्यामपि जाती मा	८	४३	अर्धतितपुयी द्विजसार्थवाहो	१	६
अन्यासु भित्तिषु मया	३	१४	अयहरद षोवि तुरअ	६	११
अपण्डितास्ते पुरुषा मत	४	१२	अविज्ञातावसक्तेन	१	५४
अपतितमपि तावत्सेय	८	४२	अशरणशरणप्रमोद-	८	४
अपचा श्रीरेषा प्रहरण०	५	१२	अशी श्रुतिवसे बलिदे	१	३०
अपश्यतोऽय ता बान्ता	७	६	असौ हि दत्त्वा तिमिराय-	३	६
अपापाना कुले जाते	६	३७	अस्मत्समक्ष हि वसन्तसेना	८	३०
अप्येष नाम परिभूत	८	२६	अशच्छय षीतःषा	६	६
अप्रीतिर्भवतु विमुच्यता	८	४१	आश्रुद्विदे शलोक	१०	३६
अग्नुदये अवशाणे	१०	१६	आकर्षन्तु शुभध्व्यंग	१०	५३
अभ्रजं तुह देउ हरो	६	२७	आत्मभाग्यक्षतद्रव्य	३	२७
अम्मुक्षितोऽसि तालिव०	६	१६	आयंकेणायं वृत्तेन	१०	५०
अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेत	१०	६	आलाने गृह्यते हुंस्ती	१	५०
अमी हि वरत्रान्तनिष्ठ-	१०	१६	आलोकनिर्गाला मे	१	३६
अमी हि वृक्षा फलपुष्प-	८	७	आलीकित गृहधिरलण्डिम०	५	१
अमूहि भिस्वा जलदान्तराभि	५	४४	आध्रम वत्स गन्तव्य	१०	३२
अभीक्ष्ण्यमसौवर्ण	१०	१८	आहणिक्य सरोत्त	२	२०

अङ्कः श्लोकः		अङ्कः श्लोकः	
इच्छतं मम वेच्छति ति	८ ३७	एवं दूतमदिककते	१० ५३
इदं गृहं भिन्नमदत्तदम्भो	६ २	एसापापकमूषिका	१ २३
इदं तत्त्वेहमवस्त्वं	१० २३	एशासि वाशू गितगिम्प-	१ ४३
इदानीं मुहुनरेजस्मिन्	६ ६६	एशे गुणनजमगिही	१० १४
इष्टे पवाहिश्रुते	१० ७	एशे पडानि चनगेशु	८ १८
इयं हि मित्रा नरनावलम्बि	३ ८	एशे म्हे तुलितदतुनिदे	८ ४५
इयं रङ्गभवेजेन कलानां	१ ४२	एय ते प्रणयो विप्र	१ ४५
इह सर्वलक्षणिनः	४ १०	एय भो निर्मलज्योन्मो०	६ २४
ईदृशे व्यवहारानो	६ ४०	एया फुल्लकदम्बनीप-	५ ३५
ईदृशः स्ववशातीर्षः	६ ४१	एयाधि वयसो दर्पाङ्कु-	१ ४०
कर्मयोगेन महानु ज	६ ७	एयो असोऽब्रुच्छो	४ ३१
कर्मकृतस्य हृदयानुगुणा	३ ३	एहो ह्येति शिखन्दिना	५ २३
कदासिना मच्छसि	१ १६	ऐरावतोरैरि चतेव	५ ३३
कतिपय भोः पतितमाधु	१० ३१	ओमलष देष मगं	१० ३७
केशवति हि शशाङ्क-	१ ५७	ओहारिजो पवहृषो	६ १३
कथन्तु नाम मेधाः	४ ३३	कः शदास्पति भूतार्थं	३ २४
कलमति नमति वर्षति	५ २६	" "	५ ३४
कुञ्जितनिर्मातितेष्टको	३ २२	कश्चातुषा गोच्छद	१ ५१
कुञ्चिदं सामवेदं मणित०	१ ४	कतापदे गिण्णगिभ्रग	२ ५
कुम्भार्यनिषोदरि	६ १६	कृत्तिकरममबाहुः सिह०	७ ५
कुत्तद्वृत्तशय्यवन्न	५ ६	कस्तृभो दिगजरो	६ ६
कुत्तु मां वहति	१ १२	कस्तु तुहं तनुमज्यो	२ १६
कुताः पुनर्हन्त्येताः	१० ११	कृति कृति सुसहिज	२ ४
कुता निरिच्छरजजत्र०	५ ४	कुञ्चिद्वत्तुच्छयति प्रभूपति	१० ६०
कुताभिरिष्टिनामिः	३ ३०	का उग तुनिदंभा	१० ३५
कुता हृदन्ति व रुदन्ति	४ १४	कानि गोवनिदं वदन्तु	३ ११
कुतेन भयपति भित्तियु	३ १६	कामं प्रशोयतिमिरेष	१ ३१
कुते हि विद्वानुपबद्धकृत्ता०	५ २१	कि अच्छद वीसदा	६ ३
कुतः निष्पत्तमातवर्कनिर्म०	५ ४६	कि पात्यस्य पुरः कनः	७ ३
कुतैरादंत्तमातवर्कनिर्म०	५ २०	कि यासि धावसि वतायनि	१ १८
कुतैरेव मदा गजेन्द्र-	५ १८	कि यानि बालकदलीव	१ २०
कुत मए विग्नविदा	६ २५	कि शै शकके वातिपुल्ले	८ ३४
कुत दोषकचिद्विदं	८ ३६	कि कुलेनोपदिष्टेन	८ २६
कुतेहि वै दमनहृदयन	८ २०	" "	६ ७



	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
किं ते ह्यहं पूवरतिप्रसक्ता	५	२६	स्वप्न दोषमुदाहरन्ति	६	५
किं त्वं वटीतटनिवे०	१	२७	होषार्थं व्रीह्यसतप्तो०	५	१८
किं त्वं पदमंभं पदानि	१	२८	होषायसु प्रतिमुत्तचक्षु०	८	११
किं त्वं भयेन परिवर्तित-	१	१७	जह वज्रसि पादास	२	३
किं नु नाम भवेत्कार्य-	८	३६	जदिन्दुशे लम्बदशाविशाल	८	२२
किं नु स्वर्गात्पुन प्राप्ता	१०	५०	जघा जघा वशदि शम्भ-	५	१०
किं देवस्य छिज्जत	१०	५	स्यति वृषभवेतुर्दश	१०	५६
किं देवस्य चापुलिश	१०	२५	जसधर निलंजस्त्व	५	२८
किं भीमरोगे जमदागिपुत्तं	१	२६	जाणन्तो वि ह जादि	६	२१
कुतो बाष्पाम्बुधाराभि	१०	५१	जाणामि पाण्डत	६	१५
कृत्वा शरीरपरिणाहमुत्त-	३	६	जाणामि ण कीलस्य	२	६
कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रम	६	२२	जादी तुज्ज विगुद्धा	६	२३
हृत्वेन मनुजपतेर्महद्व्यसोकं	७	८	जूदेण त कद मे	२	१७
केयमम्मुदाते शस्त्रे	१०	३८	जे अस्तबल जाणिआ	२	१५
केशवगानपयाम	५	३	जे चुम्बट अम्बिरमाहु-	८	१६
कौं त गुणारविन्द	६	१३	जेण भिह गम्भदाशे	८	२५
कोऽयमेवविद्यो काले	१०	२६	जातोन्विदान्स्थभुन-	५	१६
जीरिण्यं सन्तु भावो	१०	६०	जातो हि किं न सलु	६	६
क्षेमेण ब्रज बान्धवान्	७	७	जाणज्जाणतवहमूपण-	१	२५
क्षणेण गठी क्षणजूलके	६	२	जअलीपयाणभूदे	१०	८
क्षत्त, चरित निहृष्ट, जात	८	३२	ज अ सुअदि अत लिक्ते	१०	६
गता नाश तारा उप०	५	२५	जवबधणमक्का-	२	१
गजेन्ति शैलशिलारेपु	५	१३	जहमज्जगदे शूले	८	१०
गजे वा वयं वा शत्र	५	३१	ज ह अम्हे चाडाला	१०	२२
गुणप्रवाल दिनमप्रशास	५	३२	जिष्वक्कत मूलवपेशिषण्ण	१	५३
गुणुपु यत्न पुरुषेण कार्यं	५	२३	जहादेह जतिलजलेहि	६	१
गुणज्जेव हि कर्तव्य	५	२२	ताकि ण कलअ कालण	१०	१
घोणोन्नतं मुत्तमपाङ्ग०	६	६६	त तस्य स्वरसत्रम	३	५
घन्दनचन्द्रशीलाद्यो	६	२६	तापसा मनसा घामि	१	१६
घाणकनेन जघा शीदा	८	३५	तपोरिदं सत्तुस्तोत्तवा-	१	७
घालुदत्तविनाशाय	८	५५	तेरणजनसहायश्चित्त्यता	१	३१
घण्टासक्तनिमग्नमन्त्रि-	६	१५	सालीपु तार विटपेणु	५	५२
चिरं सलु भविष्यामि	१०	१७	तुलनं चाद्रिराजस्य	६	२०
उग्नं वायुमुपशिपन्ति	६	३	तेनास्म्यहृत्तवरेण	१०	२८

अङ्कः श्लोकः

अङ्कः श्लोकः

त्ववति स्मि तं जयध्रीः  
 मेडा हृतसर्वस्वः  
 त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि  
 त्वदपेक्षितद्विनिपात्य-  
 त्वद्वानं यः समारह्य  
 त्वरया सर्वानं तत्र  
 दस्ता निगामा बचनीद-  
 दाक्षिण्योदकवाहिनी  
 दाक्षिण्य शोचामि  
 दाक्षिण्यस्तुर्यस्य  
 दाक्षिण्यदिप्रदमेति  
 दाक्षिण्यम्बरपाद्मा  
 दाक्षिण्येनामिभूतेन  
 दिग्गङ्गावीरुशमे  
 दिष्टया भो ध्यमान-  
 दीनानां कल्पदृष्टः  
 दुर्वनं नृशेखरञ्जुः  
 दुर्वनोमि विनष्टोऽसि  
 दुष्ट्यानां परमुपमत्नरी  
 द्याः को नृ जलावसेक-  
 दो ज्येष्ठ पूत्रपौत्रा  
 द्रव्यं तर्ह्यं दृष्टेनैव  
 द्रव्यमिदमत्रैव शोके  
 द्विदेवप्रतिश्वकोरनेनो०  
 धर्तृविशुद्धस्य नरस्य  
 धन्यानि तेषां सन्तु  
 धीराभिरायंजनचित्त०  
 धिदस्तु सन्तु दाक्षिण्यं  
 न सन्तु मम विषादः  
 न गदयति पणभवं  
 न पर्वतायै नविनी  
 न भीतो नरपादस्मि  
 न महोत्तलस्त्रिदिसहाति  
 नपनकनितसिद्धं

६ १८  
 २ ६  
 ४ ६  
 १० ४६  
 १० ५१  
 १० ५६  
 ४ १  
 ८ ३८  
 १ ८  
 १ ३६  
 १ १४  
 १ ११  
 ४ ५  
 १० २  
 १० ४६  
 १ ४८  
 ६ ३२  
 २ १३  
 ६ २७  
 ३ १२  
 ६ १४  
 २ ८  
 ४ २५  
 १ ३  
 ५ ४०  
 ५ ४६  
 ५ ४५  
 ३ १६  
 ४ २०  
 २ ७  
 ४ १७  
 १० २७  
 १० ५६  
 १० ३

नरवतिपुरव्यापां  
 नि.स्वातोऽयम न शङ्कितः  
 निवासश्चिन्तायाः  
 निष्पन्दीकृतपद्मपङ्क०  
 नृपा लोकान्तरस्थाना  
 नृपतिपुरयशङ्कितप्रचारं  
 नो मुष्णाम्बला  
 पञ्चविकलरश्च पञ्ची  
 पर्हकक्लिन्नमुखाः पिबन्ति  
 पंचश्रवणा जेग मालिदा  
 पण्ड्याकोतं भास्करं  
 परदृष्टलनिताः परान्मुष्टाः  
 परिजनकथासक्तः  
 परिजातस्य मे राता  
 प्रेदिद्व्यन्पिद्व्यन्पिद्विगुणित  
 नर्दनचपलवेयः स्पृण०  
 पश्यति मा दशदिगो  
 पातु वो नीलकण्ठस्य  
 पादप्यहारपरिमव  
 पादेनैकेन गगने  
 पूर्वं मानादवजाय  
 पूर्वानुवचवरेण  
 प्रभवति यदि धर्मो  
 प्रविरा गृह्णति  
 प्रनरति प्रपवित्रता  
 प्राप्तोऽहं व्यसनदुर्व  
 प्राप्यतेदुष्पसनमहार्णव-  
 प्रियतुदुष्पसनकारणं  
 शनाका पाण्डुरोष्णीप०  
 बहुकुसुमविचित्रिदा  
 बातां स्त्रियं च नपरस्य  
 भय कस्तं जन्मदृष्टो  
 चर्चद् गोष्ठीयानं न च  
 शाम्यानि मे यदि तदा

७ ३  
 ३ १८  
 १ १५  
 ५ २४  
 ६ ४२  
 ३ १०  
 ४ ६  
 ५ ४१  
 ५ १४  
 ८ २  
 ३ १३  
 ४ २८  
 ४ ३  
 ६ ८  
 १ १  
 ५ १७  
 ८ २४  
 १ २  
 ६ २३  
 २ ११  
 ८ १७  
 १० ४४  
 १० ३४  
 १ ५६  
 १ २४  
 १० २५  
 १० ३३  
 ४ २७  
 ५ १६  
 ८ ८  
 ६ ११  
 ६ ४  
 ६ २

अङ्क श्लोक	अङ्क श्लोक		
भीदानप्रपदाण	६ १६	यथा मे जनितः काम	१ १५
भीमस्यानुकरिभ्यामि	६ १७	यस्यार्षास्तस्य सा बान्वा	५ ६
भुजग इव गतौ गिरिः	३ २१	यासां बलि सपदि	१ ६
भ्रक्ष्वेणोप्यर्जयिष्यामि	३ २६	येन ते भवन भित्त्वा	१० ५०
भो मेघ गम्भीरतर	५ ४७	योऽस्माभिर्गिचस्तितो	१ ३६
मंशेण तिरुखामिलरेण	१० २६	योऽह लता कुमुमिता	६ २०
मखशरपरिपूत गोत्रमु-	१० १२	रक्त च नाम मयुर च	३ ५
मंदनमपि गुणविशेषयन्त	४ ४	रक्त तदेव धरवस्त्रमिय	१० ४४
मम मअणमणय	१ २१	रघानुसारी विषम	८ २७
मया किल नृगसेन	६ ३८	राजमार्गो हि शून्योऽय	१ ५०
मया खलु नृगसेन	६ ३०	रुद्रस्वर वागति दायसी	१६ १०
मयाप्ता महती बुद्धि	४ २२	रे रे वीरभ किं किं	६ ८
मयि विनिहितदृष्टि	६ १२	तज्जाए भीलुदाए वा	६ १७
महावाताधमार्तमंहिष०	५ २२	अथा चारित्रशुद्धि	१० ५६
मा दाव जह वि एतो	५ २६	साभशशुसे मम पिदा	६ ६
मा दुग्गदोत्ति परित्ठवी	१ ४३	लामेहि अ साभवत्त्वह	१ २६
मार्जारं व्रमणे मृग०	३ २०	सिम्पतीव तमोऽङ्गानि	१ ३४
अडे निरन्तरमयोधरया	५ १५	लेतप्रभावदहिअभ	२ २
अेषा वपेन्तु गर्जन्तु	५ १६	वश बाए शत्तछिह	३ ११
अेषो जलादं महिषोदर-	५ २	वज्जामि जीप्रमाणे	१० १०
सैर्नय शोः किमिद०	६ ५६	यजिज्ज इव भान्त	७ १
अ समालम्ब्य विश्वास	३ २६	वपंशतमस्तु दुदिन०	५ ४०
" "	५ ७	वपोंदकमुदिगरता	१ ३८
अः वशिषस्वरितगतितः	४ २	वसन्ततेना किमिय	१० ३६
अ स्तार्णं दिवसान्त-	२ १२	वस्त्वन्तराणि सहराणि	६ ३४
अनेन रोचितम्प पुनः	८ ३३	श्रुदादपेण तत्ता शोवस	८ ४६
अया शयैद त्रिपुणं	६ २७	वाप्या स्नाति विचक्षणो०	१ ३२
अश्रवं बुध्य प्रबभे	६ २६	पिचलइ नेउरनुअल	२ १६
अदा तु भाष्यदायपीडितामा	१ ५३	विद्युग्जिह्वे नेदं महेन्द्र	५ ५१
अदि कुप्यसि मास्ति	५ ४५	विद्युदाभिर्ज्वंसतीव	५ २७
अदि गर्जति वारिधरी०	५ ३२	विधिर्नपोपनीतस्तव	७ ६
अदि तावत्कृतान्ते	३ २५	विषयंस्तरमनयेष्ये शीता	८ ६
अहहहृषाहेतोर्मृषा	५ ३०	विभवानुगतता भार्या	३ २०

	अङ्कः	श्लोकः		अङ्कः	श्लोकः
विपसलिलतुनाग्निप्रापिते	६	४३	त तावदस्मद्रथमनार्णवो-	७	४
विपादस्तस्तर्वाङ्गी	४	५	स्यं न मे विभवनाश-	१	१३
श्रेयं करोति तुरगः	५	८	सदा प्रदोषो मम याति	५	३७
श्रेयार्थोऽहृतस्त्वं वदति	६	२१	तमरव्यसनी प्रमादशून्यः	१	५
श्रेयैरेनेन कृतो भवेन्मम	३	२३	समुद्रवीचीव चलस्वभावाः	४	१३
व्यवहारः सविघ्नोऽयं	६	१८	संभमघग्धरकण्ठो	६	२०
शकालघणे क्वु शज्जणे	२	१५	सवंगानेषु विप्यस्ती-	१०	५
संभ्रमघ्न पित्रपोटं	८	१	स्यं मे स्पन्दते चक्षुः	६	१५
मनुः कृतापरामः	१०	५५	जाटोपकूटकपटानृत-	५	३६
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं	८	१६	तिष्णविलाजलहृषो	६	२२
शब्दकालं मए पुष्टे	८	२८	सौधुसुरासवमतिआ	४	३०
शब्दे क्वु ह्येइ लोए	१०	१५	कुञ्जणे क्वु मिच्छाणुकम्पके	३	१
शगिविमलमयूख-	१०	१३	मुत्तं हि दु खान्पनुमूय	१	१०
शरतपलककवलदे	३	२	सुहृष्टः क्रियतामेपः	४	३४
शास्त्रज्ञः कपटानुसार-	६	५	सोऽस्मद्विधानां प्रणयं	१	४५
शिखा प्रदीपस्य मुवर्ण-	३	१७	स्खलति चरण भूमौ	६	१३
शिल मुडिद दुंड मुडिदे	८	३	स्तम्भेषु प्रचलितवेदि-	५	५०
शिलानि मम पितीने	८	१२	निकमो हि नाम शल्बेताः	४	१६
शुनता नि वरदेशागे	१०	२०	स्त्रीभिर्विमानिताना	८	६
शुवगनय देमि पित्रं	८	३१	स्त्रीषु न रागः शयः	४	१३
शुक्लवृत्तस्थितो ध्वाङ्ग-	६	११	हृद्यगांजदो मुहमजदो	८	४७
शून्यमनुमस्य पृहं	१	८	हृत्वा तं कुनूपमह हि	१०	४७
शून्यंशु हेः सलु समाः	५	४२	हृत्वा रिपुं तं त्वमग्रहीनं	१०	४८
शूने विक्रते पंडवे	१	४७	हा प्रेयसि प्रेयसि विद्यमाने	१०	५८
शुद्धस्त्रीरिव चक्रवाक-	५	५	हिगुण्ये जीरकेभद्रमुग्ने	८	१३
सकामान्विप्यतेज्ज्वाभिः	१	४४	हिगुण्येले दिप्यमरीचबुण्ये	८	१४
शङ्खं नैव हि कश्चिदस्य	१	३७	हित्वाहं नरपतिबन्धनाप-	६	१
सन्नेम मुहं वशु लम्भइ	६	३५			

## टिप्पणी

### प्रथम अङ्क

[इस अङ्क का नाम 'अलङ्कार-न्यास' है। वसन्ततना ने आना-जाना बढाने के लिये चारदत्त के घर में अपने आभूषणों को रख दिया—(=न्यास) यह इस अङ्क की प्रमुख घटना है। आरम्भ में नागदी पाठ के पश्चात् प्रस्तावना आरम्भ होती है। प्रस्तावना में सूत्रधार तथा उसकी पत्नी नटी का ब्योपकथन है। नटी के कहने से सूत्रधार किसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करने के लिये निकलता है, तभी मंत्रेय (विदूषक) दिखाई देता है। इस अङ्क के चार दृश्य कहे जा सकते हैं—प्रथम दृश्य में मंत्रेय चारदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध का दिया हुआ उत्तरीय धारण लेकर आता है। चारदत्त मंत्रेय का स्वागत करके उसे देखने को बतल देने के लिये जाने को कहता है। मंत्रेय जानाकानी करता है और चारदत्त दरिद्रता के दुःप्रभाव को स्मरण करता है। द्वितीय दृश्य में शकार, विट, चेट, वसन्तसेना का पीछा करते हैं और वसन्तसेना चारदत्त के घर के समीप आ जाती है। तृतीय दृश्य में चारदत्त जब समाप्त करके विदूषक को बतल देने के लिये भेजता है। रदनिका और मंत्रेय बाहर जाते हैं। इसी समय वसन्तसेना चारदत्त के घर में प्रविष्ट होती है। शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ कर उसको पकड़ लेता है और मंत्रेय द्वारा शकार का विवाद होता है। चौथे दृश्य में रदनिका और मंत्रेय के झोटे पर चारदत्त वसन्तसेना को पहचानता है। दोनों का प्रारम्भिक वार्तालाप होता है। वसन्तसेना न्यासरूप में अपने आभूषण चारदत्त के घर रखकर चली जाती है।]

(पृष्ठ २) १. पर्यङ्क—इत्यादि नागदी के दो श्लोक हैं। शम्भोः शून्येरागः समाधिः यः पातुं यह प्रधान वाक्य है। अन्य पंजी विभक्ति के पद 'शम्भु' के विशेषण हैं। पर्यङ्क का अभिप्राय है—योगान्यास का विशेष प्रकार का व्यासन; जिसे पद्यासन या कीरासन (काले) कहते हैं। पण्य-गाँठ, पालची लगाने के लिये एक पग पर मोड़कर दूसरा पग रखना; जैसे सूई करने के लिये (सस्य बन्धाय) दोहरे सर्प का व्यासना—सपेटना (Coiling round); उससे जकड़े हुए हैं जानु जिसके (बहुबोहि समाप्त)। अर्थात् पण्य बाँधने से दोहरे हुए सर्प के लिपटने के कारण जकड़ गये हैं जानु जिसके ऐसे अशुभ की (समाधि)। अन्तः प्राणावरोध—प्रणायाम के समय प्राणशानु का शरीर के भीतर रोकना। इससे इन्द्रियो का बाह्यविषयक ज्ञान निवृत्त हो गया है तथा वे संयत हो गई हैं। अन्तः—संयत, यथोचित। इन्द्रिय—इन्द्रस्य आरगणः लिङ्गम् (इन्द्र सर्पाय आत्मा का अनुमान कराने वाला चिह्न), इन्द्र + पच् (इच्) आत्मनि० जिसने

रूपरत्न के द्वारा अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन किया है। इस दर्शन के समस्त शक्ति का व्यापार एक गया है। यहाँ तत्त्वदृष्ट्या-मन्मकृष्टि के द्वारा, यह परमः का कार्य है तथा ध्यानतत्त्वत्पम् एक गया है करण अर्थात् इन्द्रिय-व्यापार जिन कर्म में, यह परमः का ज्ञान विद्येय है। आत्मानम्—विशुद्ध चैतन्य या ब्रह्मचैतन्य, वस्तुतः आत्मस्वरूप का दर्शन—एता इन्द्रु स्तद्वेत्तव्यात् (योगसुत्र १।१)। शुद्धमनः नियन्त्रण में वृत्तिप्रतिष्ठा एतानता अर्थात् तल्लीनता, जगत् प्रलय में लगी हुई समाधि (शुद्धे ईशमपटितो यो मनः, तेन ब्रह्मणि तप्तः)—यह अर्थ अधिक समत प्रकृत होता है। समाधिः वः पानु का भावार्थ है—समाधिनिष्ठः शिवः व पानु।

यहाँ पर समाधिनिष्ठ शिव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। यम-नियम-पानन-श्रमायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि—ये योग के आठ अङ्ग हैं। आसन में बैठकर समाधि पश्यत समस्त अङ्गों का क्रमः वर्णन इस पद्य में किया गया है। 'पन्दु' शब्दादि में 'स्विरसुशमातनम्' का स्वरूप है, अन्तः० इत्यादि में प्राणायाम तथा इन्द्रिय-नियंत्रणस्वरूप प्रत्याहार का वर्णन है; 'आत्मनि०' इत्यादि में देववाय-वित्तत्त्व धारणा [योग० २/१] इन धारणा का स्वरूप है तथा 'शुद्धेयमपटित' पर में एत प्रत्यक्षतानता ध्यानम् [योग० ३-२] यह ध्यान का रूप प्रकृत होता है और 'विद्यन्तः' यह पर 'अपेक्षाप्रतिमनि' समाधि का शोचक है ॥१॥

२. पाठ० यहाँ पर 'गौरी' शब्द के प्रयोग से पार्वती की मुद्रा का गौरव अभिव्यक्त होता है जो श्यामान्बुध मृदुल नीले कण्ठ पर विद्युत्प्रता के मरुत है। इस मूढ में कपावस्तु का बीज ध्वनि होता है; यथा—'शिव के कण्ठ में गौरी की मुद्रा' में चारदंत और वसन्तमेना का प्रेम प्रकृत होता है। नीलाम्बुद का वर्णन मंगलधन शिव में वसन्तमेना के अभिचरण का सूचक है। श्वेत तथा श्याम के योग्य वर्णन से एक ओर संसार के शकाराविरुद्ध घुंतापुनं स्वरुह अर्थात् कालुष्य तथा दूसरी ओर वसन्तमेना का पवित्र प्रेम अभिष्णुत होता है। इस प्रकार अत्यन्त रूप में कपावस्तु की प्रस्तुत करने वाली यह पत्रावली नामक नादो है; (देविये वं० व्याहरण) ॥२॥

नादो—देव या राजा आदि को प्रदत्त करने के लिये नाटक के लार्ड में मूर्ति या आगीर्षेवन के रूप में मञ्जुल किया जाता है वही 'नादो' कहलाती है। (देविये वं० व्याहरण); नन्दपति इति नन्दः √ नन्द + वच्; नन्द एव नादो (स्वार्थेण) नन्द + ई (स्वी०) = नादो। नादोनाम मूलप्रार करता है। 'मूलधारः पठेन्नादो मन्मन्स्वरमाश्रितः।' यह आठ पद्यों की नादो है। व्याख्याकारों ने 'पद' की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। वही मूलन और निष्ठन को पद माना गया है; वही श्लोक के एक चरण को ही पद कहा गया है। यहाँ दोनों पद्यों के चार चार चरण, मिलकर हुए आठ पद होते हैं।

मूलधार—रत्नरत्न का व्यवस्थापक। यहाँ 'मूल' शब्द का प्रयोग नाट्योप-करण भवता अभिव्यक्त-निर्देशन के अर्थ में सामानिक है। जिसके हाथ में ममस्त नाट्यो-

प्रकरण होते हैं अपवा जो रङ्गमञ्च की व्यवस्था करता है, वह मुख्य नट अर्थात् अभिनेताओं का निर्देशक सूत्रधार कहलाता है। (विशेष देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका)।

विमर्शकारिणा—विघ्न करने वाले, विमर्श +  $\sqrt{\text{ह}} +$  कृ + किति।

पृ० ४ आर्यसिद्धान्त—आर्य—धेष्ठजन, कुल शीत दया दान धर्म सत्य वृत्तशता। ऋग्वेद इति येष्वेतत्तानाचार्यान् सप्रब्रक्षते। कर्तव्यमाचरन् काममपतंभ्यमानाचरन्। तिष्ठति प्रवृत्ताचारे स र्व आर्य इति स्मृत। 'मिथ' शब्द विद्वान् पुरयो के लिये आदरसूचक उपाधि है।

मृच्छकटिक—मृच्छकटिक या मृच्छकटिका (मृद् + कटिका) का अर्थ है—मिट्टी की गाड़ी। मृच्छकटम् अस्त्यदिमन्निति मृच्छकट + ठन् (इक)। अपवा 'मृच्छकटिका यस्मिन्' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होकर 'मृच्छकटिक' छन्द निष्पन्न होता है। षष्ठ अक्षर में वर्णित मिट्टी की गाड़ी इस प्रकरण की कथावस्तु के विकास में एक विशेष मोड़ दे देती है। अतः इसकी प्रधानता के कारण इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिक रखा गया है। प्रकरण—रूपक के दस प्रकार होते हैं। उनमें से एक 'प्रकरण' नामक है। मृच्छकटिक एक प्रकरण है। (देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका)। प्रयोक्तुम्—अभिनय करने के लिये। व्यवसिता—उद्यत हैं।

३. द्विरवेन्द्र०। यहाँ से प्ररोचना आरम्भ होती है। कवि तथा वाच्य की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों की काव्य की ओर आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है (देखिये स० व्याख्या)। चकोरनेत्र—चकोर के नेत्र रत्ननील होते हैं। चकोर सहस्र नेत्रों से शूद्रक की वीरता प्रकट होती है। विग्रह—शरीर। द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण द्विज बने जाते हैं। यहाँ द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये किया गया है। अनाथात्स्य—अनाथ—अपाह, सत्य—बल, अपाह बल वाला।

४. श्रापेद०। वंशिकीम्—वेश से सम्बन्ध रखने वाली, वेश + ठन्। 'वेश' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं—जैसे १. वेश्याओं का वासस्थान अर्थात् वेशालय २. अग्निवेश कृत नामशास्त्र ३. नेपथ्य। यहाँ वेश (नेपथ्य) सम्बन्धी बला अर्थात् नाट्यकथा यह अर्थ ही अधिक सगत प्रतीत होता है। शर्व—सिव। व्यपगततिमिरे—बला गया है (अज्ञान का) अन्धकार जिनका, ऐसे चक्षु। परमसमुद्रमेव—अत्यधिक उन्नति करने वाले से, 'अश्वमेध' का विशेषण है। इसमें अश्वमेध यज्ञ का महत्त्व प्रकट होता है। "अये अश्वमेध इति नाम विश्वविजयिना क्षत्रियाणामूर्जस्वसः सर्वसत्परिभावी महानुत्कर्षनिबन्धः।" (उत्तर० अक्षु ४) तथा 'यथाश्वमेध क्रतुराद्—सर्वपापानोदन" (मनु० ११ २६१)। इष्ट्वा—यज्ञ करके,  $\sqrt{\text{यज}} +$  क्त्वा। शूद्रक—राजा शूद्रक, मृच्छकटिक का रचयिता (देखिये भूमिका)। अग्नि प्रविष्ट—अग्नि में प्रविष्ट हुआ अपवा परलोक को चला गया। यहाँ कवि का स्वयं ही अपनी आयु की समाप्ति तथा मृत्यु का वर्णन करना असङ्गत-सा प्रतीत होता है। इस असङ्गति निवारण के लिये कई समाधान किये जाते हैं—(१) किन्हीं के मतानुसार ज्योतिषशास्त्र के द्वारा

भविष्यत् काल की बात जानकर यहाँ ऐसा वर्णन किया गया है, प्रविष्ट.' इसमें (आगामी) सूत्रधार वचन की दृष्टि से भूतार्थक 'कन' प्रत्यय है। धारभङ्ग मुनि के समान पत्रविशेष की अग्नि में शूद्रक ने प्रवेश किया था ऐसी प्रसिद्धि है। (२) किसी कवि ने शूद्रक के नाम से यह प्रकरण लिखा और शूद्रक के पुत्र को भेंट कर दिया, अतः शूद्रक की मृत्यु का वर्णन किया जा सका। (३) यह श्लोक वाद में जोड़ा गया (प्रसिद्ध) है। (४) 'अग्नि प्रविष्ट' का तात्पर्यक अर्थ लेना चाहिये अर्थात् शूद्रक मृत्युपर्यन्त अग्निहोत्री बना रहा।

५. समर० । समरव्यसनी—युद्ध-श्रेणी । समरस्य व्यसनं समरव्यसनं तदस्या-स्तीति समरव्यसनी (समरव्यसन + इन्) अथवा समरस्य व्यसनी इति (पठ्योत्तमास) । ककुदं—श्लेष या प्रघात 'ककुद नृपाणाम्' (रघु० ३, ७१) । तपोधन.—तप ही है धन जिसका (बहुब्रीहि)—तपस्वी । परवारण०; पर-गन्धु, दारण-हायी; शत्रु के हाथियों या उल्लुष्ट हाथियों (पराः उल्लुष्टाः दारणाः परवारणा) के साथ बाहुयुद्ध का इच्छुक । अथवा शत्रुओं को रोकने वाले (वारण) बाहुयुद्ध का इच्छुक । इससे शूद्रक, की शारीरिक शक्ति नूचित होती है । किल—निश्चय ही, प्रसिद्ध है ।

प्र० ६. तत्कृतौ—उस (शूद्रक) की रचना में । यहाँ स्पष्टतया मृच्छकटिक की शूद्रक की कृति बतलाया गया है ।

६. अवन्तिपुर्याम्०—प्राचीन काल में 'अवन्ति' नामक एक जनपद (प्रदेश) था, जिसकी राजधानी 'अवन्तिपुरी' (अवन्तीनां जनपदानां पुरी) अर्थात् उज्जयिनी थी । महत्त्व साहित्य में इसके वैभव का अनेकशः वर्णन किया गया है । द्विजसार्थ-बाहू—ब्राह्मण व्यापारी । सार्थं—व्यापारियों का समूह, काफला; सार्थं बहुतीति सार्थबाहू; कारुण्य लेकर व्यापार करने वाला । अधिकाम व्याख्याकारों ने यह अर्थ किया है । किन्तु एष० आर० काले का कथन है कि मृच्छकटिक के अनुशीलन से चारुदत्त के व्यापारी होने का कोई संकेत नहीं मिलता, अतः द्विजसार्थबाहू का अर्थ है—ब्राह्मणश्रेष्ठ, ब्राह्मण जाति का अगुआ a leader of the Brahman community और 'सार्थबाहू' शब्द के इन भावार्थ के लिये प्रमाण है—मल्लिनाथ का—'कुह मासम्ब कृतायंसार्थबाहूम्' (रघु० टीका मङ्गल श्लोक ३) यह प्रयोग । अथवा—सार्थबाहू विनपदत्त का नावी होने के कारण चारुदत्त को भी सार्थबाहू कह दिया गया है । 'सार्थबाहू' उनकी पारिवारिक उपाधि रही होगी ॥६॥

७. तथोरिदम् । तयो—उन दोनों (चारुदत्त तथा वसन्तसिना) का, इसका 'नयप्रचार' आदि के माय-अन्वय है । तयो. नयप्रचारम्' (आदि) इदं सर्वं चकार—यह भूतार्थ है । सत्पुरतोत्तवाप्यम्—गणपुरतोत्तव आश्रय यत्प त नयप्रचारम् (बहुब्रीहि) । काले के अनुसार यह 'नयप्रचार' का विशेषण है । अस्तुतः तो इसका मुनङ्गन अर्थ तथा अन्वय विचारणीय ही है । नयप्रचार—नीति के व्यवहार को । स्वरहारदुष्टतां—ग्याय की दोषपूर्णता को, जो चारुदत्त पर बनाये गये मिथ्याभियोग



मे प्रकट हुई । इन्हार—विवाद अथवा विवाद-निर्णय सम्बन्धी विचार । भवित  
व्यता—होनहार को, विधिविधान को, जिसका अर्थ १० ६० में मिलता है ।

सङ्गीतशास्त्र—(यही) रङ्गशास्त्र । कुसोलवा—नट, अभिनय करने वाले  
(actors) । आं ज्ञातम्—अपनी शौर्यता या स्मरण करने कहा गया है ।

= शून्यम्० । शून्य—सून । अपुत्रस्य—नाभित पुत्र मस्य स अपुत्र तस्य  
(बहुव्रीहिः) । विरशून्यम्—दीर्घ बाल तत्र सून । दिशः शून्या—दिशायें सूनी हैं । ॥

सङ्गीतकम्—सङ्गीतमेव सङ्गीतकम् । पुष्करबीजम्—बमल के बीज, वे सूर्य  
के साथ से सहज में ही मूल जाते हैं । छटसटायेते—छटसटा करती है, अव्यक्त शब्द  
के अनुकरण 'छटस्' शब्द से डाच् प्रत्यय होने पर द्विव होकर 'छटसटा' शब्द बनता  
है, छटसटा + य (क्यप्) 'लोहितदिडाज्य क्यप् (३/१/१३), आत्मनेपद प्रथम पुरुष  
द्वि० में छटसटायेत रूप होता है । इस प्रसंग में भास के चारुदत्त नाटक में कोमल-  
कान्त पदावली का प्रयोग किया गया है—“पुष्करपत्रपतितजलबिन्दू इव चञ्चलायेते  
अत्र मेक्षिणी ।” कार्यं—स्त्री से सम्भाषणादि कार्यं, 'कार्यं तश्चोत्तमाशीना कार्यो  
भाषाव्यतिक्रमः'—यह नाट्य-नियम है ।

प्रयोग—अभिनय का कार्यं (The part he had to play—M R Kale)  
अथवा प्रयोगवशात्—नाट्य प्रयोग के नियम के अनुसार (दे० स० व्याख्या) ।

पृष्ठ ६ । अविब—खेद है । यह आश्चर्य तथा खेद के भाव को प्रकट करने  
वाला अव्यय है । सविधानकम्—आयोजन, भास ने केवल 'सविधा' शब्द का प्रयोग  
किया है । रथ्या—गती । परिवर्तन—भाजने के लिये धुमाना । कृष्णसारः—चित्त-  
कवरी । विशेषक—तिलक । स्निग्धगन्धेन—धृताति स्निग्ध पदार्थों की गन्ध से ।  
प्राणाधिकम्—जितनी जीव न सहन कर सके उससे अधिक, प्राणायाम—यह पाठान्तर  
है, इसका अर्थ है—जीवन को अतिशान्त करके । प्राणात्म्यं बाधते नं धुमुक्षा—मूल  
के मारे प्राण निवस रहे है । चर्करम्—रग और गन्ध मिश्रित प्रलेपन । धुमनस—  
पुष्प (स्त्रीलिङ्ग) । आर्ये—पत्नी के लिये सम्बोधन, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा  
गया है—'बाष्पो नटीमूत्रधराकार्यनाम्ना परस्परम् । शब्दाभ्य—चुलाकर, पुकार कर ।  
परमार्थम्—वास्तविक बात । नेपथ्य—(१) नटी के वेप रचना का स्थान, (२) 'नेपथ्यं  
स्याज्जवनिका ।' (३) वेप । यहाँ प्रथम अर्थ है ।

नियोग—आज्ञा । अनुष्ठीयताम्—पालन किया जाये, अनु + √स्था (कर्मणि)  
सोऽ प्र० पु० एक० । अशितभ्यम्—राने योग्य वस्तु √अश् + तव्य । गुडोदन—गुड  
से मिश्रित भात । ओदन—भात । तण्डुल—चावल । रसापनम्—सरस, रसयुक्त ।  
आशासन्ताम्—आशीर्वाद देवें, आ + √शसु (इच्छार्थक) आशियि सोऽ प्र० पु० बहु० ।

पृष्ठ १० । 'स्वगत' और 'प्रकाश'—ये वस्तु को प्रकट करने के दङ्ग हैं । जो  
[ब्रह्म सुनाने योग्य नहीं होती उसे मन ही मन कहा जाता है और वह 'स्वगतम्' या  
'आत्मगतम्' कहलाती है, किन्तु जो सबको सुनाने के लिये प्रकट रूप में कही जाती  
है उसे 'प्रजापाम' कहते हैं । वरुणसम्बुध इव—इसने जनेव अर्थ किये गये हैं, जैसे

(१) वरम्ब—देवकी में काम जाने वाला लकड़ी का लट्ठा, लम्बुक—उस पर बंधा हुआ मिट्टी का थुआ (स्यूग)। उसे कुछ बारि से जल निकालने के लिए ऊपर उठा कर नीचे गिराया जाता है। (पृथ्वी०)। (२) कुछ व्याख्याकारों के अनुसार डाट या मिष्ट के वाधार-हेतु जो 'दूना' तैयार किया जाता है वही 'वरम्बलम्बुक' कहलाता है, उसे पहले बनाया जाता है और फिर गिरा दिया जाता, (३) एम. और. कामे का मत है कि लट्ठता हुआ धान का डेर (वरम्ब-नृगसंघ) ही वरम्बलम्बुक कहलाता है जो तेज वायु के झोंके के द्वारा उड़ाकर नीचे गिरा दिया जाता है। 'वरम्ब' शब्द का अर्थ भी इन अर्थ में कौकम में प्रयोग देखा जाता है।

तत्कामिति—यहाँ वरम्ब निमित्त आदि का कवि ने पुनः वर्णन किया है। इनके द्वारा कवि वरम्ब यस्तु की ओर संकेत करता है, यथा—'वरम्बं निमित्तं' चाक्षरत को कुचपदों के लिये किये गये शकार के प्रयोगों का सूचक है, 'सुमन्तो मुम्बदि' वरम्भ-भाता को ओर संकेत करता है तथा 'पञ्चवरम्बं' अन्तिम पाँच सुन्दर घटनाओं को सूचित करता है—(१) चाक्षरत के चरित्र की परिवर्तता की पुनः स्थापना, (२) चाक्षरत का शकार को अमपदान, (३) आर्षिक की उग्र-प्राप्ति, (४) चाक्षरत और वरम्बसेना का पुनर्निर्माण, (५) शक्ति से मित्रता। कि नामधेयः—किस नाम का (उपनाम)। अतिरूपरतिः—बिना सुन्दर या विद्वान् पति मिलता है अर्थात् अनुकूल पति को दिवाने वाचा। इहलौकिकः—इस लोक का, 'इहलोकं भवः' इहलोक + इत् (इक), पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'इहलौकिकः' प्रयोग होना चाहिये, क्योंकि अनुगीतकारों का '७।३.२० से सम्बन्ध बृद्धि होती है। पारलौकिकः—परलोक में होने वाला। मत्त—मात, अन्त। जूर्णवृद्ध अथवा चूर्णवृद्ध दोनों नाम मिलते हैं सुपण्डु—यह 'स्वा' तथा 'केसकवाप' दोनों का विशेषण है, 'त्वा' के साथ पुष्पों की माना (वधप्रकृ) से मुक्त—यह अर्थ होता है। जैसे वधू के सुवासित केसवास में मान छाड़ी जाती है, इसी प्रकार सुवासित पुष्पनामादि से मुक्त चूर्णवृद्ध को राधा के द्वारा चोरा जाता हुआ मैं कब देखूँगा, यह भाव है।

पृष्ठ १२। कावन्—प्रयोजन। ब्राह्मणेनो—ब्रह्म-पारणा के समय जो ब्रह्म-मोह होता है उसके निमित्त ऐसे ब्राह्मण को निमित्त करवा है। जो सुनधार की पारि-वारिक अवरदा के अनुकूल हो। सुमन्तुदापानुं—इसके प्रकट होता है कि सृष्टि-मात्री उरुविनी मरुती में ब्राह्मण सम्मल से और साधारण लोगों के निमित्त पर उनका आना कठिन या अथवा 'नट' आदि के यहाँ वे आना पसन्द न करते थे। अग्रणीः—अग्र नपतौति, जाने से जाने वाला; अग्र + नी + क्तिच्। अशितुनप्रणीः—यह मोहन के निमित्त निमित्त करवा की एक शिष्ट रीति है।

आपुवः—अन्य कार्यों में तथा हुआ। सम्मलम्—समृद्ध, बढ़िया (Rich & delicious कते); 'सम्मल' शब्द का अर्थ प्रस्तुत (तैयार) भी किया जाता है। निमन्त्रणम्—प्रतिद्वन्द्वी-रहित; कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'शितवत्'; इस शब्द शब्द का अर्थ है—'निमन्त्रण' अर्थात् नित्रों को दिया जाने वाला वृत्ति कहिये

तण्डुलपूर्ण पात्र । यह सम्भव है कि मंत्राय को सुवाने के लिये सूत्रधार ने ईतनी उल्लेख किया हो । किन्तु यह अर्थ कोश के अनुकूल नहीं अतः 'त्रि.सप्त' शब्द ही उचित है । भाव यह है कि इसमें तुम्हारा दूसरा प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है इसलिये समस्त दक्षिणा आदि तुम्हें ही मिलेगी अथवा तुमने हमारे यहाँ भोजन किया इसका किसी को पता न चलेगा (मि०, एम आर. काल स० टीका तथा नोट्स) ।

अत्यादिष्ट — गना कर दिया गया निबन्धः — आप्रह, दुरापह । अनुरोधम् — अनुरोध के लिये, अपना अनुसरण बरवाने के लिये — अनुरोधोऽनुवर्तनम् — अमरकोश ।

आमुखम् — जहाँ सूत्रधार नटी या विदूषक आदि के साथ वार्तालाप करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करता हुआ अपने कार्य की पूर्वा करता है, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं (स० ध्याह्या) । यहाँ सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर इतिषय संकेत करता है, उन संकेतों का यथास्थान उल्लेख किया गया है ।

शामुख भारती वृत्ति का भेद (अङ्ग) है । नट (सूत्रधार) का वह वाक्-अपार (केवल वचन, जिसमें अभिनय प्रायः नहीं होता), जो अधिकांश संस्कृत भाषा में होता है, 'भारती वृत्ति कहलाता है । इसके चार अङ्ग होते हैं—(१) प्ररोचना, (२) धीपी, (३) प्रहसन और (४) आमुख या प्रस्तावना । प्ररोचना का ऊपर (पृष्ठ ४) उल्लेख किया जा चुका है ।

प्रस्तावना भी पाँच प्रकार की होती हैं—(१) उदघात्यक, (२) कपोदघात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक, (५) अवलगित । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—उदघात्यक कपोदघातः प्रयोगातिशयस्तथा । प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ (, ३३) । यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है (लक्षण देखिये स० ध्याह्या); क्योंकि निमन्त्रण के लिये किसी ब्राह्मण को खोजते हुए सूत्रधार ने 'एष ब्राह्मणस्य मित्र मैत्रेय इत एवागच्छति' इत वाक्य में मैत्रेय का प्रवेश सूचित किया है । इस प्रकार सूत्रधार स्वयं ही अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् निमन्त्रणार्थ ब्राह्मणान्वेषण का अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् मैत्रेय के प्रवेश की सूचना देता है ।

कपोदघात नामक प्रस्तावना में तो सूत्रधार के वाक्य का उच्चारण करते हुए अथवा उसके वाक्यार्थ को लेकर किसी पात्र का प्रवेश हुआ करता है । सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थस्य वा । भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कपोदघातः स उच्यते । देखिये साहित्यदर्पण ६, २५ तथा उदाहरण) ।

पृ० १४. समीहितध्यानि—चाहे जायें । तुलपति—जाँच करती है, तोलती है; तुला + निष् + लट, म० पु० एक० । तुलपति यह भी पाठ है, हल्का करती है—यह अर्थ है । उद्गार०—उद्गार=डकार; डकारों में जिनकी सुगन्ध प्रकट होती है ऐसे (गोदक) । अशितः,—जिसने भोजन कर लिया है । अशितम्—अशनम्, अशितम् अस्मैस्तीति अशितः अशं आदिभ्य. अच्' पा० ५।२।१०८॥ यत्तु शालकम् आमने घामने बनी हुई चार शालाओं में पिर हुआ भवन, चतस शालाः समाहृताः यस्मिन्

देत् पतुःशालम् तदेव पतुःशालकम् (स्वार्थे क.) । मल्लकः—व्यञ्जनपात्र, (चित्रकार-  
पत्र में) रङ्ग पात्र; जिस प्रकार चित्रकार चित्रफलक पर ब्रून्द गिरने के भय से तुलिका  
को रंग में छुआता सा है इसी प्रकार विद्वेषक अगुलियों से चस-चस कर व्यञ्जन-पात्रों  
को छोड़ देता था । चस्वर—चौक, प्राङ्गण, चौराहा । वृषभ—बैल; यहाँ पर उस  
वृषभ की ओर संकेत है जो किसी पर्व पर स्वच्छन्द विचरण के लिये छोड़ दिया  
जाता है और निर्बाध रूप से चरकर अत्यन्त पुष्ट हो जाता है, विद्वेषक ने अपने  
तत्कालीन निर्द्वन्द्व जीवन की उसके साथ समानता दिखलाई है । रोमन्यायमानः—  
जुगाली करता हुआ, रोमन्य - जुगाली, रोमन्य वर्तमान रोमन्यायते 'कर्मणो  
रोमन्यतपोभ्यां वतिचरोः पा० ३।१।१५।' इति वयङ् रोमन्य + वयङ् + घानम् ।  
गृहपारावतः—घरेलू या गालू कबूतर । आवातमिभित्तम्—बहेरे के लिये । गृह-  
देवतानाम्—विशेष प्रकार के देवता, जिन्हें गृह-रक्षा करने जाता सपला जाता था  
और अन्न भादि की बलि दी जाती थी । यथानिदिष्ट—जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया  
है अर्थात् बलि का अन्न लिये हुए ।

६. यातां०—बलि.—बलिवेशवदेव यज्ञ के अनन्तर गृह द्वार पर जो बलि का  
अन्न रक्खा जाता है, उसकी प्रचुरता की ओर संकेत है ।

पु० १६ । विष्ट०—उगे हुए हैं तृणाङ्कुर जिनमें (बहुमीहि); दरिद्रता के  
कारण देखभाल के हेतु कोई सेवक नहीं था अथवा वारिद्र्य-अन्ति अकर्मण्यता से  
स्वच्छता की ओर ध्यान नहीं दिया था । बीजाञ्जलिः—बीजानाम् अञ्जलि;  
अञ्जलि भरे बीज । यहाँ 'बीज' शब्द साधारण अन्न को ध्वनित करता है । कीट०—  
कीटों के मुख से खाई हुई (बीजाञ्जलि); इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—(१) कोड़े  
लगे (पुने) अन्न की अञ्जलि अथवा (२) इतनी स्वल्प बीजाञ्जलि कि कीट ही उसे खा  
सकते हैं चिड़िया आदि नहीं । इससे प्रकारान्तर से दरिद्रता का ही कथन किया गया  
है; इस प्रकार प्रतीयमान दरिद्रता का भङ्गपन्तर से कथन होने के कारण यहाँ पर्या-  
योक्ति अलंकार है । 'पर्यायोक्तं यदा भङ्गघा गम्यमेवाभिधीयते ।' ॥६॥

विद्वेषक—नायक का मित्र, उसके व्यक्तिगत जीवन का सहचर एक दिनो-  
प्रिय ब्राह्मण, जो भोजनशूर भी होता है (सज्जन के लिये देखिये सं० व्याख्या)

सर्वकालमित्रम्—सब समय अर्थात् सम्पत्ति तथा आपत्ति में मित्र ।

१०. मृतं हि० । घनान्धकारेषु—गहन अन्धकार में (कर्मधारय) अथवा घना  
अन्धकार है—जिनमें ऐसे स्थानों में ('स्वानेषु' का अध्याहार करके) सुप्तम्—सुप्त से,  
सुप्त के परचात् अथवा सुप्तमनुमय (सुप्त का अनुभव करके); 'त्यज्योपे कर्मण्यधिकरणे  
' इति वातिक के अनुसार कर्म में पञ्चमी । मृतः स जीवति—मृतक के समान जीवित  
व्यतीत-करता है, वस्तुतः यह मृतक ही है, किसी प्रकार प्राण धारण करता है ॥१०॥

११. दारिद्र्यात्—दरिद्रता की वृत्तु में; यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग  
चिन्तनीय है, कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'दारिद्र्यमाश्रित्य' इस प्रकार माश्रित्य  
पद का अध्याहार करके 'त्यज्योपे०' इत्यादि से कर्म में पञ्चमी है । मर रोचते—मुझे

पसन्द है, पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'मह' रोचते' प्रयोग होता है। बाह्य-मनन्तकं दुःखम्—दरिद्रता अनन्त दुःख है; यहाँ पर दरिद्रता को दुःखदायक न कहकर साक्षात् दुःखरूप ही कहा गया है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उक्त अर्थ के साथ उत्तरार्ध वाक्य का अर्थ हेतुरूप में अन्वित होता है, अतः काव्यतिङ्ग अनङ्कार है ॥११॥

पृ० १८ अतः सतत्त्वेन सताप मत करो, यदि दुःखसन्तो में घन नष्ट किया जाता तो पश्चात्ताप ठीक था। आपने जो उदारतापूर्वक प्रियजनो को प्रदान किया है। सुरजन०—यह माना जाता है कि वृष्णपक्ष में देवगण अमृतमय चन्द्रनद्याजो का ब्रह्मपान कर लेते हैं—'त च सोम षण्डेवा पयसिणानुपूवघा.' (रघु० मत्स्य० २.७३)। प्रतिपच्चन्द्र—शुक्लपक्ष की प्रथम तिथि का चन्द्रमा, नवचन्द्र' से अभिप्राय है जिसको मनुष्य पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक मानते हैं। अर्थात् प्रति—प्रति (कर्मशब्दवनीय) के योग्य ने द्वितीया हुई है। वैश्यम् - सत्ताप (Misery)

१२. एतत्तु०—मुझे तो यह अतिथियो के द्वारा की गई अवहेलना ही सतप्त करती है, क्योंकि 'सभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यत' (भगवद्गीता २.३४)। सशुष्क०—सूख गई है घनी मदपत्ति जिसकी ऐसी (गज-बपोल) को (बहुरीहि)। कलात्पये—कालस्य अत्यये अवसाने, मद गिरने का समय व्यतीत हो जाने पर ॥१२॥

दास्या पुत्रा.—दासी के पुत्र, नीच; इसका गाती के रूप में प्रयोग किया गया है। अर्थकल्पवर्ता—घनरूपी क्लेश; जैसे कल्पवर्त (= क्लेश वा प्रातराश) बहुत हल्का साध होता है, इसी प्रकार से घन भी तुच्छ है। अपवा जैसे क्लेश वा स्वल्पकालिक या क्षणिक सहारा होता है इसी प्रकार से घन भी क्षणस्थायी है। कल्प प्रातराशः वर्त्यते अनेन इति कल्पवर्तः प्रातराशः, यह शब्द 'तुच्छ' या 'महत्त्वहीन' अर्थ में लाक्षणिक है। आगे भी इसका प्रायः इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है; 'अनु कल्पवर्तमेतत्' (२।१२-१३) इत्यादि। धरटा—पीला तटइयाँ, भिरंड, बरं। साधन्ते- (१) घन-पक्ष में भोगे जाते हैं (२) गोपालदारक पक्ष में काटे जाते हैं।

१३. सत्यं न० । सत्यम्—सचमुच । भाग्यक्रमेण—भाग्यपरिवर्तन से। सौहृदात्—मित्रता से, शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृद्—'हृदय' के स्थान में 'हृद्' ही जाता है। सुहृदो भावः—सौहृदम् । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सौहृद' (गुहृद + अण्) होना चाहिये; क्योंकि यहाँ उभयपदवृद्धि (हृदभगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७।३।१६) होगी तथापि संस्कृत साहित्य में 'सौहृद्' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है; कालिदास (सखी जनस्ते विमुक्ताः सौहृदः; विक्रम० १.६) तथा भवभूति (सौहृदाद-पृथगाध्यामिमाम्; उत्तर० १.४५) ने भी इसको प्रयोग किया है। सिधिनो भवन्ति—शिथिल + च्चि + भवन्ति ॥१३॥

पृ० २०; १४. दारिद्र्यात् । ह्यम्—सज्जा को। प्रस्रयते—प्रष्ट ही जाता है; सत्यात् प्रस्रयते—यह पाठान्तर है। नित्तेजा. तेज-शून्य। निर्वैद—ऋषय (Despondency) ग्लानि । बुद्ध्या—विवेक से अर्थात् सदसद्विवेक से (बुद्धि-भले बुरे की पहचान) । अहो—आश्चर्य अर्थ में अव्यय । निघनता—निघनता

निर्वाण का सम्प्रसारण 'नि' उपसर्ग भी है। आत्पदम् = स्थान। यहाँ कारणमाला अलङ्कार है। जहाँ पूर्व कथित वस्तु क्रमशः अपने से जागे जाने वाली का कारण होती है वहाँ 'कारणमाला' नामक अलङ्कार होता है—'यद्योत्तर चेत पूर्वस्वार्थस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्' काव्यप्रकाश। १४ ॥

१५. निवास०। परपरिमन्त्र.—अत्यधिक तिरस्कार, परस्वासी परिभ्रमचेति' (कर्मधारय) अथवा दूसरो के द्वारा किया गया तिरस्कार 'परेषा परिभवः' इति (पष्ठी समास)। अपरम्—अन्य, बहुत अधिक 'नास्ति पर मरमात्'। मित्रापाम् = मित्रों की मित्रों द्वारा की गई (कर्त्री पष्ठी)। क्लत्रान्—स्त्री से (नपु० लिङ्ग) यहाँ दखिता का 'चित्ता का निवास' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है। अतः उल्लेख अलङ्कार है। 'शोकामि.' में रूपक है। अग्नि रूप कारण के होने पर भी दाहल्य कार्य नहीं होता, इस कथन में विशेषोक्ति है ॥ १५ ॥

स्मृत्वा अलम्—याद मत करो; पविषेधार्थक 'अलम्' शब्द के योग में √स्मृ + क्त्वा; अलं ध्वनौ प्रतिषेधयोः प्राचा क्त्वा' पा० ३. ४. ४८। स्रुत्यप्ये—चौराहे पर, चत्वारः पन्थाः नमाहूताः पत्र तत्; चौराहे पर बलि देने की एक पुरानी प्रथा थी। मानुष्यः—माताओं को, मान्यन्ते पूज्यन्ते इति मातरः। ये विशेष प्रकार की देवियाँ हैं जो मतभेद से 'ब्राह्मी' आदि सात या आठ मानी जाती हैं। किन्हीं के अनुसार ये ६० हैं। यत्—..... अचित्तेयु—कार्य का उचित पुरस्कार न मिलने पर मनुष्य के हृदय में इस प्रकार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुआ करती है। को गुण—क्या लाभ ?

प० २२ नित्यः अर्थ विधि—यह नित्य कर्म (विधि, पु-), धार्मिक कृत्य (विधि) तीन प्रकार के हैं—(१) निःश—गन्धोग्रामना आदि, जिनके करने से कोई पुण्य नहीं मिलता, किन्तु न करने पर दोष लगता है, 'नित्यान्मकरणे प्रत्यवायमाघनानि सन्ध्यावन्दनादीनि' (वेदा तमार), (२) नैमित्तिक—जो किसी निमित्त से किये जाते हैं जैसे 'चातेष्टि' इत्यादि, नैमित्तिकानि पुत्रवन्गाद्यनुबन्धीनि चातेष्ट्यादीनि' (वेदान्त-सार), (३) काम्य—जो स्वर्ग इत्यादि के साधन माने जाते हैं जैसे 'ज्योतिष्टोम' इत्यादि, काम्यानि स्वर्गादीष्टमाघनानि ज्योतिष्टोमादीनि (वेदान्तमार)।

१६. तपसा०, शमिनां—शमयुक्तो का, शम = मन मयम, मनोनिग्रह; शमः एवानस्तीति शमिनः शमः। इति ग १६ ॥

प्रदोषवेना—रात्रि का प्रथम प्रहर। विट—नाटक में एक व्याक्त जो कि घूर्ण, किसी कथा में कुलग्न, वेग-रचना में बतुर, वाक्कुलग्न, विनोदप्रिय होता है तथा यौष्ठी में बहुत पक्षन्द किया जाता है। यह वेदना और नागरिकों के पारस्परिक सन्देश भी पहुँचाता है, (वेत्तिपे म० व्याख्या)। चेटः—मेवक, शृङ्गार में सहायक। नायक या प्रतिनायक के शृङ्गार में महायक विट और चेट होते हैं जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा है—शृङ्गारोप्य महायक विटचेटविदूषकाद्याः स्युः। भक्ता नर्मसु निनुषाः कुन्तिवद्व्रमान्मन्त्रजाः गुह्याः ॥ ३, ४०। यहाँ पर विट और चेट (प्रतिनायक) गकार के विनोद महत्तर हैं।

१। किम्० । परिवर्तितसौकुमार्या—बदल दिया है या त्याग दिया है सुकुमाता को जिसने ऐसी । विशद—स्पष्ट या स्वच्छ, इसी से बुजाल या दश अर्थ भी होता है । उद्दिग्ना०—यह एक सन्देहास्पद समास है । कुछ व्याख्याकारों ने इसकी क्रियाविशेषण के रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत पाठ को रखते हुए वह व्याख्या उचित नहीं कही जा सकती । अतः इसे वसन्तसेना का विशेषण ही मानना पड़ता है, और इसका विग्रह है—उद्दिग्नापञ्चलकटाक्षरूपेण विसृष्टा दृष्टि यथा सा (पृथ्वी०) । उद्दिग्ना अतएव चञ्चलश्च असौ कटाक्षश्च (कर्मधारय) तत्र विसृष्टा दृष्टि यथा सा अथवा उद्दिग्नापञ्चल च यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणम्) कटाक्षेण विसृष्टा दृष्टि यथा सा । M R काले के अनुसार सर्वश्रेष्ठ विग्रह यह है—उद्दिग्ना चासौ चञ्चला च कटाक्षविसृष्टा च दृष्टि यथा अर्थात् जिसकी दृष्टि व्याकुल, चञ्चल तथा कटाक्षनात करने वाली है ॥ १७ ॥

पृ० २४ शकार — लक्षण ग्रन्थों के अनुसार राजा का साला रखती स्त्री का भ्राता जो दुःखुलोत्पन्न मूर्ख तथा अभिमानी होता है वही शकार कहलाता है । वह शकारी (प्राकृत) बोलता है जिसमें कि 'श वणं (शकार) की बहुलता होती है इसी से वह शकार कहलाता है जैसा कि कहा गया है—'शकारप्रायमापित्वाच्छाकारी राष्ट्रिय स्मृत ।' इस नाटक का शकार, जो सम्मानक है, विशेष महत्त्वपूर्ण है यह प्रतिनायक भी है (देखिए स० व्याख्या तथा भूमिका) ।

१८ कि यासि—शकार की भाषा पुनर्जातया व्यथ प्रलाप आदि दोषों से भरी है । उसकी भाषा का ऐसी ही विशेषताएँ बतलाई गई हैं (देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका) । वानु—जाता, बाला स्याद् वामु—अमरकोष ॥ १८ ॥

१९ उद्ग्राहिता०—चेट की भाषा में अद्भुत उपमाएँ हैं, किन्तु इसका सवाद विट के समान कवितामय एवं विवेकपूर्ण नहीं है । चेट का लक्षण दस प्रकार किया गया है—बलह्रियो बह्वयो विरूपो गन्धसेवक मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽत्येवविद्य स्मृत । अववल्गति—(उतावली के कारण) उछलता सा (ठोकर खाता-सा) जाता है । अववल्गति यह पाठान्तर है स्वामी चासौ भट्टारकश्च, 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग राजा के लिये होता है 'भट्टारको नृपे नाट्यवाचा देवे तपोधने' भेदिनीकोष । यहाँ पर भट्टारक शब्द के प्रयोग से शकार का विशेष प्रभाव प्रकट होता है । कुक्कुट० इत्यादि हीनोपमा है, जो चेट की परिस्थिति के गर्वया अनुकूल है । कुक्कुरशावकः मूढ पाठान्तर है जो शकार के लिये उपयुक्त है ॥ १९ ॥

२० कि यासि० बालकदसी—छोटी बेली । वसन्तसेना लाल रंगमी वस्त्र (रक्ताणुक) धारण किये थी और कौपती सी जा रही थी । वह वामु से सहज प्रकम्पित लाल पुष्पो वाली बदती सी प्रतीत होती थी । बरग—अचल । रक्तोत्पल-प्रकर—लाल कमलों का समूह, वसन्तसेना लाल कमलों की माला पहने थी अथवा केशपाश में लाल पुष्प सूये हुए थी । उन पुष्पों की कनिषा 'एव' एक कर ऐमे गिरने लगी जैसे टाँकी गे 'गनसित' को काटने पर कनियों जैसे गण्ड बिखरते हैं । मन शिल

गूहा—मनसिल की कन्दरा (श्वान)। 'मनःशिला' शब्द स्त्रीनिङ्ग है, अतः मनःशिला-गूहा' होना चाहिये। इसके लिये व्याख्याकारों ने कई समाधान दिये हैं, जिनमें यही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि 'मनःशिला' (स्त्री०) के समान 'मनःशिला' (पुं०) शब्द भी है—महाभागते मनःशिलाशब्दोऽपि दृश्यते इति तथा प्रयुक्ता (पृथ्वीधर) ॥ २० ॥

पृ०-२६। २१: मम०—यहाँ पर शकार का वचन होने के कारण 'मदनम-नङ्गम्' अदि में पुनरुक्ति है, भयभोता, मे 'भय' शब्द निरर्थक है, रामणस्येव कुन्ती' में हवीपमा है यहाँ काल-भेद का ध्यान नहीं रखा गया ॥२१॥

२२. कि त्वम्० विशेषणति—अनिरुमण करती हुई, बटकर होती हुई। पतनेन्द्रस्य भयेन अभिमूता (तत्पुरप)। प्रपित्त—तेज चलता हुआ, दोड़ता हुआ। निरुध्यां—रोक लूँ। न रुध्याम्—न रोक लूँ? यहाँ काकु है, जिससे विपरीत अर्थ प्रकट होता है 'न रुध्याम्' इति न' अर्थात् रोक ही लूंगा। त्वन्निग्रहे०—इसके दो अर्थ हैं—(१) तुझे पकड़ने में मुझे कोई प्रयास नहीं करना अर्थात् मैं अनायास ही तुझे पकड़ सकता हूँ, (२) तुझे बलात् रोकने का मेरा प्रयत्न नहीं है ॥२२॥

भाव—आदरसूचक सम्बोधन है, जिसका नाटक में सेनापति आदि के लिये प्रयोग किया जाता है—सेनापतिरमात्पश्च श्यालो भावेति भाष्यते।'

२३. एया नाणक०। नाणक—शिवाङ्कित सिक्के (पृथ्वीधर)। नाणकमोविद्ध-धन का अपहरण करने वाला, चोर; उनकी कामकृतिका; कशा—कोड़ा; कशा के समान काम को प्रेरित (उद्दीप्त) करने वाली। निर्मास—(निर्+नासा) यहाँ पर 'निर्' अल्पता का चोत्रक है, नीची नाक वाली। कुलनाशिका—वेष्यासक्त पुरुषों के कुल को नष्ट करने वाली। वेशवधू वेशाङ्गना इत्यादि शब्द समानार्थक हैं, यह शकार को उक्ति है अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। वेश—वेश्यालय, 'वेशो वेश्या-जनाथयः'—अमरकोष, अथवा बन्ध अलङ्कार आदि धारण करना। वशनामानि०—यदि देवों के आठ, दस या बारह नामों का पाठ किया जाता है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे गणेश की स्तुति में १२ नामों का पाठ किया जाता है; किन्तु यह वसन्त-सेना दस नामों के रखने से भी प्रसन्न नहीं हो रही है—यह भाव है (एम० आर० काले) ॥२३॥

पृ० २=। २४ प्रसरति० प्रवर्तित—ज्या ही वसन्तसेना त्वरित गति से चलती थी उसके कपोलों में कुण्डलों के अग्रभाग का घर्षण होता था, इसी हेतु उसकी विट-नक्षत्रपिन-बीणा में उपमा दी गई है; यहाँ कुण्डल ही विट के समान है ॥२४॥

२५ अमन्त्र०; द्रोपदी०—यहाँ पूर्वार्ध-उत्तरार्ध दोनों भागों में इतिहास विरह सम्बन्ध दिखलाये गये हैं, राम का द्रोपदी से काल-भेद है। इसी प्रकार विष्वाकर्ण नामक मन्त्रद्वारा का महाभारत में उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु सुभद्रा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शकार का वचन होने से ही यह असम्बद्धता है ॥२५॥

२६. रमय०। रमय—रमण करो, मत्स्यमांसकम्—मत्स्यो मांस, यहाँ चेट ने अपने निम्न स्तर के अनुकूल ही यह बात कही है; उसकी दृष्टि में यह जीवन का



परम सुख ३ । श्वान —संस्थानक के कुत्ते जो मास मछली से तृप्त रहते थे, अतएव वे मृतक पशु आदि को नहीं खाते थे । इस बचन से शकार के मन में मास-मछली आदि की प्रचुरता प्रकट होती है ॥२६॥

२७ कि त्वम् कटी०—कटि प्रदेश में बांधे गये तथा तारा०—चमकदार मोती अथवा (तारे, तारो जैसे मोतियों) से विचित्र और सुन्दर, ये दोनों रचनाबन्धनम्' के विशेषण हैं । निर्ममित०—तिरस्कृत किया है चूर्णित मनसित को जिसने ऐसे मुख से उपलक्षित । बुद्ध व्याख्यातारो के अनुसार जिस (मुख) पर चूर्णित मनसित लगाया गया है (निर्मयिता अवलिप्ता चूर्णमन शिला यत्र) यह बर्ण है ॥२७॥

प० २० । २८ अरमाभि० । अण्डम्—भयङ्कर रूप से, तीव्र गति से (त्रिधा-विशेषण) । अभिसायमाणा—पीछा की जाती हुई । सवन्तम्—घृत् (मूलग्रन्थ) सहित अपाव् धंय आदि के आश्रय सहित भरे हृदय का हरती हुई ॥२८॥

पल्लवक - वसन्तमेना का सेवक परभृति का तथा भागविका—वसन्तसेना की सेविकाएँ । वसन्तसेना के नाम का अनुरूप ही य सुन्दर सजाये चुनी गई है । परिच्छट्ट—छोया गया ।

प० ३२. विलप विलप०—परभृति का' (१—कोमल, २—एक सेविका का नाम) इत्यादि शब्दों के श्लिष्ट अर्थ के आधार पर शकार ने वक्रोक्ति द्वारा उत्तर दिया है ।

२० कि जमदग्निपुत्र, —जमदग्नि का पुत्र परशुराम । केशहस्ते (बेसपाश में) गृहीत्वा—यहाँ केशहस्ते में सप्तमी के लिये द्रष्टव्य है । (आष्टे ६७ अ) दुशासनस्य०—जिस प्रवार दुशासन ने द्रौपदी को खींचा था, उसी प्रकार केश पकड़कर खींचता हूँ—यह भाव है ॥२९॥

३० अति० । वलितम्,—सुन्दर, वलित त्रिषु सुन्दरम्—विश्वकोप । वन्ये—काटता हूँ । मुमूर्षुं—मरने को, जिसकी मृत्यु निवट होती है, भाव यह है कि जिसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है वह भागने से भी कैसे जीवित रह सकती है ? शङ्के मरिष्यतीति —मुमूर्षति → √मृ + सन्, मुमूर्ष + उ ॥३०॥

अनुनय—नम्रता, अनुकूल व्यवहार । तर्षयं—सम्भावना (अपेक्षा) की जाती है । शान्तम्—किसी के ध्यान का निषेध करने के लिये या किसी आशङ्कित अनिष्ट के निवारण की वागना प्रकट करने के लिये 'शान्तं (शान्त पापम्)—इत्यादि का प्रयोग किया जाता है । वृत्तम् अलङ्कारणं—वाभूषणों से बस करो, यहाँ वृत्तम् (=अलम्) के योग में अलङ्कारणं में तृतीया विभक्ति है । कामयितव्यम्—√कम् + णिच् + तव्य ।

पू ३४. माम् अन्तरेण—मेरे विषय में, मेरे प्रति (अन्तरेण के योग में द्वितीया) । मुस्तिग्धा—अनुरक्त । भाव यह है कि यद्यपि यह वेश्या बाहर से मेरे प्रति पूजा प्रकट करती है तथापि मुझे अनुरक्त है । शपे - पादाभ्याम्—यहाँ 'शीर्षं' के स्थान पर 'शीर्षेण' पाठ मुक्त है, 'भावस्य शीर्षेण आदधीयाभ्या पादाभ्या च शपे' यह

अर्थ होगा। कुछ व्याख्याकार 'स्पृष्ट्वा' का अध्याहार करके—भावस्य शीर्षम् अन्वीयाम्या पादाभ्या 'स्पृष्ट्वा' यह अर्थ करते हैं। शकार वित्त को आदरणीय समझता है, अतः यह भाव उचित नहीं प्रतीत होता तथापि शकार का बधन होने से ग्राह्य हो सकता है। पृष्ठानुपृष्ठकपा—पीछे पीछे; पृष्ठानुपृष्ठमन्वस्या क्रियायामिति पृष्ठानुपृष्ठिका तथा; पृष्ठानुपृष्ठ + ठन् (इक) ; आहिण्डमान—धूमता हुआ, आ√हिण्ड + शानच् । वेश० - वेश्यालय में यात के विरुद्ध, अर्थात् वेश्या को तो स्व का समान रूप से स्वागत करना चाहिये ।

३१. तल्प०—युवकजन हैं आश्रय जिसका ऐसा, वेशवास्तः—वेश्या का जीवन । विणय—विशेष रूप में विचारो । धनहार्थम्—धन से ग्राह्य । पण्यभूत—विक्रय वस्तु के समान, ऐसे स्थलो पर 'भूत' शब्द 'समान' अर्थ को प्रकट करता है; पण्यं भूतं पण्यभूतं, सुप्पुपेति नमासः (काले) । सुप्रिय अत्रिय को समान रूप से सेवन करो—इस कथन में 'धनहार्थम्' इत्यादि हेतु दिखलाया गया है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अनङ्कार है ॥३१॥

३२. वाप्याम्०—भाव यह है कि तुम सब का समान रूप से सेवन करो । कुन्ताम्—फूली हुई, √फुल + क्त । नाम्यति = नामयति—शुक्राता है, 'नाम' (नमना) शब्द कण्ठ्यादिगण में है, अतः 'नाम करोति' इस अर्थ-में नाम + यक् → अकार लोप होकर 'नाम्यति' रूप होता है। यहाँ पर 'सर्वं भव' इस कथन में 'विश्याऽसि' यह कथन हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है तथा 'त्वं वापीव लतेव, नीरिव, मे मालोपमा है ॥३२॥

गुणः खलु०—इसमें वसन्तसेना का गुणों के प्रति अनुराग प्रकट होता है। चारुदत्त नाटक में भी ऐसा ही कहा गया है—कुलपुत्रजनस्य शीलपरितोषोपजीविनी पंगिका खल्वहम् । पद्मदासी—जन्म से दासी, यह गाली के रूप में प्रयोग किया गया है। कामदेवायतन०—यह उज्जयिनी का एक प्रसिद्ध उद्यान था, जिसमें कामदेव का मन्दिर रहा होगा। संस्कृत साहित्य के अनेक नाटको तथा कृतानियों में युवक-युवतियों का कामदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। परिहृतं व्यम्—छोड़ना है। उदाहरति—कहना है, उद् + आ√हृ प्र० पु० एक०। चारुदत्तम् अनुरक्ता—अथवा चारुदत्त अनुरक्त—(द्वितीया अथवा सप्तमी) यह शृद्ध प्रयोग है, 'चारुदत्तस्य अनुरक्ता' यह शकार का प्रयोग उचित नहीं। काणेलीमात—काणेली शब्द का अर्थ है—खेल, रू अविवाहित स्त्री जो किसी पुरुष के साथ विवाहित स्त्री के समान रहती हो। वय स्त्री का पुत्र—काणेलीमातकः या काणेलीमाता, यहाँ बहूब्रीहि के अन्त में विकल्प के 'क' प्रत्यय होता है। शकार की माता काणेली थी, अतः उसको 'काणेली-मातः' शब्द में सम्बोधित किया गया है। कहीं-कहीं 'काणेलीमातः' पाठ भी है, शकार की अविवाहित बहन भी राजा पानक के यहाँ विवाहिता के समान रहती थी (रमेव थी) ।

पृ० ३६. अपराध्यता—अपराध करते हुए अप√राध् + अत् त्० वि० एक० ।

३३ अतीव०, देखने में तीव्र अथवा प्रकाश में दूर तक देखने वाली, (आंलोक = देखना, प्रकाश)। विच्छिन्ना—रखी हुई, शक्तिहीन हुई ॥३४॥

३४ लिम्पतीय०—यह श्लोक काव्य प्रकाश में (१०--४१७ तथा ५६८) दो बार अलङ्कारों के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है, यहाँ यमक और अनुप्रास की समृद्धि है तथा उपमा एवं उत्प्रेक्षा की भी। यह श्लोक चारदत्त नाटक (१-१६) में भी इसी रूप में है ॥३४॥

उपलक्षयमि—उपलक्षण बना रहे ही अर्थात् जिसके सहारे दूढ़ रहे हो। भूषणशब्दम्—उपलक्षयमि—इस प्रकार से अन्यय है।

जनान्तिकम्—नाटक में निश्चितश्रव्य उक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) जनान्तिक, (२) अपवारित। जब एक पात्र अपने हाथ की तीन अङ्गुलियाँ उठाकर तथा अनामिका अङ्गुलि को बड़ा किया हुए (निपनाकार रेण) अन्य लोगों को बचाकर किसी एक पात्र से कुछ कहता है तो वह जनान्तिक कहलाता है और जब मुस फेरकर दूसरे से गुप्त बात कही जाती है तब वह सवाद अपवारित कहलाता है (विशेष देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका)।

पृ० ३८। २५ कामम्—(अव्यय) चाहे, यद्यपि, पर्याप्त, जहाँ यह 'यद्यपि' के अर्थ को प्रकट करता है, वहाँ इसके बाद 'तु' शब्द का प्रयोग होता है। प्रदोष—रात्रि का प्रथम पहर। सोदामनी—विद्युत्, सुदाग्न अपत्य स्त्री। सन्धितीना—के स्थान पर 'सविलीना' (भली-भाँति छिपी हुई) पाठ अधिक सगत प्रतीत होता है ॥३८॥

भुत् यस्तत्तेने—माला तथा भूषण उतारने के लिये 'सूचयिष्यति' शब्द द्वारा जो संकेत किया गया था, उसी को इस कथन द्वारा पुष्ट किया जा रहा है। परामुश्य—दृष्टकर। सघोषेन—स्पर्श के द्वारा, स्पर्शनन्द्रिय के अनुभव द्वारा, द्वार के बिचाड़ों के मिलने से (The Joining of the panes of the door—वाले); दंबयोग से (हिन्दी-अनुवाद)।

३६ दारिद्र्यात्०। रक्षारीभवन्ति—विरतृत हो जाती है। सत्त्वम्—बल, मानसिक बल, वीर्यानिशय। यह श्लोक कुछ पाठ-भेद से चारदत्त नाटक में है ॥३६॥

३७ सङ्गम्०। अल्पच्छद—अल्प वस्त्र नागा, अल्प छद वस्त्र यस्य स। प्रकामम्—बहुत बडा ॥३७॥

पृ० ४०। ३८ दारिद्र्य०। विपन्न—नष्ट हो गया है; बेह—शरीर जिसका ऐसे। हे दारिद्र्य, तुझे मेरे जैसा कोई मित्र नहीं मिलेगा—यह चिन्ता है ॥३८॥

सर्वलक्षयम्—वित्त—सञ्जित, आश्चर्ययुक्त; वित्तशतय भाव धँसत्य तेन सहितं यथा स्यात्तथा। वित्त देने के लिये जाने में आनाकानी करने से चाटदत्त अत्यन्त दुःखी हुआ था, अतः मैत्रेय लज्जित हुआ। अभ्युपपत्ति—अनुपह, पतागत। निर्वाप्य—बुझाकर। पिण्डीभूतेन—इकट्टे हुए ने।

पृ० ४२। ३९ अन्तकारे०। परामुष्टा—छुई गई, पक्की हुई। पाप०—पदा

ज्ञान भेद है, चतुर्थं शताब्दी ई० पू० में होने वाले चाणक्य का द्रौपदी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह हतोपमा है जो शकार का बचन होने से क्षम्य है ॥३६॥

४०. एया० । वयसः—आयु के, यौवनावस्था के । कुलपुत्रम् अनुसरति इति अनु√मृ+णिनि (स्त्री) । कुसुमं आदया—(तृतीयातत्पुरुषः) तेषु । यह श्लोक चाण्डाल नाटक में कुछ पाठ-भेद से है ॥४०॥

४१. एया० । वानु—हे वाले । अधिषण्डम्—भयङ्कर रूप से, जोर से (क्रिया-विशेषण) । यहाँ शकार की उक्ति होने से पुनर्क्ति है । चार० में पाठभेद है ॥४१॥

व्यसितम्—करना आरम्भ किया है, वि + अष√सो+ क्त । स्वरसंयोगः—स्वरों का संयोग, स्वर का सम्बन्ध, आवाज । दधिशर—दही की मलाई ।

पृ० ४४, ४२. इयम्० । रङ्गप्रवेशेन—रङ्गशाला में प्रवेश करने से । कला—सङ्गीत आदि कलायें अथवा कामशास्त्रोक्त ६४ कलायें । चार० में यह श्लोक पाठ-भेद से है ॥४२॥

पशुं—जहाँ दलित का पशु बाँधा जाता है वह सूटा (यूप) पशुबन्ध कहलाता है । √बन्ध् + षत् (अ) । फुरफुरायते—फुर-फुर कर रहा है, काँप रहा है, (दक्षिणे पृ० ६ छट्छटापेते) । सहंशम्—योग्य । दृष्टितया—निर्धनता से (करणे तृतीया) । भाग०—भाग एव भागधेयं—भाग्य, उसके समान टेडे यहाँ मैत्रेय अपनी भाग्य-हीनता को ओर संकेत कर रहा है । दुष्टस्य—दोषयुक्त, विण्डे डूप, दीमरु आदि से खाये हुए मूले दाँस के समान ।

पृ० ४६. महाबाहण—ब्राह्मणाश्रम, कुध (ब्राह्मण आदि) शब्दों से पहले 'नद्' शब्द जोड़ने से निन्दा अर्थ प्रकट होता है जैसा कि कहा गया है—“शशे तैले तथा मासे वैशे ज्योतिषके द्विजे । यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते ।” यहाँ पर यह शब्द शिष्टवित्तोद मे प्रयुक्त हुआ है किन्तु इसका भाव बुरा नहीं है क्योंकि इसके बाद विट ने मैत्रेय के प्रति आदर प्रकट किया है । उपमर्द—अपमान ।

४३. मा० । दुर्गं इति परिभव. मा (कर्तव्यः) इसमें दो हेतु दिये गये हैं—(१) क्योंकि कृतान्त (१. यमराज, २. भाग्य) के सामने कोई दृष्टि नहीं है और (२) चरित्रहीन धनी भी निन्दनीय होता है । इस प्रकार यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । नाम—प्रसिद्ध अर्थ या संभावना अर्थ में अव्यय है ॥४३॥

४४. सकामा कामासक्ता, पीछा करने के बौध्दित्य को प्रकट करने के लिये यह विशेषण दिया गया है । त्वाद्योन्मोचना—इससे वैश्यात्व प्रकट होता है । शीत-वञ्चना—चरित्र की हानि ॥४४॥

अनुनयसंबन्धं—विनती का सर्वस्व अर्थात् सवने बड़ी मनाती जो हाथ जोड़-कर पैरों में पड़ना है ।

पृष्ठ ४८. उपालब्ध—उपलभ्य दिमा, बुरा-भला कहा । अनु + √नी = मनाना, विनती करना, स्टे हुए या ऋद्ध-स्तु को राजी कर ।] इत्यादि । समयतः—शतं से ।

पृष्ठ ४२ एष० । प्रणय — अनुग्रह, मृच्छरतिक में 'प्रणय' शब्द का इस अर्थ में अनेक श प्रयोग किया गया है जैसे अलङ्कृतोऽस्मि स्वयमग्रहप्रणयेन भवता (अङ्क ७ पृ०) । येन — जिससे, जिम कारण से अथवा क्योंकि येन प्रणयेन' ऐसा भी अर्थ दिया जा सकता है ॥४२॥

सामुष्णम्—असूयापूर्वक, असूया—गुणों को सहन न करना, गुणों में दोष दिखलाना—'गुणेषु दोषाविवरणमसूया । अशितप्यम—खाना खाने को,  $\sqrt{\text{अण्} + \text{तव्य}}$  । अथवा 'आङ्गिरद्रव्यम् यत् पाठ है, जिसका अर्थ है—दैनिक वस्तु या आज का खाना भी नहीं है ।

४६ सो० । प्रणयं — प्राथनाओं से, याचनाओं से अथवा प्रायंना के अनुरूप दान से । कृतोद्यन—दुबल किया गया, निघ्न किया गया । इन विशेषणों से चारदत्त की उदारता तथा दानशीलता प्रकट होती है । विभवं—घन के कारण, घन के गर्व से । न विमानित—अपमानित नहीं किया, इससे चारदत्त की अनुद्धता प्रकट होती है, 'अनुद्धता सत्पुरपा समृद्धिभिः (नीतिशतक ७०, 'राते' द्वारा उद्धृत) । निदायकालेषु—भीष्मकाल में । हृद—सरोवर । नृणाम्—नृ' शब्द का पठो बहू० । वृष्णा—(१) अभिलाषा (२) हृद पक्ष में—पपासा । शुष्वयान्—(१) दरिद्र हो गया (२) सूख गया । चारदत्त में यह श्लोक पाठ भेद स है ॥४६॥

पृ० ५०. ४७ शूरो० । विरान्त—परारम्भमुक्त । इस पद में अनेक इतिहास विरद्ध एक असंग्रह बातें बही गई हैं, यथा श्वेतकेतु न तो पाण्डव ही है न कोई योद्धा ही । शकार का बचन होना व कारण ही यह असंगति है ॥४७॥

४८ दोनानाम् । कल्पवृक्ष—अभिलाषा पूर्ण करने वाला वृक्ष, कल्पवृक्ष इति (अन्यजनकभाव सम्बन्ध में पठो), पठो तत्पुरप अथवा 'कल्पफलक' कल्पमूरणा वा वृक्षः शाकपायिवादिः—यहाँ उत्तरपद (फलक या पूरण) का लोप हो जाता है । पाँच देववृक्षों में कल्पवृक्ष भी एक है । वे पाँच देववृक्ष हैं—

पञ्चैने देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । मन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् । आदर्शः—दृष्टान्त, नमूना । 'आदर्श' शब्द दर्पण के अर्थ में प्रसिद्ध है—आदर्शते रूपमत्र, जितने अपना यथार्थ रूप देता जाता है आ  $\sqrt{\text{दृच्} + \text{पञ्}}$  । इसी अर्थ के विकसित होने से आदर्श शब्द 'नमूने' के अर्थ में आ गया है । सुचरित-निश्चय—उत्तम चरित्र की बसोटी । जिस प्रकार बसोटी से सुवर्ण की परख होती है उसी प्रकार पादत्त से उत्तम चरित्र का मापदण्ड निर्धारित किया जाता है । शोल०—वेना—पागर का लट, मर्यादा, शीलरूपी मर्यादा का (रे पावन में) सागर (स० व्याख्या) । दक्षिण०—सरल तथा उदार स्वभाव वाला, अथवा दक्षिण एक उदारस्वभाव वाला, दक्षिणदेशी उदारस्वभाव । सत्व—स्वभाव, 'सत्व द्रव्ये गुणे चित्ते व्यसायस्वभावयोः' । स...जीवति—अन्यगुणों से मुक्त होने के कारण वही है । उच्छ्वसन्ति—पीस लेते हैं । यहाँ एक ही चारदत्त का अनेक रूपों में

उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलङ्कार है । शीलवेला' इत्यादि में रूपक है, उच्छ्वसनीय में क्रियोत्प्रेला ॥४८॥

४९. अग्यस्य० । तुम (सकार) को पाकर वह (वसन्तसेना) इसी प्रकार अदृश्य हो गई है जैसे अग्ने की दृष्टि इत्यादि लुप्त हो जाती है—यह भाव है । आतुर—रोमी, योगकुल । पृष्टि—शारीरिक बल । भ्रूसंस्य०—जैसे नाचमस व्यक्ति की विचारशक्ति (बुद्धि) । सिद्धि—कार्यों में सफलता । व्यसनितः—एत आदि व्यसनो में भासक्त की, व्यसनमस्य अस्तीति व्यसनी व्यसन + इन्, द्युत इत्यादि दुर्गणों की व्यसन कहा जाता है । परमा विद्या—उत्कृष्ट विद्या या शास्त्रीय ज्ञान, व्यसनासक्त व्यक्ति की प्राप्ति की हुई उत्तम विद्या नष्ट हो जाती है। क्यों ? इसके लिये विनोपग है स्वल्पस्मृतैः क्योंकि उपमो स्मृति अल्प होती है या क्षीण हो जाती है । अथवा परम-विद्या=परा विद्या या ब्रह्मविद्या, जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । अथ परां यया तदक्षरमधिगम्यते' । व्यसनो जनों के लिये ब्रह्मविद्या अदृश्य ही होती है । अरि०—शत्रु जन के प्रति प्रीति नहीं देखी जाती । इसी प्रकार वह भी नहीं दिखलाई दे रही है । यहाँ कवि ने अमूर्त उपमाओं की सुन्दर योजना की है ॥४९॥

पृ० ४८, ५० आलाने० । आलानं—हाथों को बाँधने का सम्भा या शृङ्खला । बन्गामु-सगाम में, के द्वारा । हृदये गृह्यते—भाव यह है कि किसी नारी के हृदय को बाधित करके ही उसे बन में किया जाता है, बलपूर्वक नहीं, हृदये शब्द में सप्तमी विभक्ति का यही भाव है कि नारी के हृदय को पकड़ कर या बस में करके ही उसके बनना बनाया जाता है । मर्दि०—यदि तुम उसके हृदय को आरुचित नहीं कर सकते तो जाओ । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है, आलान आदि में हस्ती आदि के ग्रहण के समान 'हृदय में' स्त्री ग्रहण की जाती है—इस प्रकार की उपमा में तात्पर्य प्रकट हो रहा है, ॥५०॥

भावः अभावम्—भावः—आदरणीय, विट । अभाव—न भाव (सत्ता, हाना) अनुपस्थिति या अदृश्यता की प्राप्ति हुआ अर्थात्-दृष्टि से ओझल हो गया, यहाँ एक का चमत्कार है । कारुपद०—कीए के पञ्चे के समान सिर तथा माये दाता । विद्रुपक का सिर और माया अनेक स्थलों पर लेंबा नीचा रहा होगा और वह कारुपद के समान मड़ा होगा, अतः इस शब्द का प्रयोग किया गया है । कृतान्तेन—मांस्य के द्वारा ।

पृ० ५४. समुवर्णा—सुन्दर वर्ण (रंग) सहित । वशिनं—प्रदशनं । सुवधारी—सुवधारी की स्त्री नटी । यहाँ नाटक की निदर्शिका। अथ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि संस्कृत नाटकों में स्त्री-सुवधारी का उल्लेख नहीं मिलता । अन्तुनीयमाना—मनाई जाती हुई । अधिकरण—स्वायात्पय ३ व्यवहार—अभियोग । सपु—क्षीम । निपातयतः—प्रतिष्ठ करते हुए, लौटाते हुए—'निपातितं वैशुद्यो दाने न्यासः, पं-मेरी च' हेमचन्द्र ।

५१ कृष्माण्डो—सर्वात्मक (बचकालुका) यह पाठान्तर है । सीमा या—नष्ट होने पर । पूति—विकृति = नाश । शकार का भाव यह है कि उपर्युक्त अस्तु उक्त अवस्थाओं में अधिक समय बीत जाने पर भी नहीं बिगड़ती (नष्ट नहीं होती) इस प्रकार वसन्तसेना की अपित न करने के कारण उत्पन्न होने वाला वैरभाव नष्ट न होगा, साजा बना रहेगा । यहाँ अपस्तुत कृष्माण्ड इत्यादि में पूतिगन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है तथा उससे प्रस्तुत वसन्तसेना को अपित न करने से उत्पन्न वैरभाव के नष्ट न होने की प्रतीति होती है, अतः अपस्तुतेप्रशसा अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सकपट—भालकी से मेरे पक्ष का समर्थन करते हुए । प्रासाद०—इस समस्त पद का अनेक प्रकार का विग्रह एवं अर्थ किया गया है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ क्या है यह निश्चय करना कठिन है । (i) प्रासाद—भास नूतनम् अप्रम अप्रभागे यस्याः सा कपोतपालिका अर्थात् तबीन है अप्रभाग जिसका ऐसी महम की अटारी । (ii) प्रासाद शब्द का कोश प्रसिद्ध अर्थ है 'मत्त वारण' (मतवासे हाथी की आकृति से चिह्नित छत्र) । कपोत-पालिका का अर्थ है—बबूतर पालने का स्थान, यहाँ शकार ने संभवतः ऊपर की अटारी को कपोतपालिका कहा है । अन्यथा—अन्य प्रकार से । कपिलगुलिक—कैय का गोल फल । मडमडायिष्यामि—मड मड शब्द सहित चूरा-चूरा कर दूंगा । 'मडमडायिष्यामि' शब्द की बनावट के लिये देखिये ऊपर छट-छटायेते (पृ० ४२३) ।

पृ० ५६ ५२. निर्वस्कुलम्—बन्धन रहित, कोश से बाहर अर्थात् नगा तलवार । मूलक—मूली, पेरा—इस शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने छिलका (स्वर्. Rind) किया है, वस्तुतः इसका अर्थ मांसपेशियाँ (Muscles) प्रतीत होता है, अर्थात् (यहाँ) मूली के छिलके के भीतर का भाग । उसके रंग की तलवार । यहाँ 'निर्वस्कुलम्' और 'बोश-सुप्त' दोनों शब्दों का विरोध दूर करने के लिये यह बल्पना की जाती है कि शकार ने कथ्ये पर रखने से पहले मग्न तलवार को बोश में रख लिया । बुबध्यमान  $\sqrt{\text{बुबध्यमान}}$  (भोचना) + धानच् (कर्मणि) ॥ ५२ ॥

रदनिका लस्वह सयतमुखी—'रदनिका' उस सेविका का नाम है तथा 'रदनिका' शब्द का अर्थ है दाँत रखने वाली (रदन + ठन्), इस प्रकार भाव यह है कि मेरे मुख में दाँत हैं जो बन्द रहते हैं जिससे मेरा मुख नियन्त्रण में रहता है अतः मैं किसी अवस्था में भी नहीं बहूँगी । मास्ताभिसायी—वायु का इष्टुक, खुली वायु में प्रकृतिगत होने वाला, भाव यह है कि ऐसे स्वभाव वाला होने के कारण वह वस्त्र ओढ़े बिना ही सो गया, किन्तु फिर रात्रि के प्रथम प्रहर के शीत का अनुभव करने लगा । अमुदासीनम्—उदासीनता रहित, पुण्यो से सुगन्धित दुशाले के द्वारा प्रतीत होता है कि चारुवत्त का यौवन उल्लासपूर्ण है, वह अब भी विलासप्रिय है । अपवारितकेन—चारुवत्त के हृष्टिय से हटकर । प्रावृणोति—(अपने आपको) डबती है, क्योंकि चारुवत्त के प्रति गाइानुराग होने के कारण उससे दुशाले की ओढ़ने में आनन्द का

अनुभव करता है। 'अपवागितकेन' शब्द के प्रयोग से यही प्रतीत होता है कि वह दुर्गाले को स्वयं बौद्धकर देखती है। तबाम्बन्तरस्य-गुम्हारे बन्तपुर के, भाव यह है कि मैं बेगम हूँ, जतः मुझे आपके अन्तःपुर में प्रवेश का अधिकार नहीं है, (मेरा ऐसा भाव कहीं कि आपके प्रेम को प्राप्त करके वधु के स्थान में जा सकूँ—यह ध्वनित होता है)। यहाँ 'अम्बन्तर' शब्द का अर्थ केवल 'घर के भीतर' नहीं है, इसीलिये पञ्चम बद्ध के अन्त में जो चारदत्त ते वसन्तसेना से कहा है—'एहि अम्बन्तरेव प्रविशामः' (पृष्ठ २२२) उससे कोई विरोध नहीं है, वहाँ 'अम्बन्तरम्' का अर्थ है—घर के भीतर :

पृ० १५, २३. भाम्यसंप० । भाम्यं—दैन्य, पूर्ववर्तित कुत्रानुभ कर्म—भाम्य धने गुभानुभम्-अभरकोन । पीडितां—पीडा सजाता अस्याः ताम्; पीडा + इत्च् । इजानं—विनि, दंब । यहाँ चारदत्त अपनी भाम्यहोनता तथा दैन्यवनाज के कारण रोग का अनुभव करता है तथा सोचता है कि ऐसे समय सेवक भी मेरी आज्ञा नहीं मानते । यहाँ अप्रस्तुत मित्रादि के वर्णन से प्रस्तुत रदनिका की प्रतीति होती है, अतः अस्तुतप्रगता अलङ्कार है ॥१३॥

१४. अविज्ञाता—न जानी हुई । अंबतस्यतेन—अपने शरीर से छुट हुए अपवा बनवाने में छुट हुए (दक्षिणे सं० व्याख्या) । दूषिता—दूषित हो गई; एक प्राचीन भावना है कि कोई नारी पर पुष्य के अन्न आदि के उपभोग से भी अपवित्र हो जाती है, उसी ओर यहाँ संकेत है । दूषिता—क्योंकि वसन्तसेना चारदत्त से प्रेम करती है उसके लिये वह परपुष्य ही नहीं है । अतः वह उसके अपने आपकी अलङ्कृत सा मानती है । द्वावितां—वसन्तसेना होने, गुप्त्रवश्य धारण कर रही थी, वह द्वितीया के चन्द्रमा (पद्मसेना) के समान प्रतीत होती थी; स्वतः सूक्ष्म दुर्गाले से, आन्धादित होकर वह शरद के नेत्र से आन्धादित बद्धकता के समान शोभित होने लगी । यहाँ उपमा की छटा दर्शनीय है ॥१४॥

न पुत्तम्—परनारी को देखना उचित नहीं; यहाँ कवि ने भारतीय पुरुष का आदर्श दिखलाया है; निलादये 'अनिर्गनीयं परकचनम्' शाकुन्तलम् अङ्क १ ।

१५. पयां—इस कथन से यह प्रकट होता है कि चारदत्त भी वसन्तसेना से प्रति पाद अनुराग रखता था परन्तु अपनी निर्धनता के कारण उसे प्रकट नहीं करता था । कुपुष्य—निन्दित व्यक्ति; कुत्सितः पुरुषः; कुपुष्यः क्योंकि वह साहस नहीं रखता, अतः वह कुत्सित है । इसलिये यहाँ इस शब्द का आशय है—नापुष्य (आपर, या निस्तेज । चारदत्त में यह श्लोक कुंभ पाठ भेद से है ॥१५॥

पृ० ६०. अलङ्कृतान्तिम्—भाव यह है कि 'अलङ्कार' शब्द के प्रयोग से वसन्तसेना की अङ्कार के प्रति द्विर्दलित या गुमा प्रकट होती है तथा चारदत्त के प्रति पादानुराग व्यक्त होता है; इसी वसन्तसेना अपना सोभाग समझती है । देवतीय-स्वात—देवता के समान पुरां या देवता की पूजा, देवतीयस्यानस्य-योम्या—देवता के



समान पूजा के योग्य । तस्यां वेलायाम्—उस समय जब कि उसे रोहसेन को भीतर से जाने के लिये कहा गया था ।

४१ प्रविस० । प्रतोषमाना कठोर शब्दों से प्रेरित की गई । भाग्यवृत्तां वशां (i) भाग्य से प्राप्त हुई वेश्यावस्था को, मिलाइये 'मन्दभागिनी खस्वह तवाभ्यन्तरस्य' (पृष्ठ ६) । (ii) M R काले के अनुसार यह अर्थ सगत नहीं, अपितु इसका भाव है कि वह (वसन्तसेना) चाहदत्त की दुर्दैव कृत दरिद्रावस्था को देखकर गहरी आती, क्योंकि वह समझती है कि चाहदत्त भेग उचित सत्कार न कर सकेगा । इस प्रकार 'भाग्यवृत्तां' का सम्बन्ध चाहदत्त से है । Ryder का मत भी यही है । किन्तु पूर्वोपर सगति से प्रथम अर्थ उचित प्रतीत होता है । आगे विद्वज्जन प्रमाण है । पुरुष०—इत्यादि उत्तरार्ध का अन्वय तथा अर्थ गन्देहास्यद है । बासे के अनुसार इसका उचित अर्थ है—She does not speak boldly on being acquainted with men although he (पुरुष) Speaks much कुछो के अनुसार पुरुषपरिवेन का 'बहु भावते' के साथ अन्वय है और यह अर्थ है—यद्यपि पुरुषों से परिचय होने के कारण वह बहुत बातें करती है तथापि वह प्रगल्भता से नहीं बोलती है । M R काले ने अनेक युक्तियों द्वारा इस अर्थ को अयुक्त बतलाया है (नोटस पृ० ३८) । हमारा अभिमत अर्थ संस्कृत व्याख्या तथा अनुवाद में दिया गया है ॥५६॥

अभिमानात्—अज्ञात के कारण । अनुचितभूमिका०—(i) बिना सूचित पत्र-द्वार से प्रवेश करना आदि अनुचित कार्य करने से, (ii) वेश्या होकर ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने से । इनमें प्रथम अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है । पृष्ठीधर को भी यही अभिमत है । सुप्त—सुसपूर्वक (क्रियाविशेषण) 'प्रणम्य' अथवा 'समागतौ' के साथ अन्वय है । कस्म—एक प्रकार का उत्तम धान । केदार—क्षेत्र या बगारी । करम—ऊँट का बच्चा । जानु—पुटना । इससे प्रकट होता है कि मंत्रिय को तिर ऊँचा नीचा तथा मड़ा था, वह ऊँट के घुटने जैसा सगता था । प्रणम्य—स्नेह या शिष्टताप्रदर्शन (औपचारिकता—Formalities), यह प्रेम स्थिर रहे—ऐसी मूढ व्यञ्जना है (अथ प्रणम्य स्नेह तिष्ठतु स्थिरो भवत्विति मूढाभिपत्तिः—बासे) । 'प्रणय इत्यनेन समोत्प्राप्येना कटाक्षिता इति पृष्ठीधर' ।

पृ० ६२ उपन्यास—औपचारिकता को रहने दो—'यह प्रस्ताव । ईदृशेन—इस प्रकार से; स्वेच्छा से आई हुई, सहवास की सामग्री आदि के बिना ही, काले का कथन है कि यहाँ 'सह' का अध्याहार करके 'ईदृशेन (चाहदत्तेन) सह' 'With him who is poor'; i e without the means of enjoyment or of reprobation obligation—यह अर्थ है । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, पृष्ठीधर का अर्थ भी प्रथम अर्थ का ही समर्थन करता है, तथा चाहदत्त नाटक के कथन (अदक्षिणं खलु प्रथमदर्शने यदृच्छ्यापतया इह वस्तुम्) का 'यदृच्छ्यापतया' सम्बन्धी इसी बात को प्रकट करता है । पुरुषेपु०—पुरुषों के विश्वास पर घरोहर रखी जाती है, घरे की रक्षा को देखकर नहीं—यह भाव है । स्वस्ति—संश्लेष० समझता है कि

वसन्तसेना पुरस्कार रूप में अलङ्कार दे रही है, इसीलिए आशोर्वाद देता है। 'प्रतिरेणव काले' के 'निर्घातपिप्ये' से अन्वय है, यदि 'अचिरेण०' का 'एषोऽस्याः०' से भी अन्वय बिना जाये तो अर्थ होगा—हम इस न्यास से घोड़े समय में ही मुक्त हो पायेंगे, 'विपत्तो ह्यासः विन्यासः'। घसुपथे उपनीत—घोराहे पर रबसा हुआ। राजभार्य०—ऐसी प्रदीपिका जो राजभार्य पर विश्वसनीय हों अर्थात् वहाँ वायु आदि से न बुझ जायें अथवा विशेष प्रकार की प्रदीपिकाएँ, जिन्हें सड़को पर लेकर चलना आवश्यक हो।

पृ० ६४. नि स्नेहा—(१) तैलरहित, (२) प्रेमरहित। यह कथन चारदत्त के प्रति विश्वात्मक सकेत करता है जिससे कि वह वसन्तसेना के अनुराग में न फँस सके।

पृ० १७. उदयति०। कामिनी—सुन्दर युवति; कामोऽस्याः अस्तीति। प्रवृत्ते—समाप्त हो गया है जल जिससे, ऐसी पट्ट जिसमें जल नहीं रहा तथा जो फटी नहीं है; उसमें चन्द्रमा की गौर किरणें दूध की धारा के समान गिरती हैं ॥१५४॥

पृ० १८. राज०—वञ्चना—छला जाना, उगी। बहुदोषा—बहुत से दोष हैं जिनमें (बहुबोधि) 'दोष' का अर्थ है—बुराईयाँ, आपत्तियाँ या बोर आदि के किये गये चरित्र।

### द्वितीय अङ्क

[ 'घूतकर संवाहक' नाम का मह दूधरा अङ्क है। 'संवाहक' का काम करने वाला कोई चारदत्त का सेवक घूतकर हो गया, वह दस मुवर्ण हार गया तथा जुआरियों के मुक्त्रिया द्वारा रोक लिया गया तब वसन्तसेना ने उसे श्रृणुमुक्त कराया—यह कथा अर्थ है। इसमें चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और उसकी सेविका मदनिका का संवाद है। मदनिका वसन्तसेना से उसकी उद्विग्नता का कारण पूछती है और वसन्तसेना चारदत्त के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है। द्वितीय दृश्य में घूत ने श्राप हुआ संवाहक किसी देवालय में शरण लेता है। वहाँ घूतकर और सभिक उसे ढक लेते हैं और उससे रूपया माँगते हैं तथा उसे मारते हैं। इसी समय ददुरक आता है और उसके सकेत से भागकर संवाहक वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। तृतीय दृश्य में वसन्तसेना संवाहक का परिचय होता है। वह चारदत्त का भृत्य रह चुका है वह जानकर वसन्तसेना उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करती है और घूतकर तथा सभिक के वहाँ आने पर उन्हें अपना हस्ताभरण देकर संवाहक को श्रृणुमुक्त करा देती है। वह बौद्धमित्र होने का निश्चय करके चला जाता है। चतुर्थ दृश्य में कर्णपूरक गान का वसन्तसेना का सेवक परिव्राजक वेगधारी संवाहक को वसन्तसेना के मुष्टमोडक नामक हाथी के उपद्रव से बचाता है। चारदत्त उसे पुरस्कार के रूप में एक प्रावारक देता है। कर्णपूरक उसे वसन्तसेना को दिखाता है। ]

पृ० ६६ सन्देशेन—सन्देश के प्रयोजन से (हेतु में वृत्तीय विभक्ति है हेतौ २/१/२३)। किमप्यासिष्यस्ती—कुछ चित्रित करती हुई अर्थात् हृदय में कुछ सोचती हुई। उत्कण्ठा—मिलन की अभिलाषा करते हुए किसी का चिन्तन करना। 'मन्त्रयसि के स्थान पर 'मन्त्रयसे' पाठ भी मिलता है। स्नेह पृच्छति—स्नेह पूछता है, अर्थात् स्नेह का भाव पूछने की प्रेरणा देता है। पुरोभागितः—'पुरोभाग' शब्द का मूल अर्थ है—बाधे होगा, अगुआ होना (forwardness), इसी से विकसित होकर इस शब्द का अर्थ हो जाता है—'दोष देखना'। पुरोभाग अस्यास्तीति पुरोभागी—दोषों को देखने वाला, 'दोषकहक पुरोभागी'—अमरकोश। पुरोभागिन भाव पुरोभागिता—दोषदर्शिता। प्रायः व्याख्याकारों ने यही अर्थ लिया है किन्तु यहाँ इस शब्द का मूल अर्थ भी सङ्गत प्रतीत होता है, मैं स्नेह के कारण पूछ रही हूँ यद्यो (अगुआ) वयस्य के भाव से नहीं—यह अभिप्राय है।

२० ५८ धृयहृदयत्वेन—हृदय के सूता होने के कारण। परहृदय०—(i) दूसरे के मानसिक भाव को जानने में कुशल, (ii) दूसरे के हृदय को वश में करने में कुशल। मदनिका—(i) चेटो का नाम, (ii) मदनमस्यान्तीति मदनिका कामयुक्ता, जैसे काम (मदन) दूसरों के हृदय को वश में करने में चतुर है, इसी प्रकार मदनिका भी, यह भाव है

काम—'तरुणजनस्य' यह एक वाक्य है। अनुगृहीत—कामवश को आपने अनुगृहीत किया है। भाव—यह है कि आप जो काम से प्रभावित हुई हैं यह कामवश पर आपके चेतना ही है। क खलु नाम अथ अत्रभवत्या अनुगृहीतो महोरसमे तथण-जन। यह पाठान्तर है जो अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। सेव्यते—सेवितुम् इष्यते, किसकी सेवा करना अभीष्ट है। रन्तुम्—रमण करने के लिये/रम् + तुम्। कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ से लेकर 'भर्तृचारिकया काम्यते' तक का पाठ प्रसिप्त है, क्योंकि कोई रमणी अपनी अभिलाषा को ऐसे स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं करती। वस्तुतः यहाँ वरततमेना अपनी सेविका (= सखी) से मन की बात कह रही है। अतः इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। उपाशु०—बधा हुआ है स्नेह जिसका उसको। न राजा०—भाव यह है कि आप नैसी रूपवती तरुणी के योग्य ये हो व्यक्ति है, इन्हें आप चाहती नहीं, फिर आप किसे चाहती हैं। उदासीना + इव—अनजान सी, याद यह है कि क्या तुम्हें पता नहीं कि कामदेवायतमोचान में उरु व्यक्ति ने मेरे हृदय का जीत लिया था?—शरणागतता—शरण में आई हुई, शरणम् आगता (द्वितीया तत्पुरुष)। अभ्युपपन्ना—स्वीकार की गई अनुगृहीता।

पृ० ७० श्रेष्ठि—श्रेष्ठ धनादि अस्य स्ति—इति श्रेष्ठी श्रेष्ठ + इत्—श्रेष्ठिन् सेठ। यक्षनीया—निदनीया, देखाभो का स्वभाव यह है कि वे धन के कारण ही किसी व्यक्ति से प्रेम करती हैं, अतः जो गणिका निधन व्यक्ति में अनुरक्त है, वह प्रसक्तनीय (अवचनीया) है, क्योंकि उसका प्रेम धन के कारण नहीं अपितु गुणों के कारण है। अतएव ता—इतीलिये वे मधु का निर्माण करने वाली हैं मधु का आनन्द

लेने वाली नहीं; इसी प्रकार जो गणिका धन के लिये किसी में अनुरक्त होती है, वे दूसरों के आनन्द में 'निम्ने' ही अपना श्रृङ्गार करती हैं, जीवन का आनन्द वे नहीं 'पोगतीं'। पृथ्वीवर ऋ. अनुसार मधुकर्म्यं = मत्ताः (सं० व्याख्या), इसीलिये वे विचार-शून्य कहलाती हैं। ब्रितसन के मतानुसार 'मधुकरि' शब्द के दो अर्थ हैं—(i) 'मधु बनाने वाली-धमरी, (ii) दाक्षक। मनीषितः—मनोवाञ्छित, मनसः ईषितः मनीषितः ('बस्' भाग को पररूप अर्थात् ई हो जाता है)। सहसामिज्ञाप्यमाणः०—यदि मैं सहसा समिचरण करूँगी तो प्रेम के प्रतिदान रूप से उपहार देने में अतमर्ष होने के कारण वे दोबारा मुझसे मिलना पसन्द न करेंगे, इसलिये पहले मैं यह विश्वास दिला देना चाहती हूँ कि आपके दरिद्र होने पर भी मेरा आप में अनुराग है, मुझे पन या उपहार की आवश्यकता नहीं। अतएव—विश्वास उत्पन्न करने के लिये ही।

नेपथ्ये—संवाहक के प्रवेश को सूचित करने के लिये नेपथ्य में, इस प्रकार कहा गया है। यहाँ एक ऐसा दृश्य आरम्भ होता है जिसमें द्यूत का अत्यन्त विषद वर्णन वर्णन होता है, जो भास के 'चारुदत्त' में उपलब्ध नहीं होता। मट्टारक—द्यूतकरों के सभिक के प्रति सम्बोधन है। दशाना सुवर्णाना समाहारः बरासुवर्णम्-तस्य, सुवर्ण-एक सोने का सिक्का, जो प्रायः ८० रत्ती या १० मासे के बराबर होता था। उसकी कीन समय-समय पर बदलती रही है। सुवर्णस्य—यहाँ हेतु के अर्थ में सम्बन्धसामान्य में पड़ी है। रुद्धा—बाँधा गया, रोका गया।

पृ० ७२. अपटीक्षेपेण—बिना पर्दा गिराये या बिना पर्दा हटाये। प्रायेण मन्त्रिकाक्षेप के परचान् ही मञ्च पर पात्र का आगमन होता है किन्तु नाट्यशास्त्र का विग्रह है कि किसी आतंजन या राजा का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही होना चाहिये—'पटीक्षेपो न चक्षेप्य आतंराजप्रवेशने'। इसीलिये यहाँ पवराये हुए संवाहक का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही दिसलाया गया है। हीणामहै—यह खेद अथवा विस्मय अर्थ में अर्थ है। द्यूतकरभावः—द्यूतकरता, जुमारी होगा।

१. नववर्धन०—जैसे तत्काल वर्धन से खुली हुई गधी (गर्दभी) का प्रहार कठोर होता है, इसी प्रकार गर्दभी नामक द्यूतक्रीड़ा की कौड़ी का प्रहार कठोर है—यह अर्थ है। ताडितोऽस्मि—पीटा गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि वह अपनी सम्पत्ति का एक भाग हार गया। अङ्गराजः—अङ्गानां राजा कर्णः तेन मुक्त्या। शक्त्या—(१) शक्ति नामक अस्त्र से, (२) शक्ति नाम की द्यूतक्रीड़ा की कौड़ी से। पटोत्कच इव—कर्ण ने शक्ति नामक अस्त्र से पटोत्कच मारा था, यह महाभारत की कथा है। धातितोऽस्मि—मार दिया गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि उसने समस्त सम्पत्ति हार दी थी ॥१॥

२. लेखक०—द्यूत का विवरण या हिसाब। सभिक—जुवा करने वाला, धमा + इक (ठन्), सभिक अपने घर में या किसी द्यूतघृह में द्यूतक्रीड़ा का प्रबन्ध करता है और वह जयान्वितों को सविधा रोता है। अभिपराय. मनुस्मृति याज्ञवल्क्य

स्मृति तथा मितानुसारा आदि में सभिक तथा दत्त के नियम आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है ॥२॥

विपरीताभ्याम्—उलटे पंरो से, भाव यह है कि मन्दिर की ओर पीठ करके इस प्रकार मन्दिर में प्रविष्ट हो जाऊँ कि सभिक ओर घूतकर मन्दिर से जाते हुए व्यक्ति के पद-चिह्नों को न देखें और यहाँ मुझे न पकड़ सकें। इससे प्रकट होता है कि सवाहक भी दूसरो को घलने में निपुण है। देवीभविष्यामि—देव हो जाऊँगा, भदेवः देव. सम्पत्मानो भविष्यामि—इति देवीभविष्यामि, देव + च्वि + भविष्यामि 'ह्रस्वस्तिपोमे सपद्यकर्त्तरि च्विः' इस सूत्रानुसार अभूततद्भाव में 'च्वि' प्रत्यय करके 'अस्य च्वो' सूत्र से अकार को ईकार होकर रूप बनता है, अथवा 'देवी' और 'भविष्यामि'—ये दो शब्द हैं। यह भी सवाहक की दूसरी बात है कि प्रतिमाद्युन्य मन्दिर में यदि वह प्रतिमा के स्थान पर बैठ जायेगा तो किसी को उसके यहाँ होने की आशंका ही न होगी।

३. र्वा । सभिकं वर्जयित्वा—सभिक के अतिरिक्त, इससे प्रकट होता है कि सभिक का दत्तकरो पर कितना अधिकार था।

पृ० ७४, ४. कुत्र० । विप्रसम्मरु—छाने वाले। कुल यशः०—किसी के देव को न देखने के कारण कुल और कीर्ति दोनों को कलुषित करता हुआ ॥४॥

पदधी—नाम अथवा पदपक्ति, मित्र कश्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवा-धमस्य पदवी (वेणी० ६)। घृतं—दूसरो को घोसा देने में चतुर। सजाप्य—सवेत करके, दोनों परस्पर मठ सकेत करते हैं कि सवाहक यहाँ है। शंल-प्रतिमा—पाषाण-मूर्ति, शिनायाः इयं शंली, शंली चासी प्रतिमा च शलप्रतिमा। घृतेच्छाया विकारस्य सदरण—गोपनम् जुआ खेलते हुए उन दोनों को देखकर सवाहक के मन में भी जुआ खेलने की इच्छा होनेवाली अस्वानविक'था। उस इच्छा से अनेक प्रकार के मनोविकार उसके हृदय में आ रहे थे, किन्तु वह प्रतिमा रूप में छिपा बैठा था, अतः उन भावों को दबा रहा था।

पृ० ७६, ५. कस्ता—पति या कौडी, अन्य महाशुभार एक विशेष प्रकार का घृत। दक्का—घुड़ का नगाडा 'दक् दक्' शब्द करने वाला—दक् इति कायति दक् + √के + अ ॥५॥

६. जानामि० । संनिमम्—सदृश अर्थात् अत्यन्त कष्टदायक। कोकिलः कोकिल इव मधुरः, यहाँ 'कोकिल' शब्द से सक्षणा द्वारा 'कोपल का स्वर' अर्थ लिया जाता है ॥६॥

सम पाठे (?)—मेरा दाँव है—उस समय इस अर्थ में प्रचलित प्रयोग है, शब्द-प्रयोग का निमित्त विचारणीय है। पतति—भूमता है, चक्कर ला रहा है। अथवा—मेरा सिर झुकता है, तुम्हारे चरणों में गिरता है। घृतकरमण्डल्या—जुआरियों की मण्डली ने, इससे प्रकट होता है कि जुआरियों की मण्डली का अत्यन्त कठोर सामन था, इतनीजिये मागे कहा गया है—अजङ्गनीयसमय—ऐसा नियम है जिधका

उल्लंघन नहीं किया जा सकता । 'समवाः शनवाचारकालसिद्धान्तसंविद —अमरकोश ।  
 कथं—वायदा, भाव यह है कि यदि इस समय नहीं दे सकते तो वायदा करो कब  
 देने ।

पृ० ७८ साम्प्रतं गमिष्यामि—संवाहक यह भी एक बाल संतता है, वह आधे  
 स्पे की छूट सभिक से स्वीकार करता है और उष आधे की छूटकर में । वे दोनों  
 इस बाल को समझ नहीं पाते और यही समझते हैं कि दोनों से एक आधे भाग की  
 मुक्ति के लिये ही प्रार्थना की गई है । भट्टारका—स्वामिजनों, यहाँ सामान्य जनो के  
 लिये सम्बोधन है ।

निपुण—बहुर, तुम्हारे कपट को समझने वाला । न धूर्तयामि—धूर्तता का  
 कार्य नहीं करता है अथवा तुम धूर्त नहीं करता है अर्थात् तेरी धूर्तता को जानता  
 हूँ भी दूसरों की नहीं बतलाता हूँ । 'पूर्ति करोति आचष्टे वा' इस अर्थ में तत्करोति  
 उदाचष्टे' इस में 'निपु' होकर 'धूर्तयामि' क्रिया शब्द बनता है । M. R. काफ़े का  
 ध्यान है कि यहाँ 'धूर्त्ये' पाठ उचित है (Read धूर्त्ये, pass. 1st Sing of धूर्त्ये)  
 जिसका अर्थ है—मैं तुझ से छुड़ा नहीं जाऊँगा ।

पृ० ८०. आकाश—आकाश में अर्थात् 'आकाशभाषित' भाषक गणधोक्ति  
 के द्वारा । जब कोई पात्र किसी अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उसकी बात  
 सुनता-छा है तथा 'क्यों भाई क्या कहा ?' इत्यादि कहकर उसे उत्तर देता है, तो वह  
 गणधोक्ति आकाशभाषित कही जाती है । 'आकाशोक्तिः, स्वयं प्रथमप्रत्युत्तरमपाठ-  
 कम्' । बल्ले—हो गया है । असिंहानने—बिना सिंहासन का; 'नास्ति सिंहासनम्  
 बसिन् इति' (बहुब्रीहि), भाव यह है कि धूर्त या धूर्तकर तो एक राजा के समान है,  
 केवल वह सिंहासन नहीं रखता है ।

म यचरति—नहीं गिगता, आशङ्क नहीं करता या कुछ नहीं समझता (१)  
 राजा को अपने सामर्थ्य के कारण किसी से अपमान की आशङ्का नहीं करता (२)  
 धूर्त मानापमान को कुछ नहीं समझता । अर्थजातम्—(१) राजा कर ग्रहण करता  
 है और शासन में व्यय करता है । (२) छूट में पराजित व्यक्ति से धन लिया जाता  
 है और जीतने वाले को दिया जाता है । निशमम्—अत्यन्त । मापंदर्शो—धन प्राप्ति  
 को देखने वाला ॥७॥

८. द्रव्यम्—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—मैंने छूट द्वारा ही द्रव्य आदि  
 प्राप्त किया और इसी से नष्ट कर दिया । (२) छूट द्वारा द्रव्य आदि प्राप्त किया  
 का संकल्प है और इसी से नष्ट हो जाता है । यहाँ प्राप्ति और विनाश दो विरुद्ध  
 पक्षों का एक छूट के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है, अतः विपनाशद्वार है—  
 'विरुद्धयोः संघटना या च तद्विषयं मतम्' ॥८॥

९. ज्ञेता—इस श्लोक में बतलाया गया है कि छूट से सर्वस्व नाश कैसे  
 हो गया ? यहाँ ज्ञेता, पावर, नदित और कष्ट इन चार छुपे में प्रतिष्ठ शब्दों का  
 संयोग किया गया है । व्याख्याकारों के अनुसार ये चार प्रकार के शब्द हैं; उदात्तरी

भारत में इनके ये नाम प्रचलित हैं—(१) नदित = मक्का (एक, पाँच, नौ, सैरह), (२) पावर = दूआ (दो, छ, दस, चौदह), (३) जेता = तीया (तीन, सात, प्यारह, पन्द्रह), (४) कट = पूरा (चार, आठ, बारह, सोलह)। अन्य व्याख्याकार इन चारों को जुए के भिन्न-भिन्न दौब नहीं मानते। प्रथम मत के अनुसार चार बार उसके विरुद्ध दाव आया—‘तीया’ ने उसका सर्वस्व हर लिया। ‘दूआ’ ने उसे ऐसा पिनित कर दिया कि उनका गान सूखने लगा। ‘नक्का’ ने उसे वहाँ ठहरना ही भारी कर दिया और घर का रास्ता दिखलामा तथा ‘पूरा’ ने तो उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया ॥६॥

पृ० ८२, १०. अय पट.० । सूत्रवरिद्धता—सूत की ओपता को, अर्थात् इसके धागे बहुत पुराने हो गये हैं। सवृत—लिपटा हुआ। वहाँ प्रत्येक चरण में ‘अयं पट.’ इन शब्दों का प्रयोग है अतः ‘अनवीकृतत्व’ दोष है, ऐसा कुछ व्याख्याकारों का कथन है। अन्य व्याख्याकार इसे मूल का कथन होने से दोष नहीं मानते ॥६॥

अय तपस्थी—यह बेचारा, सभिक (मायुर) की ओर संकेत है।

११ परदेन यो हि—ओ रे, (अहम् इति शेषः) उत्सम्भितः (उद्वं + सम्भितः) सटका हुआ। भाव यह है कि मेरे जैसे सहनशील एवं शक्तिशाली का बेचारा मायुर क्या करेगा ॥११॥

खलोकियते—सताया जा रहा है, खलोकण (१) कुचसना (२) आघात पहुँचाना (३) दुर्गवहार करना (४) ताड़ना या धांसना करना। अन्तरमन्तरम्—अवकाश—अवकाश, भीड़ में प्रवेश के लिये मार्ग की प्रायना के समय इस वाक्यांश का प्रयोग होता है। धृतं—जुआरी।

१२. य स्तब्धम्० । इस श्लोक में पराजित जुआरी द्वारा भोये जाते हुए कण्टो का उल्लेख किया गया है। आमतशिरः—यह पाठान्तर है; आमतं शिरः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा ज्ञात् (क्रिया विशेषण)। मस्यामतकोमलः अत्यन्तसूक्ष्म तथा कोमल। अस्यापत०—यह पाठान्तर है। अस्यापतः = अकृतार्थम्, श्रम न करने वाला। धृतप्रसंगेन किम्—यह भाव है कि धृत अत्यन्त कष्टसाध्य है जो कष्ट सहन नहीं कर सकता उसका धृत से क्या सम्बन्ध ? ॥१२॥

पृ० ८४. सुण्ठीहृतम्—लपेटा हुआ। कठकरणम्—(१) ‘पूरा’ नामक दाव के द्वारा (२) वापस करके ? (३) कर्ज का अर्थ है चटवाई अतः चटवाई बनाकर यह अर्थ उचित प्रतीत होता है, भाव यह है कि चटवाई धूलने जैसा साधारण सा कार्य करने दस सुवर्ण दे दूगा।

१३. दुर्वर्णं—नीच वर्ण का। श्यापाघाते—मार जाटा है ॥१३॥

शोसपह—पुनः पुनः सेसे, √शील (पुरावि) + सोद्। भाषणागः—बहुने वाला, अ + √षध् + शानच्। धृतं = धृतकर, जुआरी; धूर्ताग्गवेवी कितवोऽग्ग-धूर्ता धृतवृत् समा.—अमरकोश। मिथ्या + भावार्थोमि इति च्छेदः—यहाँ काकू है। भाव यह है कि मैं प्रसिद्ध जुआरी मायुर भी क्या जुए को मिथ्या होने दूंगा ? अर्थात्

हारे होने से देव धन न लेने पर द्यूतव्यवहार दुषित होता है। अतः द्यूत के नियमों की रक्षा के लिये मैं इनमें सुवर्ण पणित्त हूँ। (देखिये सं० व्याख्या तथा काले तोड़त पृ० १२) सम्मिलितवृत्त—द्यूतकारों की सभा के नियमों से टोड़ने के कारण तुम परिशुद्ध हो, यह भाव है।

पृ० ८६ एवमेव—द्यूत के नियम तोड़ने के लिये ही। सर्ववन्—दीहिता की धरणा करने के लिये ही। अन्तरपति—बीच में पड़ता है। प्रतीपम्—उल्टा, इसका व्युत्पत्तिवत् अर्थ है—जल के प्रवाह के विरुद्ध; प्रतीपता आपो दस्मिन्—प्रति अप्—क्यू के अकार की 'ईकार' (इपत्तल्लसर्गमोश इत् १।३।३७) हो जाता है। पुरघतो—शिलाभ ('शिलानिभा' प्राकृत), पुस. चरति (स्वपूरयात् पुरपात्तरं चरति) इति पुरघतां।

पृ० ८८, विरोधता—विरोध कर लिया। शक्तिरू—दृष्टीय अक्षु में जाने वाला एक पाव। सिद्धावेरोन—मिदस्य जादेनेन; मन्नादि की सिद्धि प्राप्त करने वाला व्यक्ति सिद्ध कहलाता है, उसके निर्देश के अथवा सिद्धः आदेशः यस्य (बहुव्रीहि), जिसका कथन सदा सत्य होता है (काले)। अस्मद्विषयो—इस प्रबन्ध में यही सर्वप्रथम एक योजनावत् इच्छा का संकेत निरूपा है। भयम्—दसते वसन्तसेना की शरणागत-व्यतिरिक्ता प्रकट होती है; क्योंकि सभी वह सवाहक के विषय में कुछ नहीं जानती। अनादृष्ट - खोल दो; वसन्तसेना घोषणी है कि धनिक से छोड़ धन लेकर पीछा छोड़ना या सकता है। अतः डार बन्द करने की आवश्यकता नहीं। तुलितम्—तुना हुआ, सीमित या अपनी शक्ति के अनु-हून; यह धनिक से होने वाले भय से नहीं डरती, यह आशय्य की भाव है।

१५. पं०। कान्तार—दहन वन का दुर्गम मार्ग; 'कान्तारं वनं दुर्गमं' मन्तरकोश ॥१५॥

सन्निवेशिन्—देख लिया गया है; इनके में कही गई बात का मैं (संपन्न रूप से) दृष्टान्त है अर्थात् मैंने अपनी शक्ति को न देखकर द्यूतकर्म में धन हरा दिया है, उसका ही यह दुष्परिणाम भोग रहा हूँ। कलहाभिधा; कलहे कपोति इति कलहा-पते, शम्भुर्वकलहाप्रकम्बनेभ्यः काले ३।१।१०॥ दलते कपट् प्रलयं होकर नामधातु 'कलहाय' बनती है; कलहाय + ष।

पृ० १०. मृतानि सुवर्णानि—सुवर्ण प्राप्त हो गये; वसन्तसेना मत्स्यल चतार है अतः वह शरणागत का श्रद्धा पुत्रा देवी, यह भाव है। बधरोध—(१) बधना (blocking up या Surrounding), (२) अनुग्रह (Favour) यहाँ पर आस्था-कारों ने दोषों को बँधे लिये है। सतां वसति—(सवाहक का परिचय पृष्ठने के के लिये) संकेत करता है। वृत्ति—वैधिका। अपबीधति—आधित है। गृहपति—गृहस्थी, घर का स्वामी, आस्थाकारों ने इस शब्द का अर्थ ग्रामाध्यक्ष (The headman of a village) भी किया है। संवाहक—संवाहयति शरीरं सर्वयति इति; सम् +



√वह ÷ ध्रुव् । निविष्णम्—वेद्युक्त । आहिष्णकानाम्—धूमने घालो के; आ-√हिष्ण + ध्रुव् ।

पृष्ठ १२. मनोरथान्तरस्य—हृदय के प्रिय के, मनोरथ-अभिलाषा, कामना । अन्तर भीतर, सम्बद्ध, प्रिय । अनुकोश—सहामुभूति, करुणा, 'कारुण्यं करुणा पूर्णा कृपा दयानुकम्पा स्यादनुकोश'—अमरकोश । उपरत-गष्ट, समाप्त । दुसंभा०—भाव यह है कि जहाँ उदारता इत्यादि गुण होते हैं वहाँ सम्पत्ति नहीं ठहरती इसी में इष्टान्त दिया गया है—अपेक्षेणु० इत्यादि, अर्थात् जितका धन बुलियों के काम नहीं आता उनके पास ही धन का संचय होता है । मुगाङ्क नृग अङ्क यदा स अघया नृग. अङ्को यस्य स, चन्द्रमा । इलाघनीय—प्रशंसा के योग्य; √इलाघ + अनोयद् । शक्यते—उत्तरकर, अब + √हृ + ल्यप् ।

पृष्ठ १८. कुत्र स धनिक—(१) वर धनिक (जिसके दस सुवर्ण तुम पर हैं) कहाँ है ? (२) वह (बाह्य) धनिक कैसे रह सकता है ? (जबकि वह दान में इतना अधिक धन व्यय करता है) ।

१५ सत्कार०—यः पूनर्वितुमपि जानाति०—यह पाठान्तर है; भाव यह है कि जो दूसरे का सत्कार करना जानता है वह अपने प्रति किये गये विशेष सम्मान का अनुभव कर सकता है । पृथ्वीधर आदि ध्यास्याकारों में इस श्लोक में 'मात्रासमक' इति विल्ललाया हे विद्यु यहाँ 'वैतालम' वृत्त है (काले—देखिये—परिशिष्ट में छन्दों के लक्षण ॥१५॥

सपूर्ति—वैतनिक । चारिष्य०—चारिष्य ही है अवशिष्ट जितका; अर्थात् धनहीन हो जाने पर । अनुसंगधत्—जोड़ रहे हैं । विसंयुक्तया—स्थिर न होने से । विसंयुक्त—अस्थिर, विसंयुक्तस्य भाव विसंयुक्तता तथा ।

पृष्ठ १६. १६ कस्य—यहाँ 'कस्य' का अल्पसि' के साथ अन्वय है; किमसे कहती हो' । रतवष्टुकिनीतेन—रतिकाल में शत एवं (रति की सूचना देने के कारण) प्रष्टु (Ill-mannered) कटाक्षेण—नेत्र के कोने में । कट गण्डम् अस्ति इति कटाक्ष ॥१६॥

यदीहरानि०—मेरे पास सम्पत्ति नहीं है' यदि ऐसा कहते हो तो जुआरी नहीं हो, क्योंकि धन का अर्जित करना तथा मुक्त-हस्त से व्यय करना जुआरियों के लिए कठिन नहीं है । धारक—ऋणी । प्रतिपादयति—वेता है । भूतः—पूर्ण हो गया । गण्ड.—वायवा । रमस्य—खेलो ।

पृष्ठ १७ तद्गच्छतु—यहाँ 'तद्गच्छत्वायां यद्युज्ज समाशवासमितुम्'—यह पाठान्तर है जो अधिक स्पष्ट है । बलेव—यदि आपने कृपा करने मुझे ऋणमुक्त करा दिया । परिजनहस्तगता—परिचारिका के हाथों में, अर्थात् परिचारिका को सिलता धोजिये । कुल्य व्याख्याकारों के अनुसार इसका अर्थ है—'परिजनस्य पोष्यजनस्य ममेति भावः (हस्तगता वर्धिना विपताम्) सैवकत्वेन मामनुमन्यस्व इति भावः' अर्थात् मुझे इस पैसा का अवसर दीजिये । किन्तु यह अर्थ सगत नहीं प्रतीत होता (मि० जाने

गोट्ट् वृष्ट ५६) । यस्य हृते०—इस कथन से वसन्तसेना का चाण्डाल के प्रति उत्कट प्रेम व्यक्त होता है। शाक्यश्रमणक—‘श्रमणक’ शब्द सन्यासी के समानार्थक है; शाक्य या शाक्यमुनि शब्द का अर्थ है—बुद्ध । अतः शाक्यश्रमणक = बौद्धसन्यासी, बौद्धभिक्षु । साहसेन०—भाव यह है कि सन्यासी होना एक साहस का कार्य है, इससे यह प्रकट होता है कि उस समय बौद्ध भिक्षु को निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था (सन्ते) ।

१७ छूतेन०—विहस्तम्०—इस शब्द के व्याख्याकारों ने अनेक अर्थ किये हैं। वामिन्यतः अर्थ यह है—विगतः हस्तः यस्य स विहस्त अर्थात् हाथ का प्रयोग न कर सकने वाला, ऐसा व्यक्ति जो यह न समझ सके कि क्या करे देखिये ‘रामापरि काणविहस्तयोधम्’ रघु० ५, ४९ । इस प्रकार विहस्त = ध्याकुलः । मल्लिनाथ ने भी यहाँ पर यही अर्थ किया है, विहस्तः = ध्याकुलः तथा कोणकारों के अनुसार भी यही अर्थ है—‘विहस्तध्याकुली समी’—अमरकोश । इसलिये ‘यद् विहस्तं जनस्य सर्वम्’ का अर्थ है—(१) सब जनों से ध्याकुल अर्थात् अपमानित होना या (२) सब जनों को ध्याकुल करना, यहाँ अर विहस्तम्—= ध्याकुलत्व, ध्याकुलीकरणम्, (भावप्रधाने निर्देशे विहस्तत्वमिति लभ्यते) ॥१७॥

गन्धगजम्—एक विशेष प्रकार का हाथी । उसके मद में तीव्र गन्ध होती है तथा उसकी गन्ध को सूँधकर अग्न्य हाथी भाग खड़े होते हैं । (दे० सं० व्याख्या) ।

पृ० १००. दुर्मनुष्य—अशिष्ट जन, क्योंकि वह भट्टे ढंग में प्रविष्ट हुआ है । मन्त्रः उसे दम शब्द में पुकारा गया है । वञ्चित्ताऽसि—एक अधीष्ट की प्राप्ति से खानी रह गई हो, जो देखना मुखकर होना वह आपने नहीं देखा । आलान-स्तम्भम्—‘आलान’ = बन्धनस्तम्भ या ‘शृङ्खला’ ‘आलान बन्धनस्तम्भेषु शृङ्खलैः’ अमरकोश । यहाँ केवल ‘शृङ्खला’ अर्थ है, क्योंकि ‘स्तम्भ’ शब्द के साथ प्रयोग किया गया है । महामात्र—प्रधान महावत, “महामात्रः समृद्धं चामात्ये हस्तिपकाधिपे”—मेदिनी । उरुमुष्टं—जोर से कहा ।

१, १६. विचलति—यहाँ हाथी के भागने से होने वाली घबराहट का स्वाभाविक वर्णन किया गया है । रत्नाञ्जुर—लघुरत्न या रत्नों की श्रमियाँ ॥१६॥

फूल०—फूले हुए हैं कमल जिसमें ऐसी सरसों, जिस प्रकार हाथी विकसित कमलों से युक्त सरोवर का विलोडन करता है, इसी प्रकार उसमें सज्जन नगरी में खतबली मचा दी ।

पृ० १०२. नहिर्नहि०—वसन्तसेना के प्रति नम्रता तथा आदरभाव दिखाने के लिये यह लचन कहा गया है । वामचरणेन—आकारितः—इस वाक्य का अर्थ विवादास्पद है । व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं । यहाँ ‘वामचरणेन’ का शाब्दिक अर्थ है—बायें पैर से, श्रीनिवासाचार्य के अनुसार इसका अन्वय ‘पृहीत्वा’ के साथ है और समस्त वाक्य का अर्थ है—“(समीप के दूतद्वय में स्थित) दूतनेहरू को सौहार्दजन के लिए बार-बार बुलाकर और उसके आने पर अपने वामचरण

से नौहण्ड का ग्रहण करके उस दुष्ट हाथी को लनकारा" — "दूतलेखक दूते लेखना-  
धिकृत पुरुषमुदपुष्पोद्गुष्प्य सौहदण्डप्रहणार्थमाहूयाहूय तस्मिन्नागते इति वामचरणेन  
सम्पपादेन त्वरितमापणात् सौहदण्डमापसीं पश्टि गृहीत्वा । हस्तेन ग्रहणे हि नमन्त  
हस्तीं गृह्णीद् विलम्बश्च स्यादिति पादेन ग्रहणम् ।" (कावे द्वारा उद्धृत) — इस अर्थ  
में समीन के दूत-ग्रह की विनष्ट कल्पना बाली पडती है । अब इस वाक्य का अन्वय  
तथा अर्थ इस प्रकार उचित प्रतीत होता है — "त्वरितम् आपणात् सौहदण्डं गृहीत्वा  
वामचरणेन = (वक्रगत्या) दूतलेखक (दूतलेखक) उद्गुष्प्य (मा भंषीरिति पुनः पुन  
आपणात्) सा दुष्ट हस्तीं आकारित (आहूयः) ।" (दे० हिन्दी अनुवाद), यहाँ  
'दूतलेखक' के स्थान पर 'दूतलेखक' पाठ ही उचित है क्योंकि 'सवाहक' एक दूतकर  
ही था । हाँ, इस अर्थ में भी एक शक्यता बनी ही रहती है कि कर्णपूरक ने इस घुटे-  
मुटे बौद्धभिक्षु को कैसे जान लिया कि यह जुआरी है ? क्योंकि वसन्तसेना और  
सवाहक के वार्तालाप के समय तो वह उपस्थित नहीं दिखलाया गया है ।

२० — आहत्य० — आहत्य — प्रहार करके ॥२०॥

विषममरा० — ऐसी नौका जिसमें एक ओर अधिक भार लदा हो एक ओर  
कम अर्थात् भार का समतुलन ठीक (सम) न हो । मदगणधेन — हाथी के मद की गण्ड  
से नासिका घरी होने के कारण ।

पृष्ठ १०१ नामापि — उस समय बत्ती पर नाम अङ्कित करने की प्रथा भी यह  
इस कथन से प्रकट होता है । इसी प्रकार अष्टम अङ्क में भी बहा गया है । प्राप्ति-  
बोधती है प्रथम अङ्क में भी चाहदत्त के घर गई हुई वसन्तसेना ने इसी प्रकार इस  
दुगाले को ओढ़कर अनुराग प्रकट किया है । कहा भी है — दत्त किमपि कालेन  
गृत्वाऽङ्गे मुहुरीधते । साम्प्रत — इस समय, क्योंकि अब कारने इस दुगाले के लिये  
उचित पुरस्कार दे दिया है ।

### तृतीय अङ्क

['सपिण्डेद' नामक यह तीसरा अङ्क है । चाहदत्त के भवन में संध सपाकर  
शबिलक नामक चौर वसन्तसेना के रखते हुए सुवर्णभाण्ड को हर लेता है — यह क्या  
इस अङ्क में वर्णित है । इसमें चार दृश्य हैं । प्रथम दृश्य में वर्धमानक नामक, चाहदत्त  
का सेवक, बिना प्रकट करता है, क्योंकि आधी रात बीत गयी है तथा चाहदत्त घर  
नहीं सोता । द्वितीय दृश्य में अपने मित्र रेभित के यहाँ से सगीत का आनन्द लेकर  
चाहदत्त और विदूषक घर लौटते हैं । वर्धमानक उनके पैर धुलाता है और विदूषक  
को स्वर्णभाण्ड सौं देना है । चाहदत्त और विदूषक लौ जाते हैं । तृतीय दृश्य में  
शबिलक का प्रवेश होता है जिसका कि नाटक में वर्णित राज्यक्रान्ति में विशेष हास्य  
है । वह वसन्तसेना की दासी मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिये चोरी करने  
की उद्यत होता है और चाहदत्त के घर में संध सपाकर प्रविष्ट हो जाता है । वह

सन में बढ़बड़ाते हुए विद्वयक के हाथ से मुवमंभाम्भ को ले लेता है और रत्निका ई बर जाने पर भाग जाता है । चतुर्थ दृश्य में बादलत और विद्वयक जाग पाते हैं । बादलत की चोर की सच्यता पर अन्तोप होता है; किन्तु वह ग्याप्त रूप में रखे हुए मुवमंभाम्भ को ले गया—यह सोचकर बिन्दा भी होती है; इस समय बादलत को खो घुटा का प्रवेश होता है जो अपने पति को लोकार्वाद से बचाने के लिये बली रत्ननाला को विद्वयक के हाथ भेजती है । बादलत इस माला को बतन्तसेना के यहाँ निबवाता है और पूजा में बैठ जाता है ।

५० १०६, १. मुञ्जः—इस कथन के द्वारा बादलत की ओर संकेत किया गया है, जो निर्धन होकर भी सेवकों को द्रिय था । विमुक्तः—दुर्जन, 'विमुक्तो दुर्जनः क्षत्र' अमरकोश । दुष्करः—दुःख से सेवनीय, दुःखेन विमुक्ते इति दुष्करः, बुध् + √कृ + क्त । उत्तरार्ध में शकार की ओर संकेत है ऐसा व्याख्याकारों का कथन है; कन्दुः यहाँ वैषम्य रूप से सामान्य कथननाम ही प्रतीत होता है ॥२॥

२. सत्यः—अन्यत्रसत्कलत्रं न शक्यं धारयितुम् यह पाठान्तर है, जो संपत् यही प्रतीत होता । स्वाम्भाविकदोषः—यहाँ अपने स्व की चारदल की अष्टि दान-सेवना आदि स्वाम्भाविक दोषों की ओर संकेत है; क्योंकि मर्दाना का अष्टिद्वन्द्व करके रुप भी दोषों की खेमी में चले जाते हैं ॥२॥

गान्धर्व—संगीत; देवलोक के पापक गन्धर्व कहलाते हैं, उनके नाम पर ही संवेदविद्या को गन्धर्व विद्या या गान्धर्व- (गन्धर्वाणाम् इदम्) कहते हैं । वीणा हि नाम—यहाँ वीणा को मनुष्य से निकलने वाले १४ रत्नों से बँडकर दिखलाया गया है । वे चौदह रत्न ये हैं—

सम्प्रीः कोस्तुभ-परिजातक-मुषा-धत्वन्निरिषवन्दमा-

रावः कान्तुषा, सुरेवरणजी, रग्मादिदेशज्जनाः ।

बम्बः सत्यमुखो, विष्णु, हरिषनुः, शङ्खो-मृदं चान्बुधै

रत्नावीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्तुः सदा मङ्गलम् ॥

५० ११०, ३. उत्कृष्टस्य—उत्कृष्ट-प्रियजन के दान के लिये उत्कृष्ट । उत्कृष्ट—किसी स्थान पर-मित्र के का संकेत करने वाला प्रियजन । सत्यापना—कारणके देने वाली; जैसा कि मेघदूत में कहा गया है—प्रामैतै रमन्विप्लेवङ्ग-ननां विनोदाः । (मिव २-७) । यहाँ एक ही वीणा का 'वपस्या' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है, अर्थः उत्कृष्टत्वका कारण है ॥२॥

नृत्त्या—नाच में डाली गई रत्नी, नाच, यह प्रायः बँलों की नाच में डाली जाती है, दान की नाच में डालने की बात विचारणीय है ।

४. रत्नं च—यहाँ 'रत्न' इत्यादि संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं । उन 'रत्न' नाम देवुचीमास्वरणामाभीभावे रत्नमित्युच्यते । मधुर नाम स्वर—शारंगनीतनिर्गमरासाद्युत्तममृदुम् । व्यक्त नाम पदरासविद्यायपमेतौन इत्युच्यते—विषयस्वरवचनानां सम्मगुरवादनं । (पार्यविज्ञा, काले द्वाय उद्भूत)

इस प्रकार घाञ्-स्वरों के साथ पूर्णतया मेल की 'रक्त' बहते हैं। 'मधुर' का अर्थ है स्वर तथा भाव के अनुभूत ललित पदों तथा वर्णों से युक्त। 'व्यक्त' (स्फुट) का अर्थ है—व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता से युक्त। भावान्वितम्—भावयुक्त। अन्तर्हिता—छिपी हुई। यहाँ 'मन्ये' द्वारा उल्लेखा प्रकट हो रही है ॥४॥

५. स सरय—इस पद्य का अन्वय तथा अर्थ विवादास्पद है; यह उचित प्रतीत होता है कि 'तस्य स्वरसंक्रामं शिष्यं तन्वीस्वनं च शृण्वन्निव गच्छामि'—यह मूल वाक्य है और द्वितीय तथा तृतीय चरण में बड़े गये विशेषणों का 'स्वरसंक्रामं' से सम्बन्ध है; वैसे कि सं० व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद में दिसताया गया है। मूर्च्छना—सप्तस्वरो का क्रमशः आरोह तथा अवरोह। (द्विजिगे भक्तिनाथ-टीका शिशुपालवध १, १०)। मतान्तर से मूर्च्छना का अर्थ है—स्वरो का समुदाय; यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणां सदोहो मूर्च्छनेत्यभिधीयते। हेला—M. R. काले का कथन है कि यह एक पारिभाषिक शब्द है; हेला—उपत्य आरोहावरोहयो अनीचितम् ॥५॥

अस्तं व्रजति—इस समय अष्टमी का चन्द्रमा रहा होगा जो अर्धरात्रि के समय छिप रहा था।

६. असी हि + अघपाद्—प्रव√पाह् + क्त। विघाण—दांत १६॥

वृ० ११२. अयं सुप्तजनम्०—इससे सेवकों के प्रति चावदत्त का स्नेह तथा कोमलता प्रकट होती है। इग्ङुम.—दो, मुसो बाला विपहीन सर्प, दुमुही। 'समी राजितदुग्ङुभी'—अमरकोश। निद्राचौर—निद्रा का अपहरण करने वाला; भाव यह है कि रात्रि में इसकी रक्षा के लिये विनित रहने के कारण निद्रा नहीं आ पाती।

७. असम्०—यद्यपि चावदत्त वसन्तसेना से प्रेम करता है, तथापि वह यह उचित नहीं समझता कि वेश्या के पहने गये अपङ्गार उसकी धर्मपत्नी के अनङ्कारों के साथ रखें जायें। इसीलिये इस प्रकार कहता है ॥७॥

वृ० ११४, ८. इय हि—व्याख्याकारों ने इसका अन्वय कई प्रकार से किया है। सलाहदेनात्—निद्रा का चिह्न प्रथमतः सलाह पर दिखाई देता है, फिर बीसों में। इसी प्रकार जरा (बुढ़ापा) पहले सलाह के चारों ओर या कान के ऊपर के बालों में अपना प्रभुत्व दितलाती है। इसी हेतु कहा गया है—'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्षतीति लोकाः शृणुष्वम्' ॥८॥

९. कृत्वा०। परिणाह—विशालता, विस्तार 'परिणाहो विशालता'—अमरकोश। शिक्षावत्तेन—चोरीकला की शिक्षा के सामर्थ्य से। कर्ममार्गम्—कर्ममार्गम्; चोरी करने का मार्ग अर्थात् सौध सहाया, यह चोरी का अपना शब्द है। निर्मुह्यमान—कँबुली के द्वारा छोड़ा जाता हुआ; निर् + √मुष् + शानच् (कर्मणि)। 'जीर्णतनु' यह पाठान्तर है ॥९॥

१०. मृपति०—इस श्लोक में 'रात्रि माता के समान छठ रही हैं'—यह दिसलाया गया है। अतएव इसमें प्रयुक्त विशेषणों का यथासम्भव दोनों पदों में अर्थ

किया जा सकता है, जैसे—नृपति०—(१) राजपुरुषों के लिये शकापूर्ण है गमन (प्रचार) जिसका ऐसा शविलक, (२) राजपुरुषों के लिए शकास्पद है आचरण (प्रचार) जिसका ऐसा पुत्र । परगृह० (१) दूसरे के घर को दूषित करने (चोरी से घन हलने) में निश्चित मुख्य वीर, (२) अपने कुल को अत्यन्त दूषित करने (परगृह-दूषण) में माने गये वीर अथवा दूसरे के घर को दूषित करने वाले पुत्र । घन०—(१) निविड अन्वकार से आच्छन्न हैं तारे जिसमें ऐसी रजनी, (२) पटल नामक रोग के अन्वकार से व्याप्त है पुतली जिसकी ऐसी माता । एकवीरः—वाणिज्य व्याकरण के नियमानुसार बीरक. समस्त पद होना चाहिये, मिदान्तकीमुदी तथा मनोरमा में येन केन प्रकारेण 'एकवीरः' शब्द की भी सिद्धि की गई है ॥१०॥

पृ० ११६. परिकरैः—समीप के स्थान में पर्यन्तभूः परितरः—अमरकोश । रूप्यामि—हानि पहुँचाता है, इसमें भेष लगाता है ।

११. कामं—चाहे, भले ही । वञ्चनापरिमव वञ्चना-प्रतारणा, द्रव्यादि-हरण, उसके द्वारा परिभव. पीडित करन । मार्गो ह्येव—यह मार्ग, विश्वस्त जनों की वञ्चना का मार्ग । नरेन्द्रसौप्तिकचषे—नरेन्द्रराणा सौप्तिकचषे, मुष्ण=मोना निद्रा, √स्वप् + क्त (भावने), तत्र भव सौप्तिक, मुप्त + ठञ् (इक) । यहाँ महाभारत की इस कथा की ओर संकेत है—जब कौरवों के प्राय सभी योद्धा मारे गये और दुर्योधन भी मरणासन्न हो गया तो अश्वत्थामा ने एक रात्रि में देखा कि कोई उत्सू अपने सोने हुए शत्रुओं को मार रहा है । इसमें अश्वत्थामा को प्रेरणा मिली और वह चुपके में रात्रि के समय पाण्डवों के निविड में घुस गया तथा वहाँ द्रौपदी के पुत्रों का वध कर दिया एवं घृष्टचुम्न और शिशण्डी का भी ।

द्रौणिना—अश्वत्थामा ने; द्रोणस्यापत्नं पुमान् द्रोण + इन् ॥११॥

११. देश० । दर्शनान्तरगतः—दृष्टि का विषय, दित्तलाई देने योग्य । कराल-विशाल, भयकर । पृथ्वीधर के अनुसार बरान० का अर्थ है—चौर्यशास्त्र के अनुकूल और कराल का अर्थ है—बौर्यशास्त्र के विपरीत, यह अर्थ अधिक युक्तिमयत नहीं प्रतीत होता ॥१२॥

पृ० ११८. उत्करः—पुञ्ज, राशि, डेरी, 'पुञ्जराशी तूकरः कूटपस्त्रिणाम्' अमरकोश, उत्कीर्णते इति—उत् + √कृ + अप् । स्कन्दपुत्राणाम्—यहाँ पुत्र शब्द शिष्य या अनुयायी के अर्थ में है, चौर लोग स्कन्द के भक्त होते हैं । एतद् सिद्धि-सप्तमम्—यह (चूहों द्वारा किया गया निद्रा का डेर अथवा संध के योग्य स्थान की प्राप्ति) सरलता का सूचक है । कनकशक्ति—चौर्यशास्त्र के रक्षयिता का नाम है ।

१२. पचध्याकोशम्०—इत्यादि सात प्रकार की संधों के नाम हैं । इन नामों से ही संध का स्वरूप प्रकट हो जाता है; जैसे १. पचध्याकोश—विकसित कमल के समान आकृति वाली, २. भास्करं—सूर्य के समान गोल तथा विशाल । ३. बालचन्द्रं—द्रिप्रीया के चन्द्रमा के समान बड़ाकार । ४. बापी—बावड़ी जैसी, ५. विहतीर्णं—

सम्बन्धी । ६ स्वस्तिक—(दि० अनुवाद), ७ पूर्णकुम्भ—नीचे स चौड़ी तथा ऊपर से सिकरी ॥१३॥

१४ अन्यासु०—शक्तिरुक्ता का भाव यह है कि यहाँ पश्ची ईटा जाने पर मे 'पूर्णकुम्भ' नामक संध लगाना ही ठीक होगा, क्योंकि अन्य भित्तियों में जो दूसरी तरह की संध मँने लगाई थी, उनमें लोगों ने यद्यपि मेरे कार्यकौशल की प्रशंसा की है तथापि दोष भी दिखलाया है । चन्द्रुत तो इस श्लोक का पाठ शुद्ध नहीं प्रतीत होता, 'अन्यासु' के स्थान पर 'अद्यासु' तथा 'वदति' के स्थान पर 'वदतु' पाठ होने से इसका अर्थ समत हो सकता है । चाण्डल नाटक का पाठ अधिक समझत है—

अद्यास्य भित्तिषु मया निजि पाटितासु छेदात् ममसु सहृदयित्वात्कलीषु ।

काल्य विपादविमुक्त प्रतिवेशिवर्गो दोषाश्च मे वदतु कर्मसु बीजस्य च ॥

पृ० १२० कुमारकातिदेवाय—शिवपुत्र कातिदेव, इनका दूसरा नाम कुमार भी है । चोरी गई वस्तुओं का पता लगाने के लिये लोग इनकी पूजा करते हैं । ये चोरो के देव माने जाते हैं । बनकशक्ति—चोपबिद्या के प्रथम आचार्य । भास्कर गन्धिन्—चोपबिद्या के आचार्य । योगाचार्य—ऐसा प्रतीत होता है कि ये शक्तिरुक्ता के गुरु रहे होंगे । कुछ व्याख्याकार ब्रह्मण्यदेव और देवव्रत को भी पृथक् आचार्य मानते हैं, किन्तु ये 'बनकशक्ति' के विरोध हैं, यही उचित प्रतीत होता है । योगरोचना—योग से सिद्ध की गई रोचना (विशेष प्रकार का प्रलेप), जिसके लेपन से शक्ति अर्जित हो जाता है ।

१५. जनया० । समासस्य लेपन विधे गये को, सम् + आ + √लभ् + क्त ॥१५॥

प्रमाणसूत्रम्—मापने का धारा, प्रमाणाद्यं सूत्रम् ।

१६ एतेन० । कर्ममागम्—संध, चोरी करने का मार्ग । सप्रयोगान्—जोड़ । परिवेष्टनम्—बन्धन, बन्द । सर्प के 'काटे आदि को बांध दिया जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥१६॥

१७ शिल्पा०—भाव यह है कि ज्यों ही शक्तिरुक्ता ने दीवार में छेद किया त्यों ही भीतर जलते हुए दीपक की सुनहली प्रकाश-रेखा उसमें से होकर बाहर आई, जो चारों ओर अन्धकार से घिरी हुई ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कि श्याम कसौटी पर सुवर्ण की रेखा हो । यह सुन्दर उपमा है ॥१७॥

पृ० १२२. प्रतिपुश्यम्—काष्ठ आदि से बना हुआ मनुष्य का पुतना सम्भवतः वह मिर का भाग ही होता है । जोर संध में से उसे प्रविष्ट कर देते हैं । यदि कोई आगता होता है तो पता चल जाता है । प्रतीक्ष्य—देखकर । लक्ष्यसुप्तम्—लक्ष्येण ध्यायेन सुप्तम् सोने का बहाना बनाये हुए ।

१८ निश्वासा । शक्तिरुक्ता - शक्तिरुक्ता अस्य सजाता इति शब्दात् इतच् । विकला—कुछ सुली हुई, विगता कला परया, अथवा अस्थिर, यहाँ सुप्त पुरुषों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है तथा 'परमार्थसुप्तम्'

उस बाल के समर्थन के लिये कारण; मनुष्य का कथन किया गया है अतः समुच्चय-सङ्कार है ॥१२॥

पुस्तकः—पुस्तक; अथवा मिट्टी आदि की बनी हुई मूर्ति को 'पुस्त' कहते हैं 'पुस्त' से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होकर 'पुस्तक' शब्द बन गया है ।

सम्पत्ति नाम०—भाव यह है कि क्या मुझ (शिविलक) ने भी भूमि में गड़ा हुआ धन खिन सकता है ? नि०, 'आ. भमापि नाम दुर्बोचनस्य शङ्करस्थान पाण्डवा । विपी० २) । स्फारीभयति—कैलता है या बढ़ता है, यह प्रसिद्धि है कि यदि मन्त्र पढ़कर सरसों आदि के दाने धनमुक्त भूमि पर गिराये जाते हैं तो वे फल जाते हैं ।

उत्स्वप्नावृत्ते—उत्स्वप्यः स्वप्न. उत्स्वप्य. अथवा उद्गम. प्रतापादिना प्रकटितः स्वप्नः यस्य सः उत्स्वप्यः, स इवाचरति, उत्स्वप्य + क्वाङ् (नाम्प्यातु), निद्रावस्थामें बोलता है या स्वप्न देखता हुआ बोलता है ।

! १० १२४. सधुत्वात्—हल्का होने से, दुर्बल मन वाला होने के कारण । गोश्राहणकाम्यया—यहाँ श्राहण शब्द से 'काम्यच्' प्रत्यय नहीं है अपितु 'काम्या = इच्छा एक स्वतन्त्र शब्द है; यी और श्राहण की अभिजाता यह अर्थ है । (दे० काले नोट्स पृ० ६८)। ध्यानेय—अग्नि मन्त्रधी अर्थात् अग्नि को बुझाने वाला । अप्रति-प्रारक्ष्य—दान न लेने वाले का (दे० त० व्याख्या) । अप्रहस्त—यहाँ जब हस्त और उसके अप्रमाय में अभेद मान लेते हैं तो कर्मधारय समास होकर 'अप्रहस्त' शब्द बनता है और जब अवयव (अप्र) तथा अवयवी (हस्त) में भेद मानते हैं तो 'हस्ताप्र' शब्द बनता है । (दे० अलङ्कार सूत्र ५.२ २०) ।

१० १२६. १६. अनिर्वदित—M. R. काले के अनुसार निर्वेद = (disgust for objection); अनिर्वदिनपौरु०—व्रित्तमे पौरुष किमी अनुव्रित्त कर्म को करने में भी घृणा या आपत्ति अनुभव नहीं करता; अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य में अनुचित कर्म से बचने का सामर्थ्य नहीं रहता । अनिर्वदितपौरुषम्—पाठान्तर है; अर्थात् पौरुष्येन, अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य अपने पराक्रम को नहीं प्रदर्शित कर सकता ॥१६॥

भमापि०—मुझ शिविलक का रक्षक जन क्या करे ? यह भाव है ।

२०. मात्रारि—पता०—पकड़कर फाड़ डालने में अथवा पकड़ने में और फाड़ डालने में (पहे-पहने आलुञ्चने देखने च) । संकटेपु - आपत्ति के समय । इग्गुम्—विशेष प्रकार का सर्प, जब इसे बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं तो यह दडना से चिन्न जाता है । कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ—'शङ्खोष्णिका' (गोह) या 'सरट.' भी करते हैं ॥२०॥

२१. मुबनाबलोत्सने—भंसार को देखने में, छिपाने के लिये स्थान खोजने में ॥२१॥

१० १२८. २२. उपरित० । असदृशजन०—अनुचित व्यक्ति चोर आदि, भाव यह है कि सेंध क्या है, मानी चोर की देलकर भवन का हृदय विधीर्ण हो गया है ॥२२॥



पृ० १३०, २३ वेदितवान्—'विदितवान्' रूप शुद्ध है। अथवा 'विद्' पाठ से स्वाधिक णिन् करने यह रूप होता है ॥२३॥

१ पृ० १३२, दिष्टया—भाष्य स। २४, क०—सुखविष्यति—७ई के समान हल्का समझोगा, अथवा सुखविष्यति यह पाठ है। शङ्कनीया—घट्टा का विषय। निप्रतापा—जिसमें तेज या प्रताप नहीं है अथवा जिसका तेज चला गया है ॥२४॥

२५ प्रणय—अभिनाया। मृगसेम—निर्दय (हृर) में, 'नृन् एसति' (अर्थात् मनुष्यों की हिंसा करता है) इति नृशस नृ + १/शत् + अप् ॥२५॥

पृ० १३४, २६ न्यासप्रतिक्रियाम्—धरोहर के बदले का धन, न्यास प्रतिगोध का उपसर्ग ॥२६॥

शौण्डोर्ध्वता—उदारता के कारण, महानुभावता के कारण। शब्दापम—दुताओ।

पृ० १३६, पुरस्तात्प्रमुत्—पूर्व की ओर है मूल जिसका, पूर्व की ओर मूल करके दान ग्रहण किया जाता है। यथाविमवा०—यथाविभवस्यानुसार (जाले), यहाँ 'विभवमातिशय यथाविभवम् (सम्पत्ति के अनुसार) इस शब्द से ही अभिप्राय प्रकट हो सकता है फिर 'अनुसारेण' शब्द का ग्रहण विचारणीय है।

रत्नपट्टीम् उपोषिता—अभुञ्जयधंस्य न' इस वाकिक के द्वारा कर्म सजा का नियेष किया गया है अतः 'रत्नपट्टीम्' में द्वितीया निगन्तीय है। तस्य वृत्ते—(१) उस वृत्त के लिये, (२) उस वाक्य के लिये अर्थात् चारदत्त के लिये, मूला चारदत्त को वृत्त के उपहार के रूप में रत्नावली प्रदान करती है जिसमें यह तीन से मन ही न करे (दे० काले चोटस पृ० ७१)। सज्जिताम्—यदि चारदत्त इस उपहार को स्वीकार नहीं करता तो मूला को सज्जित होना पड़ेगा। अतः वह मैत्रेय में स्वीकार कराने के लिये प्रार्थना करती है (?)। अर्थात्—कहीं मैत्रेय अपने मित्र के दुख को देखकर मोर्द (आत्महत्या आदि) ? अनुचित कार्य न कर जाले। (जाले)

पृ० १३८, २७, अर्पित०—इसमें धन का महत्त्व प्रकट किया गया है। इसका अर्थ विवादास्पद है ॥२७॥

२८ विभवानुगता—सविभवेन अनुगता अर्थात् धनमुक्ता या अपनी सम्पत्ति सहित (मेरा) अनुगमन करने वाली। यद्—जो, उपर्युक्त तीनों बातें ॥२८॥

२९ महत्त्वं प्रत्ययस्यैव—इस महान् विश्वास का ही, क्योंकि निर्धन होने पर भी उसने विश्वास किया, अतः उसका विश्वास-कार्य महान् है; उपाका ऐसा उचित मूल्य होना ही चाहिये ॥२९॥

शरीरस्पृष्टिक्या—शरीर के स्पर्श से १/स्पृष् + क्तिन्—स्पृष्टि, सा एव स्पृष्टिका।

पृ० १४०, ३० परिवाद०—परिगतो वाद परिवाद अथवा परीवादः। परिवाद एव बहलः दोष अथवा परिवादस्य बहल दोष ! रत्ना—दरमन्त।

परिहरामि—उपेक्षा करता हूँ। श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ विवाशास्पद है (काले पृ० ७२. ७३) । ३०॥

महुरणशौण्डीयम्—अत्यन्त उदारता से या अत्यन्त गौरव के साथ ।

### चतुर्थ अङ्क

['मदनिका शविलक' नामक यह चतुर्थ अङ्क है, इसमें मदनिका और शविलक का मिलन वर्णित है। इस अङ्क में चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में मदनिका और वसन्तसेना चारदत्त का चित्र देखती हुई वार्तालाप करती हैं। इस दृश्य का प्रेम के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्वितीय दृश्य में शविलक वसन्तसेना के भवन में प्रवेश करता है। वहाँ उसकी बाहर ही मदनिका से भेंट होती है और वह बलङ्कार दिखाता है तथा चोरी की बात भी कहता है, वसन्तसेना भी छिपकर इनकी बात सुन लेती है। मदनिका के आपह करने पर शविलक चारदत्त के आदमी के रूप में वसन्तसेना को धमूयण देता है और वसन्तसेना मदनिका को उसकी वधू बनाकर विदा करती है। तृतीय दृश्य में मार्ग में जाते समय शविलक अपने मित्र आर्यक के राजा द्वारा बन्दी बनाये जाने की बात सुनता है और मदनिका को अपने मित्र रेशमल के घर भेज देता है। यह आर्यक को बन्धन से मुक्त कराने चला जाता है। चतुर्थ दृश्य में—विदूषक वसन्तसेना के घर पहुँचता है और वसन्तसेना को सुवर्णभाण्ड के बदले में रत्नमाला देता है। विदूषक विदा होता है और वसन्तसेना चारदत्त के पास सन्देश भेजती है कि मैं सायंकाल मिनने आऊँगी।

पृ० १४२. बेशवास.०—वसन्तसेना यह सोचती है कि कही मदनिका मुझे प्रसन्न करने के लिये ही तो ऐसा नहीं कर रही है। तस्य०—इस चित्र में दृष्टि और हृदय के रमने का कारण चित्र की अनुरूपता ही है—यह भाव है। ससौमना०—यदि यह चित्र जयके, प्रियतम की सच्ची प्रतिकृति नहीं है तो इसको देखकर प्रियतम के सौन्दर्य की कल्पना करने वाली सखियाँ मेरा उपहास करेंगी, उस उपहास से बचना चाहती हूँ (रसामि)।

पृ० १४६. प्रवहणम्—अमरकोश के अनुसार एक विशेष प्रकार का रय; 'कर्गोरयः प्रवहण इयम च समं त्रयम् ।' भानु जी दीक्षित के मतानुसार इसका अर्थ है—एक विशेष प्रकार की पालकी—'श्रीणि गुरपस्कन्धवाहास्य यानविशेषस्य'। कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'रय' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द 'बहती' के लिये प्रयुक्त हुआ है। रय में छोटी एक अवगुण्ठित वाहन, जिसे बँल सौचते हैं 'बहती' कहजाती है, जो ग्रामों में अब भी चलती है। साहसिक०—एहस + ठञ् (इक)—तेन परिजय्यलभ्यमुकरम् ५।१।६३ अथवा तेन क्रीतम् ५.१.३७ । सन्देशो—सन्देश देने के हेतु (हेतु में तृतीया) ।

बचतोपदोष—रात्रि में ही सब पाप होने हैं (बहुदोषा हि गर्वती)—यह अत्राद ॥१॥

पृ० १४६, ३. नारीनायम्—नारी है स्वामिनी जिसकी ऐसे घर की, नारी पर दया करने के कारण अथवा नारी का दर्शन चोरो के लिये अनिष्ट होने के कारण ऐसे घर को छोड़ दिया । गृहवात्स्व—घर के वाष्पस्तम्भ के समान । दिवसीकृता—अदिवस दिवस सम्पद्यमान कृत, दिवस + च्वि + कृता ॥३॥

४ विशेषयन्ती—बढ़कर होती हुई अथवा ऐसी मुन्दर कि कामदेव की शोभा को भी बराने वाली । चन्दनशीतलम् इव करोति—यह उत्प्रेक्षा है ॥४॥

पृ० १४८. निष्यायति—देवती है, निष्यानमवलोकनम् इति वैजयन्ती, । मुजिष्या—सेविका, न भुजिष्या अमुजिष्या ताम् । गचाक्षेण—दारोखे से, गवामशीव, गो + अक्षि + अ (अक्षोऽदशनात् ३।४।७६)

पृ० १५० अल्पिष्ठत०—मदनिका जानती है कि शक्तिवत् का पहला जीवन पवित्र रहा है । अत्यन्तविस्मय—अपने पवित्र चरित्र के विस्मय या नैतिकता के विस्मय अथवा लाव और शास्त्र के विस्मय ।

६ विप्रस्व—ब्राह्मण का धन, इसकी चोरी मत्पाप गिना जाता है—'देवस्व ब्राह्मणस्व वा लोभेनोपहितं यः स पापात्मा परलोके गृध्रोच्छिद्यतेन जीवति' मनु० ११, ६ । कुछ व्याख्याकारों ने वाञ्छन' का 'विप्रस्व' से सम्बन्ध किया है किन्तु, यज्ञाधगम्पुद्गृत वाञ्छन' यह अन्वय अधिक उचित प्रतीत होता है ॥६॥

७ अप्रकाश - जिसे प्रकट करना अनुचित है अर्थात् गुप्त रखने योग्य है ॥७॥

पृ० ५२ मदनिका च मूर्च्छाम्—इसम मदनिका का वसन्तमेना के प्रति स्नेह प्रकट होता है । रोष्यम्—ईर्ष्यापूर्वक, शक्तिवत् सोचता है कि मदनिका चापदत्त को भी प्रेम करती है अतः वह ईर्ष्या के साथ पूछता है ।

८ सद्वृत्त०—भाव यह है कि तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने तुल के सम्मान को भी नष्ट कर दिया है । मन्मथ०—(विपन्न = मृग) यद्यपि काम भाव के कारण मेरे अन्य गुण मर चुके हैं अर्थात् नष्ट हो गये हैं । ध्यपविगति—पुनारती हो, दिखाने के लिये कहती हो ॥८॥

पृ० १५४, १० सर्वस्वफलित—सर्वस्व रूपी कला से युक्त; सर्वस्वफल + इनि, ['अत इनिठो' ५।१।११५। इति मरवर्षे इनि], अलम्—पूर्णतया ॥१०॥

११. अथ च०—यहाँ 'काम' को अभि के रूप में धनित किया गया है । तथा प्रणय को इन्पय व स्त्र मे और रतिक्रीडा को उवाला के स्त्र मे । इस प्रकार यहाँ साङ्गैरूपक है ॥११॥

१२. १३. परिसर्पण—बुटिस तथा तीव्र गति । विरक्तभावा—स्नेह-शून्य भावो वाली ।

मुत्सु खल्विदगुच्छते—इसमे प्रकट होता है कि अग्रिम (१४) श्लोक कितो भूभाषित से लिया गया है (मि० वीराय्य शतक श्लोक १६) ।

पृ० १५६ १४ एता हस्तन्ति०—इस श्लोक में वैश्याओं की निन्दा की गई

है। श्मशानसुमना—सुमनस् (स्त्री०) पुष्प या मालती पुष्प 'सुमना मालतीजाति'—  
शमरकोश । (१) के पुष्प यद्यपि सुगन्धित तथा मनोहर होते हैं तथापि श्मशान भूमि  
में उत्पन्न होने के कारण ग्राह्य नहीं होते । इसी प्रकार रूपादि से युक्त होनी हुई भी  
वेरायें त्याज्य हैं, क्योंकि वे विश्वास के योग्य नहीं होती । (२) यहाँ 'वेद्या' यह  
शब्द बहुवचन में है किन्तु 'सुमना' उपमान एकवचन है । यह उपमा का दोष मान्य  
जाना है तथापि रस-विधातक न होने के कारण दोष नहीं है—'मि० वचनभेदेऽपि  
माननुद्वेजकत्वादनुत्पन्नमुपमायाः' (पृष्ठी०) ॥१४॥

१५. वीची—तरङ्ग, 'वीचि' शब्द भी होगा है। अश्लेषा-यहाँ सन्ध्याका-  
शून्य भेषवृत्ति की ओर मकेत है । राग—(१) अनुराग, (२) लालिमा । निरर्षम्—  
निर्षतः अर्थः यस्य तम्, धनहीन को । निष्पीडितम्—निचोड़ी गई । अलक्षक—लाक्ष,  
भावक, प्राचीनकाल में लाक्षा आदि से पैरो में लगाने के लिये महावर (दावक) तैयार  
किया जाता था । जब महावर का रंग अङ्गो पर चढ़ जाता, तब महावर को उतार  
दिया जाता था ।

१६. भद्रप्रसेकम्—यौवन के मद का सिञ्चन या मुञ्ज द्वारा मदिरा-फेंकना,  
इसका वास्तविक अर्थ अस्पष्ट है । शरीरेण—शरीर से आलिङ्गनादि के लिये ॥१६॥  
सूक्तं खलु०—इसमें प्रकट होता है कि यह किसी अन्य कवि की सूक्ति है ।

अप न भवांस—यह तुम विद्यमान न रहोगे अर्थात् मैं तुम्हें मार दूँगा ।  
मदनिका के हृदय के भाव को देखने के लिये शबिलक (चाशुदत्त के प्रति) ऐसा कहता  
है । असम्भावनीय—जिसकी सम्भावना भी न की जा सके, अर्थात् मदनिका का  
चाशुदत्त में अनुरक्त होना असम्भव है ।

पृ० १५८. (कर्म) एवमिव—मदनिका शबिलक को बलताती है कि बसन्सेना  
चाशुदत्त में अनुरक्त है, अतः इसने अपने आभूषण वहाँ रखे थे ।

१८. द्वापार्य०—यहाँ अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति इस  
प्रकार होती है—

छाया—मदनिका की प्राप्ति का आनन्द । प्रीष्मन्तप्ल—प्रेम के सन्ताप से  
पीड़ित । पत्र-आभूषण । शाला-बसन्तमेना । भाव यह है कि कामाग्नि से सन्तप्त  
हूँकर जिस बसन्तमेना के द्वारा मदनिका को प्राप्त करना चाहा था उसी बसन्तमेना  
(शाला) को अलङ्कारो (पत्र) से रहित कर दिया ॥१८॥

भिसगरेव पण्डिताः—'मि०, 'स्त्रीशामिक्षितपदुत्वममानुषीषु सट्टमते किमुत  
याः प्रतिबोधवत्यः ।' (शकु० ५, २२ काले द्वारा उद्धृत) । न चन्द्रात० (दे० छ०  
प्याःसा) ।

पृ० १६०, २० साहसे—चाशुदत्त को अलङ्कार सत्रपुंज रूपी साहस का कर्म ।  
दुष्ट श्वास्याकार इसका अर्थ 'चोरी करने का साहस'—करते हैं । वह ठीक नहीं जैसा  
कि शबिलक के अग्रिम रूपन से ही स्पष्ट है—'तथापि नीतिविह्वमेतत् ।'

कुत्सितं कर्मा—घोरी का नाम । जनयति सज्जाम् M. R. वाले का कथन है कि यहाँ 'वा + इदम्'—में प्रश्न का भाव है, इस प्रकार शक्तिक का अभिप्राय है—“क्या मैं इस घोरी के काम से सज्जित हो सकता हूँ अर्थात् नहीं, क्योंकि एक बन्धु उद्देश्य से मैंने इस कार्य को किया है।” वस्तुतः तो यह भाव प्रतीति होता है कि इस कुत्सित कार्य के कारण मुझे आरुद्ध के पास जाने में सज्जा आती है अथवा मुझे राजा आदि का कोई भय नहीं है।” (दे० सं० व्याख्या) ॥२०॥

अमुजित्य—ओ दासो न हो, युहिणी । कामदेवोहे—कामदेव के मन्दिर में (दे० पृ० ४६३) ।

पृ० १६२ दुर् + रञ्जम् = दूरक्ष्यम् (पूव रफ का लोप होकर उकार को दीर्घ हो जाता है) ।

पृ० १६४ २३ उडुपेन—चन्द्रमा ने उडु-नभन उडुनि पाति इति उडुपः नक्षत्रपति, तारापति, चन्द्रमा ॥२३॥

प्रवहणिक—गाडीवान् प्रवहणम् अस्यास्तीति, प्रवहण + टन् (इक्) । गृह्ण्टां—भलो भति देखी गई, भाव यह है कि मुझे भली भति देख लो जिससे मेरी स्मृति तुम्हारे मन में दृढ हो जाये और तुम मुझे भूलो नहीं । इससे वगन्तमेना का मदनिका (सेविका) के प्रति स्नेह-भाव प्रकट होता है । स्वमेव चन्दनीया—परिग्रहीता स्त्री (पत्नी) होने के कारण, क्योंकि वेष्या की अपेक्षा पति पूज्य है ।

२४. यत्र = यस्या—जिससे अथवा जिसके कारण (यस्मिन् जने हेतुभूते) ।

वधूशब्द—व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं—(१) वधूशब्दस्य अवगुण्ठनम्, अर्थात् वधू के योग्य वेश या पर्दा । (२) वधूशब्दश्च अवगुण्ठन च । अर्थात् 'वधू' नाम और पर्दा (क्योंकि वधू ही परपुरुषों द्वारा न देखने योग्य होती हैं) । (३) वधूशब्दस्य अवगुण्ठनभावरणम् । वेताप्यनवलोकनत्वव्यभिचयः (वाले) । (दे० सं० व्याख्या तथा अनुवाद) ।

राष्ट्रिय—राष्ट्र का अधिकारी; यहाँ दत्त शब्द का 'नगराध्यक्ष' के लिये प्रयोग किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है । घोर—बडोर, भयकर ।

पृ० १६६. विशिष्टतमः—'विशिष्टतर प्रयोग उचित है । शास्त्रम्—मदनिका का यह निवेदन एक गृह्तारी के समान ही है वह अब वसन्तसेना के पास गयी जाना चाहती । उदयसितम्—गृह; 'गृहगेहोदयसितवेगमसद्मनिरेतनम्'—अमर० ।

२६ शातोन्—पालक का सम्बन्धियों को; क्योंकि कामन्दक नीति बतलाती है कि राजा के सम्बन्धी उसके 'सहजशत्रु' होते हैं । कर्ण—यश, स्तुति; 'कर्णो द्विजानो शुक्लादो'—अमरकोश । घोषधराधेन—उदयन का प्रधानाचार्य । कपासरित्सागर मे तथा प्रतिज्ञायोग्यराषण नामक भासकृत नाटक में इसकी कथा विस्तार से वर्णित है (दे० सं० व्याख्या) ॥२६॥

पृ० १६७, २७. आहिता आरमनि शश्ट्वा आर्यको राजा भविष्यतीति वंस्तै. (वाले), कल्पित भय से डरे हुए । अभिपत्य—अभिमान करने, आक्रमण करने ।

शब्द—राट के पुत्र में स्थित चन्द्रविन्द के समान वायसि-यन्त्र मित्र हो—वह रत्ना है ॥३॥

बभ्रुव—अर्ध पुत्र, जो वसन्तमेता के यहाँ कार्य करने के। यह पुत्र—  
विदुरक मोक्ष है कि वह रावण ने भी अधिक सुयी है, क्योंकि तदन्त्या का कष्ट  
लिने बिना ही भव-नारिणों के द्वारा ले जाया जा रहा है। मन्त्रिभ्यन्त—वसन्तमेता  
के सुहृद्द्वार की शोभा को देखकर विदुरक आश्चर्य व्यक्त हो जाता है।

पृ० १३०. 'अहो वसन्तमेताभवन्तद्वाण्य सन्धीकृता' यह सुप्रसिद्ध है, वसन्त  
पद 'वसन्तवाण्य' के विशेषण है। वसन्त—इसमें द्वार की उद्वेगना बहुत होती है।  
धनानवमन्त्रिका—मन्त्रिका-पुष्पों की प्रेक्ष तथा स्थान साध हिनपी हुई द्वार  
पर लटक रही है, जिसमें ऐरावत के मूक की आन्ति हो रही है। महात्म-शोभिता  
इत्यादि श्लोकात् पद 'पताकादिदहेन' के विशेषण है। चन्द्रमिन्त्रप्रतिबद्ध—निरन्तर  
होने में प्रतिबद्ध।

पृ० १३२. सञ्ज्ञान—महात्त शोभावापी। सुवन्मुष्टि—सुहृद्द्वार सुव  
मिन्त्रोन्ति—देवता है। शोभियः—वेदवादी, शोभिमन्त्रोन्ति १।१।१३। अथवा  
मिन्त्रवाङ्मय, जन्त्या वाङ्मयों ज्ञेयः मन्त्रार्थद्वय उच्यते। विद्याया विदित  
विभिः शोभित उच्यते।

मनुष्याणां शास्त्रानुसरण—अथवाशास्त्रों में बन्द रहने की प्राचीन प्रथा थी  
मनुष्यो तथा धर्मो रत्नवत्तो महात्मनि। सर्वोपवचनागत वाजिना च विदुषोऽपि।  
(वाचस्पत्ये)। कुर—प्राचीन व्याख्याकारों ने 'कुर' का अर्थ मान लिया है तथा  
लेन का अर्थ मन्त्रों में प्रयुक्त किया है। कुछ व्याख्याकारों (J. V. आदि) के अनुसार  
कुर—एक प्रकार के बीज हैं, उनमें विक्रम दूर (शुद्ध) तैल से मिश्रित-मूक अर्थ है।  
मिन्त्र—एक विशेष प्रकार की रोटी।

पान्थनोऽ - पान्थन रखने की चौकी या रस्ती की सुनारों से बना हुआ आसन,  
पिं। दन्तिधा—रत्न।

पृ० १३४. सीमादुग्धा इव—यहाँ इत विवेकान की ओर संकेत है कि अनेक  
पुत्रों में कुछ व्यक्ति दारों का रूप धारण कर लेते हैं और पुत्र के धीम हो जाने पर  
अन्य मन्त्रों में गिर जाते हैं, मि० वाक्य्य दृष्टे टं मुहुरेऽनुमुत्वेम लोक हीनपर  
कविदन्ति। सुवन्मोनिषद् १. २. १०। कररहृत्पदावर्धन—(कानिनी पदा न—  
बनों के कोमल स्पर्श से, (२) शोभापक्ष से—जलों के बापाट से। प्राणोत्—उत्तम  
शब्दो द्वे, मन्त्रोत् पीठ माना ताः। अथवालिताः—मन्त्रोत् ही है।

पृ० १३६. प्राहुरनि—आकृषित करता है। सुमोक्षारों से बाहें भरने की  
वैशेष्यता को दर्श है। पञ्चवृत्—पुराणा वक्त्र। रूपी—पुत्र को मारने वाला, मन्त्र,  
मिन्त्रा (३० सं० व्याख्या)। विचारद—प्रकार, भेद। प्रतिबद्ध—दुर्ग शोभन,  
मन्त्र, सुवुर।

२२. वसन्त—इस श्लोक में 'बभ्रुव' जनों का स्वरूप बताना गया है।

परधननिरता—भाव यह है कि लोगो को महा तावर उनके धन से आनन्द का उपभोग करते हैं। गुणोपधाच्या—हमारे गुणों का विचार नहीं किया जाता, यह भाव है ॥२०॥

विचारयति—उतने गुणों पर विचार कर रहे हैं। बध्यते—बांधे जा रहे हैं अर्थात् जब जा रहे हैं।

पृ० १७८ गद्यमुक्तय—गद्यो वा योग (Preparation or mixture) अथोचित—उपेक्षित तिरस्त्रुत एवम् इति मये। भद्रमस्तारिका—रामदेव सम्बन्धी मंत्रा सभवत मना को बुद्धि ऐसे सत्य सिखला दिया जाता थे जिनमें वह भाग्यतुको के नामभाव को उत्तम जित करती थी इसी हेतु उसे यह नाम दिया जाता था। कुम्भ-दासी—कुम्भ = बेश्या का स्वाभो कुम्भ स्यात् कुम्भनक्षत्र मृते वेद्यपत्नी पटे—विश्व। कुम्भस्य दासी कुम्भदासी अर्थात् बेश्याओं के यहाँ रहने वाली कुट्टिनी, कुट्टि न्याहाराकार इसका अर्थ करने है जल का घड़ा में जान वाली दासी। नामदन्त सूटी।

पृ० १८० पट्ट—रश्मी वस्त्र। पुनरुक्तासवार—दोहरे भाभूषण।

२६ मातावब०—कुम्भ पुस्तको म इसे गद्यास के रूप में ही दिया गया है। यदि इस पत्र माता जाता है तो इसका ५ चरण दिसलाई देते हैं। पञ्चम चरण (अपवित्र मभीओ सान्भरत) को छोड़ देने पर यह आर्थात् ४ के रूप में शेष रह जाता है। (बाल) ॥२६॥

पुण्यप्राचारक—पूजक हुआ हुआ। कपदेक—बड़ी डाकनी—हाथन इसका भाव है—निवन्मी हाथन (a worthless bag)। कपदेक के स्थान पर करट्ट (= भरी) पाठ भी है तथा किन्हीं पुस्तको में अपवित्र (अपविष्ट) पाठ है जो सुगम है। महादेवमिब—जब किसी मन्दिर में महादेव की बिनाल मूर्ति की स्थापना करनी होती है तो पहले मूर्ति की स्थापना करके तत्पश्चात् मन्दिर का छोटा सा द्वार बना दिया जाता है उसने समान।

पृ० १८२ घून—फूला हुआ। पोत—मोटा। जठर—उदर। ३० सीधु—गुरा आसव ये तीन प्रकार की मदारियाँ हैं ॥३०॥ मानपाघाणि०—जहाज का नाव। (भाटे) इससे प्रबल होता है कि उसे समुद्र उज्ज्विनी के व्यापारी सामूहिक व्यापार में प्रसिद्ध थे। विद्वेषक का भाव यह है कि ऐसा राजसी ठाट बाट किसी बड़े जहाजी व्यापार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह स्पष्टोक्ति है। त्रिविष्टप भयानां निष्टपाना समाहार।

पृ० १८४ निरंतरपाव प०—एक दूसरे के समीप उगे हुए वृक्ष, भने वृक्ष। सुवणपुषिका०—ये विविध पुष्पों के नाम हैं ॥३१॥ अशोक—न शोक अस्मादिति, इस वृक्ष को अत्यन्त आनन्ददायक माना जाता है। अचिका—लेपन ॥३१॥

सङ्कृतमाधिर्य—नाटक में अभिनय प्रयोग के अनुसार पात्रों की भाषा का परिवर्तन भी हो जाता है तथा प्राइतभाषी पात्र भी अपनी शिक्षा का परिचय देने के लिये संस्कृत बोला करते हैं जैसा कि भारत में कहा है—योपितसोबालवेश्यानिस्तवा-

पारतां तथा । वैदग्ध्यार्थं प्रदात्तव्यं सार्वभौतवान्तरात् ।

२२- इन वृत्त में 'साङ्गलनक' अलङ्कार है । चारदत्त को एक वृक्ष का रूप दिया गया है । विश्रम्भ—जनता का चारदत्त पर विश्वास । महनीय—महनीयत्व (दुष्प्रता) अथवा महितुं योग्य महनीयं—पग ॥३०॥

पृ० ॥३६- राजवानांहीरी—व तं-मन्देन, राजवानां = साइमेन, नुए का सार्वभौत रखने वाला । हीमहुमुमा०—वमन्तमेना को आश्चर्य है कि निघन चारदत्त के पास ऐसी रत्नावली कौन है ? दुश्मिन्—मेघों से युक्त दिन, मेघच्छन्नेर्हि दुश्मिन्—अमरकोश । यहाँ लक्षणा द्वारा मेघमण्डल अर्थ है ।

३३ वर्षम्—वर्षा;  $\sqrt{\text{वृ}} + \text{अच्}$  (पुं०, नपुं०) । यह वर्णन अग्नि अङ्क की व्यवस्था का कार्य करता है ॥३१॥

### पञ्चम अङ्क

। 'दुश्मिन्' नामक इस अङ्क में वमन्तमेना के अभिसरण का वर्णन है । घोर वर्षा हो रही है, विद्युत् कौंध रही है, मेघ गरज रहे हैं । ऐसे समय ही यह अभिसार किया जाता है । प्रदमनः विद्वपक चारदत्त के पास आकर सार्वभौत वमन्तमेना के आगमन की सूचना देता है । इसके पश्चात् वसन्तमेना का घेठ आता है और कहता है कि वमन्तमेना आ रही है । सब बिट, बिटी और वमन्तमेना चारदत्त के घर की ओर आने हुए दृष्टिगोचर होते हैं । ये वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए चल रहे हैं । घर के ननों आकर वमन्तमेना को विद्वपक मिलता है और वह बिट को विज्ञापित करती है । इसके पश्चात् वसन्तमेना विद्वपक के साथ पृथ-आदिका में प्रवेश करती है । चारदत्त उन्मत्त स्वगत करता है । वमन्तमेना की बेटी विद्वपक से कहती है कि मेरी स्वामिनी उम रत्नावली का मूल्य पूछने आई है क्योंकि वह उते अपनी समझकर नुए में डार गई है । उसके बड़ने यह स्वर्ग-भाण्ड से लोबिधे । सुवर्ग भाण्ड देखकर तथा स्वकी प्राप्ति की कथा सुनकर सब आश्चर्य-चकित तथा हर्षमान हो जाते हैं । कुछ समय पश्चात् वर्षा के कारण चारदत्त और वमन्तमेना घर में चले जाते हैं ।]

पृ० १२०- सौत्कण्डः—उत्कण्डया सठ (ब्रह्मरीहि) । वमन्तमेना—उमङ्ग रहा है ।

१. शिखरिभिः—शिखरिभिः (घोरपक्ष) अत्याम्नीयि निखम्बी—घोर; निखरिभस्तु निखरिभू—अमरकोश । कलाप-मोरपक्ष । दिवानुभिः— $\sqrt{\text{वा}} + \text{अच्} + \text{उ}$  । चन्तवर्कः—उत्पत्तं गवः; वर्षां तैः, वर्षा के आरम्भ में उत्कण्डित हर्मों के मानमरोवर की ओर जाने का वर्णन वस्त्रिन्-प्रदाय निख है । (नि० मेघ० १.११) । उत्कण्डित-तस्य०—मेघ के आगमन पर विरहोन्मुक्त व्यक्ति का हृदय अनेक भावों से आदम हो जाता है; मि०—'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यल्पपाद्वति भेदः कन्धारतेपन्नगनि जने हि पुनर्दूरतस्ये ।' (निघ० १.३) ॥१॥



२. मेघो०—इस श्लोक में समान विशेषणों के द्वारा विष्णु के श्याम शरीर से मेघ की समता दिखलाई गई है। १—जलाद्र०, २—विद्युत्०, ३—सहृत्०—ये तीनों विशेषण दोनों पक्षों में लागू होते हैं (दे० स० व्याख्या तथा अनुवाद)। जलाद्र०—इस विशेषण से 'महिषोदर' की घनी कालिमा सूचित की गई है। सहृत्बलाफ०—बलाकाएँ मेघों के साथ पक्तिबद्ध या समूह रूप में चलती हैं, मि०, आबजमाला • बलाका (मेघ० १ १०) बलाकासमुदाम की समता विष्णु के पाञ्चजन्य नामक शङ्ख से दिखलाई गई है। केशव वृष्ण, विष्णु, प्रशस्ता केशा सन्यस्येति—केश + व (तद्धित) केशाद्गोऽपसरस्याम् १।२।१०।२॥

३ केशवगात्र०—द्वितीय श्लोक में उक्तार्थ ही यहाँ भङ्ग्यगतर से कहा गया है ॥२॥

४ एता०—इस पद्य में एक सुन्दर भाव अभिव्यक्त किया गया है—(१) निविद्ध-पिघलती हुई चाँदी के घोल जैसी जलधारायें हैं। (२) विद्युत्०—वे विद्युत् रूपी दीपशिखा से क्षणभर को दिखलाई देकर नष्ट हो जाती हैं, नष्टदृष्ट के स्थान पर दृष्टनष्टा पाठ अधिक सुन्दर है। (३) अण्डर०, दासा—किसी वस्त्र के छोर पर लटकने वाले घागे छीरा, झालर, पल्ला (Fringe), ये जलधारायें आकाश रूपी वस्त्र के फटकर गिरते हुए झालरदार पल्ले के समान प्रतीत होती हैं ॥४॥

५ ससर्त०—इस पद्य में विविध आकृतियों वाले मेघों से चित्रित आकाश का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। आकृतिविस्तरं—यह 'अनुगतं' का करण (कारक) है, आकृतिविस्तरं अनुगता तं—(आकार के विस्तार से युक्त) मेघों द्वारा पत्रच्छेद्यम्—अलङ्कृत आलेख्य द्वारा चित्रित, पत्रखण्डो द्वारा चन्दन के लेपन इत्यादि से शरीर के अङ्गों (मुखादि) पर जो चित्रण किया जाता है वह पत्रच्छेद्य कहलाता है ॥५॥

६ धृतराष्ट्रध्वज—के स्थान पर धृतराष्ट्रध्वज (धृतराष्ट्र का राज्यध्वज) पाठ उपयुक्त है, क्योंकि इस श्लोक में वर्णित समानता धृतराष्ट्र्ये के राज्य में ही मिलती है, मुख में नहीं। वा (= द्रव)—समान, 'इवत् वायथागद्गो दण्डी। महवानम्—(१) वनमार्गं, (२) ध्वनिशून्यता, मौन। वनात्—(१) वन से, (२) जल से बने। सलिलकानने—अमरजोश। अज्ञात चर्या—(१) विराट के राज्य में आज्ञातवात को (२) जनसाधारण से अज्ञात मानसरोवर पर विचरण (चर्या) को ॥६॥

पृ० १६४ एवमेव—अर्थात् एक बार भी इन्वार न करव। मल्लक—एक पात्र का नाम।

पृ० ६६ सेट्टुका—कवरी, अल्प सेट्टु लेट्टुवा। कायस्थ—एक जाति विशेष जो मध्यकाल में कर सग्रह तथा लेखा जाल का कार्य करती थी, विस्मय का चन्दन है कि छीना झपटी की प्रवृत्ति का कारण उसके प्रति अनुराग की ऐसी धारणा बन गई थी (दे० वाले नोट्स पृ० ६७)। छाट—वञ्चक। रासम—गंधा, क्योंकि यह सेती का खा जाता है तथा तरिद्रता का चिह्न माना गया है। न जायन्ते—

इसका भावार्थ विवादास्पद है। किन्हीं (L. D.) के अनुसार दुष्टा = क्षीया, न शान्ते अनि तु जायन्ते एव अर्थात् दोग उरग्न हो जाते हैं। M R काने के अनुसार शान्ते—i.e. these do not allow a person to prosper. तथा न शान्ते वृद्धि पश्यन्ति। उक्तवा अतम्—मत्र नहो, 'अत सत्सो प्रतिदेश्यो प्राचा क्त्वा। ३।४।। १८।। १४+ क्त्वा।

८. वेगम्०। प्राण-शक्ति; 'शक्ति. पगक्रमः प्राणः'—अमरकोश। पुनर्विशन्ति—ठठर हृदय में ही विनीत हो जाते हैं—उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथा. ॥१८॥

कानो वामः—यह एक लोकोक्ति है, भाव यह है कि काम उल्टा होता है धर्मों ज्यों ही इसे रोकते हैं त्यों ही अधिक बढ़ता है। अथेन—जानो।

१०-११. तिन्वति—धीमता है। सुशाम्भम्—यह 'वस' का विशेषण है अथवा परशामि का क्रिया-विशेषण है। तुम्बह—एक गणवर्ष जो संगीत में श्रेष्ठ माना गया है। भारत—देवमुनि, ब्रह्मा के पुत्र जो वीणा वादन में श्रेष्ठ हैं ॥११॥

प्राक्षावेष्टित०—जैसे पत्र प्राप्त करने के लिये लोग दीवार से घिरे हुए कैंप (नि) पर कंठरी मारते हैं। पृ० २००. दुर्दिनेष्वशारे—अंधाधुन विन के अवसर पर अंधकार में; हमने अंधकार की गहनता प्रतीत होनी है। इन्द्रमह०—इन्द्रमहे शत्रुकः (= बलि प्रहीतुनिच्छुकः) काकः इत्यर्थ. (काते) इन्द्रमत्त-वानुक—यह पशुपत्त है।

पृ० २०२. रथ्यां—हमका प्रसिद्ध लय 'दनी' है; किन्तु यहाँ 'ममूह' शर्मों की रथा यही करती है—इन कथन में ममूह' विशेषण की साम्यता नहीं रहती अतः यहाँ रथा—रथों का समूह अर्थात् सैनिक रथों का समूह (A number of carriages or chariots); अग्नि उरार 'वसस्य, सेना' में भी इसी तात्पर्य को स्पष्टतः कहा गया है।

पृ० २०४. अविमारिका - वान के वग में होकर प्रिय के पाम जाने बाधी गी (२० सं० व्याख्या)।

१- अपद्मा—अर्थात् कमल में न उदय होने वाली। प्रहरणम् अन्न; नि० नदनस्य ज्वमन्वम्—(मात० २, ६)। कुसुमं—क्योंकि वह तरुणों को इसी प्रकार अपनी बौर खीचती थी जैसे पुष्प फूलों को। व्याख्याकारों ने इन पद का अर्थ अनेक प्रकार से किया है। किन्हीं के अनुसार मन्वीनं गच्छन्ती यह पृथक् विशेषण है विनका अर्थ है चावदस के घर सीनापूर्वक जाती हुई; किन्तु क्या वर्षाकाल में सीनापूर्वक रगत सम्भव है? अतः इन पद का अर्थ विवादास्पद ही है ॥१२॥

पृ० २०६, १३. निपुत्र०—विरहिणी का हृदय अंधकारमय होता है; क्योंकि वदन प्रमत्ता नहीं रहती; कवि-सम्प्रदाय में प्रमत्ता का घबरा रंग माना जाता है। पतिपर्वः—मोर के पंखों में अनेक चमकीले रंग होते हैं, अतः उनमें भविष्य व्ययनों (=पंखों) की संभावना की गई है ॥१३॥

१४ बहिन—एक मोर, 'बहिन्' शब्द से भिन्न 'बहिन' शब्द भी मयूर का वाचक है—मयूरी बहिणी बहो नीलपण्ठी भुजङ्गमुक । शिखावत शिखी बेकी मेघानु-  
कारयति—अमरकोश । सतिष्ठते—सम् + √स्था + √लट् प्र० ग० । समयप्रविश्यत्य-  
१३ २२ के अनुसार आरम्भेवद है ॥१४॥

१५ झूठे—इस श्लोक में वसन्तसेना रात्रि का सपत्नी के रूप में वर्णन  
करती है । निरन्तर०—इस विशेषण का रात्रि तथा वसन्तसेना दोनों के साथ सम्बन्ध  
है । (१) साथ साथ मिले हुए हैं भव जिवमे ऐसी रात्रि, (२) निरन्तर है स्तन जिसके  
(धरति ऐने पीन स्तन जो परस्पर मिले हैं) ऐसी वसन्तसेना ॥१५॥

पृ० २०८, इतीवभाव०—इसी स्वभाव के अनुसार दुराग्रह वाली, दुःखदायी  
=बुरी तरह चलुर, अत अवगो बाग जो न छोड़ने वाली दुराग्रह वाली ।

१६ अस्तमित०—बन्द गिराये बिजली पड़नाये ॥१६॥

१७ पवन०—यहाँ प्रथम तथा द्वितीय चरण में कहे गये विशेषण तथा 'बहिनमूह'  
का नृप एव मेघ दोनों के साथ सम्बन्ध है (दे० स० व्याख्या तथा अनुवाद) ॥१७॥

१८ एतरेव० । आघात—पूला हुआ या शब्द करता हुआ । (शब्दायमान) ।  
शबल—चिन्तित । शल्प—बाण का अग्रभाग । प्रापृट्—वर्षा, बगुली का शब्द 'प्रापृट्-  
प्रापृट्' के समान प्रनीत होता है । क्षार क्षते०—यह लोकोक्ति है, मि०, घाब पर  
नमक छिड़कना ॥१८॥

पृ० २१०, १९ इन श्लोक में आकाश की मलबाले हवाओं में सभानता दिखालाई  
गई है । बलावा० और विद्युत् आदि विशेषणों का दोनों के साथ सम्बन्ध है (स०  
व्याख्या अनु०) ॥१९॥

२०. एतं० । आघात—भली-भाँति पी लिया है, डक लिया है । लोडमि (१) डूब  
जाते हैं, (२) गजबज-में कष्ट अनुभव करते हैं ॥२०॥

२१. एते० । गुण—रस्सी । कृष (१) मध्य भाग, (२) भुजमूल (बगल) ।  
अग्योऽपमन्निवन्त—एक-दूसरे की ओर दौड़ते हुए, एक दूसरे के अभिमुख होते हुए;  
एक-दूसरे को धक्का देते हुए । कम्परज्जवा—वर्षा की उज्ज्वल धारा में चाँदी की  
रस्सी को उल्लेखा की गई है ॥२१॥

आघात—गर्जना (शब्द) करते हुए या फले हुए । √स्था (शब्दान्नि-  
योगयो) + क्त । गन्धोद्वाप्ता—(१) उरकट गन्धवाली, (२) मद् (गर्व=गन्ध) से  
उरकट ॥२२॥

पृ० २१२, २४. इस श्लोक में—'जगत् जनधारा रूपी भवन में सी रहा है'—  
यह उल्लेखा की गई है । यण्ड—समूह । क्षपा—रात्रि क्षपयति केष्टानिति ॥२४॥

२५. त्रिभक्त-देव, तृतीया योक्तात्प्रा दशा देवांते । शक्तिन्—अग्नि; 'शक्तिनी  
शक्तिर्बहिणी'—अमरकोश । ककुम्—दिगायें, (ककुम् भकारान्त स्त्री०) ॥२५॥

२६. उन्मति०—वर्षा में मेघ प्रथमतः सम्पत्ति श्रम्भ करने वाले पुरुष के समान अनेक रूप धारण करता है—उन्मति—(१) उमड़ता है, (२) ऊँचा उठकर चलता है, अभिमान प्रकट करता है । नमति—(१) नीचे झुकता है, (२) तुच्छ वस्तुओं की ओर झुकता है या नम्रता में कार्य करता है । वर्षति—(१) वर्षा करता है, (२) मुक्त-हृद्य से दान करता है । गर्जति—(१) गरजता है, (२) गर्ज के साथ धोलता है । तिमिरीय—(१) अशुभकार मनुष्य, (२) कल्पित कर्मसमुदाय ॥२६॥

पृ० २१४, २० सविहसति—इव—दलाका का रग ध्वेन होता है तथा विसम्प्रदाय के अनुसार हास का रग भी ध्वेन है, अतएव यह नरप्रभा की गई है । विवल्गति—विशेष गति करता है, उद्यमता है या पैतरा बदलता है । रसति—वरजता है ॥२७॥

२. निर्लज्ज—क्योंकि मुझे डरता है तथा साथ ही अपने हाथों में मेरा स्पर्श करता है ॥२८॥

प्रियकाङ्क्षिताया—M R. काले के अनुसार 'प्रिय काङ्क्षिताया' यस्या यह विग्रह अधिक संगत है 'प्रियेण काङ्क्षिताया' नहीं, क्योंकि वास्तविकता नहीं है ॥२९॥

पृ० ३०. तद्वन्मयापि—जैसे तुम अहत्या की अभिलाषा में पीड़ित हुए थे, उसी प्रकार मेरी वेदना का भी अनुभव करो, यह भाव है ॥३०॥

पृ० २१६, ३३. ऐरावत—इरा=जल → इरावत्=मागर, इरावति, भवः एरावतः इरावत् + अण् । आलम्बित—इन्द्र, आलम्बयति पर्वतान् इति ॥३३॥

स्नेहः प्रलापयति—मि०, तथापि भवद्गुणसन्तोषी मामेवं मुक्करीकृतवान् (कादम्बरी, काले नोट्स पृ० १०३) ।

पृ० २१८, ३५ कदम्ब और नीप दोनों पर्याय हैं, अतः यहाँ 'कदम्ब' शब्द इस नाम के पुष्प के लिये 'नीप' शब्द इस नाम के वृक्ष के लिये आया है, यह संगत प्रतीत होता है । अथवा यहाँ 'नीप' शब्द 'बन्धूक' के लिए आया है (काले) ॥३५॥

धर्मधारिक०—धर्मधारिका महिन विट को विदा करने की यह चातुर्पूर्ण रीति है ।

३६. आटोप—पर्व, दम्भ । कूट—किसी को छतने की मुक्त योजना ।

वेग्नानस्य—वेग्नारूपः आपणः तस्य (वेग्नारूपी बाजार का) (काले) अथवा वेग्नारूपा. पनः तस्य, (वेग्नारूप से प्रेम-अवहार का) । दक्षिण्यप्यनुत्त०—यह पाठान्तर है, पण्यरूप इत्वं पण्यमुत्तं, दक्षिण्येन पण्यप्यनुत्तं तस्य निष्क्रयः सून्य तस्य सिद्धिः अथवा दक्षिण्यं पण्यप्यनुत्तं अथवा पण्यप्यनुत्तं तस्य मुक्तेन अनायासेन निष्क्रयसिद्धिः सून्य-प्राप्तिः अस्तु ॥३६॥

पृ० २२०, ३८. कदम्बेन—कदम्ब पुष्प ने । अतिपित्त—अभिपित् - त्त । पत्त से अभिप्रेत होना मात्र ही नहीं स्तन तथा सुवराज की सजायता है ॥३८॥

पृ० २२२ शुभ्रुषदिव्यामि—इस प्रेरणार्थं (गिजन्त) ब्रिया वा शुध्रुषिप्ये (= सेवा कर्त्तव्ये) के अर्थ में प्रयोग किया गया है। अपधारितकेन = अपवायं। प्रजुक—सीधा, क्योंकि प्रेम के प्रभाव की न जानकर ऐसा प्रश्न करता है।

पृ० २२४. एवमिव—ऐसी बात है, अर्थात् क्या आप लोगो ने हमारा उपहास करने के लिये चोर को भेजा था। छेटी एवमिव—ऐसा था। अर्थात् वह मदनिवा और ऋदिलक के प्रेम की घटना सुना देती है। ४०. आदिन एव—इसका सम्बन्ध विचलीभरन्ति के साथ है, अर्थात् वह अपने प्रोध और प्रसाद को प्रकट करने के लिये कुछ करने में पहले से ही असमर्थ होता है। कुछ ध्यास्याचारो के अनुसार 'आदिन = व्रन्त एव जीवितेन इत प्रनार अन्वय है। ॥४०॥

पृ० २२६, ४२ दृष्टपूर्व०—यह एक विचित्र-सा समास है (स० ध्यारया) यहाँ 'विस्मृत' शब्द का अर्थ है—विस्मरणयुक्त (अपने विद्यमान रूप को भूले हुए), विस्मृत (= विस्मरणम्) अस्ति एषामिति विस्मृत + अष् (अर्थ आदि)। रत्नायत्प्या इम जनम्०—इस रत्नावली को देकर मेरी जाँच करना उचित नहीं, मैं आपसे धन लेने की कामना नहीं करती

पृ० २२८, ४६ एत००—यहाँ समासोक्ति है। विद्युत् में नायिका के व्यापारो का आरोप किया गया है तथा उसके आवाज (नायक) का आलिङ्गन करने का वर्णन किया गया है। आलिप्त' और 'उपवीजित' शब्दों से प्रकट होता है कि नायक (आवाज) काम ज्वर से पीड़ित है। समासिङ्गति—इसी प्रकार वसन्तसेना भी आलिङ्गन करे यह ध्वनित होता है।

पृ० २३०, ४७ रोमाञ्चित०—रोमाञ्चा सजाता अस्वेति रोमाञ्चित, रोमाञ्च + इत्त्। कदम्ब०—स्पर्शमुक्त से रोमाञ्चित शरीर की प्रायेण पुष्पित कदम्ब से समता दिखाई जाती है मि०—त्वत्सपत्न्यात् पुनरितमिव प्रोढपुष्पं कदम्बं मेघ० १ २५ तथा उत्तरराम० ३ ४२ ॥४७॥

पृ० ४८, ६६ शतहृदा—विद्युत्। अस्मद्वायध०—हम जैसे (निर्धनो) के लिये दुर्लभ। परिष्वक्त √'ष्वञ्ज + क्त ॥ कामिनी—भूयात् कामो यस्या सा कामिनी ताता, काम + इन् + ई। परिष्वजन्ति—यह धातु आत्मानेपदी है, पदविधायक नियमों के अनित्य होने के कारण यहाँ परस्मैपद ही गया है ॥४६॥

५० स्तम्भेषु—इसका 'घायते' के साथ अन्वय है। प्रचलित०—हिलते हुए वेदि—स्तम्भे की आधारभूत चतुर्ती-सी, सञ्चय—समूह, अन्त—छोर ॥५०॥

पृ० २३२, ५१. विद्युत्०—यहाँ आवाज वा जम्भाई लेते हुए मनुष्य के रूप में वर्णन किया गया है। जम्भाई लेता हुआ शक्ति प्रायः जीम चमकाता है, भुजा उठा (फँसा) लेता है और ठोड़ी आगे कर लेता है। विद्युत् ही अन्तरिक्ष की जिह्वा है, इन्द्रधनुष भुजा है, मेघ ठोड़ी है ॥५१॥

५२. तानीयु—जैसे वीणा ताल के अनुसार ऊँचे-नीचे आदि स्वरों से बजती है इसी प्रकार वर्षा की धारायें गिर रही हैं ॥५२॥

### षष्ठ अङ्क

[ 'प्रवहणविपर्यय' नामक यह षष्ठ अङ्क कथा के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें वसन्तसेना के शकार की गाड़ी में चढ़ जाने तथा आर्यक के चारदत्त की गाड़ी में चढ़ जाने का वर्णन है। प्रथम दृश्य में - बेटी वसन्तसेना ने कहा है कि चारदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में गये हैं और आपको भी गाड़ी द्वारा वहीं जाना है। इसके पश्चात् वसन्तसेना 'रत्नावली' को घूटा के पास भेजती है किन्तु वह इसे स्वीकार नहीं करती। द्वितीय दृश्य में रदनिका रोहतेन को खेलने के लिये मिट्टी की गाड़ी देती है, किन्तु वह सोने की गाड़ी माँगता है और रोता है। इस पर वसन्तसेना सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने आभूषणों से रोहसेन की गाड़ी को भर देती है। तृतीय दृश्य में—चारदत्त का सेवक वर्धमानक वसन्तसेना को ले जाने के लिये गाड़ी लेकर आता है किन्तु फिर बिछावन लेने के लिये गाड़ी सहित लौट जाता है। इसी बीच में शकार का सेवक गाड़ी लेकर आता है और ग्राम की गाड़ियों से राजमार्ग के रुके होने के कारण चारदत्त की बाटिका के द्वार पर गाड़ी खड़ी करके दूसरी गाड़ी के पहिये को निकलवाने चला जाता है। इसी समय वसन्तसेना द्वार पर खड़ी हुई शकार की गाड़ी को चारदत्त की गाड़ी समझकर उसी में बैठ जाती है। शकार का सेवक (स्यावरक) आता है और गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चलता है। उधर वर्धमानक भी लौटकर चारदत्त की बाटिका के द्वार पर गाड़ी रोक देता है। वसन्त को लौटकर भागा हुआ आर्यक अपनी रक्षा के लिये उन गाड़ी में पीछे की ओर से चढ़ जाता है। वर्धमानक समझता है कि वसन्तसेना गाड़ी में चढ़ गई और पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की ओर गाड़ी को ले जाता है। चतुर्थ दृश्य में—बीरक और चन्दन दो राजपुरुष वर्धमानक को गाड़ी को रोकते हैं। चन्दनक गाड़ी में आर्यक को देखता है किन्तु बीरक से कहता है कि इसमें वसन्तसेना है। बीरक को सन्देह होता है तब दोनों लड़ते हैं और चन्दनक के सकेत से वर्धमानक गाड़ी को ले जाता है। इन अङ्क की घटनाओं का कथा के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही इन घटनाओं के द्वारा कौतूहल की वृद्धि होती है। ]

पृ० २३४. पुष्पकरण्डक—एक उद्यान का नाम जिसका अर्थ है—पुष्पों की रक्षिणी। रात्री—रात में अर्थात् दिन निकलने से पहले।

पृ० २३६. अपि संतम्यते०—चारदत्त ने एक गणिका को घर में प्रवेश दे दिया है क्या इससे चारदत्त के सेवकगण खिन्न हैं? मन्नाभरणविशेषः—यही मह भावना मन्त्र की गई है जिसके अनुसार पति ही प्रली का अवच्छार है। तद्भावाद्भिन्नोद्योगमि-  
एवम्—इससे पूर्व (स्वगतम्) यह पाठ होना चाहिये।

पृ० २३८. प्रतिवेशि०—प्रतिवेश-पड़ोस, प्रतिवेशः अत्यास्तीति प्रतिवेशी (प्रतिवेश + इत्) स एव प्रतिवेशिकः। जात—बल्ह, पुत्र।

पृ० २४०. यात्रास्तनरम—गाड़ी का बिछावन । नासिकारज्जुकटुकी—नाप' के कट्टे, भाव यह है कि यदि उन्हें अकेला छोड़ दिया जायेगा तो अनियन्त्रित होकर गाड़ी को कहीं के कहीं ले जायेंगे ।

पृ० २४२ कपभेयोऽपरः०—इस कपन के द्वारा 'आर्यक' के छिपते हुए भागने की सूचना दी गई है । विधाम्य—विधाम करो, वि०/शम् (दिवादि) + सोट् म० एक० ।

पृ० २४४. गुल्मस्थानेषु - रक्षाक स्थान, घोंकी, गुल्म सेना की टुकड़ी, उसका स्थान । अपटोक्षेपेण ध्वराये हुए आर्यक का बिना पर्दा गिराये ही प्रवेश करना नाट्यविधि के अनुकूल है - पटीक्षेपो न कर्तव्यः आसंराजप्रवेशने—साहित्यदर्पण ।

१. अन्धनापदेशमावर्ति—अन्धन के रूप में मृत्यु । निगड—वेड़ी ॥१॥

विशासने—माट देने वाले, वि०/शम् + स्पुट् (बसंरि). पूढागारे का विशेषण, यद्यपि कुछ व्याख्याकार यहाँ निमित्त में सप्तमी मानते हैं किन्तु यहाँ 'धमंणि द्वीपिनं हन्ति' इत्यादि के समान कर्मयोग नहीं है (काले) ।

पृ० २४६. २. हेबो—भाग्य से प्राप्त या दैव की । गम्य=जाने योग्य (Approachable) अर्थात् सेवनीय ॥२॥

४. भवेद् गोष्ठी०—रिक्त प्रवहण को देखकर आर्यक अनेक प्रकार की कल्पनायें करता है । गोष्ठी—एक छोटी सभा, मनोरञ्जन के लिये एकत्रित मधुसमुदायः गोष्ठपाः यान गोष्ठीयानम्, समज्या परिपद्गोष्ठी सभासमितिससदः' अमरकोश । विषयशोस०—विपरीत स्वभाव वाले जो किसी परिपद्ध से सहानुभूति नहीं रखते ॥४॥

पृ० २४८. बहिर्यामम्—बाहर जाने वाली, यहि यान गमनम् अस्य । नूपुर-शब्दः—आर्यक की वेड़ी की ध्वनि में वर्धमानक को नूपुरध्वनि का ध्रन हो जाता है ।

पृ० २१०. ५. विधग्धाः—निश्चिन्त । भित्वा—(१) तोड़कर, (२) हृदय को विदीर्ण करके ।५॥

प्रतोली—ग्राम के मध्य मार्ग, गली—'रप्पा प्रतोली विजित्वा स्वात्—अमर० ।

७-१० विशयता—विरहासवान । सपु—शीघ्र । कस्याप्यम—भाव यह है कि किस की मृत्यु निकट या रही है । व्याख्याकारों ने ज्योतिषशास्त्र के अनेक उन्परण प्रस्तुत किये हैं (जैसे पृथ्वीधर ने बराहमिहिर की बृहत्संहिता अ० १०४ के कृतियम श्लोक) । इसमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित ग्रहों के फलाफल का कथन है । इनका प्रासङ्गिक संश्लिप्त उल्लेख सं० व्याख्या में दिया गया है । सोमति अन्वयको०—अन्दनक के भीषित रहते आर्यक को कोई नहीं ले जा सकता, यह भाव है ।

पृ० २४२. अन्दनक—आर्यकाश्चस्य—इससे अन्दनक का चादरत के प्रति उत्कृष्ट आदरभाव प्रकट होता है ।

पृ० २४४, १३-१४ आपत्त०—जहाँ आपत्तिप्रसूतों के दुःख समाप्त हो जाते हैं, आपन्नानां दुःखस्य मोक्षः यत्र तम् । तिलकमूर्ती—तिलक के समान, ऐसे स्थानों पर

द्वय' शब्द का अर्थ सहस्र होता है—'भूत प्राण्यतीते समे त्रिपु'—अमर० ॥१४॥

'१६. एककार्यं—(१) एक-रक्षाकार्यं मे (२) अग्निपक्ष मे—एक दहन. कार्यं मे ॥१६॥

पृ० २३६. तन्त्रिलः—'तन्त्र' शब्द का अर्थ है—शासनसूत्र, प्रधान या सिद्धान्त; 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे'—अमर० । प्रगस्त तन्त्रम् अस्यास्तीति; तन्त्र + इलच् । विशिष्ट सिद्धान्त वाला, शासनकार्यं का विशेष ध्यान रखने वाला यह व्यङ्ग्य है ।

भीमस्य—भीम अपनी भुजाओं से ही हथियार का काम लेता था । अहज मे प्रहरणं भुजौ (भास, पञ्चरात्र २।५५) । ध्यायच्छतः—वि + आ + √यम् + शतृ ष० एक० ॥१७॥

पृ० २५०. पत्ररथः—पक्षी, पत्रम् एव रथो यय । दृष्ट.आयं—चन्दनक बत्ती में 'आयक को देख लिया'—यह कहने वाला था; किन्तु फिर शाब्धान हो पया ।

म्लेच्छजातीनां—असंस्कृत भाषा बोलने वाली जातियाँ म्लेच्छ जाति कही गई हैं । क्षय (क्षय) इत्यादि मे म्लेच्छ भाषाओं का उल्लेख किया गया है, मि०—म्लेच्छो वा एष यदपशब्द .....म्लेच्छाश्च मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । (महाभाष्य) ।

पृ० २६० 'कर्णाटककलह'—कर्णाटक प्रदेश का कलह, सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कर्णाटक प्रदेश मे प्रयोजनवशात् कलह आरम्भ कर दिया जाता था अतः इसका भाव है कृत्रिम कलह ।

२१, २२. शीलविभवेन—शीलस्य विभवेन सम्पत्त्या शीलसम्पन्नता के कारण । कर्षित्येन भग्नेन—कंध के तोड़ने से क्या लाभ ? केवल भद्दे स्वाद का गूदा निकलता है यह भाव है । कूचंप्रन्थि—दाढ़ी की गाँठ, एकत्रित की हुई दाढ़ी । इन विशेषणों से नापित जाति प्रकट होती है ॥२२॥

पृ० २६२. २२. विमुद्धा—यह व्यंगपूर्ण बचन है । भेरी—एक बड़ा ढोल; इनके बजने से ढोल आदि को मढ़ने वाली चर्मकार जाति प्रकट होती है ॥२३॥

चतुरङ्ग—चारो अङ्ग—(दो हाथ दो पैर) । कल्पयामि—कटवाता है, 'कल्पयामि' यह पाठान्तर है । शुनक—कुत्ता ।

पृ० २६४. २४—२५. स्पन्दते वक्षिणो भुजः—पुरुषों 'के दक्षिण अङ्ग का फड़कना शुभसूचक समझा जाता है । विशिष्टा—सूचित की गई या मुझसे परिचित हुई । प्रत्ययिता—(१) जिसे मैंने रक्षा का विश्वास दिलाया है । (२) जिसके विषय में सिद्धबचन सत्य ही गया है । प्रत्ययः सजातोऽस्याः सा । न सुभ्यः—यह मैं किसी से सिद्धबचन सत्य ही गया है । आद्य—समृद्ध, युक्त । शुभप्रतिशम्भौ हत्वा—शुभ और शोभ में नहीं रह रहा है । आद्य—समृद्ध, युक्त । शुभप्रतिशम्भौ हत्वा—शुभ और शोभ नामक दो दैत्य थे । उन्होंने शिव को प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया था कि उनकी सम्पत्ति और शक्ति देवों से भी बढ़कर होगी । फलस्वरूप उन्होंने



देवी के साथ युद्ध करना और लोक को पीड़ित करना आरम्भ कर दिया । तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सम्मति से देवता लोग दुर्गा के पास गये दुर्गा ने शुम्भ निशुम्भ को मार दिया (मार्कण्डेय पुराण षण्डी पाठ) ॥२७॥

निष्कामत—इसके स्थान पर निष्कामत पाठ शुद्ध है ।

### सप्तम अङ्क

[‘आर्यकापहरण’ नामक सप्तम अङ्क में केवल ‘आर्यक’ के अपहरण की घटना का वर्णन किया गया है । चारुदत्त और विदूषक गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं । गाड़ी आती है और विदूषक पर्दा उठाकर देखता है । उसमें पुरुष की देखकर विदूषक झिल्लाता है । फिर चारुदत्त स्वयं देखता है । आर्यक चारुदत्त से शरण माँगता है । चारुदत्त उसकी बेडी को कटवाकर कुएँ में डलवा देता है और उसे विदा करता है । वे दोनों भी घर की ओर चले जाते हैं ।

पृ० २६६ १ अणित इव—यहाँ उपवन की पण्यबीबिका के समान दिखताया गया है ॥१॥

सस्कारेण रमणीयं सस्काररमणीयं न सस्काररमणीयम् असस्काररमणीयम्—सस्कार के बिना भी रमणीय ।

२ अन्तर—मार्ग अवकाश । अस—धुरा या पहिया । प्रग्रह—पगहा बँतों को बाँधने का रस्ता । कर्माङ्ग०—(राजमार्ग की मरम्मत आदि) कर्म से अन्त में छोड़े गये काष्ठों से रुक गई है गति जिसकी । चत्मान्त० = मार्ग के मध्य में ॥२॥

पृ० २६८ ३ सावशेषापसार—सावशेष अर्थात् अपूर्ण है अपसार (बच भागना) जिसका । अविदित यथा स्वात्तया (क्रियावि०) । परमृत—कोरिस, परं मृत पुष्ट इति, प्रसिद्ध है कि कोयल अपने बच्चों को कौबो के घोसले में रख देती है और कौबे उनका पोषण करते १ ॥३॥

४ अस्मान्—यदि इसे ‘अ्यसनार्णव’ का विशेषण माना जाता है तो यह समास के अन्तर्गत होना चाहिये, अतः यह पाठ उचित न होगा । इनलिये ‘अस्माद्’ का अर्थ यह किया जा सकता है—मेरे ऐसा करने से अथवा इस शरणागतवासत्य के कारण वह सज्जन—(साधु या अस्मात्) । ‘स तावदस्माद् अ्यसनाद् नवोत्थितं’ यह पाठान्तर है जो अधिक सगत है ॥४॥

पृ० २७० ५ करिकर०—इत्यादि विशेषणों से प्रकट होता है कि उसका शरीर नृपोचित है । तादृ०—इससे शूरता का भाव प्रकट होता है । अतमानम्—अयोग्य ॥५॥

स्नैह्यमानि—भाव यह है कि आपने फौलादी बेड़ी में घी कठोर प्रेम की शृङ्खलाओं से बाँध लिया है । सगच्छस्व० इसका अर्थ विवादास्पद है । इसका शाब्दिक अर्थ है—‘निगड से मित जाओ’, अर्थात् मंत्रेय चारुदत्त से कहता है—(१) इन प्रेम की शृङ्खलाओं को स्वीकार करो । (२) इन बेड़ियों को साथ से लो । धिक्शागतस्—चाहान्न की यह अज्ञान नहीं मगना कि आर्यक की यो ही छोड़कर बल दिया जाये ।

पृष्ठ २७२—स्वयं ब्राह्मणप्रणयेन—स्वयं ब्राह्मे प्रहणे प्रणयः उदारता पक्षपाती का तेन, अर्थात् गाड़ी स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से। अथवा स्वयं ब्राह्मे प्रणयो यस्य सः; अर्थात् स्वयं ग्रहण में रुचि रखने वाला (भयता का विशेषण)। 'यदुद्यते' के स्थान पर 'यलोद्यते' पाठान्तर है। चारदृष्ट्या-भि०—चारैः पर्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितारे भ्याः। नाभ्युदधिकम्—अभ्युदयः प्रयोजनमस्य, अभ्युदय + उम्। भ्रमणक—भ्रमणक का दर्शन अशुभ माना जाता है।

### अष्टम अङ्क

['वसन्तसेनामोटन' नामक यह अष्टम अङ्क है। इसमें शकार का वसन्तसेना को मारने का प्रयत्न वर्णित है। प्रथम दृश्य में मिश्रुक पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में जाता है। शकार उसे पीटने का प्रयत्न करता है; किन्तु विट उसे बचा देता है। द्वितीय दृश्य में—स्वावरक गाड़ी लेकर जाता है, शकार गाड़ी में वसन्तसेना को देखता है और विट से कहता है कि गाड़ी में तो राक्षसी है। विट गाड़ी में वसन्तसेना को देखता है। जब शकार को पंदल घर चलने को कहता है; किन्तु शकार नहीं मानता। जब शकार जान जाता है कि गाड़ी में वसन्तसेना है तब वह वसन्तसेना को फुससाता है। जब वसन्तसेना को घघ्रपूर्वक उत्तर देती है तो वह क्रमशः विट और चेट से वसन्तसेना को मारने के लिये कहता है। वे ऐसा करने को तैयार नहीं होते तब शकार उन दोनों को वहाँ से पृथक् कर देता है और वसन्तसेना का गला दबा देता है। वसन्तसेना मूर्च्छित हो जाती है। तृतीय दृश्य में—विट और चेट आते हैं। शकार विट को वसन्तसेना का मूर्च्छित शरीर दिसलाता है और विट दुःखी होकर पला जाता है। शकार चेट को घर भेज देता है तथा मूर्च्छित वसन्तसेना को सूखे पत्तों से ढककर न्यायालय की ओर जाता है। चतुर्थ दृश्य में—मिश्रु अपने गीले कपड़े फँसाने के लिये स्थान खोजता है। सूखे पत्तों में वसन्तसेना का हाथ दिसलाई देता है। मिश्रु पत्ते हटाता है और वसन्तसेना को पहचान कर उसे सहारा देकर उठाता है तथा बिहार की ओर ले जाता है।

पृ० २७६-श्रीवर—मिश्रुक का वस्त्र। १. वियमाः—उनका निग्रह करना कठिन है।

अनित्यतया—'सर्वमनित्यम्' 'सर्व' शक्तिम्' इति दृष्टि से देखकर।

२०-पञ्चजना—पाँच व्यक्ति अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ। 'अविद्या' के स्थान पर 'स्त्रियम्' पाठान्तर है, उसका तात्पर्य भी 'अविद्या' ही है। ग्राम—चेतनाविशिष्ट शरीर। 'अबलः नव' के स्थान पर 'अबलरथ पाठ उचित है ॥२॥

पृ० २७७. अपवाहयति—बाटे कोश के अनुसार इसका अर्थ 'जुआ खिप-पाना'—'to cause to carry the yoke' है; किन्तु यहाँ 'बाहर निकलना' ही उचित प्रतीत होता है। कषाय—कषायेण रक्तं काषायम्, 'तेन रक्तं शमात् ॥२॥' इत्यम्। मुखोपगम्य—मुख से सेवन करने योग्य, इससे प्रकट होता है कि (१) वह उद्योग अत्यन्त रमणीय था। (२) कोई भी व्यक्ति बिना किसी बाधा के उसमें विचरप कर सकता था।

अगुप्तम्—(१) सबके लिये खुला हुआ (उद्यान), (२) अंतर्गत (हृदय) ।  
 अनिर्जितोपभोग्य—(१) राज्यपक्ष में—विजेता के द्वारा अधिकृत न किया गया तथा  
 सबके उपभोग के योग्य अर्थात् राजभक्ति की भावना उत्पन्न करने के लिये प्रजा के  
 उपभोगार्थ छोड़ा गया—अनिर्जित च तद्भोग्य च । (२) बिना किसी बाधा के उप-  
 भोग करने योग्य—अनिर्जित बाधारहित यथा स्मात्तथा उपभोग्यम् ॥४॥

उपासक—मुझ की पूजा करने वाला ।

पृ० २८०. कौष्ठक—ईंटो से बना पशुओं के पानी पीने का स्थान (धर) या  
 भवन का कोठा । कुतिलम्—अन्वविशेष, मूंग । शकलामि—विविध रङ्ग के । एक  
 इहारोऽस्त्यस्येति—एक प्रहार + ठन् ।

५. केशविरहात्—यद्यपि इसके केश नहीं हैं तथापि धूप से इसके समाप्त ना  
 रङ्ग काला नहीं पडा, इससे प्रतीत होता है कि यह कुछ समय पूर्व ही भिक्षुक बना  
 है । दूर०—भाव यह है कि पुराने भिक्षुक इस प्रकार शरीर को ढकते हैं कि उनके  
 शरीर का मध्य भाग खुला रहता है, किन्तु इसने शरीर के अग्रभाग को पूर्णतया  
 ढक रखा है । पदोच्छयात्—अभी भिक्षुक के चोकर को भली-भांति धारण  
 करना नहीं सीखा है अतः कन्धे पर अधिक वस्त्राभनम् है जो शिथिल और ठहरता  
 नहीं ॥५॥

पृ० २८६, १०, कुपितवापर०—कुपित वापर के मुल के समान ताल—यह  
 भाव है । गन्धारी—गन्धाराणां जनपदानां राजा गन्धारः तस्य अपत्य स्त्री गान्धारी,  
 दुर्योधन इत्यादि कौरवों की माता ॥१०॥

पृ० २८८, १३ गन्धपुक्ति—गन्धों का योग, शकार का भाग यह है कि गन्ध  
 का सेवन करने से 'गन्धव' बन जाना चाहिये ।

विसम्बुलं—असम्बद्ध, अस्थिर, विपरीत ।

पृ० २९०. पुरपुरायमाणं—पुरपुरा इति अव्यक्त गन्ध करोति—पुरपुराये  
 'पुरपुराय' इस नाम धातु से शानच् प्रत्यय होकर द्वितीया एव० में पुरपुरायमाणम् ।

अहमात्मनीय—मैं अपना न रहूँगा अर्थात् मैं नष्ट हो जाऊँगा ।

पृ० २९२. मध्याह्नम्—मध्याह्नार्कस्य तापेन क्षान्ता दृष्टिः यस्य तेन ।

पृ० २९५, १५. भवन्तशिरसः—एक शिष्ट पुरुष परनारियों की ओर दूर  
 कर नहीं देखता अपितु सिर झुकाकर घसता है, शिर भी समाज में गौरव धारता है  
 अतः उसका यह स्वभाव है । मृगभा इव वर्षा की शीघ्रता से लडित अंत नीचा सिर  
 करके खला करते हैं । कुलजन—यहाँ प्रसंग के अनुसार कुलीन स्त्रीजन के लिये आया  
 है ॥१५॥

मृगो भ्यामनुसरति—वसन्तसेना को शकार की भाँति भदसकर विट सोपता  
 है कि वसन्तसेना शकार के साथ अभिरमण के लिये आई है । इस विचार से ही वह  
 मन ही मन आश्चर्य करता है कि यह मृगी जैसी वसन्तसेना इस भ्याम जैसे स्वभाव  
 का अनुसरण कर रही है ।

पृ० २६६, १६. पुत्रिन—बालुकामय तट, प्रतीयमान वत् है—निर्दोष एवं पवित्र जीवन । यहाँ अप्रस्तुत हंस और काक का वर्णन करके प्रस्तुत बाह्यत और शकार का वर्णन किया गया है, अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है ॥१६॥

१७ जन वैवरात्—विट समझता है कि न चाहती हुई भी वसन्तसेना भक्ता के आदेश से धन के लिये शकार के पास आई है । किन्तु जब वह इस बात पर तिर हिन देती है तो विट कहता है—भगौण्डीमें—अर्थात् मैं समझता हूँ (इति मन्यते) कि वेद्या के जीवन में गौरव का ध्यान नहीं रक्खा जाता, अतः नुम आ गई हो । कुछ ध्यास्याकारों ने मन्यते का अर्थ किया है—‘शकार का सम्मान किया जा रहा है ॥१८॥

उद्यानपरम्परयो—एक उद्यान से दूसरे में जाते हुए, जिससे सूर्यताप न संतप्त करे ।

धुर्याणाम्—बतों का, धुरं बहुव्रीहि, धुर् + यत्, पक्ष में ‘डक्’ होकर घोरैयः ।

पृ० ६६, १६. दशनवे—इसे कुछ ध्यास्याकारों ने सम्बोधन माना है ।  
साविता—√सम् + णिच् + क्त ।

पृ० ३०२, २०. आदुशत०—भाव यह है कि यदि तुम मुझे स्वीकार कर लेती तो मैं इन हाथों को जोड़कर तुम्हारी अनेक बार भजौती करता । अब उसी प्रकार इन हाथों से तुम्हारी लाड़ना करता हुआ केस पकड़कर गाड़ी से बाहर करता हूँ । यहाँ ते-ते, इव-तथा; यह पुनरुक्ति है (दे० सं० व्याख्या) ॥२०॥

पृ० ३०२, २२. सूत्रगतः—सूत्रकों प्रकार के (रंग-बिरंगे) धूत से निमित्त ।  
पुह-पुक्कु—इत्यादि मांस खाते समय हड्डी को चूसने की विशेष ध्वनिर्पा है ॥२२॥

अकार्यम्—विट का भाव है न करने योग्य, पाप, अनुचित कार्य । किन्तु शकार इसका अर्थ लेता है—‘जो किया न जा सके’ तथा कहता है—‘अकार्यस्य मन्वोऽपि नास्ति’ । उद्दप—एक छोटी नौका ।

पृ० ३०४, २४. साक्षिभूता—साक्षिणी भूता । सासाद् + इत् (सासाद्द्वयदि च संज्ञायाम् ४।२।६१) → सासिच्, इती साक्षिणी । इसका ‘दमादियः’ आदि से भन्वय है ॥२४॥

अपचवस्त—नष्ट, भाव यह है कि हे शकार, तेरा विनाश होने को है, अतः तुझे धर्म और न्याय का ज्ञान नहीं रहा । कोले (प्राकृत)—इसका किसी ने ‘शृगाल’ संस्कृतानुवाद किया है । महत्तरक—महत्तरः एव महत्तरकः । अनायण०—भाव यह है कि वसन्तसेना को यहाँ लाने में मेरा ही दोष है । मुझे गाड़ी को देखकर नाना चाहिये था । प्रमवति भट्टकः शरीरस्थ०—आपका प्रभुत्व मेरे शरीर पर है चरित्र पर नहीं, यहाँ एक सेवक के चरित्र की हृदय दर्शनीय है । M. R. कोले ने वेकम-पीयर की ‘My life thou shalt command but not my shame’ इत्यादि उक्ति के साथ इसकी समता दिखलाई है ।

पृ० ३०६, २१ येन—यस्मात्, क्योंकि; येन—वर्मणा प्रारब्धेन (वाले) । किन्तु यहाँ येन—और तेन (क्योंकि इसलिये) के सम्बन्ध से तथा 'भागधैयदोष' शब्द के ग्रहण से भी येन का अर्थ 'क्योंकि' ही उचित प्रतीत होता है ॥२५॥

पृ० ३०८, ०७ यहाँ दैव के दो सामिप्राय विशेषण दिये गये हैं—(१) रग्ना-नुत्तारी—भाव यह है कि यह स्थावरक पवित्र विचार रखता है, इसने अधिकांश पुण्य किये होंगे और पाप अल्पमात्रा में ही, किन्तु दैव छिद्राश्लेषी है अतः उसने इसके पापों के अनुसार इसे दास बना दिया । (२) विषम—दैव कर्म का फल देने में विषम भी है, क्योंकि उसने शकार जैसे पापी को स्वल्प से पुण्य के फल से ही स्वामी बना दिया ॥२७॥

मल्लक—एक छोटा पान, मरिचा का प्याता, नारियल का बना बटोरा, मल्लिका-मुष्प व्याख्याकारों का कथन है कि शकार ने अपनी स्वाभाविक मूर्खता के कारण किसी महान् वस्तु से कुस की उपमा न देकर एक छोटी वस्तु से उपमा दी है अन्य व्याख्याकारों के अनुसार 'मल्लक' का अर्थ है—मल्ल, पहलवान ।

पृ० ३१०, ३० विविक्तधर्मरस.—भाव यह है कि प्रेम का आस्वादन एकान्त में ही किया जाता है ॥३०॥

पृ० ३१२, कर्मो—कामयुक्त, भूयान् काम अस्यास्तीति । ३१, कष्टमया — कष्टों से पूर्ण, कि ते वय कष्टमया मनुष्या — यह पाठान्तर है, इसका यह अर्थ है— क्या हम कष्टनिमित्त मनुष्य हैं ? (जो इस प्रकार उपेक्षा करती हो) ॥३१॥

३२ जातबोध —दोषयुक्त, अथवा जाते जनने बोध अपवाद यस्य स जारज इत्यर्थं, (J V.) किन्तु यह किञ्चिदल्पना है । सुचरित०—शोभन शील वाला, (१) सुगन्ध, मकरन्द आदि के द्वारा आनन्द देने वाला कमल, (२) अच्छे आचरण से युक्त जीवन वाला, चारुदत्त । विशुद्ध०—विशुद्ध देह वाला (१) सुन्दर आवृत्ति वाला, कमल (२) निर्दोष तथा तेजस्वी शरीर वाला चारुदत्त । मधुरा०—मकरन्द पान करने वाले अर्थात् रस का भोग जानने वाले ॥३२॥

पलाशो भणित०—पलाश को किशुक भी कहते हैं, इसके पुष्प रक्तिमामय किन्तु गन्धशून्य होते हैं, इसी हेतु इसने साथ शकार की समानता बिसताई गई है । अर्थात् वह सम्पत्ति तथा चमक दमक रखता है किन्तु उदारता आवि गुण नहीं । 'पलाश' का एक अन्य अर्थ है—अपक्व मांस को खाने वाला । इसलिये शकार इस शब्द से कुपित होता है ।

पृ० ३१४, मोटमामि—चूणं करता है, 'मुट' लघुभेने कुरादि । हरिद्रसायंवाह०—क्योंकि शकार अपने आप को 'बागुदेवक' कहता है, अतः अपनी तुलना में चारुदत्त को 'मनुष्य' कहता है ।

कि स शक०—इस श्लोक में पुनरुक्ति तथा द्विहीन विद्वत् याते हैं । कालनेमि—रम्भा का पुत्र नहीं, वह एक असुर या जितवा वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है । सुष-घ्न—वृहत्कर्षा में इसका उल्लेख है, यहाँ 'वासावदत्ता' का

सैक गुणधु नहीं क्योंकि यह शूद्रक से अर्वाचीन है। द्रोणपुत्रः जटायु—यह भी इतिहास के विरुद्ध है। धृष्ट्यासुर.—अयोध्या का एक राजा, सम्भवतः उसका वास्तविक नाम 'कुवलयगण' था। विशाङ्कु—सूर्यवंश का एक राजा, जो साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है ॥३४॥

३१. भारतें०—इसमें भी इतिहासविरुद्ध वर्णन है, सीता भारत युग में नहीं थी, उसे बाणक्य ने नहीं मारा। इसी प्रकार जटायु तथा द्रोणदी का भी काल-भेद है ॥३५॥

मसंमूर्णमनोरथ—यही हुमा है पूर्ण (पाददत्त से समागम का) मनोरथ जिसका।

पृ० ३१६, ३६. एताम्०—इस पद्य में शकार के शवानुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। अम्ब—बेचारी स्त्री। सीता मया भारते—इतिहास विरुद्ध है अतः हवीपमा है ॥३६॥

३७. सेवावञ्चितः—सेवा का अर्थ है 'ऐसा कार्य जिससे कोई व्यक्ति प्रसन्न होता है। वञ्चित—किसी वाञ्छनीय लाभ को प्राप्त किये बिना रह जाना। शकार भी गूरता देखकर उसके माता-पिता और भाई आदि प्रसन्न होते। शकार के विचार में वसन्तसेना को मारने का कार्य भी शूरता ही था। अतः यदि उसके माता-पिता आदि ने उसकी इस शूरता को नहीं देखा तो वे अपने पुत्र की सेवा से वञ्चित रह गये।

पृ० ३१८. शीर्षे—शीर्षण गये, यह प्रयोग होना चाहिये, शकार का प्रयोग होने से क्षम्य है।

पृ० ३२०, ३८ यहाँ विद की भावना के अनुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उदकवाहिनी—नदी। क्रोडारस०—रतिश्रीड़ा के आनन्द का उद्दीप्त करने वाली। विपणो और पष्पाकर—शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग किया गया है—यहाँ प्रेम का भण्डार तथा लोभाय न भण्डार मही अर्थ संगत प्रतीत होता है, 'नहीं प्रेम विकता है', 'सोभाय विकता है'—यह अर्थ नहीं ॥३८॥

३६. पापकल्प—पाप + कल्प; ईषदसमाप्ती कल्पवृक्षदेशीयरः पा० १५१३।६७।

४०. सुवर्गकं—एक सोने का सिक्का। कार्पाषण—कालभेद से मित्र-मित्र मूल्य एव घातु का सिक्का, मनु के अनुसार ताम्रमुद्रा-कार्पाषणस्तु विनियमताम्रिकः कपिनः पणः। मनु ८. १३६। अमरकोश के अनुसार एक चाँदी का सिक्का, पृथ्वीयर के अनुसार एक रुपये के मूल्य का सिक्का। सकोटिकम्—पृथ्वीयर के अनुसार 'कोटि' एक सिक्का था जिसका मूल्य २० कौड़ी के बराबर होता था। इसके स्थान पर कई पाठान्तर मिलते हैं जैसे—सवेष्टिकं (पगड़ी सहित), सवेष्टिक (वेष्ट सहित) सपोषणं तथा सकोटिकं (कोटि सहित) ॥४०॥

पृ० ३२२, ४१. अप्रीति—(१) मित्रता का नाश (-) मुक्त का अभाव। प्राक्षिप्रम्—आ + √क्षिद् + क्त। निर्गुण०—(१) क्या आदि गुणों से शून्य,

(२) प्रत्यञ्चा रहित ॥११॥

४२. नगरस्त्री—भाव यह है कि नगर की नारियाँ तुम्हें शंका से देखेंगी कहीं उनके साथ भी ऐसा ही दुष्प्रवृत्त न कर डालो ॥४२॥

पू० ३२४. व्यवहार—विवाद का गिणंय, निर्णय के लिये न्यायालय में प्रस्तुत विवाद (a law suit, Judicial proceedings), शकार का भाव यह है कि मैं तुम्हारे विरुद्ध अभियोग चलाता हूँ इसका तुम्हें उत्तर देना होगा ।

बालाप्रतीकिका—(देखिये पू० १४ सं० व्याख्या तथा टिप्पणी)

पू० ३२६. आत्मपरित्राणे—अपनी रक्षा के लिये, धतुर्था के अर्थ में सप्तमी । मन्त्र—रहस्य, आर्मपुरुष—माननीय पुरुष, विरवसनीय जन । ४४. बिसुद्धायाम्—यह साभिप्राय विशेषण है, ऐसा प्रकट होता है कि उस समय उज्जयिनी नगरी में पशुवध पर प्रतिबन्ध था ॥४४॥

पू० ३३८. नासां च्छित्वा वाहित—नाक छेदकर निकाल दिया, इस नाटक में ऐसा उल्लेख नहीं किया गया है । ४५ हनुमत्—यह शकार का कबन भी उल्ला ही है ॥४५॥

बिसुम्पति—मष्ट करते हैं √सुपल् छेदने तुदादि । पर्णावरे—पत्तो में ।

४६. स्तिमितानि—गीले, √ष्टिम् आर्दीभावे दिवादि + क्त । वित्तोर्ण-पत्राणि—फले हुए हैं पत्र जिनमें ऐसे । पत्राणि—पत्र, पक्षियों के डँने । यहाँ व्याख्या-कारों ने अद्भुत सी कल्पनायें की हैं जो अनावश्यक हैं ॥४६॥

पू० ३३०. न पुनंपथा—जैसा (दशसुवर्णनिष्क्रीत) आप कहते हैं वैसा नहीं । सतामवसन्मय—नयोंकि एक पवित्र भिक्षु अपने हाथ का सहारा देकर उठाने के लिए भी नारी का स्पर्श नहीं कर सकता । एष तस्मिन् ०—भाव यह है कि यह भिक्षुक इसका स्पर्श किये बिना ही रक्षा के लिये साथ जा रहा है । इसका मह पवित्र धर्म है ।

### मथम अद्भु

[अध्वहार नामक यह मथम अद्भु है । इसमें शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाये गये अभियोग का विचार दिखाया गया है । प्रथमतः शकार अधिकरणमण्डप में जाकर यह सूचना देता है कि पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यम में किसी ने वसन्त सेना की मार डाला है । अधिकरणीक वसन्तसेना की माता को बुलाते हैं तो पता चलता है कि वसन्तसेना चारुदत्त के घर गई थी । इस पर चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया जाता है । तत्रोच तथा दुःख के कारण चारुदत्त कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता । इसी समय बीरक वहाँ आता है जो बसलाता है कि वसन्तसेना चारुदत्त की माथी में बँठकर पुष्पकरण्डक उद्यान में जा रही थी । बीरक को उद्यान में देखने के लिये भेजा जाता है और वह इस बात का समर्पण करता है कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है । तभी वसन्तसेना के आभरण काँक्ष में बचाए विद्रूपक आ जाता है । शकार और विद्रूपक की मारपीट में

आभूषण भूमि पर गिर पड़ते हैं शकार इन आभूषणों को सबको दिखलाता है। चासदत यह स्वीकार करता है कि वे आभूषण वसन्तसेना के ही हैं परन्तु यह कैसे यहाँ आये हैं, इस बात को स्पष्ट नहीं कह पाता। इन घटनाओं से चासदत के विरुद्ध धर्मियोय सिद्ध हो जाता है। अधिकरणिक अपना निर्णय राजा के पास भेजते हैं। गवा मृत्युदण्ड की आज्ञा देता है।

पृ० ३३४. शोधक—न्यायालय की सफाई तथा सज्जा आदि की ध्वषणा करने वाला न्यायालय का कर्मचारी। अधिकरणभोजक—अधिकरण-न्यायालय, भोजक—पासक, अधिकारी, म्याथ के अधिकारी अर्थात् म्यायाधीश, श्रेठी तथा फायसब आदि। जहाँ केवल न्यायाधीश अर्थात् अभिप्रेत है, वही अधिकरणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यवहार—विवाद-विचार, विमानार्थेण सन्देहे हरण हार उच्यते। नानासन्देहरणाद् व्यवहार इति स्मृति—कार्यायम। विविक्त—रिक्त, स्वच्छ।

पृ० ३३६, १, २. गन्धर्वः—पृथ्वीधर का कथन है कि यहाँ प्रथमा के अर्थ में तृतीया है—गन्धर्वेहि इति पाठे तृतीया प्रथमार्थे रूपक च। यस्तुत गन्धर्व—यह पाठ हो उपयुक्त प्रतीत होता है। क्षणेन ग्रन्थिः—ऐसा प्रतीत होता है कि शकार गये हिर ही न्यायालय में जा रहा था और स्वेच्छा से केशो को विविध रूप में कर देता था ॥२॥

विषयान्ये—इस वाक्य का भाव कई प्रकार से व्यक्त किया गया है, विषय ग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट हुआ कीट जैसे बाहर निकलने का मार्ग खोजता है, इसी प्रकार इस शक्त अपराध को करके इसने बच निकलने का मार्ग खोजा और महान् मार्ग प्राप्त कर लिया, यह भाव प्रतीत होता है। मोदयित्वा—गोदकर, दबाकर। श्रेष्ठिन्—व्यापारिक मामलों को समझने के लिये और रत्न आदि की परख के लिये न्यायालय में एक सेठ (न्यायारियों का मुखिया) रखता जाता था। सम्भवतः यह शबरकन के असेसर की भाँति रक्सा जाता था। कामस्य—व्यवहार सेलन का कार्य करता था। परायोक्तया—व्यवहार का निर्णय बादी-प्रतिवादी तथा साक्षियों के कथन पर निर्भर है।

पृ० ३३८, ४. सन्त—सज्जन, वे भले लोग (वकील आदि) जो किसी एक बादी या प्रतिवादी का समर्थन करते हैं। अपवाद—अपपश, दोष ॥४॥

१. शास्त्र—नीतिशास्त्र व्यवहार विद्या इत्यादि। स्वक—अपने सम्बन्धी। शरितं—बादी और प्रतिवादी के कार्यों को अथवा वास्तविक तथ्य को। धर्मः—धर्म या न्याय को न छोड़ने वाला, धर्म + यत्। दामवि—अदसर या उपाय होने पर। व्याख्याकारों ने इसका अन्वय तथा अर्थ कई प्रकार से किया है। यथा—(१) भाषे द्वा, भावे—परामिप्रणयविषये द्वाः=दामूतः, द्वास्वत्प्रवेशयोग्यः पराशयशही इत्यर्थः, (२) न लोमान्वितः दामवि-काले अर्थात् अवसर मिलने पर भी लोभ न करने वाला, (३) दामवि परतस्वबद्धद्वयः—अर्थात् जहाँ तक सम्भव होता है, परम तथ्य (बादी-प्रतिवादी के तथ्य) को जानने में तत्पर ॥५॥



पृ ३४०. आयेत्यापि०—इस कथन से न्यायाधीश की न्यायप्रियता तथा व्यापकारिता प्रकट होती है। व्यवहारमुपस्थितः—व्यवहार को उपस्थित हुआ है, व्यवहार प्रस्तुत करने के लिये आया है। श्री M. R. काले का कथन है कि सम्भवतः यहाँ व्यवहार शब्द न्यायालय (Court) के अर्थ में आया है।

पृ० ३४२. सर्वमन्य—शकार के घमकाने पर न्यायाधीश के प्रसन्न हो जाने से यह प्रकट होता है कि राजा पालक तथ्य की खोज किये बिना ही न्यायाधीशों पर दबाव डाल देता था। मुष्कारमपि०—अर्थात् तुम्हें सुखी करना मेरे हाथ में है, मेरी इच्छामुष्कार निर्णय करोगे तो सुखी होंगे।

स्थिरसस्कारता—मानसिक सस्कारों की दृष्टा, भाव यह है कि इससे मन में यह भाव दृष्टापूर्वक स्थिर है कि मैं राजा का साता हूँ जो चाहे कर सकता है। इसलिये यह व्यवहारार्थी होकर भी इस प्रकार कहता है।

पृ० ३४४. मल्लक—मल्लक पाठान्तर है। मल्लकं—मदिरा पीने का पात्र (भाण्डे) मल्लक (देक्षिये पृ० ३०८ तथा टिप्पणी)। ६. राजरक्षसुरः—इत्यादि कथन से शकार न्यायाधीशों पर प्रभाव डालना चाहता है। परयामि न परयामि वा—शकार का कथन होने के कारण निपरीतोक्ति है। बाहुपाश० भुजा रूपी पाश के घलात्कार से अर्थात् भुजापाश में दबाकर।

पृ० ३४६. न सयेति व्यवहारपव—'मैंने नहीं'—यह अभियोप का शब्द (a legal point) जो शब्द स्वाभाविक रूप से वादी या प्रतिवादी के मुख से निकल जाता है, वह तथ्यनिर्णय में अत्यन्त सहायक होता है—'स्वभावेनैव यद्बहुस्तदग्राह्यं व्यावहारिकम्' (मनु० ८, ६८)। इसी हेतु न्यायाधीश का ध्यान इस शब्द पर गया। पावस०, पावस - खीर। पिण्डारक—(१) उबल कर या उफन कर फूल जाना या पिण्डाकार हो जाना इससे खीर पात्र से बाहर निकल कर नष्ट हो जाती है। (२) पावसपिण्ड खीरभोजनम् ऋच्छतीति, गर्म-गर्म खीर खाने में प्रवृत्त व्यक्ति अपना ही विनाश करता है। (३) पिण्डारक = भिक्षु, कोई भिक्षु अत्यन्त गर्म खीर नियत कर मर गया था, शूद्रक के समय यह कथा प्रसिद्ध थी—पराजिपे (दि० काले नोट्स)। अधिहरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः—अर्थात् ऐसा व्यवहार जिसमें सुनी गई बातों के आधार पर तथ्यों का विचार करके न्यायाधीश अपनी बुद्धि से ही निर्णय देता है, किसी रूप से सफाई नहीं माँगी जाती।

पृ० ३४८. कुट्टनी या कुट्टिनी—परलारी को पुरुष से मिलाने वाली। जनस्य वृन्दनीय—यहाँ 'कुत्वानां कर्तारि वा' २।३।७१ के अनुसार पक्षी विभक्ति है।

पृ० ३५०. प्रथमः पादः—व्यवहार निर्णय के चार चरण होते हैं, इनमें प्रतिवादी के समक्ष लिखा गया प्रथम पाद भाषापाद कहलाता है। ८. अवस्थामभिगच्छते—इसका कर्ता 'आह्वानम्' है, यह आह्वान (Summons) मेरी अवस्था (दरिद्रावस्था) के प्रति शङ्का करता है, अर्थात् क्योंकि राजा ने मुझे बुलाया है, इससे प्रकट होता है कि वह मेरी दरिद्रता के कारण मुझ पर शङ्का करता है ॥८॥

६. ज्ञात०—चारुदत्त ने अर्पक के ब्रह्म भ्रामने में सहायता की थी अतः उसका ध्यान अपने इसी कार्य की ओर गया जो राजा की दृष्टि में अवश्य ही महान् बपरायण था। अमिपुक्त—जिस पर अभियोग चलाया गया हो ॥६॥

७. पृ० ३२२. १०. वासति—√वाशु शब्दे यह दिवादिगण (वाशुपते) की वात्सनेपदी धातु है। अतः यहाँ परस्मैपद चिन्तनीय है अथवा वाश करोति = वासति-यह नाम धातु है ॥१०॥

११. घोरं—भयङ्कर, भयपूर्ण; कुछ व्याख्याकारों ने 'घोरं वाम वधु. मयि बोधयते, अलंघयम्।' ऐसा अन्वय किया है। इस अन्वय में 'अलंघयम्' शब्द व्यर्थ सा ही है अतः 'अलंघयम् घोरं' (वर्तते) यह अन्वय किया गया है।

११. मयि—इस पद का अन्वय कई प्रकार से किया गया है। 'अय भुजग-पतिः अमिपवति'—यह मूल वाक्य है। शेष भुजगपति के विशेषण हैं। सम्भवतः अनेक अपभ्रंशकुर्वी साय २ वर्णन करने के लिये ही कवि ने यहाँ मयं का वर्णन कर दिया है। वस्तुतः तो दिन के समय, भोड़ से भरी हुई उज्जयिनी की सड़क पर मयं का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

७. पृ० ३२४, १४. इस श्लोक में न्यायालय को सागर के समान बतलाया गया है। इसके लिये 'चिन्ता०' इत्यादि सात विशेषण दिये गये हैं। मन्त्रिन्—यहाँ दमका तात्पर्य न्यायाधीश है। इन्हें जल के समान कहा गया है। दूत—राजदूत। चार—दुनियाँ, सुनना देने वाले, इनकी नाके और मगगे में समता दिखाई गई है। श्लि—जल के घावक जीव। वासक—शब्द करने वाले, वादी-प्रतिवादी जन, छोटे पकील मुक्कार इत्यादि (Pettifoggers)—काले। इनकी कट्ट (हाडगिल) पक्षियों से समता दिखाई गई है, क्योंकि ये हाडगिल पक्षी के समान निरन्तर बोलते हैं। नानावातक—पाठान्तर है, विविध प्रकार का वेश धारण करने वाले (सुकिष्का)। कांस्य ध्वजहार-सेनाक इनकी समता समुद्र के तारों से की गई है। नीति०—जिस प्रकार नदियों के द्वारा सागर तट काट दिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ नीति के द्वारा मर्यादा को तोड़ा जाता है। नीति तर्क, युक्तियाँ या राजा की अपनी पातिसी। हिंस०—घातक बनों या छूर कर्मों के द्वारा ॥१४॥

१२. देवतः—धाम्य से, देव + तस् अथवा देवता; 'देवतः' शब्द पुल्लिङ्ग भी है (देवतानि वृत्ति वा)। किन्तु इसका पुल्लिङ्ग में प्रयोग सम्युक्तत्व दोषग्रस्त समझा जाता है ॥१२॥

१६. घोषोन्वर्त—वस्तुतः 'उन्नतघोषम्' होना चाहिये, अथवा, आहिवा-न्यादि में मानकर 'उन्नत' शब्द का पर-प्रयोग तिष्ठ किया जा सकता है।

७. पृ० ३२६. निपुक्त—यह पारिभाषिक शब्द है यहाँ इसका अर्थ है—अनेक शब्दोत्तर खोजी और कायस्थ (काले)।

१७. महृक—स्वामी, राजा पालक या न्यायाधीश, कुछ व्याख्याकारों का मत

है कि 'मृत्क' शब्द चारुदत्त के त्रिये व्यङ्ग्य रूप में कहा गया है। जो उल्लूक नहीं प्रतीत होता है। पृथ्वीघर के अनुसार 'नष्टक' पाठ है ॥१७॥

पृ० ३५- कपटकापटिक—कपटेन जयति इति कापटिक (कपट+ठक) कपट युक्त कापटिक कपटकापटिक (काले) असम्बद्ध—असम्बद्ध प्रसाप करने वाला।

पृ० ३६०, १६ अभ्युक्षित०—इस श्लोक का वास्तविक भाव स्पष्ट नहीं है। अभ्युक्षित—सीया गया, सिकत, अभि— $\sqrt{\text{उदा + क्त}}$ । बलाहक०—बादल पारीणा धाहक (गृधोदरादि)। पाप-नीलवक्त्र धर्मा से भोगने के कारण उसके प्रसाप कुछ बाले से हो जाते हैं। अन्तराले—बीच, में, इस बात को कहते हुए। निष्प्रभताम् उर्पति०, चारुदत्त ने देखा कि शकार के कुल पर स्वेदजल झलक रहा है और वह फीका पड़ गया है। इसलिये कहा है कि तुम झूठ कहते हो। स्मृतिकारों ने मिथ्या अभियोग लगाने वाले या मिथ्या साक्षी होने वाले के इस प्रकार के चित्त बतसाये हैं (देखिये पात्र० स्मृ० २, १३) ॥१८॥

२१ प्राकृत—असंस्तुत अशिष्टित, निम्न श्रेणी का। बिह्व—वेद की ध्याख्या करने वाले नीच जनी की जिह्वा काट दी जाती थी, ऐसा दण्ड विधान था। अथवा अनुचित या मिथ्या कथन से जीम कट जाती है, यह सीधों की धारणा थी। अथवा मिथ्या कथन से जीम कट कर गिर जानी चाहिये—यह भाव है। न च वेहं हरति धू भूमि को तेरा शरीर हर लेना चाहिये था ॥२१॥

२२ उदकोच्छ्रय०—जन की वृद्धि, जल की प्रचुरता। चारुदत्त ने सागर के सभी रत्न और मोती दान कर दिये अतः सागर में जलमात्र शेष रह गया। अन्तेपि-स्तानि—अन्योपस्थित जिन पना को उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी (not wanted)। अर्धैरिजुष्टम्—वैरी भी जिसे नहीं करता। अवीर०—पाठान्तर है, जिसका अर्थ है पायल या नीच प्रकृति के लोगो द्वारा किया गया ॥२२॥

पृ० ३६२, २३ परिभ्रम०—परिभ्रम एव विमानना—इस प्रकार भी कुछ ध्यात्मपात्रों ने अर्थ दिया है ॥२३॥ घन्मकमहलरकेण—यह व्यङ्ग्यपूर्ण कथन है, अपने आपको बढ़ा समझने वाले चन्दनक ने—यह अतिप्रय है।

पृ० ३६४, २४ निर्मल०—निष्कलङ्क शीत वाला चारुदत्त। राठुभा—शकार के द्वारा। क्लामावपातेन—सट के गिरने से, अकस्मात् दोषारोपण से, मोकापवाद से। प्रसन्नजल—निमल चरित्र ॥२४॥

द्वयम्भ०—लोक की घटनायें विषमतापूर्ण हैं, अर्थात् निर्मल चरित्र वाले चारुदत्त को अरराधी सिद्ध करने वाली घटनायें मिलती जा रही हैं अथवा अनुभू का चरित्र विषमतापूर्ण है।

इस कथन के अग्रिम श्लोक से यह प्रकट होता है कि न्यायाधीश को भी अनेक इस विश्वास में सन्देह हो गया कि 'चारुदत्त निर्दोष है।'

२५ इवम्—चारुदत्त का चरित्र। सकटम्—भयङ्कर या अटल। सुसभा—सुसम्बद्ध। व्यवहारशीलम्—व्यवहार सम्बन्धी प्रमाण (कानून सवूठ), प्रथम शो-

वसन्तसेना की माता ने बतलाया कि वसन्तसेना चारदत्त के महा गई है। दूसरे—  
शोरक ने कहा कि चारदत्त की गाड़ी में बँठकर वसन्तसेना पुण्यकरण्डक उद्यान में  
जा रही थी। तीसरे—मृतक स्त्री के बिल्ल उस उद्यान में उपलब्ध हैं। इन घटनाओं  
से सिद्ध होता है कि चारदत्त अपराधी है। इन प्रमाणों को देखकर न्यायाधीश की  
बुद्धि किर्कतव्यविमूढ हो गई है ॥२५॥

पृ० ३६६, २७. मत्सरिन्—मत्सर + इनि (अत इनिठनौ)। हन्तुकाम०  
हन्तुकामो यस्याः सा (बुद्धिः), 'तुम् काममनसोग्नि' इसके अनुसार मकार का लोप  
हो पाता है। इसी प्रकार 'गन्तुकाम' इत्यादि। जाति—जन्म, स्वभाव ॥२७॥

२८. अवचयम्—'हस्तादाने चेरस्तेये' ३।३।४० - इस मूल के अनुसार यहाँ  
अवचय (अव + चि + घञ्) शब्द होना चाहिये, किन्तु इसी अर्थ में 'अवचय'  
(अव + चि + अच्) शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है और वैयाकरणों ने यथा-  
रूपञ्चित् अवचय' शब्द की भी सिद्धि की है।

२९. मंत्रेय०—इस श्लोक में चारदत्त अपने मित्र, स्त्री तथा पुत्र को  
सम्बोधित करते हुए खेट प्रकट करता है। इसके अन्तिम पद का अर्थ विवादास्पद  
है। परम्यसनेन—इस शब्द का अर्थ कई प्रकार से किया गया है, परेण श्रेष्ठेन  
व्यमननोपलक्षितः, परेण केवलेन ध्यसनेन वात्यसुलभेन कीटनेन (J. V.) केवल बाल-  
क्रीडया (केवल बाल्यकाल के खेलों से) परे दूरं यद् व्यसन तेन (अर्थात् तुम आपत्ति  
से दूर हो, तुम नहीं जानते कि आपत्ति क्या है)। वःसन = ब्रीडा, आपत्ति ॥२९॥

पृ० ३६८. अस्या आभरणम्—इस वसन्तसेना के आभरण (M R) काले  
का कथन है कि यहाँ 'अस्य' पाठ होना चाहिये क्योंकि 'इमम्स' (प्रकृत) शब्द  
वसन्तसेना के लिये नहीं आ सकता। अस्य का अर्थ होगा रोहसेन का, अर्थात् उस  
(रोहसेन) को (रोना बन्द करने के लिये) आभरण देना ठीक था, किन्तु हमे इन  
आभूषणों को नहीं लेना चाहिये।

पृ० २७, ३०. नृशसेन - क्रूर, निर्दय ने। रतिः वा—अथवा पृथ्वी की रति  
हो। अविरोधेण—बिना किसी भेद के, शास्त्रात्। वा + विरोधेण—यह छेद भी किया  
जा सकता है, विशेषेण-विशेष रूप से ॥३०॥

सपत्नी—बेचारा, चारदत्त शकार को दयनीय समझता है, उसका भाव यह  
है कि कृतान्त (देव) ही मेरे विपरीत है यह तो बेचारा निमित्तमात्र है। आराम -  
क्रीडोद्यान, वाटिका आरमन्ति जना. अत्र, आ + √रम् + घञ्। उच्छ्वसक—  
उन्मिषन्ना मृह्वलका येन सः, जिसने बन्धनों को तोड़ दिया है, स्वच्छन्द, किसी नियम  
या कर्तव्य का ध्यान न रखने वाला। कुलटा—व्यभिचारिणी, कुलानि अटति इति।  
पण्ड—दिल्लीगी करने वाला, भाण्ड। भाण्ड-पाठान्तर है—पात्र, कृतजनाः हिंस्रप्रधाना  
वन्तः तेषां दोषाणां भाण्डः पात्रम्।

पृ० ३७१ प्रतीपम्—बिरड, उल्टा । साध्वसम्—भय । ध्यापादिता—मार  
 दी गई, नष्ट कर दी गई, मिटा दी गई । शकार का कपन होन से पुनरुक्ति दोष  
 नहीं है ।

विस्तर—समूह, राशि, वि०/स्तृ + अप, वृक्ष और आसन अर्थ में 'विष्टर'  
 होता है (वृक्षासनयोर्विष्टर ०-३-६३) 'फँलाव' अर्थ में 'विस्तार' (वि + स्तृ +  
 पञ्) । पातयिष्यति—मंत्रेय के पास से वसन्तसेना के आभूषणों का मिलना तो इस  
 बात का पुष्ट प्रमाण था कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को मारा है । अतः इससे चारुदत्त  
 का विपत्ति में पडना अवश्य भावी था ॥३१॥

भूतायं—वास्तविक बात यह है कि वसन्तसेना ने इन आभूषणों को रोहसेन  
 की मिट्टी की गाड़ी पर लाद दिया गया था, वसन्तसेना को सौटाने के लिये ही ये  
 मंत्रेय को लौंके गये थे ।—

३० अरलाध्यम्०—यदि मैं किसी प्रकार की सफ़ाई देता हूँ तो वह झूठी  
 बल्पना ही समझी जायेगी, क्योंकि उसको पुष्ट करने के लिये वसन्तसेना तो जीवित  
 नहीं है । इससे न्यायाधीशों का मन मेरी ओर से अधिक बिगड जायेगा और मेरी  
 मृत्यु अपमानपूर्ण होगी । यहाँ चारुदत्त ने फिर सफ़ाई का अवसर खो दिया ॥३२॥

३३ अङ्गारक०—यहाँ दरिद्र चारुदत्त की लीन वृहस्पति से, शकार की  
 मङ्गल गृह से तथा अलङ्कारपात या अलङ्कार गिराने वाले मंत्रेय की धूमकेतु से  
 समता दिखाई गई है । प्राचीन खगोलशास्त्रियों के अनुसार मङ्गल को वृहस्पति का  
 शत्रु अतलाया गया है । वराहमिहिर आदि ने मङ्गल को वृहस्पति का शत्रु नहीं  
 माना ॥३३॥

पृ० ३७४ अक्षिर्घ्मात्०—सुम्हारी आँखों ने तो यह दिग्वास दिना दिया  
 कि ये वे ही आभूषण हैं, किन्तु तुमने बाणी द्वारा यह प्रकट नहीं किया ।

३४ वसवतराणि—अन्य वस्तुयें, अगद वस्तु वसवन्तरम् तानि । वृत्तह-  
 स्ततया—वृत्तहस्त गिपुण, बुशल, वृत्तहस्तस्य भाव वृत्तहस्तता तथा ।

पृ० ३७६ एव गतानि०—चारुदत्त को सफ़ाई देने का यह भी एक अवसर  
 मिला था, किन्तु वह सफ़ाई न दे सका । सम्भवतः कवि को यही दिखलाना अभीष्ट  
 था कि चारुदत्त अपराधी सिद्ध हो जाये ।

३५ सत्यमित्त द्वे अक्षरे—'सत्य' ये दो अक्षर हैं किन्तु ये कितने महत्त्वपूर्ण  
 हैं ? (भासे) । अलीकेन—असत्य से √अल् + धीरुन् = अलीक (सम्झार्थ को०) ।

आभरणानि—चारुदत्त कुछ आवेशपूर्वक यह बात कहता है । ३६ सहास्मार्यं  
 मनोरथं—न्यायाधीशों की यही अभिलाषा थी कि चारुदत्त सब कह दे और यह  
 निरपराध सिद्ध हो जाये । यदि ऐसा नहीं तो न्यायाधीशों की अभिलाषा नष्ट हो  
 जायेगी, साथ ही चारुदत्त के शरीर पर कौड़े पड़ेंगे—यह भाव है ॥३६॥

वसन्तसेनया विरहित—वसन्तसेनाविरहित' सेन (तृतीयतत्पुरुष), इत्यम्-  
 प्रथीनन ।

पृ० ३७८. अहर्मापनी—वस्तुतः जिसे अभिप्रेत चलाया चाहिये था, वह तो मैं हूँ। आत्मनः सहस्रम्—अपनी शक्ति के अनुरूप जो मैं कर सकता था।

पृ० ३८०. 'शूले भङ्क्त'—शूली पर चढ़ाकर मार दो,  $\sqrt{\text{भङ्क्त}}$  (आमर्दने) श्वादि + लोट् म० बद्ध०। शाायते,  $\sqrt{\text{शाम्}}$  (अदादि + णिच् (कर्मवाच्य) + लट् प्र० एक०। यहाँ आसन्न भविष्यत् काल में लट् का प्रयोग हुआ है; शिक्षा दी जायेगी। विमृश्यकारी—विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी (विमृश्यकारिन्) न विमृश्यकारी विमृश्यकारी—बिना विचारे करने वाला। ४०. स्थाने (अध्यय); उचित, स्थान पर। कृपणां—सोचनीय ॥४०॥

१. श्वेतकाकीय—श्वेतः काकः [कौआ श्वेत है] इस प्रकार की मिथ्या बात कहने वाले श्वेतकाकीय, श्वेतकाक + छ] कहलाते हैं। इस शब्द की निष्पत्ति 'काकतावीय' आदि के समान ही है। शासनवृत्तकै.—राजा के शासन को दूषित [बदनाम] करने वाले; यहाँ १.७ में कही गई व्यवहारदुष्टता दिखालाई गई है ॥४१॥

अपरिचमम्—पश्चाद् भवं पश्चिमं पश्चात् + हिमच्। नास्ति परिचमं यस्य दत्तपा—जिसके पश्चात् अन्य [अभिवादन] न होगा, अन्तिम। मूले छिन्ने०—यहाँ मूल पिता [चारुदत्त] है। वटुः—अथवा वटु—यह शब्द किसी व्यक्ति [लड़के या युवक आदि] के लिए अंग्रेजी के chap या fellow शब्द के समान प्रयुक्त होता है या ब्रह्मचारी अथवा ब्राह्मण (शृणा अर्थ में) जैसे चाणक्यवटुः। चाण्डाल—एक मोष जाति, शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न व्यक्ति—'स्याच्चण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्या वृषलेन य' कूर कर्म करने वाला। उस समय चाण्डाल ही किसी अपराधी के वप का कार्य करते थे।

पृ० ३८२. विष०—किसी व्यक्ति को निरपराध प्रमाणित करने के लिए 'विपयान' इत्यादि दिव्य परीक्षा होती थी। जैसा कि यज्ञवल्क्य ने बताया है—  
१. किसी व्यक्ति को विष खिलाया जाता था यदि वह निष्पाप होता था तो उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता था। २. उसे नाभिपर्यन्त जल में डूबने समय डूबकी लयवाई जाती थी जितने समय में कोई वेगवान् मनुष्य तत्काल फेंके गये बाण को लेकर आ जाता था यदि वह अपराधी होता तो डूब जाता अथवा नहीं। ३. वह तुला के एक पलहू में बैठता था और दूसरे पलहू में समान भार का बाट आदि रक्खा जाता। यदि वह निरपराध होता तो उसका पलहा ऊपर उठ जाता। ४. उसके हाथ पर अभिमन्त्रित पीपल के सात पत्तों धागे से बांधे जाते और फिर उस पर नियतकाल के लिए ठपा हुआ लोहबोलक रक्खा जाता था। यदि वह निरपराध होता तो नहीं चलता था (विशेष देखिये याज्ञ० १. १००-१११)। प्रार्थिते—अभीष्ट होने पर। त्रिचार—स्वयंभार-निर्गम्य। बोध्य-भली-भाँति देखकर, जाँच करके; वि +  $\sqrt{\text{ईप्}}$  + ल्यप्। ब्राह्मण—(१) ब्राह्मणः अपत्यम् पुमान् ब्राह्मणः ब्रह्मन् + अण् (तस्यापत्यम्); २ ब्रह्म = (पितृ) अधीते वेद (जानाति) वा—ब्रह्मन् + अण् (तदधीते तद्वेद) ॥४२॥

## दशम अङ्क

[सहारात्मक इस अंतिम अङ्क में मुख्य तथा प्रासङ्गिक दोनों कथाओं का उपसंहार हो जाता है। एक ओर तो वसन्तसेना वधूपद को प्राप्त कर लेती है और दूसरी ओर राजा पालक को मारकर आर्यक उज्जयिनी के राज्य का स्वामी बनता है। इस अङ्क के प्रथम दृश्य में—चारुदत्त वधुस्यान की ओर ले जाया जाता दिखलाई देता है। मंत्रेय भी वहाँ पहुँच जाता है। जब वध की घोषणा होती है तो शंकार का सेवक स्यावरक (जो अटारी में बन्द किया हुआ था) भागा हुआ चाण्डालों के पास आता है तथा कहता है कि वसन्तसेना को तो शंकार ने मारा है। किन्तु इसी समय शंकार वहाँ आ जाता है और स्यावरक को मूठा सिद्ध करता है। द्वितीय दृश्य में—वसन्तसेना को साथ लिये भिक्षु वधुस्यान की ओर आता है। इधर चाण्डाल चारुदत्त पर तलवार सौचता है किन्तु तलवार हाथ से गिर पड़ती है तब चाण्डाल चारुदत्त को शूल पर चढ़ाने की बात सोचते हैं। इसी समय भिक्षु और वसन्तसेना पहुँच जाते हैं। इन्हें देखकर चारुदत्त प्रफुल्लित हो जाता है और चाण्डाल राजा को सूचना देने आते हैं। तृतीय दृश्य में—शबिलक वधुस्यान पर आता है और यह सूचना देता है कि आर्यक के द्वारा राजा मारा गया। तभी शंकार को पकड़कर चारुदत्त के पास लाया जाता है। चारुदत्त उसे क्षमा-प्रदान करता है। अन्तिम दृश्य इस नाटक को सुखान्त बना देता है धृता चिंता पर चढ़ने को उद्यत है तभी चारुदत्त वहाँ पहुँच जाता है और उसे रोक देता है। धृता और वसन्तसेना स्नेहपूर्वक मिलते हैं। इसी समय शबिलक वसन्तसेना से कहता है कि आर्यक राजा तुम्हें 'वधु' पद से अनङ्गीकृत करते हैं और भरतवाक्य से नाटक पूर्ण होता है।]

पृ० ३८४, १ तत्किम्०—यह चारुदत्त के प्रति कहा गया है। कस्य—तोचो। नववध०—१. नवीन जो वध और बन्धन उनको करने में (दे० स० व्याख्या) २ वध के लिए जो नवीन बन्धन०, नव अघाय बन्धः तस्य नयने। ४ अघ के लिये नया बन्धन है जिसका ऐसे व्यक्ति को ले जाने में, वधार्थ बन्ध वधबन्ध, नव वधबन्धो यस्य तस्य नयने ॥१॥

३. पांशु—धूलि। पितृबन्—श्मशान। विरतम्—वकंशता से ('रतल' का क्रिया-विशेषण)। रक्तान्ध०—खाल चन्दन,। वध्य के शरीर पर खाल चन्दन का सेपन किया जाता था। बलिम्—यहाँ विशेष प्रकार की बलि का वर्णन है जो किसी देवता भूत आदि के लिये दी जाती थी। वह बलि भी १ जल से अभियुक्त, २ रुद्र, ३ पुष्पो से ढकी हुई तथा ४ रक्त की गन्ध (बूद या गन्ध) से युक्त होती थी ॥३॥

पृ० ३८६, ४ किम्—यहाँ चारुदत्त को वृष का रूप दिया गया है, उस पर आधित साधुजनों को पशियों का तथा काल को परशु का। शान्त—मृत्यु। यदि 'सज्जन' शब्द का अर्थ केवल 'धेच्छ' लिया जाये तो 'सज्जन' पुरुष एव दुःख तम्' वह भी विग्रह हो सकता है ॥४॥

५. हस्तकं.—हाथ के धापे, इससे प्रकट होता है कि वध्य के शरीर पर लाल चन्दन के हाथ के छान लगाये जाते थे । पिष्टचूर्ण—१. चावलों का पिसा हुआ आटा २. पिष्ट—चावल का आटा; चूर्ण—तिलों का चूर्ण । वध्य के शरीर पर ये वस्तुएँ भी लगाई जाती थी । पशूकृतः—अपशुः पशु. सम्पद्यमानः कृतः इति पशूकृतः ॥१५॥

तारतम्यम्—(१) तरतम—व्यञ्ज; ताता एक के परचाव दूसरा, (२) (discretion, proper judgement common sense—काले) । (३) उच्चनीचत्वरूप वंपम्यम् इति परे ।

६. एतद्—यह (रूप या आपत्ति) । इन्द्रः—इन्द्रध्वजा (?), इन्द्रमहोत्सव में लगाई गई ध्वजा । जब वह विसर्जन के लिए ले जाई जाती है तो उसे देखना अच्छा नहीं समझा जाता—‘उत्थापयेत्सूर्यवं. सर्वलोकस्य वं पुर । रहो विमजंयेद् केतुं विशेषोऽयं प्रपूजये ।’ कालिकापुराण । गोप्रसव—हत्यादि की देखना भी निषिद्ध है—मैथुनञ्च गोप्रसवं केतुपातं सतो वधम् । नक्षत्राणाञ्च सञ्चारं शुभार्थो नावलीकयेत् ॥७॥

जहोन्त और गोह—ये दोनों चाण्डालों के नाम हैं ।

८. रोदिति—गवाक्षो से मुख निकाले हुई नारियाँ चारदत्त को देखकर अश्रु वर्षा कर रही थीं । इसी हेतु यह 'अन' किया गया है । अनघ्रम्—नास्ति अघ्रं यत्र तद् अनघ्रं यथा स्यात् तथा (पतति का क्रियाविशेषण) अथवा नास्ति अघ्र यस्य तद् वज्रम्—विना बादल का वज्र । अनघ्रे—पाठान्तर है, बादल विना ही; न अघ्रम्, अनघ्रं तस्मिन् ॥८॥

प० ३८८. सतोपत्र—लोप्सेण सहितः; लोपत्र—चोरी का घन (माल)✓लुप (चुराना) + प्त्रन् (त्र) 'चौरिका स्तंभचौर्ये च स्तेयम्..... लोपत्र तु तदघनम् ।—अमरकोश ।

प० ३९०, १२. मल०—चारदत्त के द्वारा तथा उसके पूर्वजों के द्वारा किये गये यज्ञ ऽ सर्वासि—(धार्मिक) समा में । निविड—(आमन्त्रित) लोगों की भीड़ ने मुक्त, ब्राह्मण और पुरोहितों की भीड़ से मुक्त (काले) । चैत्य—यज्ञ का स्थान, यज्ञशाला, चिर्या—अग्नि; ✓चि + क्यप् । चित्यायाः इदं चैत्यम्—चित्या + अण् ॥१२॥

१३. अघरश्च (नीचे का ओंठ) ओष्ठश्च (ऊपर का ओंठ) अघरोष्ठ । अथवा अघरसहितः ओष्ठः अघरोष्ठः अथवा अघरश्च असौ ओष्ठश्च अघरोष्ठः । यहाँ अघशो-विषय यह रूपक है तथा अमृतपान एवं विषपान दो विरुद्ध वस्तुओं का वर्णन किया गया है, अतः विषम अलङ्कार है ॥१३॥

१४. अमुवर्णमण्डनकम्—पाठान्तर है, नास्ति सुवर्णमण्डन यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा । मरते हुए व्यक्ति के कर्ण नासिका आदि में सुवर्ण पहनाया जाता है, यह प्रसिद्धि है । अपनीमते—अप✓नी + (कर्मवाच्य) तद् ॥१४॥

प० ३९२. दत्तवध्यपिह्वम्—वध्यस्य चिह्नं, वध्यचिह्नं दत्त वध्यचिह्नं यस्य तम् । किमस्माकं प्रतिग्रह—प्रतिग्रह का अर्थ दान—तथा अनुग्रह दोनों होता है । चारदत्त ने इसका प्रयोग अनुग्रह अर्थ में किया था किन्तु चाण्डाल समजते हैं कि



इसका अर्थ 'दान' है, और चाण्डाल से दान लेना निषिद्ध है, इसीलिए आश्रय के साथ पूछते हैं । आशुक्र—यह प्राकृत का शब्द है जिसका अर्थ है—पिता ।

पू० ३६४, १७ निवाप—पितृतर्पण पितरो को दी गई बलि, 'पितृदानं निवाप स्यात्—अमरकोश । निवापोदक—पितृतर्पण में दिया गया जल । भाव यह है कि चाण्डाल का पुत्र अभी बालक ही था अतः उससे द्वारा दी गई जलाञ्जलि बहुत छोटी होगी और जब तक पुत्र बड़ा न होता तब तक उसकी जलाञ्जलि से परलोक में स्थित चाण्डाल की पिपासा कैसे शान्त होती ॥१७॥

१८ अमोक्तिक्रम—मोतियो से न बना हुआ, मोक्तिव = मुक्ता + ठक् । अमोक्षणम्—मुवणं से न बना हुआ । मोक्तिवाद अन्यत् अमोक्तिवम् अथवा नास्ति मोक्तिव मस्मिन् तत् ॥१८॥

पू० ३६६ निरुपपदेन—उपपद—समीप में स्थित पद अर्थात् आदरसूचक भाव, श्री इत्यादि शब्द निर्गतम् उपपद यस्मात् तत् निरुपपद तेन नाम्ना ।

१९ अहतमार्गा—१ जिसका मार्ग (गमन) नहीं रहा है ऐसी निवृत्ति २ जिसका मार्ग नहीं रुका अर्थात् स्वच्छन्द विचरने वाली किशोरी । किशोरी—इस शब्द का अर्थ विवाहप्रस्त है, किसी ने इसका अर्थ हस्तिनी किसी ने तरुण घोड़ी तथा किसी ने तरुणी बाला किया है । प्रत्येपितुम्—प्रति √इप् + तुम् । प्रतीष्टम्—पाठान्तर है—यथेच्छ यह अर्थ है ॥१९॥

२० शुक्ल - इसके विविध पाठ तथा अर्थ हैं (देखिये स० व्याख्या) । जनपदस्य—जनपद—प्रदेश, जनानां पद जनपद = जन (बसीते) का स्थान अथवा जना पठन्ते गच्छन्ति अत्र इति जनपद देश । अथवा जनपद = जनता, 'भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयो' इति मेदिनी ॥२०॥

२१ कारदोर०—वध के लिये ले जाये जाते हुए व्यक्ति के गले में कनेर की माला पहनाने की प्रथा थी । आघात—वध का स्थान, आह्वयते अत्र इति आ √हृत् + ञञ । शमितम्—शमित शब्द का अर्थ यज्ञ होता है । शमितरि भवम् अथवा शमितु इदं शमितम्—शमितु + अण् । यज्ञ में पशु की बलि करने का स्थान या बलि के लिये लाये गये पशु को बाँधने का स्थान । आलुब्धम्—वध करने के लिये, आ + √लभ् वष करना या अभिमन्त्रित करना । आसद्य —पाठान्तर है । देखिये स० व्याख्या ॥२१॥

सास्रम—अस्रेण ल्हिनम् पुत्र या विशेषण अथवा पृष्टीत्वाद का क्रियाविशेषण ।

२२ इव—यह, पुत्र का आलिङ्गन, (सुतरूप वस्तु इत्यर्थे) । तत्—बट प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करता है ।

पू० ३६८ २४ व्यसनकृशाम—व्यसन—आवृत्ति, दरिद्रता । कृशा—हीना, अभियोग रूप विपत्ति के कारण होने वाली हीन दशा को ॥२४॥

सर्वबलव्यम्—विद्वत्त्व = विद्वत्, विद्वत्त्वस्य भाव सर्वबलव्यम् विश्वत् + ध्वञ् (गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च ५।१।२४) ।

पृ० ४००, २६. अनावृष्टि०—न आवृष्टिः अनावृष्टिः, तथा हते । द्रोणमेघ—  
पुष्कर, आवर्त, सवर्त और द्रोण—ये चार प्रकार के मेघ माने गये हैं, द्रोण मेघ पर्याप्त  
वर्षा करने वाला तथा सस्य को समृद्ध करने वाला होता है जैसा कि ज्योतिषतत्त्व में  
कहा गया है—‘आवर्तो निर्मलो मेघः संवर्तश्च बहुरकः । पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः  
सस्यप्रपूरकः ॥२६॥

२८. विपाक्तं न—विषेण अक्त. लिप्त. विपाक्तः तेन,  $\sqrt{\text{अक्त}} = \text{अञ्ज्} + \text{क्त}$  ।  
जिस प्रकार विपला बाण लगकर किसी व्यक्ति को विषयुक्त कर देता है इसी प्रकार  
इस बोधयुक्त (शकार) ने भुसे ही दोषी सिद्ध कर दिया है ॥२८॥

पृ० ४०२, २६. शौलीयकूरेण—कूर-घान के चावल का भात, खाद्यविशेष  
‘कूर’ शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं; देखिये ‘कूरच्युतर्तलमिश्रम्’ (पृ० १७२) ॥२९॥

मन्त्रमेव.—मन्त्रस्य गुप्तवादेत्य भेद. प्रकाशनम्, गुप्त वृत्तान्त का प्रकाशन,  
घेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः—अमरकोश ।

पृ० ४०४, ३०. विघ्नत अपिघ्नत (बन्द करो); यहाँ अकार का लोप हो  
जाता है—‘घञि भागुरिरत्नोपमवाप्योरुपरार्गयो’ । अविनय०—शौडत्य, डिठाई ॥३०॥

रत्नकुम्भसदृश—रत्नकलश के समान सम्पत्तिशाली तथा श्रेष्ठ । चोरिक्रिया—  
चोरी के कारण ।

पृ० ४०६, ३१. साधुजनानुकम्पिव्—साधुजनम् अनुकम्पते तच्छीलः इति  
साधुजन + अनु +  $\sqrt{\text{कम्प}} + \text{णिति}$ , मुप्यजातो णिनि० ।

संबदति—अनुकूल है, मिलता जुलता है । निष्कारणो०—(३० स० व्याख्या)  
यहाँ पूर्वार्थ में साभिप्राय विशेषणों द्वारा कथन किया गया है अतः परिकर अलङ्कार  
है—‘विशेषणैवत् साकूतैरक्तिः परिकरस्तु सः—काव्यप्रकाश ॥३१॥

पृ० ४०८. प्रत्ययते—विश्वास करता है । शङ्खल—डका, डोल बजाने का  
डण्ड ।

पृ० ४१०. पालिका—पर्याय, पारी, बारी, पाली । यहूविधं लेखकं कृत्वा—  
बहुत प्रकार रेखायें इत्यादि खींचकर लेख.—लेखकः—गणना हिसाब लगाना ।

वृद्धि०—समृद्धि, उन्नति अथवा कुलवृद्धि, राजकुत में मानक का जन्म ।  
राजपरिवर्तः—राजा का परिवर्तन; यहाँ कवि ने बड़ी कुशलता के साथ भावी राज-  
परिवर्तन को सूचित किया है ।

पृ० ४१२, ३४. धर्म—पुण्य । प्रबलपुरुष-शक्तिशाली व्यक्ति पालक या शकार ।  
दत्र तत्र०—चाहते को यह निश्चय नहीं था कि वस्तुतः जीवित है । स्वत्वप्राप्तेन—  
अपने स्वभाव से, अपनी महानुभावता से, अपने भाव-प्रकाशन (स्व + भाव) से ॥३४॥

६५. प्रतिवृत्तं—उल्टा हुआ या सटका हुआ । दीर्घगोमायव—अपनी गर्दन को  
ऊपर उठाये हुए तियार ही दीर्घ (विशाल) कहे गये । अट्टहास—विक्त हास ॥३५॥

पृ० ४१४ पातिका—पतन +  $\sqrt{\text{पत्}} + \text{पुत्}$  (छत्वर्यनिर्देशे षुत् पत्तय वा०) वस्त्र को छोड़ने के समान ही शरीर का रक्षण है वहाँ गीता के वासति जीर्णोत्थिता गया विहाय०' इत्यादि भाव की दायी दृष्टिगोचर होती है ॥३६॥

भस्मान्—स्थानादभ्यन्तं दुस्माने, अतुलित स्थान मे ऐसे स्थान पर जहाँ किसी की दृष्टि पड़ना कठिन है। परिधान्त—धकी हुई मूर्च्छित। विषमभरणान्ता—विषमभरण क्रान्ता, विषम भाट से लदी हुई। परिवर्तम्—अन्तिम। मा भै (=मा भंवी) मत उरी।

पृ० ४१६ उसात्—ऊपर मुख करके कमर के बल सेटा हुआ, चित पडा हुआ। सहस्रातिनी—सह्र पर्वत पर स्थित देवी, चण्डास की कुलदेवता। यथापत्तम्—जैसी राजा की आज्ञा है अर्थात् शूली पर चढ़ाने की।

पृ० ४१८ उरसि पतति—बनौंकि चारुदत्त पृथ्वी पर सीधा सेटा पा। यज्ञवाट—यज्ञ स्थान, ऐसे स्थानों पर वाट शब्द का अर्थ 'समीप की भूमि का भाग' होता है जैसे देववाट, श्मशानवाट।

पृ० ४२०, ४१ जीवातुकाभ्यया—जीवातु-जीवन या जीवनीपथि, जीव्यतेजन्य दति,  $\sqrt{\text{जीव}} + \text{आतु}$  (ज्जादि १ ७८)। 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनीपथे'-इति मेदिनी। तस्य काम्यया इच्छया, मि० 'गोशाम्या' पृ० १२४ ॥४१॥

निमीलितानि—निमीलिते अभिगी यस्य स आनन्द की अधिकता के कारण नेत्र मूदे हुए ही। विद्या—पुन जीवन प्रदान करने वाला मन्त्र या जादू, कहा जात है कि यह विद्या दैव्यों के गुरु गुरु को आती थी (देखिये काले नोटस)।

'बेहम्'—तपु० प्रथमा-एक०, 'दिह' शब्द पु० तथा मपु० दोनों होता है।

४४ वरवश्रम्—दुल्हे का वस्त्र। यहाँ एक ही रत्नधारण इत्यादि वस्तु का इमका अनेकी मे सम्बन्ध विषयताया गमा है। अतः पर्याय अलङ्कार है—'एकं इमेणानेकस्मिन् पर्याय (काव्यप्रकाश) ॥४४॥

पृ० ४२२ वक्षिणता—सरलता, उदारता। ४५ प्रमद्विष्णुता—प्रभावशाली न, प्र +  $\sqrt{\text{भू}} + \text{इष्ण्व}$  (भुवश्च), यद्यपि पाणिनीय व्याकरण क अनुसार यह शब्द वेद मे ही प्रयुक्त होता है तथापि सौविक् सस्कृत मे भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। मनाक—प्राय, योडा-सा ॥४५॥

निर्वेद—अपन विषय मे तुच्छता का भाव या विषयवैराग्य।

४६ शृणुमन्वेतु इषम वेतु यस्य स, शिव का एव नाम। दक्षप्रतस्य हुता-दक्ष के यज्ञप्रस की कथा कई प्रकार मे प्रसिद्ध है—दक्ष ब्रह्मा के दस पुत्रों मे अन्यतम थे उनकी एक पुत्री सती नाम की थी जिसका विवाह शिव क साथ हुआ था। एक बार दक्ष ने यज्ञ किया, उसमे सभी देवों तथा ब्राह्मण, की निमन्त्रित किया, किन्तु त तो अपनी पुत्री सती को ही बुलाया न शिव को ही। इस अवसर पर सती स्वय ही पहुँच गई तो उसको अपमानित होता पडा। इस अपमान क कारण वह अग्नि मे भस्म हो गई। इस बात की सुनकर शिव भा वहीं गये और दक्ष के यज्ञ को पूष्यता

ध्वस्त कर दिया। दक्ष ऋग के रूप में भाग गये। परमुख—पद् मुक्तानि यस्य सः, कातिकेयः; पुराणों के आस्थान के अनुसार कातिकेय के ६ मुख और १२ भुजायें थीं।  
 कौञ्चसाम्—कौञ्च, नामक ईश्वर (या परब्रह्म) का विनाशक ॥४६॥

पृ० ४२४ ४७ शेषभूताम्—देवताओं से निर्घातय के रूप में प्राप्त हुई पुण्य-  
 माणा को 'शेष' या 'शेषा' कहते हैं, यह अत्यन्त आदर के माध्य धारण की जाती है,  
 उसके समान (ऐसे स्थानों पर भूत = सहस्र)। स्वसनपतम्—विपत्तिप्रसूत ॥४७॥

४८. मन्त्रहीन—पाठान्तर है मन्त्र = मन्त्रणा, गुप्त विचार। प्रकथं—उत्कर्ष  
 सामर्थ्य का उत्कर्ष। वसुधाधिराज्यम्—जिम्हने समस्त पृथ्वी का आधिपत्य है ऐसा  
 (अव्युत्तरम्)। बतारे—बल के अर्थ इन्द्र के, बल एक प्रसिद्ध ईश्वर का नाम  
 है। अग्नेय की कई ऋचाओं में इसका उल्लेख मिलता है, यह अन्धकार के दातव  
 रूप में कल्पित मेष का ही एक नाम है (काले), इन्द्र को 'अल' कर नामान्न बननाया  
 गया है।

४९. दिव्या—भाष्य से (अव्यय)। गुणधृतया—(१) (वास्तव के द्वारा)  
 उन्नता आदि गुणों से आकर्षित की गई, प्रियतमा बसन्तसेना (२) रस्ती (गुण) से  
 लौंठी गई; नौका। सुसोतवत्या—बृहद् घ्याट्याकारो ने इसका भी दोनों पक्षों में अर्ध  
 किया है—(१) श्रेष्ठ स्वभाव वाली (२) मनोहर (?)। उपराग—उपरज्यते इति  
 उपराग; उप + रञ्ज् + घञ् ॥४९॥

पृ० ४२६. आर्जवम्—सरलता, श्रुजो: भाष., श्रुजु + अच्। २१. आर्य-  
 वृत्तेन—आर्य श्रेष्ठ वृत्त चरित्रं यस्य तेन, इससे आर्यक के कार्य का समर्पण किया  
 गया है, भाव यह है कि उत्तरे यह कार्य जनहिताय ही किया था। सत्रमवान्—इसके  
 स्थान पर 'अनमवान्' पाठ उचित है। सुहृदा + आर्यकेय मह सन्धिच्छेद है।  
 उज्जयिन्यां प्रतिष्ठः। मारिषेण—अर्यान् उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे ही। वैपातटे-  
 सेना नदी नर्मदा की सहायक नदी है, जिसके तट पर कुशावती नगरी बसी थी।  
 कुशावती या कुशास्थली, राम के पुत्र द्वारा बनाई गई थी यह कहा जाता है। सम्भवतः  
 कुन्देनखण्ड में स्थित 'रामनगर' के स्थान पर ही 'कुशावती' नगरी थी। (देखिये,  
 काले नोट्स)

पृ० ४२८. राष्ट्रियवन्धु—राजा के सारे का बन्धन अथवा बांधने वाले राज-  
 पुरुष; राष्ट्रियः ब्राह्मी बन्धुः। (सं० उदाह्या भी देखिये। ध्यापारयाम—हम सब  
 (अपना) भार, पाठान्तर—ध्यापारयाम—हम दोनों (बाण्डाल) भारों।

पृ० ४३२, ४६. महीतल०—महीतसे स्थिति सहन्ते इति, पृथ्वी पर रहने  
 योग्य नहीं; अर्थात् देवलोक में रहने योग्य है ॥४६॥

पृ० ४३४ मिश्रत्वेन—पति से अलग, पति के शव के दिन। समोहितं—  
 समोष्ट, सम् + √ईह् + क्त (भाव में)। ययोपदेशिनी—आपके रूपन के अनुसार  
 कार्य करने वाली, अर्थात् आपका अनुसरण करने अग्नि में प्रवेश करने वाली।

पयश्शायय — स्थित रख, रक्षा कर । तिलोदक—तिलमिश्रित जल, तिलाञ्जलि जो भृतको को दी जाती है । अतिक्रान्ते० (सूक्ति)—अवसर बोन जाने पर मनोरथो से कुछ लाभ नहीं ।

पृ० ४३८, ५८ प्रियसि—प्रियतम, 'प्रियसी' का सम्बोधन एकवचन । प्रियसि-प्रियतम के (विद्यमान) होने पर; 'प्रियम्' का सप्तमी एकवचन । व्यससाय—निश्चय, उद्यम । सोचनमुद्रण—नेत्र मूंदना ॥५८॥

सविधानम्—घटनाओ की योजना, संयोग । परिकुष्टो राजा०—इससे प्रकट होता है कि उस समय राजा ही वर्णधर्मो का सर्वोपरि नियामक था ।

पृ० ४३७ जीवापिता—'जीविता' पाठान्तर है । षण्डपालक—दण्डाधिकारी, मजिस्ट्रेट । ५९ चारित्र—चरित्रमेव चारित्रम् । लभ्यम्— $\sqrt{\text{लम्} + \text{यद्}}$  ॥५९॥

पृ० ४४०, ६०. तुच्छपति—हल्का या दरिद्र करता है, 'तुच्छं करोति'—इस अर्थ में तुच्छ + णिच् (नामधातु) । विधौ—कर्म में । आकुताम्—व्याकुल या बीच में सटके हुए । प्रतिपक्ष—एक दूसरे के विरोधी जैसे रित्तना और पूर्णता इत्यादि । रूपयन्त्रघटिकान्याय—विसी रूपयन्त्र अर्थात् कुएँ के रहट की बालटियों वा ढग अर्थात् रहट के चलने पर कोई बाल्टी खाली होती है कोई भरती है, कोई अधभरी सटकती होती है और कोई न चे जाती है और कोई ऊपर ॥६०॥

भरतवाक्यम्—नाटक का अन्तिम श्लोक जो प्रशस्ति रूप में होता है, भरत-वाक्य कहलाता है । 'भरत' शब्द का अर्थ है—नट । अतः भरतवाक्य = नटवाक्य । भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के सम्मानार्थ ही सम्भवतः अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रख दिया गया है । भरतवाक्य में सोकवत्स्याण की कामना की जाती है ।

६१. क्षीरिण्य—अधिक दूध वाली, प्रभूत क्षीरमय्या अस्तीति क्षीरिणी (क्षीर + इन् + ई) ता क्षीरिण्य । सर्वसम्पन्न०—समास विग्रह के लिये देखिये स० व्याख्या, इसके स्थान पर सम्पन्नसर्वसस्या अथवा 'सर्वसस्यसम्पन्ना' पद उचित होता । सन्त—सज्जन, श्री M. R. वाले के अनुसार इसका अन्वय इस प्रकार है, 'ब्राह्मणा अभिमता सन्तु, सन्त श्रीमन्त सन्तु' क्योंकि थेट्ठजन प्रायेण निर्धन होते हैं अतः ऐसी शुभकामना की गई है । किन्हीं व्याख्याकारो ने इस प्रकार अन्वय दिया है—'जन्म भाज सततमभिमता सन्त मोदन्ताम्, ब्राह्मणा सन्त. सन्तु' ॥६१॥

## परिशिष्ट ३

### मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्द

१. संस्कृत में दो प्रकार के छन्द होते हैं—मात्रिक और वणिक । जिन छन्दों में मात्राओं के आधार पर पद-रचना होती है वे मात्रिक (जाति) कहलाते हैं तथा जिनमें अक्षरों के आधार पर, वे वणिक (वृत्त) कहलाते हैं । 'आर्या' आदि छन्द मात्रिक हैं तथा 'इन्द्रवज्रा' इत्यादि वणिक ।

२. (अ) मात्रा और वर्णों की गणना में लघु गुरु का विचार किया जाता है । अ, इ, उ, ऋ, और नृ ह्रस्व या लघु हैं तथा ऐष स्वर दीर्घ या गुरु हैं । ह्रस्व स्वर से युक्त व्यंजनों (क, कि, कु, कृ, क्यू) को भी लघु माना जाता है तथा दीर्घ स्वर से युक्त (का, की, कू, कूं, के, कै, को, कौ) को गुरु । लघु की एक मात्रा गिनी जाती है और गुरु की दो ।

(आ) यदि किसी लघु वर्ण से आगे अनुस्वार (अं, कं) या विसर्ग (अः, कः) अथवा व्यंजनों का संयोग (अल्प, कल्प, इत्यादि) होता है तो वह गुरु माना जाता है । पाद के अन्त में स्थित लघु वर्ण विकल्प से गुरु माना जाता है ।<sup>१</sup>

३. छन्द के चतुर्थ भाग को 'पाङ्ग' या 'चरण' कहते हैं । जिस छन्द में चारों चरण समान होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं । जिसका प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान होते हैं उसे अर्धसम कहते हैं । जिस वृत्त के चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं उसे विषमवृत्त कहते हैं ।

४. प्रायः वणिक वृत्तों का प्रत्येक चरण गुरु लघु के विषय क्रम से बना होता है । चीन-चीन वर्णों के क्रमिक समुदाय को छन्दशास्त्र में 'गण' कहा जाता है । ये ८ हैं, जिनके नाम तथा स्वरूप 'दशानाराजभानसप्तदशम्' इस सूत्र में प्रकट होते हैं । यहाँ 'ल' से लघु और 'ग' से गुरु समझा जाता है । प्रत्येक के लिए लघु का चिह्न (l) और गुरु का चिह्न (g) है । जैसे—

(१) दणन = 155 आदिलघु ।	(२) मणन = 555 सर्वगुरु ।
(३) लणन = 551 अन्तलघु ।	(४) रणन = 515 मध्यलघु ।
(५) जणन = 151 मध्यगुरु ।	(६) मणन = 511 आदिगुरु ।
(७) नणन = 111 सर्वलघु ।	(८) सणन = 115 अन्तगुरु ।

१. सातुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गो च गुरुर्भवेत् ।

वर्णः संयोगदूर्बश्च तथा पारान्तगोत्रि वा ॥

५ मृच्छकटिक में प्रायेण निम्नलिखित संस्कृत छन्द हैं, जिनके लक्षण स्वयं निर्देश सहित नीचे दिये जाते हैं। इसमें प्रयुक्त प्राकृत छन्दों के लक्षणों के लिए प्राकृत-पिङ्गल आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

१. अनुष्टुप (श्लोक)—इन्द्रो पठ गुरु श्रेय सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्वि-चतु-  
प्यादमोहं स्व सपथम दीर्घमन्ययो । इसके प्रत्यक्ष चरण में आठ वर्ण होते हैं, जिसमें पञ्चम वर्ण लघु तथा पाठ वर्ण गुरु होता है, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में सप्तम वर्ण लघु होता है तथा अन्यो (प्रथम और तृतीय) में दीर्घ होता है। उदाहरण—  
१-२, १६, ३४ इत्यादि।

बिरोध—अनुष्टुप का एक भेद पम्पावचन भी है।

२ आर्षा—(मात्रिक) मस्या. पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अप्यादाग  
द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्षा । आर्षा छन्द के चरणों में क्रमशः १२, १८, १२  
और १५ मात्राएँ होती हैं। उदाहरण—१-८, ११, ३३ इत्यादि।

बिरोध—यह आर्षा छन्द ६ प्रकार का होता है—

पञ्चा विमुला चपला सुसचपला जघनचपला च ।

गीरमुपगीत्युत्गीतय आर्षागीतिरच नपञ्चाऽऽर्षा ॥

३ इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगो ग । इसके प्रत्यक्ष चरण में, लगण, लगण, जगण तथा दो गुरु मिलकर ११ अक्षर होते हैं। उदाहरण—४-१६; ५-४६;  
१०-११, २१, ४८, ५८।

४ इन्द्रवशा—जतो तु वशस्यमुदीरित अरो । तच्छेन्द्रवशा प्रथमासरे गुरो ।  
इसके प्रत्यक्ष चरण में २ त, ज, र, इस प्रकार १२ अक्षर होते हैं। मृच्छकटिक में  
इस वृत्त का उपजाति वृत्त में ही प्रयोग (देखिये १-४६ और ३-७ इत्यादि) हुआ है,  
स्वतन्त्र रूप से नहीं।

५ उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गो । इसके प्रत्यक्ष चरण में ज;  
त, ज तथा दो गुरु (११) होते हैं। जैसे १-६, ४-२३, ६-३।

६ उपजाति—अनन्तरोदीरितसधमभाशो पादो यदीयावुपजातवस्ता' ।  
इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का लक्षण बतलाने के पश्चात् यह उपजाति का लक्षण  
बतलाना गया है। अर्थात् इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों के मिलने से बना  
हुआ वृत्त उपजाति कहलाता है। इसी प्रकार इन्द्रवशा तथा वशस्य आदि के चरणों  
के मिलने से बना हुआ वृत्त भी 'उपजाति' कहा जाता है—'इत्थं कितान्यास्वपि  
मिश्रितामु बदन्ति जातिद्विदमेव नाम'। जैसे १-४६, में इन्द्रवशा और वशस्य के  
चरणों का मिश्रण है और ३-७ में उपेन्द्रवज्रा + इन्द्रवज्रा + इन्द्रवशा के चरणों का  
मिश्रण है। उदाहरण—१—३८, ४६. ३—६, ७ ४—१, १२, १५ ३२ ५—  
२१, २६, ४०, ४४, ४७, ५२ ८—२७, ३०. ९—१०, २६ १०—६,

१. जो छन्द मात्रिक हैं उनका निर्देश किया जा रहा है। नेप वर्ण वृत्त  
शमझने चाहियें।

१६. ४०, ४३ ।

७. गीति (उद्गाथा)—(म.त्रिक) 'आर्या प्रथमार्धसम यस्या. परार्धमीरिता गीतिः । यद् एव प्रकार की आर्या ही है। अन्तर केवल यह है कि इसके अन्तिम चरण में १५ के स्थान पर १८ मात्रायें हांती है अर्थात् पहले अर्धसम (प्रथम और द्वितीय चरण) के समान ही इसमें द्वितीय अर्धसम (तृतीय और चतुर्थ चरण) होता है। जैसे ५—३४ ।

। पद्मावधत्र (विषमवृत्त)—'युजोषवतुर्यसो जेन, पद्मावधत्र प्रकीर्तितम् ।' अर्थात् अनुष्टुप् छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर जवण होने से पद्मावधत्र नामक छन्द होता है । १ ५०, ५१ इत्यादि]

८. पुष्पिताषा (अर्धसम)—अयुजि न युगरेफतो, यकारो गुजि च तजो जरगाण्य पुष्पिताषा । इसके विषम (प्रथम, तृतीय) चरणों में १२ (न, न, र, य) तथा सम (द्वितीय, चतुर्थ) चरणों में १३ (न ज ज र + ग) होते हैं। उदाहरण—१—२४, ५६. २—७. ३—१०, २१, २२. ४—४, २७, २८. ५—४, ८, ३२. १०—१३ ।

९. प्रमिताक्षरा—प्रमिताक्षरा सजससः कयिता । प्रत्येक चरण में १२ अक्षर (स, ज, स, स) जैसे १०—५६ ।

१०. प्रहृषिणी—श्याशाभिर्मनजरगाः प्रहृषिणीयम् । प्रत्येक चरण में १३ अक्षर (म, न, ज, र + य) तीसरे अक्षर पर यति (द्विराम) । उदाहरण—४—२. १—५०. ६—१. ७—८. ८—४१. ९—२७. १०—२५, ३३, ४७, ४९ ।

११. मासभारिणी (अर्धसम)—विषमे ससजा गुरु समे चेत्, सभरा येन तु मालभारिणीयम् । विषम चरणों में ११ (स, स, ज + रग); समचरणों में १२ (स, म, र, य) अक्षर; जैसे—१—३, ५ ।

१२. मालिनी—गनमयययुतेयं मालिनी भोगिलीकैः । प्रत्येक चरण में १५ (न, न, म, य, य) अक्षर; ८ वे अक्षर पर यति । उदाहरण—१—३१, ५७. ४—२०. ५—१७ ७—३, ५. ८—४२. ९—१२, ४३. १०—३, १२, ३४, ४६ ।

१३. वशास्य वा वशास्यलवित—जती तु वशास्यमुदीरित जरी । प्रत्येक चरण में १२ (ज, स, ज, र); अक्षर । उदाहरण—१—७, १०, ४३. २—१०. ३—८, १७. ४—३७. ७—४. ८—७. ९—२५ ।

१४. वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगो गः । प्रत्येक चरण में १४ (स, म, ज, ज + रग) अक्षर । उदा०—१—६, १२, १३, १७, २०, २२, २७, ३५, ४९. ३—३, ४. ६, १५, १६, २—६, १४, २६. ५—१, २, ४, ८, १३, १५, ३३, ३६, ४२, ४५. ६—२. ७—२३, २४, २६. ८—६, १६, १९, २२, २८, २९, ३४. १०—३१, ४४ ।

१५. विद्युन्माला—मो मी मी मी विद्युन्माला—प्रत्येक चरण में २ मगण + २ गुरु = ८ अक्षर । उदा०—२—८ ।



१६. यैश्वदेवी—याणाश्वैरिद्वाना यैश्वदेवी ममो यी—प्रत्येक चरण में २ मगण २ मगण मिलकर १२ अक्षर तथा पाँचवें अक्षर पर यति, जंसे—३—१३ ।

१७. शार्दूलविक्रीडित—सूपार्श्वयंवि मः सजी सततंगाः शार्दूलविक्रीडितम् । प्रत्येक चरण में १६ अक्षर (म, स, ज, स, २त + ग); १२ वें अक्षर पर यति । उदा०—१-१४, ३२, ३६, ३७. २—१२. ३—५, ११, १२, १८, २०, २३. ४—९. ५—५, ६, १४, १८, २०, २३, २४, २७, ३५, ४६. ७—२, ७. ८—५, ११, ३८. ९—३, ४, ५, १४. १०—६०

१८. शिखरिणी—रतं रुद्रैरिद्वाना यमनसप्रसाग. शिखरिणी । प्रत्येक चरण में, १७ (य, म, न, स, म + त ग) अक्षर छोड़े अक्षर पर यति । उदा० १-१५. ५-१२, ३२, २५. ६-४ ।

१९ सु मधुरा—घो भनो मो नो गुरधिद् ह्यसुंरसंरसा सुमधुरा । प्रत्येक चरण मे १६ (म, र, म, न, म, न + म) अक्षर; सातवें तथा तेरहवें अक्षर पर यति । जंसे—६-२१ ।

२०. स्वाधरा—अभ्रयंति श्रेण त्रिभुतियसियुता स्वधरा कीर्तितयम् । प्रत्येक चरण मे २१ (म, र, म, न, य, य + य) अक्षर; सातवें और चौदहवें अक्षर पर यति । उदा०—१-१, ४, ४८. १०-५६, ६१ ।

२१. हरिणी—नसमरसला गः पद्मेदेर्ह्येर्हरिणी मता । प्रत्येक चरण मे १७ (न, स, म, र, स + स ग अक्षर); ६, ४ और ७ अक्षर पर यति । उदा०—४-३. ६-१३ ।

टिप्पणी—सं० व्याख्या मे कहीं-कहीं अनुष्टुप् तथा आयं आदि छन्दों के भिन्न-उपभेदों का भी उल्लेख कर दिया गया है । उन्हें इनके सहायों से मिलाकर देख बिना चाहिये ।

## परिशिष्ट ४

### मृच्छकटिकस्थानि सुभाषितानि

अकन्दसमुत्पिता पयिनी अक्कको वणिक् अचौरः सुवर्णकारः अकलहो प्रामसमागमः अलुग्या गणिकेति दुष्करमेते सम्भाष्यन्ते । (ग)	१६४
आप्राह्या मूर्धजेप्येताः स्त्रियो गुणसमन्विताः । न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्सुपत्रनोज्ज्वाः ॥ (ग)	३००
अनतिङ्गमणीया भगवती गोकाम्या द्राह्मणकाम्या च । (ग) यन्निहतास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु विग्नसन्ति । (प)	१२४ १५४
अपेक्षेपु तदागेषु बहुतरमुदकं भवति । (ग) सम्पुदयेऽवसाने तपैव रात्रि दिवमहृतमार्गा । उद्दामेव किञ्चोरी निदतिः खलु प्रत्येपितुं याति ॥ (प)	६१ ३६६
अम्भोजिनो लोचनमुद्रणं किं भानादनस्तंगमिते करोति । (प) अयं च मुरतज्जवानः कामाग्निः प्रणयेन्धनः । नराणा यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ (प)	४३६ १५४
अल्पकेशं सरणं दारिद्र्यमग्नक दुःसम् । (प) अर्षतः पुरुषो नारी या नारी साऽर्षेती पुमान् । (प)	१६ १३८
अहो विद् बंपम्यं लोकव्यवहारस्य । (ग) अहो व्यहरापराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः । (ग) अहो ! प्रमादः श्रियसङ्घस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्जायेत । (प)	३६४ ३३६ ४२०
आलाने गृह्यते हस्ती बाजी बल्गामु गृह्यते । हृदये गृह्यते नारी यदीदं नास्ति गम्यताम् । (प)	५२
इन्द्रः प्रबाह्यमानो गोत्रमवः संक्रमश्च ताराणाम् । सुपुदयमानविपत्तिरचत्वार इमे न इन्द्रव्याः ॥ (प)	६८६
इह सर्वस्वकतिनः कुनपुत्रमहादुमाः । निष्कल्पत्वमतं याति बेनयाविहगभमिताः (प) ईदृशो दासभावो दत्तार्थं कनपि न प्रदामति । (ग)	१५४ ४०६
एते खलु दास्याः पुत्राः अर्षकल्पवर्ता वरदाभीता इव गोपाल- दारका अरभ्ये यत्र-यत्र न खादन्ते तत्र-तत्र गच्छन्ति । (ग)	१८

एष कीडति कूपयन्त्रपटिवान्यायप्रसक्तो विधि । (प)	४४०
कृत्वाशब्दो निर्माणकस्य हरति हृदय मनुष्यस्य ।	
ठक्काशब्द इव नराधिपस्य छप्तराज्यस्य ॥ (प)	७६
वय हीनकुमुमादपि सहकारपादप	
मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति । (ग)	१८६
कामो वाम । (ग)	११६
कि कुलनोपदिष्टेन शीतमेतान् कारणम् । (ग)	
भवन्ति सुनरा स्फीता सुधेय कृष्णविद्रुमा ॥	२१०
कि हीनकुमुम सहकारपादप मण्डले पुन सेवन्ते । (ग)	७०
कूष्माण्डी गोमयलिप्नकृन्ता	
गणनतले प्रतिबन्धी चन्द्रनूर्यादपि विपति समते । (ग)	५४
गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुखा स्त्रिय । (प)	४१४
गणिका नाम पादुकात्तरप्रविष्टेव लेप्टुहा दुक्तेन पुननिराश्रियते । (ग)	२०८
गणिका हस्ति वायस्यो भिक्षुश्चाटो रासभश्च यन्ते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते । (प)	१६६
गुण सत्त्वगुरागस्य कारण न पुनवनात्वार (ग)	१६५
गुणेष्वेव यत्न पुरयेण वार्यो न विञ्चिपदप्राप्यतम गुणानाम् । (प)	३४
गुणेषु हि कतव्य प्रयत्न पुर्ये सदा ।	१६४
गुणैर्युक्तो दरिद्रोऽपि नैश्वर्यरमुर्ग सम ॥ (प)	
छिद्रेष्वनर्धा बहूलीभवन्ति । (प)	१६३
तपसा मनसा वाग्भि पूजिता बलिकर्त्रभि ।	१६४
तुष्यन्ति शमिना नित्य देवता कि विचारितं । (प)	
त्यजति त मिल जयधीजहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।	२२
भवति च सदीपहास्यो य सलु धरणागत त्यजति ॥ (प)	२५६
दारिद्र्यपुरुषसन्नान्तमना खलु गणिका मोक्षेऽवनीया भवति । (ग)	७०
दारिद्र्याद् हियमेति हीपरिगत प्रध्नश्यते तेजस ० । (प)	२०
दारिद्र्यान्मरणाद् वा मरण मम रोचते न दारिद्र्यम् ।	
अल्पवशे मरण दारिद्र्यमनन्तक दु सम् ॥ (प)	१६
दुर्लभा गुणा विमवाश्च ।	६२
दुष्कर विपमोपधीकर्तुम् । (ग)	२०८
दूत हि नाम पुरुषस्यातिहासन राज्यम् । (ग)	८०
द्वयमिदमतीव लोके प्रिय नराणां सुहृच्च वनिता च । (प)	१७६
धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके कि जीवितेन ० । (प)	२२४
धिक् प्रीति परिभवकारिकागनार्याम् । (प)	३२२

न काशमपेशते स्नेहः । (ग)	२७०
न चन्द्रादातपो भवति । (घ)	१५८
न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति । (प)	१५६
न पुष्पमोषमहंत्युद्यानलता । (ग)	३२
न युक्तं परकलत्रदर्शनम् । (ग)	५८
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयित प्रति । (प)	२१६
न ह्याकृतिः सुसहस्रं विजहाति वृत्तम् । (प)	३५६
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो बंरमपरम् ० । (प)	२०
निशाया नष्टचन्द्राया दुर्लभो मार्गदर्शकः । (ग)	१६०
नृणां लोकान्तरस्यानां देहप्रतिकृतिः सुतः । (प)	३८०
यस्यविलकन्न पक्षी शुष्कन्न तस्य सरजन जसहीनम् ।	
सर्पश्चोद्घृतदण्डस्तुल्यं लोके दृष्टिदृश्य ॥ (ग)	२२६
पञ्चजनाः येन मारिताः इत्यादि । (प)	२७६
परोऽपि बन्धुः समसस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विपमस्थितस्य । (प)	३६२
पुरपभाष्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः । (ग)	३८६
पुरुषेषु न्यासाः निक्षिप्यन्ते न पुनर्गहेषु । (ग)	६२
० बहुदोषा हि शर्वरी । (ग)	६४
भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।	
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥ (प)	२५८
मा दुर्गत इति पराभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ० । (प)	४६
मूले च्छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम् । (ग)	३८०
य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः ० । (ग)	८८
यज्ञोपवीत हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् । (ग)	१२०
यद्येव दुष्यं त्रयमे विकारो समेत्य पातु मधुपाः पतन्ति ।	
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ (प)	३६४
यदा तु भाग्यक्षयपीडिता दशा नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।	
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रता विरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः । (प)	५८
येऽभिभवन्ति साद्यु ते यावास्ते च चाण्डालाः । (प)	३६६
राष्ट्रहृहोतोऽपि चन्द्रो न बन्दनीयो जनपदस्य ? (प)	३६६
लोके कोऽप्युत्थितः पतति कोऽपि पतितोऽप्युत्थितः । (ग)	४१४
चरं प्याप्यन्दनो पृतानुं दृहीतस्य रुधने । (प)	२१६
विविक्तविश्वम्भरसो हि कामः । (प)	३१०
विषमा इन्द्रिधोरा हरन्ति चिरसन्धिचतं धर्मम् । (प)	२७६
वीणा हि नामासमुद्रोत्थित रत्नम् । (ग)	१०६
धेरयाः शमशानमुमता इव वज्रं वीणाः ० । (प)	१५६

सप्त

शत

DUE DATE SLIP

शत. vt. Autonomous

गिरो मु... (प)

शून्यमपुत्रस्य गृह चिरशून्य नास्ति यस्य सम्पत्तिम् ।

मूलस्य दिना शून्या सर्वं शून्य दरिद्रस्य ॥ (प)

शून्यं गृहे खलु समा पुरया दरिद्रा ० । (प)

मखीजनविज्ञानुवर्त्यं बलाजनो भवति ।

सत्कारभा खलु सज्जन ० । (प)

सत्य न मे विभवनाशकृताऽस्ति विना ० । (प)

सत्येन सुख खलु सम्पद्यते, सत्यात्पापे स भवति पातकम् ।

सत्यमिति द्वेष्येणरे मा सत्यमतीर्णेन मृदुता (प)

समीहितसिद्धये प्रवृत्तेन बाह्याणोऽप्ये कते

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभलेष्वेव मुह्यन्ति

स्त्रियो हृतापां पुरुष निष्पीडितात्कनकवत् त्यजन्ति ॥ (प)

सर्वं खलु भवति लोके लोक सुखसम्पत्तानां चिन्ता

विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥ (प)

सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चला स्वभावा

खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ (ग)

सर्वत्रात्रैव शोभते । (ग)

सस्यलम्पटयलोवर्दो न शक्यो वारयितुं ० । (प)

साहसे धी प्रतिपसति । (प)

सुख हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्यकारेणैव दीपदशनम् ।

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृत शरीरेण मृत स जीवति ॥ (प)

सुजन खलु भृशानुकम्पकः स्वामी निर्घनकोऽपि शोभते । (प)

स्त्रियो हि नाम सत्वेता निशगोदेव पण्डिता ।

पुरुषाणां तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ (प)

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदन ।

सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्देव वा भवति ॥ (प)

स्त्रीषु न राग कार्यं ० ॥ (प)

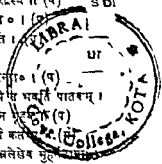
स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति । (ग)

स्वात्माऽपि विस्मर्यते । (प)

स्वैर्दोषैर्भवति हि शिष्टो मनुष्य । (प)

हस्तसयतो मुखसयतः इन्द्रियत स खलु मनुष्य ।

किं करोति राजकुल तस्य परलोको हस्ते मुनिश्चल ॥ (प)



४३०  
१३२  
२७६  
६  
२२६  
६४  
१८  
३७६  
४३४  
१२५  
३६०  
१६६  
४२६  
१०६  
१२०  
१६  
१०६  
१५८  
२८४  
१५४  
४४  
१७२  
१४६  
३३२